पुष्टि भक्ति एवं प्रपत्ति में

प्रतिबन्ध

(संगोष्ठी)

प्रकाशक :

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

प्रकाशक :
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
केसारा बजार, मांडवी-कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५
फोन : (०२८३४) २३१४६३

सम्पादक :
गोस्वामी शरद्

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०६५ वल्लभाब्द : ५३१

प्रति : १,०००

ग्रन्थप्रकाशन सहाय : रु. १००/

पोस्टेज-पेकेजिंग् : रु. १०/

WWW.PUSHTIMARG.NET

मुद्रक :
श्रीवल्लभ बुक मेन्युफेक्चरिंग् कं. लि., ५५/४६ सिटिमील कम्पाउंड्,
कांकरीआ रोड, अमदावाद, गुजरात

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

सेमिनार:

१. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर-गुजरात
२. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
३. वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
४. पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणाली, मुम्बई
५. अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे
६. सेवा-समर्पण, मुम्बई
७. कार्यकारणभावविचार, बडोदरा-गुजरात
८. प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
९. अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
१०. कथायां वा/गुणगान साधना, मुम्बई
११. शरणागति, मुम्बई
१२. पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध
१३. जघन्याधिकार संगोष्ठी
१४. पुष्टिमार्गीय फल-१
१५. World Philosophy Conference, Delhi (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१६. International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni. of Gujarat)

आचार्यवंशजोंकेलिये अध्ययनसत्र:

१. तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली २. वेदान्तसार

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

१. प्रवेशिका, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
२. प्रवेशिका लेखक: गो.शरद् (अंग्रेजी)	नि:शुल्क
३. पुष्टिप्रवेश-१ लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
४. पुष्टिप्रवेश-२ लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
५. पुष्टिप्रवेश-१-२ लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)	१०

६. पुष्टिपथ, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)
७. पुष्टिपथ, लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)
८. प्रमेयरत्नसंग्रहलेखक: गो.शरद् (गुजराती) २०
९. Manual of the Devotional Path of Pushti
लेखक: गो.शरद् 65

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे
विभिन्न शोधपत्र तथा उनपर हुई विशद चर्चा का संग्रह

१०. वार्तापरिचर्चा १५
११. साधनाप्रणाली संगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ५०
१२. अधिकारपरिचर्चा (हिन्दी-गुजराती) १००
१३. पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ५०
१४. शरणागति विचारगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ५०
१५. शरणागति विचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी(गुजराती) नि:शुल्क
१६. सेवा समर्पण (हिन्दी-गुजराती) ५०
१७. जघन्याधिकार संगोष्ठी (हिन्दी-गुजराती) ८०
१८. पुष्टि भक्ति और प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध (हिन्दी-गुजराती) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनारमें प्रस्तुत हुवे
विभिन्न शोधपत्र तथा चर्चा का संग्रह (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)

१९. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २००
२०. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
२१. कार्यकारणभाव विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
२२. प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०

नित्यस्तोत्रपाठ:

२३. पुष्टिपाठावली (हिन्दी) १०
२४. पुष्टिपाठावली (गुजराती)अजिल्द/सजिल्द १०/२०
२५. पुष्टिविधानम् (पाठावली-ब्रजभाषा) अप्राप्य
२६. पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, गुज.) अप्राप्य
२७. पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(संक्षिप्तगुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थ:

२८. पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
२९. ComputerCD:www.pushtimarg.net अप्राप्य
३०. Summary of Shuddhadvaita Vangmaya. लेखक: गो.शरद् 15

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

३१. पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००
३२. पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका ८०
३३. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) श्रीवल्लभाचार्य विरचित, साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
३४. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) श्रीवल्लभाचार्य विरचित, साधारण/राजसंस्करण ८०/१००
३५. श्रीभागवतमहापुराण, चार खण्डमें (गुर्जरभाषानुवाद) ३००
३६. विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
३७. गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क
३८. गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
३९. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
४०. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
४१. श्रीकृष्णचरित्र/दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी ८०
४२. श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक : पूर्ववत्, पदच्छेद-अन्वय-शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय-शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका, गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण गुजराती अनुवाद सहित ५०
४३. रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क
४४. सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क
४५. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो, (गुजराती) ७०

गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ महाप्रभु स्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौन्दर्यपद, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, मधुराकृष्णाप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पञ्चश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद.

४६. विशोधनिका (गुज) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी — निःशुल्क
४७. ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी — निःशुल्क
४८. भक्तिवर्धिनी (गुजराती), विवेचक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी — निःशुल्क
४९. पुष्टिअस्मिता संवर्धक शिविर, भरूच, राष्ट्रीय संमेलन — २५
५०. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ[हिन्दी], विवेचक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी — निःशुल्क
५१. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ[गुजराती], विवेचक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी — निःशुल्क
५२. अमृतवचनावली(हिन्दी)प्राचीन-अर्वाचीन-आधुनिक गो.आचार्योंके वचनामृत — निःशुल्क
५३. हमकुं इतनी समझ भली : अमृतवचनावली(गुजराती) — निःशुल्क
५४. कृष्णाश्रय, टीका : श्रीकल्याणरायजी + गुजराती अनुवाद. — ०७
५५. सेवाकौमुदी (नवधाभक्ति), हिन्दी
लेखक : श्रीलालूभट्टजी, व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी — निःशुल्क
५६. पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (गुजराती)
लेखक : श्रीगुसांईजी, व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी — निःशुल्क
५७. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ (गुजराती)
लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया — ५०
५८. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ (गुजराती)
लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया — ५०

इतिहासग्रन्थ

५९. आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली का आपसी टकराव — निःशुल्क
६०. आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली नो आपसी टकराव[गुजराती] — निःशुल्क

सहयोग प्रकाशनः

श्रीभागवतसुबोधिनी गुर्जरभाषानुवाद. अनुवादकः गो.वा.श्रीनाथुलाल गांधी

१-११ दशमस्कन्ध — अप्राप्य
१२. एकादशस्कन्ध — अप्राप्य
१३-१५ तृतीयस्कन्ध — अप्राप्य
१६. द्वितीयस्कन्ध — अप्राप्य
१७. श्रीगुसांईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी — अप्राप्य
१८. Srimad Vallabhacharya, His Philosopohy and Life, Prof. J. G. Shah — 100
१९. Srimad Vallabhacharya, His Philosopohy and Religion, Prof. J. G. Shah — 300
२०. Sri Vallabhacharya and His Teachings, Dr.Chimanlal Vaidya — 100
२१. Doctrines of Vallabhacharya, Ishverbhai S. Amin — 100

▶ गोशाला

▶ पुष्टिसाहित्यविक्रय केन्द्र, नन्दचौक, गोकुल
संचालनः श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल

▶ जीर्णोद्धार : तृतीय पुत्र श्रीबालकृष्णजी बैठकजी (विंजाण-कच्छ)
संचालन : श्रीबालकृष्णजी बैठकजी जीर्णोद्धार समिति

▶ छात्रालय (गोकुल): संस्कृतका अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये
संचालनः श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल

▶ छात्रवृत्ति (गोकुल-वाराणसी-पूना)

▶ Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj, Hindi, Gujarati & English literature written on the base of such writings.

षोडशग्रन्थ प्रवचनमाळाना कायमी केन्द्रो :

भुज	गांधीधाम	मोरबी	राजकोट	वलसाड	जेतपुर
गोंडल	भाणवड	अमदावाद	आणंद	जयपुर	आपुनगर
वडोदरा	हालोल	भरुच	सुरत	जुनागढ	कांदीवली
गोधरा	कालोल	भावनगर	तालाळा	वरछा	अंकलेश्वर

षोडशग्रन्थ अध्ययन केन्द्रोमाटे सम्पर्क :

राजकोट	प्रवीणभाई डाणीया	९४२७४६५१५६
जुनागढ	व्रजेशभाई-हीनाबेन	९४२८२४२०५४/२६५९८३१
गोंडल	पंकजभाई तन्ना	९९९८४७५२२०
मोरबी	हितेशभाई	९८२५८१७२३५
हालोल	भानुबेन ओझ	(०२६७१) २२९७४३
वडोदरा	नरेन्द्रभाई/भुवेशभाई	(०२६५) २३६७४७/९२२७९३५७४०
आणंद	मिरीशभाई शाह	(०२६२) २४४०४१
अमदावाद	नेजलभाई/विमलभाई	९४२१३८४४९८/९१३००८०८
भरुच	देवेन्द्रभाई शाह	९४२८७३१३०२
सुरत	सुनीलभाई/पंकजबेन	९८२५५४७०१३/९९९८२२०२९०
भुज	प्रफुल्लभेन सोनी	(०२८३२) २३०४०२
अदिपुर	रश्मिबेन सोनी	(०२८३१) २१०००७

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सन्याख्यषोडशग्रन्थ [illegible]
   - खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
   - खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
   - खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. सन्याख्यषड्ग्रन्थाः [illegible]

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
   - खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
   - खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
   - खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४. प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
   - खंड १. प्रथमाध्याय [illegible]
   - खंड २. प्रथमाध्याय [illegible]
   - खंड ३. द्वितीयाध्याय
   - खंड ४. तृतीयाध्याय
   - खंड ५. चतुर्थाध्याय

५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
   - खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध
   - खंड ४. जन्मप्रकरण
   - खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
   - खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
   - खंड ७. तामसफलप्रकरण
   - खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रत्यानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. अवतारवादावली
   - खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्यकारवाद.
   - खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशमानिरासवादः,

उपदेशादिविषयकशमा-
निरासवादः, भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमाला-धारणवादः, शङ्खचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादि

-प्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शमानिरासवादः.

१२. पुष्टिविधानम् [illegible]

१३. सन्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

१४. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

४क्र.१, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.ट्रो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

प्रकाश्य :

श्रीमद्भागवतसुबोधिनीः तृतीयस्कन्ध, राजस साधन-फल प्रकरण, सात्त्विक प्रमेय-साधन- फल प्रकरण, गुण प्रकरण, एकादशस्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमचरण किञ्चितः वादावली खंड १, गीता टीका, उपनिषद् टीका उत्सवप्रधान-अपराधनिरूपणम् आदि

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

-वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह(हिन्दी)
-रसदृष्टिनी तरफेणमां (हिन्दी-गुजराती)
-विवेक (हिन्दी)
-विशोधनिका (तीन खंड) (गुजराती-हिन्दी)
-पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
-गृहसेवा और व्रजलीला (गुजराती-हिन्दी)
-नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी)
-श्रीयमुनाष्टकम्(हिन्दी)
-सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)
-सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती)
-पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)
-सेवाकौमुदी(हिन्दी)
-श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप(हिन्दी)
-भक्तिवर्धिनी, गुजराती(पीपरीया)
-नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण(गुज-हिन्दी)
-सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (गुजराती-हिन्दी)
-शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
-धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
-भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार : एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
-पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार. (गुजराती)

सम्पर्क :
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी, ४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई-५६. फोन : (०२२) २६१४४३२६

एम्.पी.थ्री तथा वीडीओ सी.डी. (२००८ पर्यन्त)

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला)

एम्.पी.थ्री सी.डी :

सर्वोत्तमस्तोत्रम् वर्ष ९५ से २००८ पर्यन्त, कुल ३२ सी.डी.
साधनप्रकरणम् ९८-२००८ एम्.पी.थ्री. २३, वी.सी.डी. ०५-०८ कुल ९२
पुष्टिविधानम्, ४ सी.डी.
वल्लभवचनामृत ९८-२००१, २००३/४,५,७; कुल १२ सी.डी.
पञ्चश्लोकी, गुजराती, २ सी.डी.
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, गुजराती, १ सी.डी.
सिद्धान्तरहस्यम्, राजकोट, गुजराती, कुल २ सी.डी.
नवरत्नम्, १ सी.डी.
भक्तिवर्धिनी, गुजराती, १ सी.डी.
भक्तिवर्धिनी, हिन्दी २ सी.डी.
अन्तःकरणप्रबोध, १ सी.डी.
सेवाफल, १ सी.डी.
पत्रावलम्बनम्, गुजराती, २ सी.डी.
सिद्धान्तवचनावली, गुजराती, एम्.पी.थ्री. ३, वी.सी.डी. ३२
गोपीगीत, २ सी.डी.
प्रश्नोत्तरी (मुंब,राजकोट,गोंडल,अहमदाबाद,अमरेली,जुनागढ) १ सी.डी.
भगवद्गीता, गुजराती अध्याय ४(अपूर्ण), ९, १२, १५; कुल ७ सी.डी.
पुष्टि अस्मिता, गुजराती, १ सी.डी.
गृहसेवा और व्रजलीला, १ सी.डी.
सेवाकौमुदी, गुजराती, जुनागढ, २ सी.डी.
षोडशग्रन्थ पाठ, १ सी.डी.
पत्रावलम्बन, २ सी.डी.
विशोधनिका, २ सी.डी.
वल्लभवेदान्त अन्तर्गत भागवतका स्थान, १ सी.डी.
बालकोंकेलिये
-ब्रह्मवाद, एम्.पी.थ्री. १, वी.सी.डी. २
-सिद्धान्तरहस्य, एम्.पी.थ्री. १ -भक्तिवर्धिनी, एम्.पी.थ्री. १

वीडीओ सी.डी.

सर्वोत्तमस्तोत्रम् १९९९,२००२-०८, कुल १५१ सी.डी. (वर्ष ९५,९७,९८ शीघ्र)
पुष्टिमार्गमें नन्दोत्सव ऐतिहासिक नहीं शाश्वत है

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा पक्षग्रहण, ३ सी.डी.
प्रश्नोत्तरी (गोंडल) १

गोस्वामी श्रीभूषणकुमारजी (मांडवी-गोकुल)

जयपुर प्रवचन १ सी.डी.

गोस्वामी श्रीपंकजकुमारजी (मांडवी-गोकुल)

शिक्षाश्लोका: राजकोट, १ सी.डी.
प्रमेयरत्नार्णव जगत्-जीव-ब्रह्म, १ सी.डी.

गोस्वामी श्रीयोगेशकुमारजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)

षोडशग्रन्थपरिचय
साधनदीपिका, उरण-देवलाली-पूना-कांदीवली ६ सी.डी.
कृष्णाश्रय सुरत, एम्पीथ्री १, वीसीडी १२
सिद्धान्तमुक्तावली, आणंद
सिद्धान्तरहस्य, राजकोट
चतुःश्लोकी, भरूच
पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रम्, मुंबई
सेवाकौमुदी (नवधाभक्ति)
प्रमेयरत्नार्णव
-जगत्-जीव-ब्रह्म एम्पीथ्री २
-पुष्टि-पुष्टिभक्ति अधिकार एम्पीथ्री ३
-सर्वात्मभाव-फल एम्पीथ्री १

गोस्वामी श्रीशरदकुमारजी (मांडवी)

बालबोध-चतुःश्लोकी, एम्पीथ्री १, वीसीडी १०
सिद्धान्तमुक्तावली, एम्पीथ्री १
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, एम्पीथ्री १, वीसीडी ११, डीवीडी २
सिद्धान्तरहस्य, एम्पीथ्री १, वीसीडी ११
नवरत्न, एम्पीथ्री १, वीसीडी १०
अन्तःकरणप्रबोध, एम्पीथ्री १, वीसीडी १०
विवेकधैर्याश्रय, एम्पीथ्री १, डीवीडी २
कृष्णाश्रय, एम्पीथ्री १, वीसीडी १०, डीवीडी २

भक्तिवर्धिनी, एम्पीथ्री १, वीसीडी १०, डीवीडी २
संन्यासनिर्णय, एम्पीथ्री १, डीवीडी २
बालशिविर (गोकुल), विषय :

उच्चारशुद्धि	सामान्य-विशेष धर्म	सम्प्रदाय
देवता	तिथि-पक्ष-मास-ऋतु-उत्सव	जीवात्मा

बालशिविर, हालोल
बालशिविर, (बेटद्वारका), विषय :

कर्मफल-पुनर्जन्म	जीवात्मा	सात्त्विक-राजस-तामस-निर्गुण,
चतुःस्लोकी	कृष्णचरित्र-द्वारकालीला	

बालशिविर, (नाशिक), विषय :

यहूदीधर्म ईसाईधर्म इस्लामधर्म जैनधर्म बौद्धधर्म

प्रमेयरत्नार्णव

-जगत्-जीव-ब्रह्म एम्पीथ्री ३
-पुष्टि-पुष्टिभक्ति अधिकार एम्पीथ्री २
-सर्वात्मभाव-फल एम्पीथ्री ३, वीसीडी २१, डीवीडी ४

धर्म-आत्मधर्म, धर्म-धर्मसम्प्रदाय-गुरु-उपास्य-सिद्धान्त एम्पीथ्री १

अन्य सी.डी.

पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिबिर-१, भरूच
शरणागति चिन्तन शिविर-२, हालोल
शरणागति चिन्तन शिविर-३, राजकोट

सी.डी. प्राप्त करनेके स्थान :

(अपेक्षित सी.डी. प्राप्त करनेकेलिये लिखित पूर्वसूचना देनी आवश्यक है)

श्रीमती कल्पनाबेन काणकीया, काणकीया हाउस्, स्वस्तिक सोसायटी, जुहु क्रोस् रोड नं. ४, विलेपार्ले (पश्चिम), मुंबई-५६, फोन :(०२२)२६१३४९४२

पुष्टिअस्मिता संवर्धन केन्द्र, सावं ६ से ८, रजपूतपरा, राजकोट, गुजरात.
फोन : ९४२७४९५१५९

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बजार, मांडवी - कच्छ, गुजरात, ३७०४६५.
फोन : ०२८३४-२३१४६३

।। प्रकाशकीय ।।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यना मते जड-जीवात्मिका आ समग्र सृष्टि भगवाने पोतानी क्रीडाभाटे सरजी छे. क्रीडाना ज भाग रूपे भगवाने जीवसृष्टिने, यत्र-तत्र-सर्वत्र भटकनारा चर्षणीजीवोने आद करतां, मुख्यत्वे पुष्टि, मर्यादा अने प्रवाह मार्गोमां पहोंची छे. भगवाननी जगत्क्रीडामां, चर्षणीजीवो सहित, त्रणेय प्रकारना जीवोनी पोत-पोतानी जुदि-जुदि आगवी भूमिका छे. त्रणेय प्रकारना जीवो जगतमां पोत-पोतानी भूमिका भगवाने ईच्छेल प्रकारे भजवी शके ते माटे भगवाने जाते ज जीवोनुं स्वरूप एटले के तेमनो स्वभाव-बंधारण जुदुं-जुदुं घड्युं छे. भगवाने नक्की करेलुं जीवोनुं आ स्वरूप अफर होय छे. तेथी ज जे जीवोने भगवाने प्रवाही-आसुरी बनाव्या छे तेओ सृष्टिना अन्त सुधी प्रवाही-आसुरी ज रहे छे, कदि पण मर्यादा के पुष्टि बनी नथी शकता. ते ज प्रमाणे मर्यादा अने पुष्टि जीवो नुं पण होय छे.

भगवानने केवण जीवोमां भेद पाडीने सन्तोष न थतां त्रणेय प्रकारना जीवोना सूक्ष्म-स्थूल देहनुं बंधारण, तेमना पर थती क्रिया-कर्म-साधन-पुरुषार्थो, तेमना प्राकट्यनी रीत तेमज तेमने आखरे मणनारा फलोने पण भगवाने एक-बीजाथी तद्दन जुदा-जुदा कर्या छे. टुंकमां कहीए तो पुष्टि, मर्यादा, प्रवाह अने चर्षणी आ चारेय जीवोनुं आरंभथी लईने अन्त सुधी बधुं तद्दन जुदुं-जुदुं छे. आम छतां श्रीमहाप्रभुजीए जोयुं तो भूतण ड्रिपर तो बधुं भेळसेळियुं डामडाज चाली रह्युं हतुं. पुष्टि, मर्यादा अने प्रवाह मार्गो एक-बीजाथी अे हद्दे मिश्रित थई गया हता के कोई पण मार्गने चोक्खो अलग तारवी शकाय तेवी स्थिति ज न हती. आ कारणे भगवाने जे जीवोने जे मार्ग उपर चालवामाटे प्रकट कर्या हता तेओ पोताना मार्गने ओळखी न शकवाने कारणे गमे ते मार्गमां भटकी रह्या हता. हुटपाथ उपर मोटर चालती होय, हाईवे उपर लोको पत्ता अने क्रिकेट रमता होय, डिवाईडर उपर पशुओ घास चरता होय, जवाना रस्ते लोको आवता होय अने आववाना रस्ते वाहनो पार्क करेला होय अेवी सम्पूर्ण अराजकतानुं साम्राज्य हतुं. आवी स्थितिमां पुष्टिजीवोने पुष्टिभक्तिनो मार्ग देखाडवो-समजावो अने तेमने पुष्टिभक्तिना मार्ग उपर चलावववा केम अे श्रीमहाप्रभुजीनी सामे अेक यक्षप्रश्न हतो.

भगवाने पोतानो अभिप्राय शास्त्रोमां स्पष्ट जणाव्यो छे के पुष्टिजीवो जो पुष्टिभक्तिमार्गनुं अनुसरण करशे अने मर्यादाजीवो जो मर्यादामार्गने अनुसरशे तो तेमना माटे नियत थयेल फल तेओ प्राप्त करशे. तेथी श्रीमहाप्रभुजीनी अे दृढ मान्यता छे के पुष्टिभक्तिमार्ग अे केवण पुष्टिजीवो माटे ज छे, मर्यादा के प्रवाही जीवोमाटे नथी ज. तेथी ज भगवाने नक्की करेल जीवात्मानी (पुष्टि-मर्यादा-प्रवाह) योग्यताना धोरणोने श्रीमहाप्रभुजीए पोतानी सम्प्रदाय व्यवस्थाना पाया तरीके स्थान आप्युं.

श्रीमहाप्रभुजीने भगवाननी आज्ञा पुष्टिजीवोने सेवा-भक्तिना मार्गे वाणवानी थई हती. मर्यादामार्गमां जो के कर्म-ज्ञान वगेरे साधनाना प्रकारो, शास्त्रीय होवा छतां,

પુષ્ટિજીવમાટે પુષ્ટિફળની પ્રાપ્તિ કરાવી આપવાની દૃષ્ટિએ તે કોઈ કામના ન હતા. ભક્તિ મર્યાદામાર્ગમાં પણ હતી પરન્તુ મર્યાદાભક્તિની પૂજન-અર્ચનાદિ સાધના કરવાની પાત્રતા જનોઈ વગરના પુરુષો તેમજ સ્ત્રી-શૂદ્રોને ન હતી. ખાસ તો મર્યાદાભક્તિનો પ્રકાર શ્રીમહાપ્રભુજીને ખરા પુષ્ટિભક્ત માટે અપૂર્ણ અને ખૂંચણાવનારો જણાયો.

૧. મર્યાદાભક્તિમાં તો પત્રં-પુષ્પં ચાલે કેમકે ત્યાં તો દેવતાઓ ભોગને જોઈને જ ધરાઈ જાય છે. આવો 'ભોગ', પરન્તુ, પુષ્ટિભક્ત કદિ પોતાના પ્રભુને ધરી ન શકે. તેને ઠાકોરજી ભૂખ્યા રહ્યા એવો રંજ રહે.

૨. મર્યાદાભક્તિમાં વસ્ત્ર-જલ-નૈવેદ્યનું પ્રતીકાત્મક અર્પણ કરવામાં આવે તો પણ પૂજન કર્યું ગણાય છે જ્યારે પુષ્ટિભક્તની ભાવના તો સર્વસ્વનું સમર્પણ -વિનિયોગ કરવાની હોય છે.

૩. મર્યાદાભક્તિમાં યજમાન પોતે કંઈ ન કરે અને ચોરને દક્ષિણા આપીને પૂજા કરાવે તો પણ દેવતાઓ તેવી પૂજાને માન્ય રાખે છે. પરન્તુ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગમાં આવી સેવાને ભગવાન્ પોતાનો તિરસ્કાર સમજે છે. ભક્તિમાર્ગમાં તો જાતે જેટલું કરવામાં આવે તેને જ ભગવાન્ માને છે અને સાચો ભક્તિમાર્ગી પણ કોઈના ભરોસે પોતાના ઠાકોરજીને મૂકી ન શકે.

૪. મર્યાદામાર્ગમાં જાહેર મંદિરમાં સેવા કરાવી શકાય છે (જેમ શ્રીનાથજી પોતાની ઇચ્છાથી મર્યાદામાર્ગી મંદિર પ્રણાલીમાં બિરાજ્યા હતા તેમ). પરન્તુ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગમાં તેવા મન્દિરને કોઈ સ્થાન જ નથી. મન્દિરસેવામાં સેવાકર્તા સર્વસ્વનું સમર્પણ તેમજ આસમર્પિતનો ત્યાગ કરી શકતો નથી. અને આ બે વિના પુષ્ટિભક્તિ થતી નથી.

૫. મર્યાદામાર્ગમાં કોઈ ત્રાહિત વ્યક્તિ દેવપૂજાર્થે ભેટ-સામગ્રી આપી શકે છે જ્યારે ભક્તિમાર્ગમાં તો સર્વસ્વનું સમર્પણ છે તેથી ઠાકોરજીને ભેટ કેવી! જો ભૂલેચૂકે કોઈકની ભેટ-સામગ્રી સેવાકરનાર પોતાના ઠાકોરજીને ભોગ ધરે તો તેના ઠાકોરજી ભૂખ્યા જ રહે છે (જુઓ કિશોરીભાઈની વાર્તા). અને જો પોતે ઠાકોરજીને ભેટ ધરે તો તે દેવદ્રવ્ય બને. ભેટ ધરેલ દ્રવ્ય કે સામગ્રી નો પ્રસાદ લેવામાં આવે તો નરકમાં પડાય!

૬. મર્યાદામાર્ગમાં કર્મ-પૂજા કરવામાં વર્ણાશ્રમની યોગ્યતા અનિવાર્ય ગણાય જ્યારે ભક્તિમાર્ગમાં તો પ્રભુ મેહા ઢીમર, મોહના ભંગી, અલીખાન અને તાજબીબી ની પણ સેવા સ્વીકારી શકે છે.

આવી સ્થિતિમાં શ્રીમહાપ્રભુજી માટે સૌથી અગત્યનું કાર્ય હતું : મર્યાદાભક્તિથી પુષ્ટિભક્તિને જુદી પાડવી.

શ્રીમહાપ્રભુજી જ્યારે પ્રકટ થયા ત્યારે, કોઈ પણ વચેટીયા વિના, સર્વસ્વસમર્પણ પૂર્વક પોતાના ઘરમાં જ શ્રીકૃષ્ણની પુષ્ટિભાવોથી તનુવિત્તજા સેવા કરવાની

પુષ્ટિભક્તિ-માર્ગીય સાધનાપ્રણાલીથી પુષ્ટિજીવો માહિતગાર ન હતા. બધે ઠેકાણે મર્યાદાભક્તિની જ બોલબાલા હતી. બિચારા પુષ્ટિજીવો પણ તેમના ચાલવાનો માર્ગ પ્રકટ થયો ન હોવાથી મર્યાદાભક્તિનું અનુસરણ કરીને મન મનાવી રહ્યા હતા. ભગવાન્ અને ભક્તો વચ્ચે પુજારી-પંડાઓ વચેટિયા-દલાલોની માફક અડિંગો જમાવીને બેઠા હતા. "અમને દક્ષિણા આપ્યા વિના, અમારી પૂજા કર્યા વિના તમે સીધા ભગવાનને કેવી રીતે ભજી શકો! શાસ્ત્રે નકકી કરેલી વર્ણાશ્રમની યોગ્યતા તમારામાં ક્યાં છે? પવિત્રતાના નિયમો તમે ક્યાં પાળો છો? ઘર તો આંધડા કૂવા જેવો છે. ઘરમાં વળી ધર્મ-ભક્તિ કેમ થાય! ધર્મ-ભક્તિ માટે તો અમારા મંદિરોમાં જ આવવું પડે" આવી લુખ્ખી ધાક-ધમકી આપીને અબુધ શ્રદ્ધાળુ લોકોનો ગેરલાભ પોતાનો સ્વાર્થ સાધવા સર્વત્ર લેવાતો હતો. શ્રીમહાપ્રભુજીએ જોયું કે આ તો શાસ્ત્રમર્યાદાના નામે ભક્તોને ભગવાન્થી દૂર રાખવાનું ષડયન્ત્ર છે!

આવે વિપરીત સંજોગોમાં શ્રીમહાપ્રભુજીએ અપાર પરિશ્રમ લઈને મર્યાદામાર્ગથી નોખો પાડીને શાસ્ત્રથી અવિરુદ્ધ એવો પુષ્ટિભક્તિનો માર્ગ પુષ્ટિજીવોને સમજાવ્યો. મર્યાદામાર્ગીય પુજારી-પંડાઓની વચેટીયા-દલાલોવાળી સેવા પ્રણાલીને ઠેકાણે આપે જેમાં કોઈ પણ વચેટિયો-દલાલ-પુજારી-પંડો ન હોય તેવી સર્વસ્વસમર્પણ પૂર્વક પોતાના ઘરમાં જ શ્રીકૃષ્ણની પુષ્ટિભાવોથી તનુવિત્તજા સેવા કરવાની પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધનાપ્રણાલીની શરૂઆત ભગવદાજ્ઞાથી કરી.

કલિકાલની બલિહારી કહો કે કલિકાલના ટેકેદારો એવા પુષ્ટિનો ઝંડો લઈને દોડનારા અર્વાચીન તથાકથિત પુષ્ટિમાર્ગીઓની બલિહારી કહો; આજે પુષ્ટિમાર્ગ ફરીથી એ જ દોરમાંથી પસાર થઈ રહ્યો છે કે જે દોરમાં તે શ્રીમહાપ્રભુજીના પ્રાકટ્ય પૂર્વે હતો. નવું અનાજ વીણી-ચાળીને ચીપડામાં ભરતા પહેલાં તડકામાં તપાવવા માટે આંગણામાં રાખ્યું હોય અને કોઈ વાંદરો આવીને તેને ધૂળમાં પટકી દે અને બધું ધૂળધાણી થઈ જાય ત્યારે અનાજ સાફ કરનારના મન ઉપર જે વીતતું હશે તેવી જ મનોદશા આજના પુષ્ટિમાર્ગને જોઈને શ્રીમહાપ્રભુજીની પણ થતી હશે. અપાર પરિશ્રમ લઈને આપે જે પુષ્ટિભક્તિમાર્ગને મર્યાદામાર્ગથી જુદો પાડીને, પુષ્ટિજીવો તેના ઉપર નિર્વિઘ્ન ચાલી શકે તેવો બનાવ્યો હતો તે જ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગમાં આજે મર્યાદામાર્ગ અને તેથી પણ આગળ જઈને આસુરી-પ્રવાહમાર્ગની પ્રણાલીઓ ની **સુનિયોજિત રીતે** ભેળસેળ કરી દઈને પુષ્ટિજીવો માટે તેને દોજખ જેવો બનાવી દેવામાં આવ્યો છે, નેસ્ત-નાબૂદ કરી દેવામાં આવ્યો છે. અહીં યાદ રહે કે શ્રીમહાપ્રભુજીની મહેનત ઉપર પાણી ફેરવી દેનારાઓ બહારના લોકો નહીં પણ પુષ્ટિમાર્ગમાં જ રહીને મહાપ્રભુજીના ગુણગાનારા લોકો જ છે.

વલ્લભવંશજો પુષ્ટિમાર્ગમાં મર્યાદા, પ્રવાહી અને ચર્વણી જીવોને પ્રવેશ આપીને શ્રીમહાપ્રભુજીએ ઉગાડેલા પુષ્ટિવૃક્ષના મૂળમાં ઘા કરી રહ્યા છે. શાસ્ત્રીઓ ધંધાકીય પ્રવાહી ભાગવતકથા દ્વારા શ્રીમહાપ્રભુજીની મહેનત ઉપર પાણી ફેરવી રહ્યા છે. અન્યાશ્રયી અને સેવારહિત અસમર્પિત જીવન જીવનારા કથિત વૈષ્ણવાગ્રણીઓ સમ્પ્રદાયની સંસ્થાઓના

પદાધિકારી બનીને પુષ્ટિમાર્ગના નામે ચાલતી સંસ્થાઓદ્વારા પ્રવાહી અને મર્યાદા અભિયાનો ચલાવી રહ્યા છે. અશાસ્ત્રીય અને તેમાંય લોક-વેદાતીત પુષ્ટિમાર્ગના નામે કાલ્પનિક વ્રતો-મન્ત્રો-યજ્ઞોના ગુરુઓ દ્વારા કરાતા અનુષ્ઠાનો શ્રીમહાપ્રભુજીના 'કૃષ્ણાશ્રય'ની ઠેકડી ઉડાવી રહ્યા છે. 'પુષ્ટિ' નામનો દુરુપયોગ કરીને ચાલતી ધંધાકીય હવેલી-મન્દિરો શ્રીમહાપ્રભુજીએ ઉપદેશેલી સર્વસ્વસમર્પણાત્મિકા તનુવિત્તજા સેવાસાધનાને 'દર્શન(ભક્તિ!)' માત્રમાં અને સ્વગૃહસેવારૂપા પુષ્ટિભક્તિના માર્ગને 'હવેલીમાર્ગ'માં નામશેષ કેમ બનાવી શકાય તેનું લાઈવ્ ડેમોન્ટ્રેશન્ આપી રહ્યા છે. અને, સમ્પ્રદાયના નામે છપાતા ચોપાનીયાઓ અને માસિકપત્રો આવા જઘન્ય અને ભેળસેળીયા પ્રકારોનો જોર-શોરથી પ્રચાર-પ્રસાર કરીને કાળને અનુરૂપ બની રહ્યા છે!

અનેક પ્રતિબન્ધોથી ઘેરાયેલા પુષ્ટિમાર્ગને માર્ગભેદનું વિલોપન કરવાના ષડયન્ત્રરૂપી પ્રતિબન્ધનું પણ ગ્રહણ લાગેલું છે. સમ્પ્રદાયના એક સુપ્રસિદ્ધ માસિકપત્રના તન્ત્રીએ પોતાના માસિકપત્રના પચીસ વર્ષ પૂર્ણ થવાના અવસર પર પ્રકાશિત થનારી સ્મારિકામાં છાપવામાટે મને શુભેચ્છા સન્દેશ લખી મોકલવા પત્ર લખ્યો હતો. પત્રના જવાબમાં મેં ઉપરોક્ત લખાણ ''મર્યાદા અને પુષ્ટિ નો ભેદ જાળવીશું!'' મથાળા હેઠળ મોકલાવ્યું, જેની ધારણા, જો કે, હતી જ તે મુજબ— એક તરફ તો પુષ્ટિમાર્ગના સિદ્ધાન્તો સરળ રીતે સમજાવવાનો દાવો કરનારા અને બીજી તરફ ધંધાકીય હવેલીઓના ઉદ્ઘાટન, ઠાકોરજીના ધંધાકીય પાપપૂર્ણ મનોરથો, ધંધાકીય પાપપૂર્ણ ભાગવતકથાઓ, ધંધાકીય વ્રજયાત્રાઓ, ધંધાકીય ચુંદડી-ચોટી મનોરથો ના સમાચારો પાના ભરી-ભરીને છાપનારા એ માસિકપત્રના તન્ત્રીને ઉલ્લિખિત 'પુષ્ટિપ્રવાહમર્યાદાભેદ' છાપવાયોગ્ય ન લાગ્યું!

પુષ્ટિમાર્ગમાં એક પ્રતિબન્ધ આ પણ છે. આ, પરન્તુ, અજ્ઞાન-પ્રમાદાદિ જન્ય પ્રતિબન્ધ ન હોઈ શ્રીમહાપ્રભુજી અને પુષ્ટિમાર્ગ વિરુદ્ધ સુનિયોજિત કાવતારા રૂપે ઊભો કરવામાં આવેલ અપરાધ-ક્રાઈમ્ રૂપ પ્રતિબન્ધ છે જે પ્રસ્તુત ગ્રન્થનો તલસ્પર્શી અભ્યાસ કરનારને જણાયા વિના નહીં રહે.

આજે અંદાજે બસ્સો-અઢીસોથી વધુ વલ્લભના સાક્ષાત્ વંશજો ભૂતળને અલંકૃત કરી રહ્યા છે. આમ છતાં પુષ્ટિજીવોને ફરીથી શ્રીમહાપ્રભુજીના પ્રાકટ્યની જરૂરીઆત જણાઈ રહી છે કે જેઓ ભૂતળ ઉપર પધારીને ફરીથી પ્રવાહ અને મર્યાદા થી આક્રાન્ત થઈને લુપ્ત થઈ ગયેલ, સ્વગૃહમાં તનુવિત્તજા સેવાવાળા, શુદ્ધ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગને પ્રકટ કરે અને તેના દમ્ભી પુષ્ટિપ્રચારને નિર્મૂળ કરે! પ્રસ્તુત ગ્રન્થ શ્રીમહાપ્રભુજીને સાચા અર્થમાં-નુસરવા માંગતા સાધકને તેના માર્ગમાં આવનારા પ્રતિબન્ધો તેમજ તેનાથી બચવાના મહાપ્રભુક્ત ઉપાયો ને સમજવામાં અત્યુપકારક થશે એવા વિશ્વાસ સાથે...

પવિત્રા એકાદશી

શ્રીવલ્લભાચાર્ય ટ્રસ્ટ વતી
શરદ ગોસ્વામી

।। विषयानुक्रम ।।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी	विषयप्रवर्तन	१
श्रीहंसराज वेद	पुष्टिभक्तिमार्गनी साधनामां बाधक चिंतानुं स्वरूप अने निवारण	११
	चर्चा	२५
श्रीगोपालदास शाह	पुष्टिभक्ति अने प्रपत्ति मां प्रतिबंधरूप अज्ञान	३२
	चर्चा	३९
श्रीरसिक शाह	पुष्टिमार्गीय भक्ति अने प्रपत्ति नी साधनामां प्रतिबन्धक : भोग	४२
	चर्चा	५६
श्रीपरेश शाह	पुष्टिमार्गीय भक्तिसाधनामां प्रतिबन्धक : अत्याग्रह (भगवत्सेवाना सन्दर्भमां)	६६
	चर्चा	७८
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी	द्वितीयदिवसीय उपक्रम	८३
श्रीमती जयलक्ष्मी तैलंग	भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध (शिक्षापत्रमें मिलते उपदेशोंके प्रकाशमें)	८८
श्रीयोगेश गोस्वामी	काम-क्रोध-लोभादिकी प्रतिबन्धकता	१०३
	चर्चा	१२१
श्रीअसित शाह	आसुरावेश	१२७
	चर्चा	१३५
श्रीशरद् गोस्वामी	पुष्टिभक्ति-प्रपत्ति साधनामें प्रतिबन्ध: अध्यास	१४३
	चर्चा	१७८
श्रीमती अंकिता शाह	Obstructions in Seva. A scientific perspective	२०१
	चर्चा	२१३
श्रीहितेन्द्र शाह	पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणालीमां प्रतिबन्धनो विचार अशक्तिना सन्दर्भमां	२१४

	चर्चा	२२३
श्रीधर्मेन्द्रसिंह झाला	भक्तिकी विभिन्न अवस्थानमें आते प्रतिबन्ध अरु प्रतिबन्धनिवृत्तिके उपाय	२२८
	चर्चा	२४७
श्रीमनोज गोस्वामी	सेवाफल ग्रन्थोक्त साधारण प्रतिबंधका व्यावहारिक स्वरूप	२५०
	चर्चा	२७२
अनिल भाटिया– –आशिष जोशी	पुष्टिभक्तिमार्गीय साधना प्रणालीमें प्रतिबन्धक : परपीड़ा	२७४
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी	चतुर्थ दिवसीय उपक्रम	२७९
डॉ. श्रीगजानन शर्मा	पुष्टिभक्ति–साधनामें महाप्रतिबंध अन्याश्रय	२९१
	चर्चा	३१८
आशिष शाह	પુષ્ટિ ભક્તિ સાધનામાં પ્રતિબંધઃવિષયસંગ (नैकान्ते वास ईप्यते ना संदर्भमां)	३२३
	चर्चा	३३४
श्रीमती गोपी–जगदीश	पुष्टिभक्तिमार्गीय भक्तिसाधनामां प्रतिबंधक–विक्षेप	३५०
	चर्चा	३५५
श्रीदेवेन्द्र शाह	प्रतिबंधः अविवेक	५५७
श्रीख्याति द्वारकादास	भक्ति और प्रपत्ति में भगवत्कृत प्रतिबंध	३७३
	चर्चा	३८३
श्रीभावेश परमार	પુષ્ટિભક્તિ અને પ્રપત્તિ સાધનામાં પ્રતિબંધ : 'અધૈર્ય'	३८७
श्रीश्याम मनोहर गोस्वामी	आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली का आपसी टकराव (भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध होनेके सन्दर्भमें)	३९९
परिशिष्ट	हिन्दीभाषाभावानुवादसहित वचनावली	४३५
	पुष्टिसिद्धान्त–चर्चासभाका संक्षिप्त वृत्त	४६८
	अमृतवचनावली	४७३

विषयप्रवर्तन

अध्यक्ष : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनः तव पादयोर्मे
स्मृत्यां शिरस्तवनिवासजगत्प्रणामे दृष्टिस्सतां दर्शनेस्तु भवत्तनूनाम्

आज पाठके दरम्यान मोकुं एक सुन्दर वचन मिल्यो. और अपनी या चर्चागोष्ठीकेलिये अपन जो भी शुभकामना या शुभभावना रख सके हैं वाको एक्सप्रेशन् मैं नहीं समझुं हूं के वासुं ज्यादा अच्छे शब्दनमें दूसरो कोई हो सके है.

ये तैत्तिरीय संहिताको वचन है. ये जा अध्यायको वचन है वाकुं नमकाध्याय–चमकाध्याय कह्यो जाय है. वैसे तो चमकाध्यायमें ओर भी कई देवताएं हैं पर एक ऋचामें अग्नाविष्णु ऐसे दो देवताको उल्लेख आवे है. श्रीमहाप्रभुजी अग्निस्वरूप माने गये हैं, कृष्ण महाविष्णुरूप हैं.

ऋचा ऐसे है : "**अग्नाविष्णुः सजोषसा इमा वर्धन्तु**". अग्नि और विष्णु अपनी दोस्तिके कारण इन चीजनकुं बढावें.

"**असुश्च मे, चित्तन्तच मे, अधीतञ्च मे, वाक् च मे, मनश्च मे, चक्षुश्च मे, श्रोत्रञ्च मे,**".

मेरेमें प्राण ऐसे प्रबल होवें के मेरो चित्त काम करतो हो जाये. अन्यथा चित्त यहां–वहां भटकने लग जाये, खास करके सेमिनारमें. और चित्त यदि नहीं भटकेगो तो अपन अध्ययन अच्छी तरहसुं कर पायेंगे. अध्ययन अच्छो करेंगे तो वाणी भी प्रकट होयेगी. वाणीके संग मन भी ठिकाने पड़ेगो. अपन सेमिनारमें बैठे हैं तो अपनकुं आलेख पत्र पढने भी पड़ेंगे. और केवल पढनेसुं ही काम नहीं चलेगो. कौन क्या कह रह्यो है वो सुननो भी पड़ेगो. याके बाद बहोत अच्छी बात वेद कहे है : "दक्षश्च मे" अपनकुं एलर्ट भी रहनो पड़ेगो. कानपे ढक्कन नहीं होवे है करके ऐसो नहीं होनो चहिये के भलती ही बातें कानमें घुस जायें. "बलञ्च मे" दक्षता भी पाछी भीतर भरी भई रहे ऐसे नहीं, वाकुं बलपूर्वक प्रकट भी करनी चहिये. "ओजश्च मे" बातकुं ताजस्वितासुं प्रकट करनी चहिये. "सहश्च मे" अपनेमें सहन करनेकी सामर्थ्य भी होनी चहिये जब अपनी क्रिटिसिज़्म् होती होवे तब. ये सब होवे तो यजुर्वेद

कहे है के "आयुश्च मे, जरा च मे" तब मैने सच्ची आयुष्य जी. तो मैने सच्चो वार्धक्य प्राप्त कियो. नोर्मलि बायोलॉजीको ऑर्डर ऐसा है के जब 'जरा च मे" आवे तो "मृत्युञ्च मे" आनो चहिये. पर वेदने यू-टर्न लियो है. वेदने "मृत्युञ्च मे" न कहके "आत्मा च मे" कह्यो है. तब अपनी आत्मा प्रकट होयगी. और आत्मा प्रकट होयगी तो फिरसुं नूतन तनु प्रकट होयगो, फिरसुं ये सायक्ल् शुरु होयगो "आत्मा च मे, तनुश्च मे". अपनी आत्मा, अपनो तनु माने "**भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर् नान्यथा भवेत्**". वो आत्मा और वो तनु अपनकुं निरन्तर मिलती रहे. ...दरसल् भक्ति-प्रपत्तिमें प्रतिबन्धको विचार क्यों करनो! मोकुं बराबर खयाल है के कुछ साल पहले अपने यहांकी पत्रिकामें प्रतिबन्धको, अपराधको बहोत विस्तारसुं विचार भयो हतो. दो-चार बालकनने भी या विषयपे शिबिर किये हते. वाको परिणाम ये आयो के वा बखत कई लोगनने अपराधके डरत्तुं सेवा ही छोड़ दी. क्योंके इतने अपराध होते होवें तब तो सेवा करनेमें बहोत रिस्क है. मैं वा लाईनपे सोच रह्यो हतो वामें शरद्बाबाने तो अनन्तविध प्रतिबन्ध बता दिये! (सहास्य) कोईकुं भी जुलाब देनो होवे तो इनको पेपर पढ़ा देनो चहिये. ओर पेपरमें तो प्रतिबन्ध गिनाये हैं पर इनने तो अनन्तविध प्रतिबन्ध कह दियो है. एक बिचारो जीव अनन्तविध प्रतिबन्धनको मुकाबला कैसे करे! पर मोकुं लगे है के "**आयुश्च मे, चित्तञ्च मे, दक्षश्च मे, सहश्च मे, बलञ्च मे**" ये सब अपने पास होयेंगे तो अनन्तविध प्रतिबन्धनको भी अपन अच्छी तरहसुं सामना कर सकेंगे. न केवल सामना ही, वो प्रतिबन्ध पैदा ही नहीं हो सकें ऐसो ओज-बल भी अपनेमें प्रकट कर सके हैं. क्योंके बहोतसी बातें अपनसुं अनजानेमें हो जाती होवे हैं, जाननेपे अपन उनसुं बच भी सके हैं. जीवकी व्यवस्था ऐसी है, मार्गकी व्यवस्था ऐसी है, प्राणीकी व्यवस्था भी ऐसी है.

सेवाप्रतिबन्धके सम्बन्धमें सबसुं पहले मैं आपको ध्यान खींचनो चाहूंगो के 'सेवा' कहो या 'सेवन' कहो, डिक्शनरीके हिसाबसुं वाके कुछ मझेदार पर्याय अर्थ हैं. उनमें एक अर्थ है आश्रयण, उपभोग, बन्धन, पूजन और भजन. एक अर्थ सीनो भी है. मोकुं लगे है के इन सब अर्थमें अपने यहांकी सेवा सार्थक हो सके है.

सेवाको एक अर्थ है कोईको आश्रय लेनो. या अर्थमें अपनी सेवा सार्थक हो सके है. आश्रयण श्रीमहाप्रभुजी कायिक-वाचिक-मानसिक ऐसे तीनों ढंगसुं समझावे हैं. यासुं उनके प्रतिबन्ध भी अन्याश्रय, अन्य प्रार्थना,

अन्य मन्त्रको जप, इष्टदेवताको अनादर, अविश्वास, अश्रद्धा आदि अपने कायिक-वाचिक-मानसिक प्रतिबन्ध हो सके हैं.

दूसरो अर्थ उपभोग बतायो है. जैसे ' कौनसी औषधिको 'सेवन' कर रहे हो?" "फ्रेश् जल-वायुको 'सेवन' करने हम हिल् स्टेशन्पे जा रहे हैं". यहां भी 'सेवा' शब्दको प्रयोग होवे है. यहां वाको अर्थ उपभोग होवे है. या अर्थमें स्वरूपानन्द, लीलानन्द, भजनानन्द को उपभोग अपनकुं करनो है ऐसे भोक्तृभावसुं अपन मण्डित हैं. इनके प्रतिबन्धतया स्वरूपानन्द, लीलानन्द, भजनानन्द आदिको उपभोग करनेमें क्या प्रतिबन्ध हो सके हैं वो अपन सब आलेखपत्रमें देखेंगे ही.

एक अर्थ बन्धन है. ये खुबसुरत अर्थ है. यामें अपन देख सके हैं के स्वरूपानन्दमें रुचि होनी वो अपने वा स्वरूपके संग बंधनेकी एक प्रक्रिया है. लीलानन्दमें आसक्ति होनी वो वा लीलाके संग बंधनेकी एक प्रक्रिया है. ऐसे ही भजनानन्दमें आसक्ति होनी वो वा आनन्दके संग अपने बंधनेकी प्रक्रिया और वासुं प्रभुकुं भी बांधनेकी एक प्रक्रिया है. अन्यासक्ति यामें प्रतिबन्धको काम करेगी ये अपन नेचरल् कोर्समें समझ सके हैं.

'सेवा'को एक अर्थ पूजन भी है. पूजनके भी १२, ३२, ६४ अपराध बताये गये हैं. श्रीमहाप्रभुजी या श्रीगुसांईजी ने वचनामृतमें १२ अपराध बताये हते वाकुं श्रीपुरुषोत्तमजीने ३२ तक पहोंचाये और उनकुं ६४ तक श्रीहरिरायजीने पहोंचाये. ये सब चिन्तन मूलमें तन्त्रको है जो पीछे अपने यहां इन्कोर्पोरेट् कियो गयो है.

नेक्स्ट् अर्थ भजन है. षोडशग्रन्थकी प्रक्रियासुं यदि अपन देखें तो तदाश्रय-तदीयता अपनकुं स्वधर्मत्याग करके नहीं निभानी है. अन्यथा "**भारद्वैगुण्यम् अन्यथा**" वो प्रतिबन्ध हो सके है. सिद्धान्तमुक्तावली देखें तो लोकार्थी होके तनुजा और वित्तजा को विभाग करनो वो भी भजनमें प्रतिबन्धक हो सके है. सिद्धान्तरहस्य देखें तो असमर्पित या सामिभुक्त को उपभोग-समर्पण करनो भी भजनमें प्रतिबन्धक है. ऐसे ही भक्तिवर्धिनी देखें तो अस्वगृहमें भजन करनो, "**अदूरे विप्रकर्षे वा**", "**नैकान्ते वास इष्यते**" आदि प्रतिबन्धनको निरूपण मिले है. संन्यासनिर्णय देखें तो व्रजभक्तनकी भावनासुं भजन करनो ये "**कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनञ्च तद्, भावो भावनया सिद्धः**" में कह्यो है. ऐसेमें यदि अपन भावना रहित भजनके प्रकारमें उलझ जायें तो वो भी प्रतिबन्धको एक प्रकार हो सके है.

निरोधलक्षणमें भी "**यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते, तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्यः**" भगवत्सेवा अनुपयागी वस्तु भजनमें बाधक होती होवे तो वाको विनिग्रह करना ऐसो बतायो है.

ऐसे 'सेवा'के जितने पर्याय बताये हैं उन सबके अर्थमें प्रतिबन्धको विचार कियो जा सके है. ये तो फर्स्टहैंड मीनिंगसुं आते अर्थ हैं. पर जब अपन इनके पर्यायको विचार सेकंड लेयरपे जाके करेंगे, जैसे 'भजन्' 'पूजन' 'अर्चन्' 'यजन्' 'बन्धन' आदि के सिनोनिम्को तो वाके बहोत सारे मीनिंग्के शेड्स अपनकुं मिलेंगे.

इनकुं देखनेके बाद दूसरे धर्मकी या विषयकी धारणासुं अपनी सेवाकी धारणाकुं कम्पेर करनेकेलिये 'सेवा'कुं थोडो व्यापक अर्थ दो. सेवाके बजाय भगवत्सामीप्य या दिव्यताको सामीप्य ऐसो कोई वाको पर्स्पेक्टिव् लेवें. ये अर्थ लेनेके बाद वामें प्रतिबन्ध कितने ये विचारो. ये बात मैं या लिये कह रह्यो हूं क्योंके सब धर्मन्में सेवाको कॉन्सेप्ट नहीं है. कोई धर्ममें ध्यान है, कहीं प्रार्थना है, कहीं पूजा है तो कहीं शरणागति है. इन धर्मनके साथ यदि अपनकुं अपने यहांके सेवाके कॉन्सेप्टकुं कम्पेर करनो है तो भगवत्सामीप्य या दिव्यताके समीप ऐसो कोई पर्स्पेक्टिव् अपन सेवाको लें के सेवाके द्वारा अपन भगवान्के समीप जावे हैं तो, सेवाके एंगलसुं तो नहीं पर वाइडर् पर्स्पेक्टिव्में सोचें तो, वामें चार पार्टि सामने आ रही है : कर्म, कर्मनियामक ईश्वरको आराधन या अपराध,

सबसुं पहले कर्म है. ऐसो कर्म के जो मुक्ति या बन्धन को साधक होवे. या तरहके कर्मपे उन लोगन्को भार है के जो ईश्वरकुं नहीं माने हैं. ये लोग दिव्यताके समीप जावेमें या दूर होवेमें कर्मकुं साधक या बाधक माने हैं. जो कर्म वो उनके यहां अपराध नहीं है. एक जनरल् क्लासिफिकेशन् प्रतिबन्धके सन्दर्भमें समझलें के प्रतिबन्ध दो तरहके होवे हैं : अपराध और बाधक. जो लोग कर्मनियामक परमात्माकु नहीं माने हैं और कर्मसुं ही बन्धन या मुक्ति होवे है ऐसो माने हैं उनके यहां अपराधको प्रश्न नहीं है. क्योंके कर्म तो जड हैं. अच्छे कर्म किये तो आपन कोई परमात्माको आराधन तो कियो नहीं है. अपनी आत्माको आराधन कियो है. "**अत्ता हि अत्तनो नाथ, अत्ता हि अत्तनो गति**". आत्मा ही आत्माको नाथ है, कर्मनियामक कोई परमात्मा नहीं है. यदि आप अच्छे कर्म नहीं कर रहे हो तो आप कोईको अपराध नहीं कर रहे हो, खुदको ही अपराध कर रहे हो. यासुं या मतमें प्रतिबन्ध

अपराधरूप नहीं है, बाधकरूप माने जाय हैं.

जा मतमें ईश्वरकुं कर्मनियामक मान्यो जाय है वहां प्रतिबन्ध केवल बाधक नहीं रह जायेगो. क्योंके ईश्वर कर्मनियामक है, कर्मफलदाता है यासुं वो तुम्हारे कोई कर्मसुं प्रसन्न हो रह्यो है कोई कर्मसुं वो अप्रसन्न हो रह्यो है करके आराधना और अपराधको प्रसङ्ग होवे है. याकुं खास समझो के यदि कोई नियामक है तो आराधना-अपराधको प्रसङ्ग है, यदि नियामक नहीं है तो न कोई आराधना है न कोई अपराध है. "**उद्धरेद् आत्मना आत्मानं नात्मानम् अवसादयेत्, आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः**" जैसी स्थिति है. पर कोई नियामक है तब फिर आप जो भी कायिक-वाचिक-मानसिकरूपसुं कर रहे हो वो या तो कोईकी आराधना है या कोईको अपराध है. प्रतिबन्धके ये दो विभाग वहां एकदम उभरके सामने आ सके हैं. या तरहसुं अपनने कर्म द्वारा अपनो खुदको आराधन या अपराध ये एक पोइंट्.

दूसरो पोइंट् है : कर्मनियामक परमात्मा है और वो आपके कर्मसुं या तो आराधित है या आप अपने कर्मसुं वाको कोई अपराध कर रहे हो. अलग-अलग धर्मनमें ईश्वरकी अनेक तरहकी वेराईटी हैं. खास करके द्वैतवादी दर्शननमें आराध्य ईश्वरकी और जाके सम्मे अपराध कर सकें ऐसे ईश्वरकी बहोत ज्यादा वेराईटी हैं. वा ईश्वरकुं जब अपन सोचे हैं तब....रीसंट्ली मैंने एक उद्धार पढ्यो. वो कहे है के "अच्छी बात है के ईश्वर न होवे. पर होवे तो वाकुं शर्म आनी चहिये के वो ईश्वर है". मोकुं वाकी बात बड़ी स्ट्राईकिंग् लगी के ये कहनो क्या चाह रह्यो है. अपन ईश्वरवादी हैं करके ये बात अपनकुं चुभेगी. पर कौनसे तरहके ईश्वरकेलिये वो बात कही गयी है वो अपन सोचें तो सब बातको समाधान मिल जावे. कौनसे तरहको ईश्वर? ऐसो के जो अपन क्या कर रहे हैं, क्या नहीं कर रहे हैं, अच्छो कर रहे हैं, बुरो कर रहे हैं वो निरन्तर देखतो रहे और व्यर्थमें अपनकुं दंड दे. अरे भाई, यदि तोकुं दया आती होवे तो तु सहायता कर जासुं कि हम सुधर जायें. हेल्प नहीं करनी है तो शान्तिसुं बैठो रहे. हमकुं जैसे करनो होवे वैसे करनेदे. यासुं वा लेखकने लिख्यो के "अच्छी बात है यदि ईश्वर नहीं होवे. पर यदि ईश्वर होवे तो वाकुं शर्म आनी चहिये".

ईरानको एक एग्नोस्टिक् कम सूफि कवी भयो. वाने भी या बातकुं कही है : *"ना कर्दा गुनह दर जहां कीस्त बिगो, उन कस कि गुनह ना कर्द चूं कीस्त बिगो. मन बद कुनम् ओ तू बद मुकाफात दिही, पस फर्क मियाने मन*

ओ तू चीस्त बिगो'' जाने ईश्वरको अपराध नहीं कियो है ऐसो आदमी कौन है बताओ. जैसे क्राईस्ट कहेतो हतो के जाने गुन्हा नहीं कियो होवे वो पथ्थर मारे. ये सुनके सब भाग गये. वाके बाद वो कहे है के जो गुन्हा नहीं करे वो जीयेगो कैसे? जीनेके सारे प्रकारमें कुछ-न-कुछ गुन्हा तो भरे ही भये हैं. खय्यामको स्वभाव अपने भीष्मके जैसो है. वो ईश्वरकुं माने भी और वासुं झघड़े भी. आगे कहे है के मैं तो दुराचारी हूं पर तू भी तो निर्दयी दंडदाता है! व्यर्थमें हमकुं क्यों दंड दे है! हमकुं हमारे हालपे छोड़ दे. तु ऊपर मस्त रहे हमकुं वहां मस्त रहवे दे. हमारे और तेरेमें फर्क बस इतनो ही है के दंडको डंडा तेरे हाथमें है. बाकी त्रास तो तु भी हमकुं दे रह्यो है दंडके रूपमें, नरकमें हमकुं भिजवाके. हम भी तेरो अपराध कर रहे हैं तेरे धर्मके सिद्धान्तनको उल्लंघन करके! ये भी एक सिद्धान्त है ईश्वरके बारेमें ऐसो भाव पैदा करनेवालो. गामको सरपञ्च या कलेक्टर भी खुदके इलाकाकी इतनी पंचायत नहीं करतो होवे है के कौन क्या कर रह्यो है, क्या बोल रह्यो है या क्या सोच रह्यो है. जाकुं जो करनो होवे वाकुं वो करने देवे है. बस इतनो ध्यान रखे है के गामके विरुद्ध कोई कछु करे तो वो एक्शन् लेवे. पर ईश्वर ऐसो खतरनाक है के कौनने क्या कियो, क्या बोल्यो, क्या सोच रह्यो है वा सबकी निरन्तर खबर रखे है. मनपें कुछ बात आ गई वामें तेरेकुं क्यो मिर्चि लग रही है! लगती होवे तो ''मन बदकुनम्...चीस्त बिगो'' वे प्रश्न उभरके सामने आवे है. खय्यामने कही तो मोकुं लग्यो के ईश्वरके कुछ पक्ष ऐसे हैं के जाके कारण ईश्वरकुं भी लगतो होयगो के सृष्टि पैदा करनेके कारण मैं ईश्वर बन्यो पर शर्म आने लायक बात है. क्योंके वाकुं ऐसी सृष्टि बनानी ही नहीं चहिती हती के जो सृष्टि वाकी अपेक्षाके अनुसार जी नहीं सके. कोई भी अच्छो उद्योगपति जा मालको जो स्टेन्डर्ड् निश्चित करे वाके अनुसार उत्पादन वाकुं करनो चहिये. अब यदि वा स्टेन्डर्ड्को प्रोडक्शन् वाने नहीं किया है तब खुदकुं गाली न देके मालकी निन्दा करे तो ये प्रश्न तो खड़ो होयगो ही. एकने अच्छी बात कही है के हम जो कुछ भी हैं वो ईश्वरकी जगत्कुं देन है और हम जैसे भी बने हैं वो हमारी ईश्वरकुं देन है. जैसे तेने बनाये हैं ऐसे ही तो बनेंगे! घोडा बनाये तो घोडा बनेंगे, गधा बनाये तो गधा बनेंगे. या स्थितिमें यदि ईश्वर है तो वाकुं शर्म आनी चहिये. वाने प्रोडक्शन् तो कियो है इन्सान्को पर अच्छे निरपराध इन्सान् पैदा नहीं किये हैं.

औरंग़ेबके बखतको मेरो प्रिय सूफी शायर सरमदने भी वा समस्यापे

ध्यान खींच्यो है. वो कहे है : ''*अज़ जुर्मे फजुं याफ्ता अम फ़ज़्ल तुरा, ईं शुद सबबे मासियते बेशमरा. हर चंद करम केश गुनाह बेस्तरस्त दीदमहमाज़ा आजमूदम हमाजा*''. मेरे अपराधके बजाये तेरी कृपाकी शक्ति मैने ज्यादा पायी है. याके बाद वो पलटके कहे है ''*ईं शुद सबबे*''. या लिये ही मैं ज्यादा अपराध करुं हूं. यदि मोकुं विश्वास नहीं होतो के तु मेरे हर अपराधकुं माफ करेगो तो कोई आदमीकी शक्ति है के वो अपराध कर सके! बड़े-बड़े अपराध माफ करे और छेल्ले नरकमें डाले है! ''*हर चंद करम केश*'' जितनो तु ज्यादा कृपा करतो गयो ''*गुनाह बेस्तरस्त*'' और ज्यादा गुनाह होते गये. सरमद् सारी मनुष्य जातिको प्रतिनिधि बनके कह रह्यो है : ''*दीदमहमाज़ा आजमूदम हमाज़ा*'' ये मैने सदाकालसुं देख्यो है और सर्वत्र देख्यो है. गज़बकी बात सरमदने कह दी है के कृपा अपराधको हेतु है. तो एक पर्सोनिफिएड् ईश्वरको ऐसो आ रह्यो है के जामें अपनकुं दिव्यताके समीप पहोंचनेमें कौनसे तरहके प्रतिबन्ध हैं वो समझमें आवे है.

याके दूसरे छोरपे एक दूसरो सिद्धान्त है जो श्रीशङ्कराचार्यको मत है के ईश्वरने न जगत् पैदा कियो है, न ईश्वर कोई कर्मको नियामक है, न कर्मफलको दाता है. खुद ईश्वर अपनी एक भ्रान्ति है. अपन ईश्वरकी भ्रान्ति हैं. दोनों एक-दूसरेकी भ्रान्तिमें पैदा भये हैं. ये दोनों भ्रान्तियें अज्ञानके कारण पैदा हो रही हैं. अज्ञान निवृत्त हो जायेगो तो न ईश्वर है, न जीव है; न कर्म है न कर्मको बन्धन है. एक सिद्धान्त ऐसो है. यहां जो भी अपराध है वो कोई मायना नहीं रखे है. कहने मात्रकुं अपन अपराध कह सके हैं. क्योंके ईश्वरकी आराधना भी मिथ्या है और ईश्वरकी अपराधना भी मिथ्या है.

इन तीनों कोणसुं अलग हटके अपनो एक अलग एंगल् है. वामें ओर भी कई हैं, केवल अपन ही हैं ऐसी बात नहीं है. पर अपनो एंगल् है के न कर्म तो नियामक है, न तो ईश्वर वा तरहको पीपिंग् टोम् है, न तो ईश्वर श्रीशङ्कराचार्यके ब्रह्म जैसो गुड् फोर् नथिंग् है. या डिस्प्यूटमें अपन चौथो मत लेके आ रहे हैं के ईश्वर तो अंशी है और अपन वाके अंश हैं. और अपन जो कछु हैं वो वाके बनाये भये हैं ये बात निश्चित है पर ये बात अधूरी है. वो खुद ही अपने रूपसुं बन्यो है. अपनी जो हकीकत है वो एक पहलूमें वाकी हकीकत है और एक पहलूमें अपनी हकीकत है. तो जब ईश्वर जीवरूपसुं बन्यो है तब जीवात्माके अपराध या प्रतिबन्ध वाकी लीलाके रूपमें प्रकट हो रहे हैं. या स्थितिमें ये प्रश्न होवे है के अपन प्रतिबन्धवादी हैं के अपराधवादी

हैं. बात ध्यानसुं समझो. कर्मफलनियामक ईश्वर नहीं है, कर्म ही नियामक है वहां अपराध नहीं हतो, वहां बन्धन हतो और मुक्ति हती. वाके दो प्रभेद हो सके हैं : एक कर्मजन्य बन्धन और एक अज्ञानजन्य. या बाजु स्थिति ऐसी है के कर्म और अज्ञान जो भी कुछ हैं वाके जिम्मेदार अपन हैं. और अपन वा ईश्वरकी आराधना या अपराधना कर रहे हैं. वाके कारण अपनकुं दण्ड वा सत्फल देवे है. पर जहां अंशाशीभाव है, जहां अंशी अंशके रूपमें लीला कर रह्यो है, अंशकी न्यूनतायें भी मूलमें **''पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्ध-विपर्ययौ''** पराभिध्यानसुं भयी हैं. सर्वसमर्थ असमर्थ बने है, सर्वज्ञ अज्ञ बने है, ईश्वर अनीश्वर बने है, विरक्त संसारानुरक्त बने है इत्यादि. ऐसो वो बन्यो है. जब वो बन्यो है वो मूल प्रतिबन्ध है. अपन वाकुं प्रतिबन्ध कह रहे हैं पर है वो भी लीलात्मक प्रतिबन्ध ये बात अपनकुं कभी भी भूलनी नहीं चहिये.

अब यदि अपनने ये प्रिमाईस् स्वीकार ली के प्रतिबन्ध सारे लीलात्मक हैं अथवा मूल रूपमें लीलात्मक हैं तो उन लीलान्के कारण होते दूसरे प्रतिबन्ध फिर प्रतिबन्ध हैं के अपराध! ये समस्या थियोलोजि और मेटाफिज़िक्स् केलिये बहोत बड़ी है. प्रथम दृष्टिमें ऐसो लगे के जब मूलमें ही अपनने अपराधकुं लीलात्मक मान लियो है तब फिर अपराध नहीं होनो चहिये. पर आये भये आलेखपत्रनकुं अपन देखें तो ऐसो लगे है के कुछ प्रतिबन्ध प्रतिबन्धरूप हैं तो कुछ प्रतिबन्ध अपराधरूप भी हैं ही. अपने वहां ये दोनों पक्ष मान्य किये गये हैं. अनीश्वरवादके सिद्धान्तमें अपराध कुछ भी नहीं हतो, सब प्रतिबन्ध ही हते. अपने वहां ऐसो प्रतिबन्ध भी है, लीलावादके कारण. और ईश्वरवादके तहत जो अपराध मान्यो गयो है वो पक्ष भी अपने यहां मान्य कियो गयो है. याकुं अपन खुलके समझेंगे के ईश्वरकी दृष्टिसुं यद्यपि सब कछु लीला है पर अंशकी दृष्टिसुं वो अपराध है, है और है ही. अपनने या तरहसुं एक सिन्थेटिक् सिस्टम् या प्रोब्लेमके बेज़में प्रस्तुत करी है. या दिशामें सोचनेपे खुलासा मिलेंगे के कुछ प्रतिबन्ध भी हैं तो कुछ अपराध भी अपने यहां है. मूल बात ये सच है के **''दोषोऽपि हरिणा कृतः''**. दोष भी है तो वो हरिने किये हैं. पर ये बात या लिये नहीं कही जावे है के *''सैंया भये कुतवाल अब डर काहेका!''* ज्यादा दोष करो. अंशके लेवलपे अपराधसुं निवृत्त होनेको अपनो एटिट्यूड् और एप्टिट्यूड् होनो चहिये. और जा अपराध या प्रतिबन्ध पे अपनो बस नहीं चल रह्यो है उनकुं श्रीमहाप्रभुजीने सेवाफलमें भगवत्कृत कहे

हैं. साधारण प्रतिबन्धनकुं लोकचातुरीसुं निवृत्त करने चहिये और भगवत्कृत प्रतिबन्ध अपनेलिये निराकरणीय नहीं हो सके हैं. श्रीमहाप्रभुजीने **''तदा आसुरोऽयं जीवः इति निर्धारः''** कह दियो है करके अपनकुं ऐसो लग सके यहां अपराधकी कोई बात है. पर आसुरोऽयं जीवः इति केन निर्धारितः? **''द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुरएव च...निबन्धाय आसुरी मता''**. भगवता निर्धारितः, वो अर्थ वहां है. अपराधवालो आसुरत्व वहां नहीं है. क्योंके अपराध होत भये भी वो कोई-न-कोई लीलाको एक्सप्रेशन् है. वासुं अपराध है तो अंशीके लेवलसुं लीला है और अपने एंगलसुं अपराध है. क्योंके अपन अपने अंशत्वको त्याग करके वाको अंशित्व नहीं मान रहे हैं. और वाको अंशित्व भी अपन ऐसो नहीं मान रहे हैं के जो अपने अंशत्वमें अनुगत न होवे. ऐसो विरुद्धधर्माश्रयताको श्रीमहाप्रभुजीको कन्सेप्ट् है. ये अपने मनमें हर समय स्पष्ट रहनो चहिये. तो अपन सेवा-शरणागतिसुं जुड़े भये प्रतिबन्धनको राईट् पर्स्पेक्टिव्में विचार कर सकेंगे. नहिं तो यदि अपराध और लीला दोमेंसुं कोई एकके ऊपर अधिक भार दे देंगे तो वो एक्स्ट्रीम हो जायेगो. भागवत एक ठिकाने कहे है के आसुरी जीव तो भगवान्के बहोत बड़े सेवक हैं. ये बात दैवीजीवनकुं अनुकरण करवेकेलिये कही गयी बात नहीं है. पर जो लीला मान रहे हैं उनको चित्त लीलामेंसुं विरक्त नहीं हो जावे, लीलाभाव अखण्डित रहे वाकेलिये कही गयी बात है.

याके अतिरिक्त एक बात और ध्यानमें लेनेकी है. बहोतसे प्रतिबन्ध मेटेफिज़िकल् हैं. जैसे आनन्दके तिरोभावके कारण होतो षड्गुणनको तिरोभाव मेटेफिज़िकल् प्रतिबन्ध है, मोरल् या फिज़िकल् नहीं है. चिदंशकुं सूक्ष्म-स्थूल देहकी प्राप्ति फिज़िकल् प्रतिबन्ध है. ऐसे ही अशक्ति, बार्धक्य, रोग आदि बायोलॉजिकल् प्रतिबन्ध कहे जायेंगे. विक्षेप्, उद्वेग, अत्याग्रह, काम, क्रोध आदि साय्कोलोजिकल् प्रतिबन्ध हैं. परिवार-समाजको सेवा-भक्तिमें विरोध सोस्यो-पोलिटिकल् प्रतिबन्ध है. जैसे श्रीगोकुलनाथजीके समय माला-तिलकपे रोक लगायी गयी हती. विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म आदि मोरल् प्रतिबन्ध हैं. इनकुं भी अपनने प्रतिबन्ध या अपराध तरीके, एज् पर केस्, मान्य रखे हैं. वर्णाश्रमादिके कारण होते प्रतिबन्ध धार्मिक प्रतिबन्ध कहे जायेंगे. प्रपतिमार्गीय प्रतिबन्ध अविवेक, अधैर्य, अविश्वास आदि हैं. भक्तिमार्गीय प्रतिबन्ध अनाश्रय, अन्याश्रय, भोग, उद्वेग आदि हो सके हैं. और भक्तिके अन्तर्गत सेवा मार्गीय प्रतिबन्ध तनुवित्तको विभाजन करनो,

असमर्पितको उपभोग करनो, भावरहित सेवाको क्रियावत् अनुष्ठान करनो आदि. ऐसे प्रतिबन्धके विचारकी रेंज् बहोत बड़ी है.

ईशावास्योपनिषत् कहे है **"विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेद अभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते"**. अविद्यामें जो निरत हैं वो मूढ हैं. पर विद्यामें जो निरत हैं वो वासुं भी ज्यादा मूढ हैं. तो समाधान क्या? क्योंके विद्या और अविद्या दो ही तो हैं! तीसरी तो कोई बात ही नहीं है! उपनिषत् कहे है के ये गाली उनकुं दी जा रही है के जो केवल विद्या और केवल अविद्या कुं पकड़ रहे हैं. पर यदि तुम दोनोंनकुं पकड़ोगे तो बात समझमें आयेगी. अविद्यासुं तुम मृत्युकुं तैर पाओगे और विद्यासुं अमृतत्वकी प्राप्ति करोग. ये बहोत सूक्ष्म बात है. ब्रह्मकी व्यापकतामें प्रकट होती ये सूक्ष्मता है के **"विद्या-विद्ये हरेः शक्तिः मयैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता"**. ये श्रीमहाप्रभुजीकी गाईडलाईन् देखें के विद्या और अविद्या दोनों भगवान्की शक्ति हैं. यासुं प्रतिबन्ध और प्रतिबन्ध और प्रतिबन्धको निराकरण दोनों भगवान्की शक्ति है. उन दोनोंमें केवल अपराधको भाव या केवल प्रतिबन्धको भाव अपनकुं ब्रह्मसुं विमुख करनेवालो है.

अपन सेवा-शरणागतिके प्रतिबन्धकी चर्चा कर रहे हैं. पर ये बात भूलनी नहीं चहिये के ये चर्चा ब्रह्मकी ही चर्चा है. प्रतिबन्धकी चर्चासुं निरुत्साहित होनेको नहीं है. वाकुं ब्रह्मकी चर्चा समझके उत्साहित होनेको है के अपनो ब्रह्म कैसे-कैसे काम करे है. अपन ऐसे ब्रह्मकुं भूल न जायें यासुं उपनिषत् कहे है **"माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्मनिराकरोत्. अनिराकरणं मे अस्तु. अनिराकरणं मे अस्तु"**.

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગની સાધનામાં બાધક ચિંતાનું સ્વરૂપ અને નિવારણ

હંસરાજ વેદ

'સેવાફલ'ગ્રન્થમાં બાધક તરીકે ઉદ્વેગ :

સેવાફલ ગ્રન્થ એ આચાર્યચરણનો ષોડશ પ્રકરણગ્રન્થોમાંનો અંતિમ ગ્રન્થ છે. આ ગ્રન્થમાં સિદ્ધાન્તમુક્તાવલીમાં ઉપદેશેલ તનુ-વિત્તજા સેવાની ફલરૂપતા માનસીસેવા-ફલનિરોધ અર્થાત્ અલૌકિકસામર્થ્યના રૂપમાં બતાવવામાં આવેલ છે. **"सेवायां फलत्रयम् : अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगि-देहो वैकुण्ठादिषु"**. ત્યાં જ સેવામાં આવતાં પ્રતિબંધો આચાર્યચરણ સમજાવે છેઃ

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्

सेवायां प्रतिबंधत्रयम् उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः.

અહીં ઉદ્વેગને બાધકરૂપે આપશ્રી સમજાવે છે.

સેવાફલ ગ્રન્થના અલગ-અલગ ટીકાકારોની વ્યાખ્યાઓમાં ઉદ્વેગની પરિભાષાઓ નીચે પ્રમાણે છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી : *"सेवायां क्रियमाणायाम् अन्यत्र गमनेच्छादिरुद्वेगः"* સેવા કરતી વખતે અન્યત્ર જવાની ઇચ્છા વગેરેને ઉદ્વેગ કહ્યો છે.

શ્રીગોપેશજી : *"उद्वेगः श्रवणे कीर्तने भगवद्दर्शनसेवायां च जराव्याधि-जनितायासेन अतो प्रवर्तमानानामिन्द्रियाणां प्रसभ प्रवर्तनाद् विक्षेपः इत्यर्थः"* શ્રવણ, કીર્તન ભગવદ્દર્શનસેવામાં, વૃદ્ધત્વ-વ્યાધિને લીધે આવતો ઇન્દ્રિયની સ્વતઃપ્રવૃત્તિમાં થતો વિક્ષેપ.

શ્રીહરિરાયચરણ : *"उद्वेगो नाम मनसः सेवायां क्रियमाणायां उत्कृष्टो वेगः सर्वथा तत्रास्थिरता बाह्यिमुख्यम् इति यावत्. स च सेवाया अनाधिदैविकोत्पत्तिसम्पादकतया प्रतिबन्धकः"*. સેવા કરતી વખતે મનનો એવો વેગ

જે અસ્થિરતા સમ્પાદન કરી બહિર્મુખ બનાવી દે. તે સેવાને આધિદૈવિક સમ્પાદન ન કરતો હોવાથી પ્રતિબંધ છે.

શ્રીવલ્લભજી : *"મનસોઽન્યપરતા ઉદ્વેગઃ"* મનની અન્યપરતા ઉદ્વેગ છે.

વિવૃતિકાર : *"ઉદધિકો વેગઃ ભયમ્, અપરાધાદિના મનશ્ચાઞ્ચલ્યં વા પાપાદિના. સ ચ સેવાઽવરિતમ્પાદનેન બાધકઃ"* અપરાધ પાપ અથવા મનચઞ્ચલતાથી ભયથી મનનો આવેગ ઉદ્વેગ છે. સેવામાં અરુચિ ઉત્પન્ન કરનાર હોવાથી બાધક છે.

શ્રીલાલુભટ્ટજી : *"ઉદ્વેગો ભગવત્સેવાસમયે ચિત્તક્લેશપ્રદશ્ચાઞ્ચલ્યવિશેષઃ. સ ચ ભગવત્સેવાં પ્રતિબધ્નાતિ"* ભગવત્સેવાના સમયમાં ચિત્તને કલેશ આપતો ચંચલતા પ્રકટ કરનારો ઉદ્વેગ કહેવાય છે તે ભગવત્સેવામાં પ્રતિબંધ કરે છે.

મહપતિ જયગોપાલ ભટ્ટ : *"તત્ર ઉદ્વેગઃ શોકદુઃખાદિજનિતો ભવતિ"* ઉદ્વેગ શોક અને દુઃખ થી પેદા થયેલો હોય છે.

વિવરણકાર : *"તત્ર ઉદ્વેગસાધનં લૌકિકશોકદુઃખાદિકમ્"* ઉદ્વેગનું સાધન લૌકિક શોક, દુઃખ વગેરે બનતું હોય છે.

શ્રીપુરુષોત્તમજી : *"તત્ર ઉદ્વેગો નામ ઉચ્ચભયં ચલનં વા. ઓવિજી ભય-ચલનયોઃ. તદ્ અત્ર સેવાયાં ક્રિયમાણાયાં દુષ્ટાદિભ્યો મનસો ભયં વા પાપાદિના બુદ્ધેશ્ચાઞ્ચલ્યં વા. અત્ર દ્વિતીયમ્ અદૃષ્ટજન્યમ્. એતદ્ ઉભયમપિ આન્તરમતો દ્વિવિધોઽપિ ઉદ્વેગો બાહ્યસેવાફલરૂપાયા માનસી-તત્સમાનાધિકરણવિરુદ્ધ-સામગ્રીરૂપઃ તત્પ્રતિબન્ધકઃ"*. ઉદ્વેગ એટલે ભય અથવા ચલન. ઓવિજી ભય ચલન એવો વ્યુત્પત્તિથી અર્થ થાય. સેવા કરતી વખતે દુષ્ટોથી મનમાં ભય અથવા પાપાદિથી બુદ્ધિચંચલતા. એમાં બીજું અદૃષ્ટજન્ય છે. આ બન્ને ઉદ્વેગ આન્તર છે. અને બાહ્ય તથા માનસી સેવાના વિરુદ્ધ સામગ્રી રૂપ હોવાથી તેના પ્રતિબંધક છે.

ઉપરના બધા ટીકાકારોએ આપેલ ઉદ્વેગની પરિભાષાઓ જોયા પછી

અને ઉદ્વેગ બાધક છે એવું જાણ્યા પછી પણ આચાર્યચરણ "ઉદ્વેગ ન કરવો" એવી આજ્ઞા નથી કરતા. "મહાપ્રભુજી એમ નથી આજ્ઞા કરતા કે તમે પુષ્ટિમાર્ગિય થયા તેથી ઉદ્વેગ નહિ કરવો. કેમકે ઉદ્વેગ તમે ન કરતા હો તો પણ ઉદ્વેગ થઈ જતો હોય છે" (નવરત્ન ઉપદેશનું માનસ વિ.).

ઉદ્વેગનાં બે મુખ્ય કારણો ઈષ્ટવિયોગ અને અનિષ્ટસંયોગ :

સ્વાભાવિક છે કે ઈષ્ટનો સંયોગ ગમે અને અનિષ્ટનો વિયોગ ગમે. પણ ઈષ્ટનો વિયોગ અને અનિષ્ટ નો સંયોગ ઉદ્વેગને પ્રકટ કરાવતો હોય છે. આચાર્યચરણ પરન્તુ ચિંતા ન કરવાનો ઉપદેશ નવરત્ન ગ્રન્થમાં આપે છે. એટલે ઉદ્વેગ અને ચિંતા નો સમ્બન્ધ જાણવો જરૂરી બને છે.

શ્રીપુરુષોત્તમજી નવરત્નની વિવૃત્તિપ્રકાશમાં ચિન્તાનું સ્વરૂપ સમજાવતાં આજ્ઞા કરે છે કે **"ચિંતાં ઉદ્વેગજનિકાં વા તજ્જનિતાં વા તદ્રૂપાં વા દ્રુતં શીઘ્રમેવ ત્યજેત્."**

૧.ઉદ્વેગના કારણે થતી ચિંતા,
૨.ઉદ્વેગ પેદા કરનારી ચિંતા
૩.ઉદ્વેગરૂપા ચિંતા.

૧. ઉદ્વેગ કારણ બને છે જ્યારે ચિંતા તેનું કાર્ય બને છે જો ઉદ્વેગને તાણીને ચિંતા બનાવી દેવામાં આવે તો.
૨. ચિંતા કરનારને ઉદ્વેગ પેદા થતો હોય છે એમાં ચિંતા કારણ બને છે અને ઉદ્વેગ તેનું કાર્ય છે.
૩. ચિંતા અને ઉદ્વેગ એક-બીજાનું રૂપ લઈ લેતા હોય આમાં ઉદ્વેગ અને ચિંતા એકમેકમાં ભળી જતા હોય છે. એમને જુદા પાડી શકાતા નથી. (નવરત્ન ઉ.મા.વિ.)

ચિંતાની વિચારણામાં શ્રીપુરુષોત્તમજી નીચેની પંક્તિથી વ્યાખ્યા આપે છે.

" 'ચિંતા'શબ્દઃ સ્મરણાખ્યે વ્યાપારેઽઢ્ઢઃ. ચિતિ સ્મૃત્યામ્ ઈત્યતઃ ભવે... 'ચિંતા'પદ સિદ્ધેઃ. 'સ્યાચ્ચિન્તા સ્મૃતિરાધ્યાનમ્' ઈતિ

કોશાચ્ચ. ... વિચારપરનામા સપ્રત્નસ્મરણવિશેષઃ ચિન્તા, તસ્યાઅપિ યો અવસ્થાવિશેષકૃતો અવાન્તરવિશેષઃ... 'એવમ્ આપન્નસ્ય મે કિં સ્યાદ્' ઈત્યત્કારકઃ સો અત્ર 'ચિંતા'પદેન પરામૃશ્યતે". (નવરત્ન વિવૃત્તિપ્રકાશ)

'ચિંતા' શબ્દ સ્મરણ નામક મનોવ્યાપારમાં યોગરૂઢ છે. 'ચિંતા' શબ્દનો સામાન્ય રીતે યૌગિક તથા રૂઢ અર્થ મનોવ્યાપાર જેને આપણે સ્મરણ તરીકે ઓળખીએ છીએ તેવો થાય છે. 'ચિન્તિ સ્મૃત્યામ્' એ ધાતુનું ભાવવાચક નામ ચિંતા થાય છે. (અમરકોશમાં) પણ ચિંતાના પર્યાય તરીકે સ્મરણ-આધ્યાન કહ્યા છે. ચિંતાનો અર્થ પ્રયત્નસહિત સ્મરણ યા વિચાર એમ સમજવું. એ ચિંતામાં અમુક અવસ્થાને લઈને "આવી સ્થિતિમાં મારું શું થશે" એ પ્રકારનો વિચાર અહીં ચિંતા શબ્દથી સૂચવ્યો છે.

ચિંતાનો નિષેધ શા માટે?

ઉપરોક્ત પરિભાષા અનુસાર ચિંતા એ પ્રયત્નપૂર્વકનું સ્મરણ છે અને એટલે જ એને રોકી પણ શકાય છે. જે નિશ્ચિન્ત થઈને ભક્તિ નથી કરતો તેને ભક્તિ સિદ્ધ થતી નથી. ભક્તિની પહેલી શરત છે નિશ્ચિન્તતા. પુષ્ટિભક્તિમાં જે નિશ્ચિન્ત નથી તે ભક્ત થઈ શકતો નથી. શ્રીમહાપ્રભુજી સેવાની પરિભાષા **"ચેતઃ તત્પ્રણવં સેવા"** આપે છે. જે ચિત્ત ચિંતામાં પરાયણ હોય તે ભક્તિમય બની શકતું નથી. એટલે નિશ્ચિન્ત થવું એ સેવામાર્ગ, કથામાર્ગ અને શરણાગતિમાર્ગ પરની યાત્રાને પુષ્ટિભક્તિ રૂપે ખીલવવામાટેની પહેલી શરત છે. (નવરત્ન ઉપ.મા.વિ.)

નિશ્ચિન્તતાની મહત્તા :

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગનું મંગલાચરણ જ આપણને ખુલાસો આપે છે : **"ચિંતાસંતાનહર્તારો યત્પાદામ્બુજરેણવઃ, સ્વીયાનાં તાન્નિજાચાર્યાન્ પ્રણમામિ મુહુઃમુહુઃ"**. વળી, આચાર્યચરણના સ્વજનો માટેના ષોડશગ્રન્થમાં ત્રણ ગ્રન્થો તો ચિંતાનિવૃત્તિમાટે છે.

૧. નવરત્ન

૨. વિવેકધૈર્યાશ્રય : શ્રીગોપેશજી પોતાની વ્યાખ્યામાં નવરત્ન સૂત્રરૂપે છે અને એનું ભાષ્ય વિવેકધૈર્યાશ્રય છે એવું લખે છે.

૩. અન્તઃકરણપ્રબોધ : આચાર્યચરણ આ ગ્રન્થની ફલશ્રુતિ બતાવે છે કે "ઈતિ **શ્રીકૃષ્ણદાસસ્ય વલ્લભસ્ય હિતં વચઃ, ચિત્તં પ્રતિ યદાકર્ણ્ય ભક્તો નિશ્ચિન્ततां વ્રજેત".**

ત્રણે ગ્રન્થોમાં ચિંતા ઉપર કાબુ કેમ મેળવવો તેના જ ઉપાય ઉપદેશવામાં આવ્યા છે. નવરત્ન જો સૂત્ર હોય તો વિવેકધૈર્યાશ્રય એનું ભાષ્ય છે. નવરત્ન જો નિયમ હોય તો અન્તઃકરણ પ્રબોધ એનું ઉદાહરણ છે (નવરત્ન ઉપ.મા વિ.).

વિવેક, ધૈર્ય અને આશ્રય થી રહિત હોય તો પણ કૃષ્ણાશ્રયદ્વારા શ્રીકૃષ્ણની ઉદારકતા અખંડ છે એ બતાવવા અને નિશ્ચિન્તતા સિદ્ધ કરવા કૃષ્ણાશ્રય ગ્રન્થ લઈ શકાય છે.

આચાર્યચરણ દૈવી જીવોને પુષ્ટિભક્તિમાર્ગ ઉપર દૃઢપણે ચાલવામાં ઉપયોગી નિશ્ચિન્તતામાટે ઉપર જણાવેલા ઉપદેશ આપે છે એટલું જ નહિ આસુરાવેશી પુષ્ટિજીવોમાટે પણ આચાર્યચરણ સેવાફલમાં આજ્ઞા કરે છે :

"तदा आसुरोयं जीवः ईति निर्धारः. तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय ईति विवेकः.

द्वितीये सर्वथा चिंता त्याज्या संसारनिश्चयात्

द्वितीय भगवतकृतप्रतिबंधः ज्ञानस्थित्यभावे चिंताभावार्थम् आह"

ચિંતાનો અભાવ આસુરાવેશી પુષ્ટિજીવોમાટે પણ આચાર્ય ચરણ ઈચ્છતા લાગે છે. આજ ચિંતાના વિષયમાં આચાર્યચરણના અભિપ્રાયને શ્રીહરિરાયચરણ શિક્ષાપત્રમાં સ્ફુટ કરે છે.

પ્રભક્તિમાર્ગીય વૈષ્ણવને લૌકિક ચિંતા ન કરવી જોઈએ. જેમ ઘરમાલિક સાફ કરેલા ઘરમાં સ્વસ્થ રહે છે. ઘર જો ગંદું હોય તો તે પાછો ફરે છે એમ સકલગુણપૂર્ણ પ્રભુ ચિંતાતુર ચિત્તમાં કેવી રીતે પ્રવેશ કરે? (૩૬.૧૭-૨)

જેને આચાર્યચરણનો દૃઢ શરણ સિદ્ધ થયું છે અને જે આચાર્યચરણના ચરણકમલના આશ્રિત છે એમણે તો કૃષ્ણસેવા સિવાયની ચિંતા છોડીને કેવલ નિવેદનના અનુસંધાન પૂર્વક ચિંતન કરવું.

શ્રીપ્રભુચરણ વિજ્ઞપ્તિમાં આજ્ઞા કરે છે : "**यदुक्तं तातचरणैः 'श्रीकृष्णः शरणं मम', अतएवास्ति नेश्चिन्त्यम् ऐहिके पारलौकिके:**". આચાર્યચરણો દ્વારા શ્રીકૃષ્ણનું શરણ જેને પ્રાપ્ત થયું છે તેને ઐહિક કે પારલૌકિક નિશ્ચિન્તતા જ છે.

નિવેદનના સ્મરણથી, સત્પુરુષોના સંગ અને કથા દ્વારા, સદા ભગવન્નામગ્રહણથી, સદા શરણની ભાવનાથી ચિંતા નિવૃત્ત થાય છે. અષ્ટાક્ષર મહામન્ત્રના કીર્તનથી પંચાક્ષર મન્ત્રદ્વારા તદીયત્વ ભાવનાથી, વૈરાગ્ય તથા સંતોષ રાખ્યાથી, લૌકિક ક્લેશમાં ઉદાસીનતા રાખવાથી, પુત્ર વગેરે દેહસમ્બન્ધીઓમાં અનનુરાગથી ચિંતા નિવૃત્ત થાય છે. ગૃહવિત્તમાં અનાસક્તિ, તદીય વૈષ્ણવમાં અત્યન્ત સ્નેહ થી અને નવરત્નના પાઠદ્વારા બધી જ ચિંતા નિવૃત્ત થાય છે.

આ બધામાં ચિંતા એ રોગ છે. ચિંતન એની દવા છે. ત્યારે વૈરાગ્ય, પરિતોષ, ગૃહવિત્તમાં અનાસક્તિ, કૃષ્ણની સન્નિધિમાં સ્થિતિ, લૌકિક ક્લેશમાં ઉદાસીનતા વગેરે એના પથ્ય છે.

એવી જ રીતે વિવેકધૈર્યાશ્રય આખો ગ્રન્થ આપણી પુષ્ટિમાર્ગીય ભક્તિને, પુષ્ટિમાર્ગીય નિષ્ઠાને, પુષ્ટિપ્રભુને, પુષ્ટિભક્તને, પુષ્ટિભક્તોચિત વાતાવરણને પ્રકટ કરવામાટેનો ગ્રન્થ છે.

વિવેક હરિઃ સર્વં નિજેચ્છાત કરિષ્યતિ.
ધૈર્ય ત્રિદુઃખ સહનં ધૈર્યમ્ આમૃતે સર્વતઃ સદા.
આશ્રય ઐહિકે પારલોકે ચ સર્વથા શરણં હરિઃ.

વિવેકના અનુષ્ઠાનમાં ૧.પ્રાર્થના ત્યાગ ૨.અભિમાનની વૃત્તિનો ત્યાગ, ૩.હઠની વૃત્તિનો ત્યાગ ૪.આગ્રહની વૃત્તિનો ત્યાગ બતાવ્યો.

ધૈર્યના અનુષ્ઠાનમાં ૧.અનાગ્રહ ૨.સહન કરવું ૩.ત્યાગ અને ૪ .અસામર્થ્યની ભાવના બતાવી.

આશ્રય ૧.મન અને વાણી થી નિરંતર શરણભાવના, ૨.કાયિક, વાચનિક અને માનસિક રૂપથી અન્યાશ્રય ત્યાગ ૩.દઢ વિશ્વાસ મેઘ ઉપર

ચાતકનો હોય તેવો અને ૪.સુખ અને દુઃખ નો મમતારહિત ઉપભોગ.

અવિવેક-અધૈર્ય-અન્યાશ્રય આ બધા જ ચિંતા અને ઉદ્વેગ ના સંતાનો છે. ચિંતા ત્યજવામાં "**हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति**" પ્રભુ બધું જ પોતાની અને નિજ જનોની અવિકૃત ઇચ્છાથી કરશે જ એવો વિશ્વાસ નૈશ્ચિત્યં સિદ્ધ કરે છે. શરણાગતવત્સલ સ્વભાવ હોવાથી હરિ સર્વદુઃખહર્તા હોવાથી, સર્વ પોતાનાઓનું હિત કરશે જ.

હરિરાયચરણ આજ્ઞા કરે છે "**अहितं निजभक्तानां विदधाति हरिर्न हि, समस्तानां सखा स्वीय भक्तानां न कथं भवेत्**" (શિ. ૧૦૧૮). નિજ ભક્તોનું અહિત હરિ ક્યારેય કરતા નથી. જે સમસ્ત જગતના સખા છે તે સ્વીય ભક્તોના સખા કેમ ન બને? આવા દૃઢ આશ્રય ઉપર અથવા દૃઢ શરણાગતિ રાખનારમાટે ચિંતાના વિષબર્યા અંકુર ફૂટતા નથી અને તેથી જ ચિંતા એ શરણાગતિ, ભગવત્સેવા અને ભગવત્કથા માં બાધક બનતી હોય છે કે જે અવિશ્વાસના બીજ ફેલાવે છે.

આપણી આ લોક સમ્બન્ધી તથા પરલોકસમ્બન્ધી બધી જ ચિંતા પ્રભુ કેમકે પુષ્ટિસ્થ છે તેથી તેમને છે. આથી નિશ્ચિન્ત થઈ રહેવું. આથી નવરત્ન ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરે છે કે પોતાની અને ભક્તની ઇચ્છાથી પ્રભુ કરશે. દીનબંધુ ગોકુલેશ્વર પોતાના ભક્તોની ઉપેક્ષા નથી કરતા.

બધી જ ચિંતાઓનું મૂળ અવિશ્વાસ હોવાથી આચાર્યચરણ વિવેકધૈર્યાશ્રયમાં આજ્ઞા કરે છે : "**अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः, ब्रह्मास्त्र-चातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः**" (વિ.ધૈ.૧૬) અવિશ્વાસ નહીં કરવો કારણ કે અવિશ્વાસ સર્વથા બાધક છે. અવિશ્વાસમાં બ્રહ્માસ્ત્રની અને વિશ્વાસમાં ચાતકની ભાવના કરવી. જે પ્રાપ્ત થાય તેમાં મમતારહિત થઈને પ્રભુસેવા કરે.

શરણાગતિમાં પણ "**अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्, करिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा आत्मनेवेद्यकार्पण्ये**" (પંચશ્લોકી) પ્રભુના અનુકૂલ બનવાનો સંકલ્પ, પ્રભુથી પ્રતિકૂલ હોય તેનો

ત્યાગ, પ્રભુ બધું જ હિતકારક ભક્તોમાટે કરશે જ એવો વિશ્વાસ અને સ્વામીરૂપમાં પ્રભુનો સ્વીકાર આ શરણાગતિના અંગો છે.

શ્રીમદ્ભગવતગીતામાં જેમ બધા જ માર્ગોનું એટલે કે કર્મયોગ, ભક્તિયોગ, જ્ઞાનયોગ નું વિવેચન કર્યા પછી શ્રીઠાકોરજી ચરમરહસ્ય કહે છે : **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"** (ગી.૧૮।૬૬). બધા જ ધર્મોનો ત્યાગ કરીને મારી એકલાની જ શરણાગતિ કર. હું તને સર્વ પાપોથી મુક્ત કરીશ. આ જ રીતે આચાર્યચરણ પણ નવરત્નમાં બધી જ ચિંતાના નિવારણ તરીકે ચિંતન કરવાનું આપણને સૂચવે છે. અંતિમ શ્લોકમાં **"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं "श्रीकृष्णः शरणं मम", वदद्भिः अेवं सततं स्थेयम् ईत्येव मे मतिः"** (નવરત્ન. ૯) ચરમ ઉપદેશ આપે છે. ભગવદ્આશ્રયની અસરકારકતા સમજાવતાં એના ભાષ્યરૂપે વિવેકધૈર્યાશ્રયમાં **"अेहिके पारलोके च ...वाचा च परिकीर्तयेत"** આ લોકમાં પરલોકમાં બધા જ સ્થળે હરિ જ આપણું શરણ છે. પાપના નિવારણમાં, ભયમાં, કામના-અર્થના અપૂરણમાં, ભક્ત આપણો દ્રોહ કરે અથવા આપણાથી ભક્તનો દ્રોહ થઈ જાય તેમાં, ભક્તિના અભાવમાં, ભક્ત અતિક્રમ કરે તેમાં, અશક્યમાં કે શુશક્ય માં આપણા એકમેવ રક્ષક હરિ જ છે. જીવસ્વભાવથી અહંકાર થઈ જાય, પોષણ કરવા યોગ્યનું પોષણ અને રક્ષણ કરવા માં, સ્ત્રી ઈત્યાદિ શિષ્ય વગેરે અતિક્રમ કરે અને અલૌકિક મન સિદ્ધ કરવામાં આવા બધા વખતે હરિની શરણાગતિ, હરિનો આશ્રય ન છૂટવો જોઈએ.

કાયાથી સેવા કરવી મનથી શરણભાવના કરવી, વાણીથી **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** નો ઉચ્ચાર કર્યા કરવો. ભગવદ્આશ્રય કોઈ પણ પરિસ્થિતિમાં છૂટવો ન જોઈએ. વિશ્વાસ પરમેશ્વર ઉપર આચાર્યચરણો ઉપર રાખવો. આપણા માટે આચાર્યચરણોએ જે માર્ગ બતાવ્યો છે તે પ્રમાણે ચાલવાનો પ્રયત્ન કરવો અને એમના ઉપદેશો ઉપર વિશ્વાસ રાખવો. ચિંતાનિવૃત્તિનો આ જ ઉપાય છે. શ્રીપુરુષોત્તમજી આજ્ઞા કરે છે :

> **"तस्याः सन्तान-परंपरा, तद् हन्तारो निवारका यत्पादाम्बुजरेणवः तान् निजाचार्यान् मुहुर्मुहुः यदा-यदा तत्सम्भवः तदा-तदा तन्निवृत्यर्थं प्रकर्षेण काय-वाङ्-मनसेन नमामि ईति अर्थः. तेन तदीयानां ईदमेव तन्निवृत्तिसाधनम् ईति बोधितम्".**

જો વિશ્વાસનું પ્રથમ સોપાન ન ચડાય તો પછી આરંભ, ઉદ્યોગ પુરુષાર્થ, આત્મનિર્ભર, ધનિષ્ટતા, સુજનશીલતા, આત્મસ્વરૂપબોધ બધું જ નકામું થાય છે. અને અવિશ્વાસ, અપરાધબોધ, લઘુતાગ્રંથિ, એકલતા, આત્મવિભાજનના શિકાર થઈ જવાય છે. આ બધા ઉદ્વેગજનક અથવા ચિંતાના કારણો બને છે એટલું જ નહિ પણ ચિંતાની પરંપરા પેદા કરવામાં સહાયક થતા હોય છે.

નવરત્નમાં આપેલા અલૌકિક ચિંતા નિવૃત્તિના ઉપાયો ચિંતન તરીકે આચાર્યચરણોએ આપ્યા છે ૧.આત્મનિવેદનનું ચિંતન ૨.આત્મનિવેદનના સ્વરૂપનો વિચાર ૩.શ્રીપુરુષોત્તમના સ્વરૂપનું ચિંતન ૪.સાક્ષીભાવનું ચિંતન ૫.સ્વસેવ્ય પ્રભુના ચિંતન અથવા તો ભગવત્ સેવનાં તાત્પર્યનું ચિંતન ૬.ભગવદ્લીલા ચિંતન અને ભગવત્ શરણાગતિના ચિંતનથી ચિન્તા દૂર કરવી એવું તાત્પર્ય સ્પષ્ટતયા દેખાય છે.

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગ પર ચાલનાર અથવા સાચા દિલથી પ્રયત્ન કરનારને ૧.માનસિક વિક્ષેપ ૨.શારીરિક અસક્તિ ૩.પારિવારીક પ્રતિબંધ ૪.અહંકારને લીધે થતો અત્યાગ્રહ ૫.મમતાને લીધે પરપીડાનો સ્વભાવ બધા જ છેવટે ચિંતાના કારણ બનતા હોય છે. એટલે જ આચાર્યચરણ ચિંતાતુર ચિત્તથી થતી સેવા કરવા કરતાં સેવાત્યાગનો ઉપદેશ સર્વનિર્ણયમાં આપે છે.

નવરત્ન ગ્રન્થ પ.ભ. ગોવિન્દ દૂબે માટે લખાયો છે. સર્વસમર્પણપૂર્વક સેવા કરનારમાટે સેવામાં ચિત્ત ન લાગવા જેવી સમસ્યા બીજી કઈ હોઈ શકે? પણ લીલાભાવનામાં પણ વિજાતીયચિંતન વ્યગ્રતા પેદા કરે છે અને નવરત્ન ગ્રન્થના પાઠથી વ્યગ્રતા મટી ગઈ. મન ભગવત્સેવામાં લાગ્યું. ભાવપ્રકાશમાં શ્રીહરિરાયચરણ નીચે મુજબ આજ્ઞા આપે છે.

> "सो गोविन्द दूबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना प्रजकी करै सो मन लागे नाहीं. न राजलीलामें दृढता होई न व्रजलीलामें. सो अनेक साधनमें मन दौरे : तीर्थ करुं के व्रत करुं, कोई जप करुं ईत्यादि मन भटके."

આજ તો આપણામાં લીલાભાવના જ નથી અને લૌકિક તમન્નાથી કરેલી અથવા કરાવેલી સેવા જેનું પ્રયોજન સ્પષ્ટ નથી તો વ્યગ્રતા સ્વાભાવિક છે અને જ્યાં સુધી લોકાર્થી પણું નહિ મટે ત્યાં સુધી આચાર્યચરણ સ્પષ્ટ શબ્દોમાં કહે છે કે **"लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा"** (સિ.મુ.૧૬). લૌકિક કામનાઓ કે પ્રયોજન થી શ્રીકૃષ્ણની સેવા કરે તે બધી રીતે કલેશ પામે છે. વિવેક, ધૈર્ય અને આશ્રય નાં ઉદાહરણ રૂપે તો શ્રીસંતદાસજી ચોપડાની વાર્તા સુસ્પષ્ટ છે. નીચેના ઉદ્ધરણ માનનીય છે.

"શ્રીઆચાર્યજી એકાન્તમેં અકેલે બૈઠે હતે, તહાં સંતદાસ જાઈ દંડોત કરિ વિનતી કિયે જો "મહારાજ મો પર ઐસી કૃપા કરિયે જો યા દેહસોં ઠાકુરજી અનુભવ જનાવેં ઔર સંસારકો દુઃખ-સુખ બાધા ન કરે. આપકો સ્વરૂપ હૃદ્યારૂઢ હોઈ, પુષ્ટિમાર્ગીય ફલકો અનુભવ હોઈ". તબ આચાર્યજી સંતદાસકોં "પુરુષોત્તમસહસ્રનામ પઢાયે ઔર આપને ગ્રન્થ કિયે હતે સો પોથી દેકેં કહેં તુમકોં યહ ગ્રન્થદ્વારા સબ મનોરથ પૂર્ણ હોઈગો. ઔર કછુ દિનમેં તેરો સગરો દ્રવ્ય નાસ હોઈગો. જો દ્રવ્ય શ્રીઠાકુરજીમેં લગાવેગો સો રહેગો. પરન્તુ શ્રીઠાકુરજીકો વૈભવ બઢાયે (પાછે) જબ દ્રવ્ય ન હોઈ તબ વામેંતે ખાન-પાન કરેં સો બહિર્મુખ હોઈ. સો તૂ વિવેક-ધૈર્યાશ્રય રાખિ ધીરજ રાખિયો. તૂ દેવી હૈ. સો તોસોં ધર્મ નિબહેગો ઔરસોં કઠિન હૈ. મૈં તેરે પર પ્રસન્ન હોં, તાતેં તોંકો લૌકિકબાધા ન કરેગો".

"સો સંતદાસ બહોત પ્રસન્ન હુતે. ... રુપૈયાકો વ્યાપાર હતો, સો વ્યારમેં દ્રવ્ય સબ ખોયે. કછુ ચોરનનેં લીયો, કછુ રાજા દણ્ડ કિયો. પાછે નિષ્કિંચન ભયે. પરન્તુ મનમેં આનંદ ભયો જો શ્રીઆચાર્યજી કહે સો ભયો".

ચિંતા નથી કરી, વ્યગ્ર નથી થયા પરન્તુ લૌકિકમાં આવેલી તકલીફમાં આનન્દ માન્યો. આચાર્યચરણપરની નિષ્ઠા, આપના વચનઉપર વિશ્વાસ અને વિવેકધૈર્યાશ્રય દ્વારા નિશ્ચિન્તતાનું આનાથી ઉત્તમ ઉદાહરણ બીજું ક્યાં મળી શકે?

દૃઢ વિશ્વાસ અને સ્વમાર્ગીય સાધનામાં દૃઢતા તો આપણને રાઘર ની

વાર્તામાં માણિકચંદ હરિદાસના જમાઈની વાર્તામાં હરિદાસની બેટીએ શ્રીગુસાંઈજીને સ્મરણ કરી પોતાના માર્ગમાં બધાનો પ્રવેશ કરાવ્યો. જેને માટે શ્રીગુસાંઈજી આજ્ઞા કરે છે.

"અમૂકો તૂ તો ધીર હૈ. હરિદાસકી બેટી હૈ. તેરે કાજે તો અબકે હમ દ્વારકાજીકોં આયે હૈં. તૂ એસો ખેલ ક્યોં કરત હૈ? મોકોં તો તેરી ચિંતા હતી તાસોં હોં તો પાસ આયો હું. અબ તૂ કછૂ ચિંતા મતિ કરે. તબ વાને શ્રીગુસાંઈજીસો બિનતી કરી, જો મહારાજ! આપ મેરો યા ભાંતિ સમાધાન ન કરોગે તો ઔર કોન મેરો સમાધાન કરે? મેરો ધૈર્ય તો આપકે હાથ હતો. તો આપકી કૃપાસોં ધૈર્ય રહ્યો".

ગમે તેવી વિષમ પરિસ્થિતિમાં ચિંતા નથી કરી ધીરજ રાખી શ્રીગુસાંઈજીના ઉપરનો દૃઢ વિશ્વાસ આ વાર્તામાં ધીરજ રખાવે છે. આજ વાર્તામાં શ્રીહરિરાયચરણ આજ્ઞા કરે છે.

ભાવપ્રકાશ : "યા વાર્તાકો અભિપ્રાય યહ હૈ જો વૈષ્ણવકો કૈસો હૂં સંકટ આય પરૈ તોઉ એક શ્રીગુસાંઈજીકે ચરણારવિન્દકો સ્મરણ કરનો". પ.ભ. દયારામભાઈના આ વિષયના કવિત્ત જોઈએ.

સર્વેશ્વર સર્વાત્મવિભુ નાગર કૃષ્ણ કૃપાલ
નિજ ઇચ્છાસુ કરેં તુ ક્યોં સોચત બાલ ॥
ઈશ કૃતિમેં અહંપદ શકટ નીચે જ્યોં શ્વાન
સકલ સૃષ્ટિ મંડાન યોં વિરલ જુગત યહ જાન ॥

જે સર્વેશ્વર સર્વના આત્મા, અત્યન્ત ચતુર અને ધર્મી કૃપાળુ શ્રીકૃષ્ણ છે તે સ્વેચ્છાથી જેમ ગમતું હશે તેમ કરશે માટે હે બાલક સરખી બુદ્ધિવાળા આજ્ઞાની! તું શા માટે ચિંતા કરે છે?

ઈશ્વરની સર્વકૃતિ છતાં જે મિથ્યાભિમાની કર્તાપણું માને છે તે તો જે પ્રમાણે ગાડાનો ભાર ખેંચવાને કુતરું લેશમાત્ર પણ સમર્થ ન હોવા છતાં ગાડાની પાછળ અમળાતું-અમળાતું ચાલી મિથ્યા ભાર ખેંચવાપણાનું અભિમાન કરતું

હોય છે તેવું છે. કેમકે સર્વ જગતનું મંડાન એ જ પ્રમાણે ઈશ્વરની સત્તાથી થાય છે. આ સિદ્ધાન્તને કોઈ વિરલા પુરુષ જ યથાર્થ યુક્તિએ કરીને જાણે છે.

ચિંતા કાહુબાતકી, મહાપ્રભુ કહિ મત રાખ,
બ્રહ્મસમ્બન્ધ ચિંતામનિ તુવ હિય દિન જિન ભાખિ ।।૧૪૧।।
તે સબ અરપ્યો કૃષ્ણકો તોકું રહી કા આંચ,
તોહિ રહિ જો આંચ તો ભયો ન સમર્પન સાંચ ।।૧૪૨।।

શ્રીમદ્ વલ્લભાચાર્યજી (શ્રીઆચાર્યજી મહાપ્રભુજી) એ નવરત્ન ગ્રન્થમાં પોતાના વૈષ્ણવોને આજ્ઞા કરી છે કે કોઈ પણ વાતની ચિંતા લૌકિક કે અલૌકિકની તું ન કરીશ કારણ કે બ્રહ્મનો સમ્બન્ધ તને કરાવ્યો છે. એ પરાત્પર પરબ્રહ્મનો સમ્બન્ધ ચિંતામણિ જેવો, ઈચ્છિત સર્વ મનોરથોને પૂર્ણ કરી સર્વ અભીષ્ટનું દાન કરવાવાળો છે. માટે તું તારા હૈયામાં દીન થઈ પ્રાકૃત જનને પ્રાર્થીશ નહિ. તે બ્રહ્મનો સમ્બન્ધ કરતી વખતે સર્વાત્મ નિવેદન કરી શ્રીકૃષ્ણ ભગવાનને સર્વસ્વ સમર્પણ કરેલું છે તેથી કોઈ પણ પદાર્થનો તું માલિક નથી રહ્યો. પણ સર્વેશ્વર પરબ્રહ્મ પરમાત્મા તે જ સર્વના સ્વામિ-માલિક થયા. પરાઈ સત્તાવાળા માલિકના પદાર્થોવિશે તારે ચિંતાનું શું પ્રયોજન છે? જ્યારે તને તેને અર્પણ કરેલા પદાર્થની ચિંતારૂપી અગ્નિનો તાપ રહ્યો ત્યારે તે વસ્તુનું મન કર્મ, વચને સત્યસંકલ્પ સર્વાત્મનિવેદન (સમર્પણ) પ્રભુનું કર્યું જ નથી. માટે તને ચિંતા રહે છે.

ચિત્ત તું શીદને ચિંતા કરે કૃષ્ણને કરવું હોય તે કરે।
સ્થાવર જંગમ જડ ચૈતન્ય માં માયાનું બલ ઠરે।
સ્મરણ કર શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજીનું જન્મ-મરણ ભય હરે।।કૃષ્ણને...
નવ માસ પ્રાણી કૃષ્ણચન્દ્રનું ધ્યાન ગર્ભમાં ધરે।
માયાનું આવરણ કર્યું ત્યારે લક્ષ ચોરાશી ફરે।।કૃષ્ણને...
તું અંતર ઉદ્વેગ કરે તેથી કારજ શું સરે।।
ધણીનો ધાર્યો મનસુબો હર-બ્રહ્માથી નવ ફરે।।કૃષ્ણને..
દોરી સર્વની એના હાથમાં ભરાવ્યું ડગલું ભરે।।
જેવો જંત્ર વગાડે જંત્રી એવો સ્વર નીસરે।।કૃષ્ણને..
બનાર વસ્તુ થયા કરે જન્મ શ્રીફલ પાણી ભરે।।
જનાર વસ્તુ એણી પેરે જનાએ જન્મ ગજ કોહું ગરે।।કૃષ્ણને..

જેવું જેટલું જે જન્મ કાલે તે તેને કર ઠરે।।
એમાં ફેર પડે નહીં કોઈથી શીદ કુટાઈ તું મરે।।કૃષ્ણને...
તારું ધાર્યું થાતું હોય તો સુખ સંચે દુઃખ હરે।।
આપતણું અજ્ઞાનપણું તો મૂળ વિચારો અરે।।કૃષ્ણને...
થાવાનું અણચિંતવ્યું થાશે ઉપનિષદ્ ઉચરે।।
રાખ્ય ભરોસો રાધાવરનો દયા શીદને કરે।।કૃષ્ણને...

પ.ભ. દયારામભાઈ કહે છે કે,

ઘોડે બેસી ગાંસડી માથે મુકે મૂઢ
માથે મૂકે મૂઢ કોઠ સમરથ શિર શ્રીજી.
સકટ શ્વાનની પેરે રહે શીદ ચિંતા ભેગી
તુજ કીધું શું થયું વ્યર્થ કુટે અજ્ઞાની
કર્તા હર્તા કૃષ્ણ દુઃખ મિથ્યા લે માની
માની કરે દયા મૂઆ ગતિ સમઝે નહિ મૂઢ-ઘોડે બેસી.

આચાર્યચરણના સેવકો માટે તો વધુ કહેવું ઉચિત નથી માટે છેલ્લે ઉપસંહારમાં બે શ્લોકો લખી.

શ્રીગોકુલનાથો અસ્માકમ્ ઐહિકં પારલૌકિકમ્।।
સ્વયમેવ જાતોસ્તીતિ કિમસ્માકં વિચારણીયમસ્તિ।
ચિંતા કાપિ ન કાર્યા, ગોવર્ધન નાથોડસ્મત્કુલપતિઃ અસ્મદ્ હિતમેવ કરિષ્યતિ।

ટિપ્પણી :

૧. નેવ ચિંતા પ્રકર્તવ્યા લૌકિકી ભક્તિમાર્ગિણૈઃ ।।
ચિત્તે ચિંતાતુરે કૃષ્ણ-કથમાવિશતે ગુણૈઃ ।।૩૬-૧।।
યથા ગૃહે ગૃહપતિઃ શુદ્ધે સમ્માર્જનાદિભિઃ ।।
સ્વસ્યસ્તિષ્ઠત્યન્યથા તુ પરાવર્તેત સર્વથા ।।૩૬-૨
આચાર્યચરણં તસ્ય ચિંતાવેશોડપિ નેષ્ટ હિ ।।
તસ્માચ્છ્રીવલ્લભાચાર્યચરણાબ્જદ્વયાશ્રિતૈ ।। ૩૬-૧૭
ન કાપિ ચિંતા કર્તવ્યા કૃષ્ણસેવા વિના પુનઃ ।।
નિવેદનાનુસંધાન-ચિંતામાત્ર વિધિયતામ્ ।। ૩૬-૧૮
૨. નિવેદનસ્મરણતઃ સદ્ભિઃ સહ કથાદિભિઃ ।।

सदा नामेक्षणात: सदा शरणभावनात् ॥
अष्टाक्षरमहामन्त्र-कीर्तनन विक्षेपत: ।
पञ्चाक्षरमन्त्रेण तदीयत्वविभावनात् ॥
वैराग्य-परितोषाभ्यां कृष्णसन्निहितस्थितेः ।
गोकिङ्करेशजीवानीन-स्थात् पुत्राद्यननुरागत: ॥
गृहवित्ताद्यनासक्त्या तदीयेष्वनुरागत: ।
नवरत्नस्य पठेन सर्वचिंता निवर्तते ॥२.३।११-१४॥

3. पुष्टिप्रभुच्चाहू अरमाहं लौकिकी पारलौकिकी ।
सर्वा चिंता हरेरेव निश्चिन्तत्वं विभाव्यताम् ॥
अतएवोक्तमाचार्यैर् निजैश्वशत: करिष्यति ।
नापेक्षते निजनार्तबंधु श्रीगोकुलेश्वर: ॥ (शि.३१।११-१२)

ग्रन्थ सन्दर्भ :

१. सेवाफल-चतुर्दशटीकाभिरलंकृतम्
२. नवरत्न-पञ्चटीकाभिः अलंकृतम्
३. ८४ वैष्णवनी वार्ता, वैष्णवमित्र मंडल ईन्दोर.
४. २५२ वैष्णवनी वार्ता " "
५. क्लेश कुठार-हजारीभाई.

चर्चा

पुष्टिभक्तिमार्गनी साधनामां आधक चिंतानुं स्वरूप अने निवारण

श्रीहंसराज वेद

गो. शरद् : इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग ऐसे उद्वेगके दो कारण आपने गिनाये हैं. इनके अतिरिक्त दूसरे कोई कारण उद्वेग होनेके पीछे हो सके हैं?

हंसराज वेद : इष्टवियोग औ अनिष्टसंयोग में सबको समावेश हो जायेगो.

गो. शरद् : उद्वेग कोईको स्वभाव ही होवे. कई लोग उद्वेग अकारण करते ही रहते होवे हैं. आस-पासके लोगनकुं उद्वेगको कोई कारण दीखतो नहीं होवे है. फिर भी आदमीकुं उद्वेग होवे है. याकुं अपन इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग सुं पृथक् गिन सकें?

हंसराज वेद : अपनकुं ऐसो लग सके है के उद्वेगको कोई कारण नहीं है. पर वाकुं कोई कारण समझमें आतो होवे तो? वाके इष्ट और अनिष्ट तो वो खुद ही नक्की करेगो न!

गो. शरद् : एक ओर जिज्ञासा है. अपनने चिन्ता और उद्वेग के बीच ऐसी तरहसुं भेद सोच्यो है के जा प्रतिकूल मनोदशाके कारण सेवाकर्ताके दैनिक भक्तिमार्गीय कायिकादि व्यवहार प्रभावित नहीं होते होवें तो वाकुं अपन 'चिन्ता' कहेंगे और जाके कारण प्रभावित होते होवें ऐसी प्रतिकूल मनोदशाकुं 'उद्वेग' कहेंगे. आपने अपने पत्रमें आधुनिक मनोविज्ञानके सम्बन्धमें भी चर्चा करी है. चिन्ता-उद्वेगकी साम्प्रदायिक परिभाषाकुं आधुनिक मनोविज्ञानकी दृष्टिसुं समझनो होवे तो कैसे समझ सकें?

और आपने पत्रमें लिख्यो है के "आसुरी जीव माटे पण आचार्यचरण सेवाफळ ग्रन्थमां आज्ञा करे छे". यहां 'आसुरी'को तात्पर्य "दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता" वालो आसुरी है या आसुराबाशी है?

हंसराज वेद : आसुरावेशी, दुर्ज्ञ असुर नहीं है.

गोपालदास : श्रीमहाप्रभुजी ऐसी आज्ञा नहीं करे हैं के तुम पुष्टिमार्गी हो यालिये उद्वेग मत करो. क्योंके उद्वेग नहीं करनो चाहें तब भी उद्वेग हो जातो होवे है. उद्वेग होवे है याकेलिये आज्ञा कर रहे हैं के ऐसो कोई उपाय करो, साय्कोलोजी सीखो, फिलोसोफी सीखो, ज्ञान प्राप्त करो, अज्ञान प्राप्त करो, शरणभावना करो, भक्तिभाव करो. जो करनो होवे सो करो पर उद्वेगसुं बचो. क्योंके वो प्रतिबन्धक है. हंसुभाई आलेखमें लिख रहे हैं के "आचार्यचरण उद्वेग न करवो एवी आज्ञा नथी करता".

हंसराज वेद : જ્યારે અનિષ્ટસંયોગ થાય છે ત્યારે સ્વભાવથી જ ઉદ્વેગ થઈ જતો હોય છે, એને જ્યારે આપણે તાણીયે ત્યારે એ ચિન્તામાં પરિણમે છે. સંતત એને તાણીએ અને એ જ્યારે ચિન્તામાં પરિવર્તિત થાય એવી ચિન્તા કરવાની ના પાડવામાં આવી રહી છે. ઉદ્વેગનું તો એવું છે કે જીવનમાં આવા પ્રસંગો આવશે જ કે જેમાં ઉદ્વેગ થઈ જાય. જેમ હું મુમ્બઈની લોકલ્ ટ્રેનમાં જતો હતો તે જ વખતે બાજુની ટ્રેનમાં બોમ્બ વિસ્ફોટ થયો. મને ગભરામણ થઈ. પણ એ ઘટનાને યાદ કરી-કરીને આપણે ચિન્તા કરતા રહીએ કે આજ પછી કદિ ટ્રેનમાં મુસાફરી કરવી જ નહીં એ ઉચિત નથી. તેથી ચિન્તા ત્યજી દેવી જોઈએ. ઉદ્વેગ તો સ્વભાવથી થઈ ગયો તે થઈ જ ગયો. ઉદ્વેગ માટે તમે એમ કેમ કહી શકો કે ઉદ્વેગ નહીં કરવો?

गोपालदास : तमे आलेखमां एम लखी रह्या छो के "आचार्यचरण उद्वेग न करवो एवी आज्ञा नथी करता". पण आप एवी आज्ञा करी रह्या छे तो तमे एनी ना केम पाडो छो ? उद्वेग सेवामां प्रतिबन्धक छे. एने दुर करो. एम ज तो श्रीमहाप्रभुजी कही रह्या छे ओन् ध सर्फेस् वेल्यु. बाकी उंडाणमां जईने तमे कंई कही रह्या हो तो ओ तमे जाणो.

गो. शरद् : એ તો હંસુભાઈએ સ્પષ્ટ કર્યું જ છે કે ઉદ્વેગ અપ્રયત્ન થાય છે. જે સપ્રયત્ન થતો હોય તેના ઉપર તો આપણે લગામ રાખી શકીએ છીએ પણ જે અપ્રયત્ન થતો હોય એના ઉપર જો તમે લગામ મૂકવાનું કહેશો તો પણ એ અશક્યોપદેશ થશે. આવો તાત્પર્ય એમણે સ્પષ્ટ કર્યો છે. ચિન્તાની વ્યાખ્યા સપ્રયત્નચિત્તવ્યાપારના રૂપમાં કરવામાં આવી છે. તેથી ચિન્તા કરવાની ના પાડવામાં આવી છે.

गोपालदास : प्रतिबन्धक छे तेथी ओ न करवो एवी स्पष्ट आज्ञा करी रह्या छे.

लेखमां वाक्यरचना जरा एवी लागे छे तेथी ध्यान दोरी रह्यो छुं.

गो. श्या.म. : "नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण" में मैने ये वाक्य वापर्यो है. हंसुभाईने कौनसे सेन्समें वाक्य लिख्यो है वो तो वो बतायेंगे पर मेरो अभिप्राय ऐसो है के श्रीमहाप्रभुजी स्वयं ऐसी आज्ञा करे हैं के "हरिः चित्तोद्वेगं विधायापि", अपन चित्तोद्वेग नहीं कर रहे हैं, हरि करवा रह्यो है. जब हरि करवा रह्यो है तो वाकुं रोकनेवाले अपन कौन होवे हैं? मैने या तात्पर्यसुं ऐसो विधान कियो हतो. उद्वेगकी तो गैरन्टी नहीं दे सके हैं के वो नहीं होयगो.

गोपालदास : प्रयत्न तो करनो ही चहिये न!

गो. श्या.म. : अपन कैसे प्रयत्न करेंगे! हरिके सामने अपने प्रयत्न कितने टिकेंगे!

गोपालदास : हरि ही तो आचार्यश्रीके द्वारा आज्ञा दे रह्यो है के उद्वेग दूर करनेके प्रयत्न करो.

गो. श्या.म. : वो आचार्यचरण खुद यों कह रहे हैं के "चित्तोद्वेगं विधायापि हरिः". यासुं उद्वेग होयगो पर अपन चिन्ता नहीं करेंगे.

गोपालदास : पूरे वाक्यमें 'चिन्ता' शब्द कहीं है ही नहीं.

गो. श्या.म. : कौनसे उद्वेगकी ना पाड़ रहे हैं वाको प्रभेद अपनकुं करनो पड़ेगो न! एक तो क्रियमाण उद्वेग होवे है और दूसरो जायमान उद्वेग होवे है. श्रीपुरुषोत्तमजीने ये प्रभेद समझाये हैं.

गोपालदास : ये करवेसुं फायदा क्या होयगो?

गो. श्या.म. : जायमान उद्वेग कियो नहीं जावे है, हो जावे है.

गोपालदास : "उद्वेग नहीं करनो चहिये" ऐसो वचनामृत यदि अपन रखें. ये सब कायके...

गो. श्या.म. : ये जायमान उद्वेगकेलिये कह्यो है. प्रभु उद्वेग पैदा करे हैं.

गोपालदास : सेवामें तो वो प्रतिबन्धक है.

गो. श्या.म. : भगवत्कृत प्रतिबन्धमें भी तो श्रीमहाप्रभुजी वो ही बात कह रहे हैं.

गोपालदास : ये भगवत्कृत प्रतिबन्ध नहीं है?

गो. श्या.म.: भगवत्कृत है. हरि जब चित्तमें उद्वेग पैदा करतो होवे तो वो भगवत्कृत ही है न!

गोपालदास : मतलब "चिन्ता नहीं करनी चहिये" ये कह्यो है वो "उद्वेग

नहीं करनो चहिये'' वा आशयमें कह्यो है.

गो. श्या.म. : नहीं नहीं. उद्वेग तो होयगो. वाकी चिन्ता नहीं करनी.

गोपालदास : 'चिन्ता' और 'उद्वेग' सिनोनिम् नहीं है!

गो. श्या.म. : सिनोनिम् कैसे होयेंगे? चिन्ता अपन कर रहे हैं, उद्वेग हरि पैदा कर रह्यो है. बातमें तो फर्क पड़ गयो न!

गो. शरद् : लीलाको एक प्रसङ्ग है. कालीय नागके बन्धनसुं ठाकुरजी बंध गये. तटपेसुं सब व्रजभक्तन्ने ये दृश्य देख्यो. ठाकुरजीने नागको बन्धन स्वीकार्यो वाको कारण ये हतो के ऐसी लीला करके आप व्रजभक्तन्को उद्वेग बढ़ानो चाहते हते. अन्यथा ठाकुरजी नागकुं क्षणमें नाथ लेते. पर ठाकुरजीने ऐसो नहीं कियो. क्योंके आप चाहते हते के व्रजभक्तनकुं उद्वेग होवे और उनको चित्त आपमें निरुद्ध होवे. यामें तो कोई ओर उपाय ही नहीं है!

गोपालदास : ठाकुरजीने उद्वेग करायो और उनने उद्वेग कियो और प्राण छोड़ दिये. तो क्या नक्की भयो?

गो. शरद् : जाके ऊपर आपको बस नहीं है, ठाकुरजी जाकुं पैदा कर हे हैं वाकेलिये ''नहीं करनो'' ऐसो विधान कैसे कियो जा सके है?

गोपालदास : सबकी सब चीज ऐसी ही है. लीलाकुं बीचमें लाओगे तब तो सब कुछ ऐसो ही है.

असित शाह : श्रीपुरुषोत्तमजी जो आज्ञा कर रहे हैं : ''चिन्ता उद्वेगजनिकां वा तज्जनितां वा तद्रूपा वा द्रुतं शीघ्रमेव त्यजेत्'' वो आठवें श्लोक ''चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर् यद्यत् करिष्यति, तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्'' में जो 'चिन्ता' पद वापर्यो है वाकी व्याख्यामें श्रीपुरुषोत्तमजी ये कह रहे हैं. मेरे हिसाबसुं नवरत्न ग्रन्थमें आयी सब चिन्ताकुं या एनालिसिस्में फिट् करनो जरूरी नहीं है के सब चिन्ता या तो उद्वेगजनिका है या उद्वेगजनिता है या तद्रूपा है.

कुछ चिन्ता ऐसी भी होवे हैं के जाको उद्वेगके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होवे. हंसुभाईने उद्वेगके दो कारण बताये : इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग. ऐसे ही सात श्लोकमें जो चिन्ता बताई है वाके विषयमें अपन सोचें तो वामें अनेक चिन्ताएं ऐसी हैं के जामें इष्टवियोग नहीं भयो है. इष्टसंयोग है. अनिष्टको संयोग भी नहीं है फिर भी चिन्ता हो रही है. याकुं समझनेकेलिये जनरल् कोन्टेक्स्में सोचें.

अपने यहां लोकशाही है. कोई पक्षकुं बहुमत मिल गयो और कोई प्रधानमन्त्री बन गयो. पर पांच वर्ष पर्यन्त वा आदमीकुं चिन्ता बनी रहे है के मेरो बहुमत कब तक बन्यो रहेगो. वो निरन्तर ऐसे प्रयास करतो रहे है के वाको बहुमत बन्यो रहे. सब एम्.पी. वासुं सन्तुष्ट रहें. इष्टसंयोग होते भये भी चिन्ता या दृष्टिसुं हो सके है के आज मेरे पास इष्ट है पर कल रहेगो के नहीं!

भक्तिके सन्दर्भमें सोचें तो वामें भी ऐसो हो सके है के अपनो आत्मनिवेदन हो गयो है पर फिर भी अपनकुं चिन्ता हो सके है के अपनो आत्मनिवेदन ठीक तरहसुं भयो होयगो के नहीं. अज्ञानसुं भयो होयगो के ज्ञानसुं भयो होयगो आदि. सेवा कर रहे हैं पर मन नहीं लगतो होवे. इन परिस्थितिन्में इष्टसंयोग कुछ अर्थमें है पर फिर भी चिन्ता हो सके है. यासुं हर चिन्ताकुं ऐसे सोचनो के या तो वो उद्वेगजनिका है या जनिता है या तद्रूपा है ऐसो मेरे हिसाबसुं श्रीपुरुषोत्तमजी भी नहीं चाहते होंगे. केवल ''चित्तोद्वेगं...''में उद्वेगको सन्दर्भ है. बाकी जैसे ''सेवाकृतिः गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया'' ये ऐसो सन्दर्भ नहीं है के जामें कोई तरहको इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग होवे. ये कुछ ऐसी चिन्ताएं हैं के जो इष्टसंयोग या अनिष्टवियोग होते भये भी होती होवें. तो ये ऐसी अवस्था है के जाकुं उद्वेगसुं अलग समझनी चहिये. चिन्ता एक अलग मनोवस्था है, उद्वेग एक अलग मनोवस्था है. हरेक चिन्ताको उद्वेगसुं जुड्यो होनो जरूरी नहीं है ऐसे ही हर उद्वेगको चिन्तासुं जुड्यो होनो जरूरी नहीं है.

गो. शरद् : ऐसो भी तो सम्भव है के कुछ चिन्ता मनके स्तरपे केवल रहती होवें. कुछ चिन्ता चित्तमें जाके बैठ जाती होवे हैं. यासुं या विषयको विचार ऐसे ढंगसुं भी कियो जा सके है के चिन्ता अपने अन्तःकरणके या देहेन्द्रियके कौनसे भागमें बैठी भयी है. जैसे जो चिन्ता या उद्वेग मनके स्तरपे है वो इतनो गम्भीर नहीं होवे है पर जो चित्तके स्तरपे या वासुं भी आगे जाके बस जावे है तो वो गम्भीर स्वरूप धारण कर लेवे है.

गोपालदास : हां. वो तो है ही. चिन्ता सामान्य है. 'उद्वेग' माने वेग बहोत बढ़ गयो होवे.

गो. श्या. म. : ओवीजीभय-सञ्चलनयोः. जहां अपन अपनी स्वस्थतासुं विचलित हो रहे हैं, अब वो मानसिक स्वास्थ्य होवे, बौद्धिक होवे, आहंकारिक होवे या फिर शरीरिक स्वास्थ्य होवे. अपन जब विचलित होवे हैं तब उद्वेग या भय है. भय सामान्यतया शरीरिक नहीं होवे है, आन्तरिक होवे है. अंदरको भय शरीरमें भी प्रकट होवे है. उद्वेजयति उद्वेगः. उद्वेग स्वाभाविक है. क्योंके कौनसी चीज अपनेमें भय पैदा करेगी या विचलित कर देगी वापे अपनो कंट्रोल् नहीं है. वहां अपनो कर्तृत्व हर बखत इन्वोल्व्ड् नहीं होवे है. पर उद्वेगमेंसुं जब अपन चिन्ता करे हैं तब वामें अपनो कर्तृत्व आवे है. ये मूल अन्तर है. चिंति ध्याने स्मृत्याम्. कोई चीजको स्मरण करके, ध्यान करके, आशङ्का करके अपन वाकी चिन्ता करते होवे हैं. पर उद्वेग तो अपनकुं मन, वाणी, शरीर में कहीं भी हो सके है. चिन्ता एक अर्थमें अस्वाभाविक है, उद्वेग एक अर्थमें स्वाभाविक है अपने मन-शरीर-जीवके स्वभाववश या भगवत्कृत होने पर भगवत्कृतिके स्वभाववश. पर चिन्ता स्वभाव नहीं है सामर्थ्य है.

रसिक शाह : અસિતે જે વાત કરી તેમાં જો આપણે ભાવી ઈષ્ટવિયોગ અને ભાવી અનિષ્ટ સંયોગ એમ લઈશું તો વાત બેસી જશે.

असित शाह : ખાલી ભાવીની વાત નથી, ભૂતકાળની પણ વાત છે. પહેલાં આત્મનિવેદન થઈ ગયું હોય પણ ચિન્તા તમને આજે થઈ શકે છે કે મારું આત્મનિવેદન બરાબર થયું હશે કે નહીં. તે જ રીતે વર્તમાનનું પણ થઈ શકે છે.

हंसराज वेद : મારું આત્મનિવેદન ઠાકોરજી સ્વીકારે એ મારું ઈષ્ટ છે. એની ચિન્તા હું કરી રહ્યો છું.

गो. श्या. म. : यामें मोकुं ऐसो लगे है के 'अनिष्टसंयोग' और 'इष्टवियोग' में 'संयोग' शब्द अपन वापरे हैं करके वो कोंक्रीट् लगे है. पर संयोग और वियोग अनुभूति रूप भी हो सके हैं, स्मृतिरूप भी हो सके हैं और आशंसारूप भी हो सके हैं. यासुं इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग यदि स्मृतिरूप हैं तो जो तू बात कह रह्यो है वो आयेगी. आशंसारूप है तो रसिकभाई जो कह रहे हैं वो आयेगी. संयोग-वियोग तो सभी तरहसुं हो सके हैं. ये तकलीफ इन्द्रिय और विषय की है के वो वर्तमानमें ही होवे. पर अन्तःकरण तो तीनों आयाममें चलनेवालो है.

वो तो जो नहीं है वाकुं भूतकालमेंसुं भी उठा लाके व्यर्थ ही संयोग-वियोगकी कल्पना कर सके है. और भविष्यमें होनेवालेके भी संयोग-वियोगकी कल्पना कर सके है. कई लोग स्वप्नकुं लेके चिन्तित होवे हैं. मने सपनामां साप देखाय छे. चिन्ता थाय छे. अब सपनामें दीख रह्यो है वाकी चिन्ता क्या करनेकी! तो संयोग-वियोग स्वाप्निक भी हो सके है.

પુષ્ટિભક્તિ અને પ્રપત્તિ માં પ્રતિબંધરૂપ અજ્ઞાન

ગોપાલદાસ શાહ

પરમાનન્દ પૂર્ણપુરુષોત્તમ શ્રીકૃષ્ણની પ્રાપ્તિ અનન્યભક્તિ દ્વારા થાય છે એ વાત **"ભક્ત્યાલભ્યસ્તુ અનન્યયા"** તેમજ **"ભક્ત્યા એવ મામ્ અભિજાનાતિ"** વચનો દ્વારા સુસ્પષ્ટ જણાવેલ છે. 'ભક્તિ'નો રૂઢાર્થ શ્રીકૃષ્ણમાં સુદૃઢ સ્નેહ છે. અને યોગરૂઢ અર્થ પણ પ્રેમ જ છે એમ શાસ્ત્રોમાં પ્રતિપાદન કરેલ છે. તેવી જ રીતે પ્રભુને શરણાગત જીવને ભગવત્ પ્રાપ્તિ પ્રભુની કૃપાથી થાય છે, જેને આપણે 'પ્રપત્તિ' શબ્દથી જાણીએ છીએ. સર્વસાધન રહિત માત્ર પ્રભુના કૃપાબળથી પ્રભુની પ્રાપ્તિની આકાંક્ષાને શરણાગતિ યા પ્રપત્તિમાર્ગ માટે મુખ્ય સાધન માનવામાં આવેલ છે.

પુષ્ટિભક્તિ પણ ભગવાનની કૃપાથી વરણ દ્વારા સિદ્ધ થાય છે. ભક્તિબીજનું દાન દૈવીજીવોને સ્વતઃ થાય છે પ્રભુ દ્વારા. તેથી શ્રીકૃષ્ણ નિઃસાધન ફલાત્મા છે તેમ "નિઃસાધનફલાત્મા અયમ્ પ્રાદુર્ભૂતો અસ્તિ ગોકુલે" શ્રીઆચાર્યચરણ સુબોધિની કારિકામાં આજ્ઞા કરે છે.

પુષ્ટિભક્તિ અને પ્રપત્તિ ફલિત થવામાં અનેક પ્રતિબંધોનું નિરૂપણ કરવામાં આવેલ છે, તેથી એમ સૂચિત થાય છે કે પુષ્ટિબીજ સહિતના અધિકારીને બીજાત્મક ભક્તિ તરફ અંકુરિત, કલિકારૂપ, પુષ્પિત અને ફલિત જે ક્રમ વડે થાય છે તે ક્રમને પુષ્ટિભક્તિના સાધન તરીકે વર્ણન કરવામાં આવેલ છે. જેમ "યથા ભક્તિ પ્રવૃદ્ધાસ્યાત્ તથોપાયો નિરૂપ્યતે" (ભક્તિવર્ધિની).

ભગવાનનાં ભજનમાં પ્રતિબંધક અજ્ઞાન અને તેના નિવારણના ઉપાયો અનેક સંદર્ભમાં જણાવેલ છે. જેમ કે

૧. પ્રમાણ, પ્રમેય, સાધન અને ફલ સમ્બન્ધી અજ્ઞાન. તેના જ્ઞાનમાટે શ્રીમહાપ્રભુજીનું વિધાન છે કે "એકં શાસ્ત્રં દેવકીપુત્ર ગીતં એકો દેવો દેવકીપુત્ર એવ, મંત્રોપ્યેકસ્ તસ્ય નામાનિ યાનિ કર્માપિ એકં તસ્ય દેવસ્ય સેવા" (ત.દી.નિ.શા.પ્ર.).

૨. સેવ્ય, સેવક અને સેવા ના જ્ઞાન માટે જણાવેલ છે કે "અતસ્તુબ્રહ્મવાદેન કૃષ્ણે બુદ્ધિર્વિધીયતામ્" (સિદ્ધાંતમુક્તાવલી)

૩. ભક્તિનું જણાવતા આજ્ઞા છે "માહાત્મ્યજ્ઞાનપૂર્વસ્તુ સુદૃઢઃ સર્વતોધિકઃ સ્નેહો ભક્તિઃ"

૪. જગત જીવ અને બ્રહ્મ સમ્બન્ધનું જ્ઞાન ભક્તિમાં ઉપયોગી છે. "જગત્ તુ બ્રહ્મત્વેન જ્ઞાતવ્યમ્, પરં ન તત્ર પ્રીતિઃ કાર્યા".

૫. નિરાનન્દ જગત છે, ગુપ્તાનન્દ જીવ છે, પ્રગટાનન્દ અને પૂર્ણાનન્દ શ્રીહરિ છે તેથી આનન્દની અભિલાષાવાળાએ શ્રીકૃષ્ણનું સેવન કરવું, ઈતરનું નહીં. ભક્તિમાટે આવી અનન્યતા આવશ્યક છે.

૬. પંચપર્વા અવિદ્યા પણ જીવને અજ્ઞાન કરાવે છે. તે અજ્ઞાન અધ્યાસરૂપ પાંચ પ્રકારનાં છે. દેહાધ્યાસ, પ્રાણાધ્યાસ, ઈન્દ્રીયાધ્યાસ, અન્તઃકરણાધ્યાસ અને સ્વરૂપવિસ્મૃતિ. તેવા અજ્ઞાની જીવને પ્રભુભક્તિથી બહિર્મુખ થવાનો સમ્ભવ રહે છે, તેથી તેને કાયા, વાણી, મન, બુદ્ધિ અને આત્મા વડે પ્રભુને સમર્પિત રહેવાનો ઉપદેશ આપેલો છે કે જેથી ભક્તિની વૃદ્ધિ થઈ શકે છે (સિદ્ધાન્ત રહસ્ય).

૭. ભગવદ્ભક્તિ માટે પુષ્ટિ જીવોએ પ્રયત્ન કરવો જોઈએ અથવા કેવળ નિઃસાધનતાની ભાવના કરવી જોઈએ એ મુદ્દા ઉપર માર્ગમાં ઘણાં વચનામૃતો શ્રીઆચાર્યશ્રીના છે. ઈતર શાસ્ત્રોના પ્રમાણો પણ આ વિષય પર ઉપલબ્ધ છે. તે વચનોનો પરસ્પર અવિરોધ-સમન્વય, સાધનાપ્રણાલી તથા ફળ સમ્બન્ધી નિર્દેશ, અજ્ઞાનના નિરાસ માટે નીચે વિસ્તારથી કરવામાં આવેલો છે.

અ. વેદમાં નિરૂપણ છે કે **"નાયમાત્મા પ્રવચનેન લભ્યો ન મેધયા ન બહુના શ્રુતેન યમેવૈષ વૃણુતે તેન લભ્યઃ તસ્યેષ આત્મા વિવૃણુતે તનું સ્વામ્"**. આનો આશય એ જણાય છે કે 'પુષ્ટિભક્તિબીજ માત્ર વરણ લભ્ય છે. "'ફલમતઃ ઉપપત્તેઃ' એ બ્રહ્મસૂત્ર દ્વારા ફલદાન તો કેવલ પ્રભુની ઇચ્છા ઉપર

જ નિર્ભર છે. પ્રભુ સર્વ ઐશ્વર્યાદિ ગુણ સહિત છે, સ્વતન્ત્ર છે અને આપશ્રીની ઇચ્છા મુજબ સુસાધન, દુઃસાધન યા નિઃસાધન-કોઈ પણ જીવને ફલદાન આપવા માટે સમર્થ છે.

આ. બ્રહ્મસૂત્ર છે કે **"પરાભિધ્યાનાત્તુ તિરોહિતં તતો હિ અસ્ય બંધ-વિપર્યયૌ"**. પ્રભુએ ઇચ્છા કરી તેથી પ્રભુમાંથી પ્રગટ થયેલા ચૈતન્ય અંશોમાં આનન્દનું તિરોધાન થયું તેમજ ઐશ્વર્યાદિ ૬ ગુણોનું પણ તિરોધાન થયું તેથી તે શુદ્ધ ચૈતન્ય, આત્મા 'જીવ' શબ્દ વાચ્ય થાય છે. ત્યારથી તે દીન-હીન-પરાધીન વગેરે અવસ્થાઓવાળો થાય છે. તે રીતે સ્વરૂપથી જીવ નિઃસાધન છે. તેવા જીવને પ્રભુકૃપાથી જ્યારે મનુષ્યજન્મ મળ્યો અને શ્રીમહાપ્રભુજીની કૃપાથી વૈષ્ણવત્વનું દાન થયું ત્યારે તે જીવમાં બ્રહ્મધર્મરૂપ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ મતિ, રતિ અને ગતિ પ્રભુએ રાખેલી છે. તદનુસારે તેને પ્રયત્ન કરવા, સાધનયુક્ત કરવા માં આવેલ છે. તે સામર્થ્ય માટે શ્રીઆચાર્યજીનો ઉપદેશ છે કે

૧. પુરુષ પ્રયત્નો ભક્તો એવ.

૨. તસ્ય પરિમિતઃ પ્રયત્નઃ સ ભગવત્સેવાર્થં સ્થાપિતો ન અન્યત્ર વિનિયોગમ્ અર્હતિ (૨।૨।૩).

૩. યદ્યપિ (ભગવાન્) સર્વપ્રમાણાતીતઃ તથાપિ સર્વત્ર પ્રસિદ્ધઃ. તત્ર ચ નમનમેવ કર્તવ્યં ન અન્યદિતિ. નમનં ચ 'યાદશોઽસિ હરેઃ કૃષ્ણ તાદશાય નમો નમઃ' ઇતિ (૨।૬।૩૭).

૪. અનન્યસિદ્ધત્વાદ્ ભગવદ્ભક્તાવેવ યત્નઃ કર્તવ્યઃ. ન ચ લૌકિકસુખદુઃખા-ભાવાર્થે યતનીયમ્, કાલેનૈવ તત્સિદ્ધેઃ (૧।૧।૧૮).

૫. સર્વં ભગવતાએવ સિદ્ધયતિ ઇતિ સત્યં પરન્તુ જીવપ્રયત્નવ્યતિરેકેણ ન સિદ્ધયતિ.

૬. પ્રાણીનાં કર્તવ્યઃ પ્રપત્તિરેવ. કર્તવ્યાકર્તવ્યવિવેકવાન્ હી પંડિતઃ.

૭. કરોમ્યેવ અહં સર્વમેવ હિતં, પરં મયી સ્નેહાભાવાત્ જીવાઃ તત્સુખં ન ગૃહ્ણન્તિ. અતો યદિ મયિ રતિં કુર્યાત્ તદા સ્નેહાદ્ ગૃહ્ણીયાત્ પશ્ચાત્ કૃતાર્થએવ ભવેત્ (૩।૯।૪૨).

૮. પરં અનન્યદૃષ્ટ્યા ભજનં કર્તવ્યં. ભગવદર્થમેવ ભગવાન સેવ્યઃ(૩।૧૩।૧૦)

૯. ભગવાને સ્વકૃપા શરણાગત જીવોને અર્પિત કરેલી છે. તેથી કેવલ દીનમાત્રને દયા ફલિભૂત નહીં થાય પરંતુ તે દીન શરણાગત પણ હોવો જોઈએ.(૩।૨૧।૩૮).

૧૦. પૂર્ણ બ્રહ્મ શ્રીકૃષ્ણ પ્રભુના પ્રાગટ્ય પહેલા સાધનાનો પ્રકાર-(જ્ઞાનમાર્ગ) "સર્વેષાં ભજનાર્થં સ્વયં હૃદિ સ્થિત્વા તત્પરાઃ કૃતાર્થા ભવિષ્યન્તીતિ જ્ઞાપયિતું વેદાંશ્ચકાર. સ ઇદાનીમ્ અત્રૈવ પ્રકટીભૂતઇતિ ન પૂર્વપ્રક્રિયા અતઃ પુરમ્ ઉપયુજ્યતે કિન્તુ અધમેવ બહિઃ સેવ્યઃ" (૧૦।૩।૮).

૧૧. વાણી ગુણોનું કીર્તન કરવામાં, કાનો તેમનું શ્રવણ કરવામાં, હાથો તેમનું દાસ્ય કરવામાં, ચિત્ત તેમનાં સ્વરૂપનું સ્મરણ કરવામાં, માથું તેમને નમન કરવામાં અને આંખ અવતાર લીધેલા ભગવાનના દર્શન કરવામાં-(એવી રીતે) આ ૬ જો ભગવાનના કાર્યમાં આસક્ત હોય તો કૃતાર્થ થવાય છે (૧૦।૧૦।૩૮). આ જ્ઞાન ભક્તિ માટે આવશ્યક છે.

૧૨. "આયુષા હિ પુરુષાર્થઃ સંપાદનીયઃ, તચ્ચાયુઃ પરીમિતં. ...પ્રવૃત્ત્યાભાવે, જ્ઞાનાભાવએવ હેતુઃ" (૧૦।૧૩।૩૭).

નિઃસાધનભાવનિરૂપક વચનામૃત છે :

૧. **"ન હિ સાધનસમ્પત્યા હરિસ્તુષ્યતિ કસ્યચિત્,**
ભક્તાનાં દૈન્યમેવૈકં હરિતોષણસાધનમ્" (૧૦।૨૯।૧).

તેનો આશય એ છે કે પૂર્ણ ભક્તિના પ્રાકટ્ય પછી પણ તે ભક્તની ભક્તિ સાધન આગ્રહથી કરેલી ન હોવી જોઈએ પરન્તુ પરમ દૈન્ય સહિતની હોવી જોઈએ. ત્યારે તેને પરમ ફલ પ્રાપ્ત થશે.

શ્રીમદ્ પ્રભુચરણનું વચન છે :

૨. **"યદ્દૈન્યં ત્વત્કૃપાહેતુઃ તન્નાસ્તિ મમાણ્વપિ,**
તાં કૃપાં કુરુ રાધેશ યથા તદ્દૈન્યમાપ્નુયામ્"

એ વચનામૃતમાં પણ યત્નપૂર્વક ભક્તિની પ્રાપ્તિ માટેના પ્રયત્નનો નિષેધ નથી કરવામાં આવ્યો પરન્તુ તે વૃદ્ધિગત ભક્તિ પ્રભુની કૃપારસથી સંમિશ્રિત થઈને પૂર્ણદૈન્યતાને પણ ધારણ કરે તેવી અભિલાષા બતાવવામાં આવેલ છે.

ભગવદીય જીવ પ્રયત્નના સ્વરૂપનો નિર્દેશ નીચેના વચનોમાં છે:

૧. "ન હિ કૃતિમાત્રેણ ભગવાંસ્તુષ્યતિ અપિતુ નમ્રત્વસહિતયા" (૧૦।૨૪।૧૭)

૨."ઉત્પન્નેન હિ પરમઃ પુરુષાર્થઃ સાધનીયઃ. સ ચ ભગવદીયભાવઃ. તથાયત્નઃ

કર્તવ્યો યથા સ ભવતિ" (૧૦।૩૫।૨૭).

પ્રપત્તિમાર્ગમાં પણ ફલાનુભૂતિ માટે જ્ઞાન આવશ્યક છે :

"યદિ સંઘાતમ્ અનુગુણં કુર્યાત્ ત્યાજયેત્ વા તદા શરણાગતિઃ સિદ્ધાઃ" (૧૦।૩૭।૨૫). પ્રપત્તિમાર્ગીય ફલાનુભૂતિ માટે પણ શ્રીઆચાર્યશ્રી દ્વારા ઉપદેશેલ કૃષ્ણાશ્રય ગ્રંથ તથા વિવેકધૈર્યાશ્રયના વચનામૃતોનું અનુસંધાન (જ્ઞાન) પ્રપત્તિમાર્ગમાં આવનાર પ્રતિબંધોને દૂર કરશે.

ભગવાન્ ભક્તો માટે પ્રાગટય લઈને તેને જે રીતે ભક્તને ભગવદ્ આનન્દયુક્ત કરે છે તે નિરૂપણમાં પ્રભુપ્રાકટયનો શ્લોક મનનીય છે : **"તમ્ અદ્‌ભૂતં બાલકં અમ્બુજેક્ષણં, ચતુર્ભુજં..."**(૧૦।૩।૯) આ શ્લોકના 'ચતુર્ભુજં' પદમાટે શ્રીઆચાર્યચરણ આજ્ઞા કરે છે : **"ઘાતકી રક્ષકી પ્રોક્તૌ વિરોધેપિ અતિ સંકટે"**. (તેનાં ટિપ્પણીજીમાં) હનન અને રક્ષણ એકત્ર એક સાથે કરવું તે વિરુદ્ધ જણાય તો પણ તે કર્યું. પરીક્ષિતના લૌકિક બીજાંશનો દાહ અને વૈષ્ણવાંશરૂપ ગર્ભનું રક્ષણ અને એની માતાનું પણ રક્ષણ અનિવર્ત્ય બ્રહ્માસ્ત્રથી કર્યું. આ જ સંકટરૂપ હતું. તેવી જ રીતે ઈન્દ્રવૃષ્ટિ આદિથી રક્ષણ પણ પ્રભુદ્વારા જ થયું છે. આથી જણાય છે કે ભક્તિમાર્ગમાં આવતા પ્રતિબંધોનું નિવારણ કરવા માટે દ્વિભુજનું પ્રાકટય કહ્યું અને ભક્તના ફલદાન માટે અને તેના રક્ષણ માટે-ભક્તિપ્રવર્તન માટે બીજા દ્વિભુજનું પ્રાકટય છે, તે આજ્ઞાપથી ચતુર્ભુજ છે. તેથી ભક્તિમાં લૌકિક ભાવો પ્રતિબંધકતયા આવે છે તેની નિવૃત્તિ આવશ્યક છે. તેમજ વૈષ્ણવ અંશનું રક્ષણ એટલે કે ભક્તિમાં પ્રવૃત્તિ પ્રભુ જ કરાવે છે, તે પ્રભુનાં ચતુર્ભુજ સ્વરૂપનો આશય જણાય છે.

નિષ્કર્ષ :

૧. શ્રીકૃષ્ણ ભગવાન્ રસાત્મક, આનન્દાત્મક અને સર્વોદ્ધારપ્રયત્નાત્મા છે. જીવ સ્વરૂપથી નિઃસાધન હોય ત્યારે પણ પ્રભુના વરણદ્વારા અંગીકૃત એટલે કૃપાપાત્ર એવા પુષ્ટિજીવને, તે જીવ સુઃસાધન, દુઃસાધન યા નિઃસાધન હોય ત્યારે પણ, ફલદાન કરવા સમર્થ છે.

૨. પ્રભુએ સર્વ પુરુષાર્થનું દાન કરવા માટે જગતનું પ્રાગટય કર્યું છે.

૩. પ્રભુની પ્રાપ્તિ જીવોને થાય તે માટે પ્રભુએ ભક્તિમાર્ગ પણ પ્રગટાવ્યો છે, તેથી એવા સ્વાભાવિક નિઃસાધન જીવનું કર્તવ્ય છે કે પુષ્ટિભક્તિમાર્ગનું

અનુસરણ યત્ન પૂર્વક કરે અને તેમાં આવતાં પ્રતિબંધોનું નિવારણ શ્રીમહાપ્રભુજીએ પ્રદર્શિત કરેલા માર્ગાનુસાર કરે.

૪. આ માર્ગનું વર્ણન અત્યન્ત સારાંશમાં એ છે કે પ્રભુને સમર્પિત પ્રકારે જીવે રહેવું જોઈએ તેનો નિર્દેશ સિદ્ધાન્તરહસ્ય ગ્રંથમાં જણાવેલ છે.

૫. આ જ જ્ઞાન પુષ્ટિભક્તિમાર્ગમાં અત્યન્ત આવશ્યક છે. તેથી સર્વદા સર્વભાવથી શ્રીકૃષ્ણભજન કરવું એવા દાસ્યભાવને પુષ્ટિમાર્ગીય જીવનો સ્વધર્મ કહેવામાં આવે છે. તે જ પ્રમાણે પ્રભુ શ્રીકૃષ્ણને સ્વયં અર્થરૂપ કહેવામાં આવે છે. પ્રભુને સર્વ રીતે હૃદયમાં ભજનીય રાખવાં તે ભાવ તથા નિરંતર શ્રીકૃષ્ણનું સ્મરણ-ભજન પુષ્ટિભક્તનું કર્તવ્ય રહે છે. જેની સિદ્ધિ કેવલ પ્રભુકૃપાથી અને શ્રીઆચાર્યશ્રીનાં આશ્રયથી ફલિત થશે.

૬. તે રસાસ્વાદન સ્વતઃપુરુષાર્થરૂપે શ્રીકૃષ્ણની સેવા-કથા અને શરણાગતિમાં, ઇતર પ્રતિબંધોના નિરાસપૂર્વક પુષ્ટિજીવે અનુભવવા જોઈએ. આવું જ્ઞાન પ્રભુકૃપાથી ક્રિયારૂપે ફલિભૂત થતાં શ્રીઆચાર્યશ્રીદ્વારા પ્રગટિત પુષ્ટિભક્તિ અને પ્રપત્તિ નું રસાસ્વાદન કરાવશે.

આ રીતે એ વાત સ્પષ્ટ થઈ કે પુષ્ટિભક્તિમાર્ગમાં નિરૂપિત નિઃસાધન ભાવ તથા ભક્તિ માટેનાં જીવકૃત પ્રયત્નના ઉપદેશક વચનો પરસ્પર વિરોધી વચનો નથી પરન્તુ, ભગવદ્‌રસને રસપૂર્વક અનુભવ કરવાની પ્રક્રિયાનું વર્ણન છે. આ રીતે ભક્તિમાં પ્રતિબંધકરૂપ અજ્ઞાનના વિવેચનમાં મુખ્ય રીતે નિઃસાધનભાવ અને પ્રયત્ન વિષે માર્ગીય પ્રણાલિ અનુસાર તે વિષયમાં મૂલ વચનોનો અવિરોધ, સામન્વય, સાધનપ્રણાલિ અને ફલનું નિરૂપણ થયેલ છે.

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય ૮૪-૨૫૨ વૈષ્ણવોની વાર્તામાં પણ આ વાતને જ પુષ્ટિ મળે છે કે પરમ દૈન્યભાવ સહિત તે વૈષ્ણવોએ પ્રભુકૃપાબલથી ભક્તમાં રહેલ રતિ, મતિ અને ગતિ વડે ભક્તિના પ્રતિબંધો દૂર કરવામાં જ જીવનના પ્રયત્નનું સાફલ્ય માન્યું અને એવી રસાત્મક ભક્તિનો અને તેના આલંબનસ્વરૂપ શ્રીપુષ્ટિપુરુષોત્તમનું ફલાનુભવ કરવામાં જ જીવન વ્યતીત કર્યું. આ વાત શ્રીમહાપ્રભુજીના સેવક શેઠ શ્રીપુરુષોત્તમદાસની બેટી રુકમિણીજીની વાર્તા તથા ૮૪ વૈષ્ણવોની અનેક વાર્તામાં પ્રસિદ્ધ છે.

આધુનિક પરિસ્થિતિના સમ્બન્ધમાં ભક્તિપ્રતિબંધક 'અજ્ઞાન'ના

સમ્બન્ધમાં એમ જણાય છે કે આધુનિક પુષ્ટિમાર્ગીય ભક્તગણમાં આ 'અજ્ઞાન' ઘણું જ વ્યાપિ ગયેલ છે. તેથી નિઃસાધનનો આશય (આજની પરિસ્થિતિમાં) સાધન રહિતતામાં જ પર્યવસિત કરીને, પ્રભુ જ્ઞાન સહિત, (જીવ) સ્વસ્વરૂપનું, પ્રભુ દાસત્વનું અનુસંધાન ભૂલીને શ્રીઆચાર્યશ્રી દ્વારા ઉપદિષ્ટ સેવા, કથા અને શરણાગતિના કર્તવ્યોથી વિમુખ થઈને, મૂલ તત્વોથી સર્વથા હીન થઈને તે રહે છે. અને જીવપ્રયત્નના નામે તો માત્ર લૌકિક અહંતા-મમતાસ્પદ પદાર્થના યોગ-ક્ષેમ માટેના પ્રયત્નમાં જ અટવાયેલો રહે છે. તેથી ભક્તિના પ્રતિબંધો દૂર કરવામાં તથા ભક્તિના રસાસ્વાદન માં નિઃસાધન થયેલો ક્ષુદ્ર-દરિદ્રી ભાસમાન દેખાય છે.

"बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रासीदतु"

चर्चा

પુષ્ટિભક્તિ અને પ્રપત્તિ માં પ્રતિબંધરૂપ અજ્ઞાન

श्रीगोपालदास शाह

गो. शरद् : भागवतार्थ प्रकरणमें आचार्यचरण आज्ञा करे हैं : "**अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम्**". संन्यासनिर्णयमें भी "**ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति**" में कोई प्रकारको अज्ञान भक्तिमें उपकारक है ऐसो कह्यो है. "**अविद्या पूतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता**" में 'गन्धमात्रावशेषिता' सुं भी कोई तरहकी अविद्याकुं लीलोपयोगी मानके शेष रखी है. सिद्ध अवस्था या अवतारकाल के सन्दर्भमें अज्ञान-अविद्याकी कोई तरहकी उपयोगिता भक्तिमार्गमें बताई है. आलेखमें याको उल्लेख जरूरी हतो.

सिद्धदशामें जैसे भक्तिमार्गमें कोई तरहको अज्ञान या अन्यथाज्ञान उपयोगी होवे है ऐसे साधनदशामें भी कोई तरहके अज्ञान या अन्यथाज्ञान की उपयोगिता मानी जा सके है. यदि मानी जा सके है तो वाको क्या स्वरूप होनो चहिये वाको विचार भी करनो चहिये.

गोपालदास : सोनाको गहेना बने वा बखत वामें लाख लगायी जाय है. ऐसे ठाकुरजी कभी अज्ञान या अन्यथाज्ञान प्रकट करे हैं, जाके कारण प्रेममें मिठास आवे. अक्रूरजी भी जब ठाकुरजीकुं दंडवत् करके कुछ कहवे गये तो आपकुं अच्छा नहीं लग्यो. आपने उनकुं हस्तिनापुर भेज दिये. जाओ देख के आओ के पाण्डव क्या कर रहे हैं. जब "**भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्, आत्मत्वात् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः**" कह्यो तब भी व्रजभक्तने ठाकुरजीकी सर्वव्यापकता मानी नहीं. उनको ताप वैसो को वैसो ही रह्यो. क्यों रह्यो. भाष्यमें बतायो है के जाके कारण भक्तिमें उपद्रव होनेकी सम्भावना होवे वासुं ठाकुरजी भक्तकुं बचावे हैं. वासुं उनकुं अज्ञान-अन्यथाज्ञान प्रकट करा दियो. सब जगह व्याप्त हूं ये तुमकुं समझनेको नहीं है. ये अज्ञान भी रसान्तःपाती है. रसको विच्छेद कर देवे ऐसो अज्ञान-अन्यथाज्ञान प्रभु कभी करें नहीं

है.

गो. शरद् : आप कह रहे हो वो ठीक है पर मेरो प्रश्न थोड़ो अलग है. प्रायः अपन अज्ञान-अन्यथाज्ञानकुं दूषण माने हैं वो कोईकेलिये कोई अवस्थामें भूषण समान सिद्ध भयो है. व्रजभक्तन्की अवस्था सिद्धावस्था है, वो काल भी अवतारकाल है यासुं वहां कोई समस्या नहीं है. परन्तु मेरो प्रश्न ये है के जैसे सिद्धदशामें अज्ञान-अन्यथाज्ञानकी उपकारकता है ऐसे ही साधनदशामें भी कोई प्रकारके अज्ञान-अन्यथाज्ञानकी उपकारकता मानी जा सके है के नहीं. जैसे बच्चा कई बखत ऐसी बातके सम्बन्धमें प्रश्न करे के जाको समाधान करनो वो वाकी अवस्थाके अनुरूप नहीं होवे. जैसे कोई गालीको अर्थ वो अपनसुं पूछ लेवे. ऐसी स्थितिमें अपन बच्चाके सामने गालीके अर्थकी विवेचना नहीं करें हैं. बच्चाकुं गालीके अर्थको अज्ञान होनो अपन अच्छो मने हैं. तात्पर्य ये है के अज्ञान निवर्तनीय ही है ऐसो हर बार जरूरी नहीं होवे है. ऐसे साधनावस्थामें भी कोई तरहको अज्ञान पुष्टिमार्गीकुं उपकारक हो सके है.

गोपालदास : हां. अज्ञान-अन्यथाज्ञान साधनावस्थामें भी उपकारक हो सके है.

हंसराज वेद : गोरजा-समराईकी वार्तामें बहुकुं भोग धरवेके पीछे भी ये विश्वास नहीं भयो के ठाकुरजीने अरोग्यो है. वो वाको अज्ञान ही हतो. पर वो वाकुं साधक भयो. ठाकुरजीने आज्ञा करी के मैं हर बार अरोग्यो हूं. पर वाने ये ही मान्यो के ठाकुरजी मेरे मनको समाधान कर रहे हैं. पाछो भोग धर्यो और टेरा लेने गयी तब ठाकुरजीने कही के टेरा मत ले, तेरे संमुख अरोगुंगो. नहीं तो तोकुं फिरसुं सन्देह होयगो.

गो. शरद् : मेरो कहनो ये है के आज सब लोग जो मिल जाय वाकुं सुन रहे हैं, जो मिल जाय वाकुं पढ़ रहे हैं. न अवस्थाको कोई विवेक है और न वस्तुको विवेक है. वस्तुतः देखें तो सब कछु जाननो हर व्यक्तिकेलिये जरूरी नहीं है. कुछ विषयमें आवश्यकतासुं अधिक जाननो हानिकारक सिद्ध होवे है. ऐसेमें अत्यन्त आवश्यक होवे उतनो जाननो उपकारक होवे है. कोमर्स् पढ़नेवाले विद्यार्थीकुं कॉलेजमें साइन्स्की पुस्तकें नहीं पढ़ावी जाय है. ये बातपे न तो कोई

ध्यान नहीं देवे है और न कोईकुं कछु आपत्ति होवे है. कोई आपत्ति करे तो लोग वाकुं बेवकूफ समझके कहते होवे हैं के कोमर्स्वालेकुं कोमर्स्की किताब पढ़नी चहिये, सायन्स्की किताब क्यों पढ़नी चहिये. पर ये ही बात यदि धर्मके क्षेत्रमें कही जाय के असत्सङ्ग नहीं करनो, अवैष्णवको सङ्ग नहीं करनो, अन्यमार्गीन्के कथा-प्रवचन नहीं सुनने तो लोग कहते होवे हैं के ये तो अन्याय है, संकुचितता है, व्यक्तिके मौलिक अधिकारपे आक्रमण है, आदमीकुं ज्ञानसुं वञ्चित रखनेको षडयन्त्र है! जितनी सहजतासुं कॉलेज्की पढ़ाईकी बात लोग समझ-स्वीकार लेवे हैं वो सहजता धर्म-समप्रदायकी बात आते ही गायब हो जावे है. मतलब एक व्यक्ति जा सम्प्रदायको अनुयायी है वो वा सम्प्रदायकी पुस्तकें पढ़ रह्यो है दूसरे सम्प्रदायकी नहीं पढ़ रह्यो है, खुदके सम्प्रदायके लोगन्को सङ्ग कर रह्यो है दूसरेको नहीं कर रह्यो है, अपने सम्प्रदायके आचार्य-विद्वान्के प्रवचनादि सुन रह्यो है दूसरेन्के नहीं सुन रह्यो है तो लोगनकुं वो सहन नहीं होवे है. धर्म-सम्प्रदायमें जो इतर भजन, इतर फलमें आसक्ति, इतर लोगन्को संङ्ग आदि के त्यागकी बात कही गयी है वो वस्तुतः व्यक्तिकुं अप्रासंगिक-अनावश्यक बातन्सुं बचाके एकनिष्ठ करनेके हेतुसुं कही गयी है. यासुं भाषा निषेधात्मक लग सके है पर हेतु पोज़िटिव् है. तात्पर्य ये है के सिद्धावस्था और साधनावस्था दोनोंमें अप्रासंगिक-अनावश्यक विषयके अज्ञानकी उपकारकता है ऐसो लगे है.

પુષ્ટિમાર્ગીય ભક્તિ અને પ્રપત્તિ ની સાધનામાં પ્રતિબન્ધક : ભોગ

રસિક શાહ

ઉપક્રમ:

મઙ્ગળભોગ રાજભોગ શયનભોગ ઉત્સવભોગ વગેરેમાં વપરાતા 'ભોગ' શબ્દનો જે અર્થ અભિપ્રેત છે તે અર્થ અહીં અભિપ્રેત નથી. ઉપરોક્ત ભોગ મૂળ રીતે જ પ્રતિબન્ધક હોઈ શકતા નથી. હા, આપણામાં એવું સામર્થ્ય છે કે તેવા ભોગને પણ આપણે પાપદ-પાપ દેનારા બનાવી શકીએ છીએ. ખેર!

ભગવાનનું કોઈ પણ કાર્ય-કૃતિ લીલાના અઙ્ગરૂપે હોવાથી નિષ્પ્રયોજન હોતી જ નથી. દુન્યવી દ્રષ્ટિથી આધિભૌતિક અંદાજથી જોઈએ તો પણ પેદા થયેલ પદાર્થ પ્રક્રિયા પ્રયોજન વિનાની વ્યર્થ હોતી નથી. વ્યક્તિ વનસ્પતિ પ્રાણી કે પદાર્થ પરસ્પર અથવા પ્રસઙ્ગોપાત ઉપયોગી થતાજ હોય છે.

વ્યકિત જ્યારે કોઈ પદાર્થનો પોતાનામાટે કાયિક કે માનસિક ઉપયોગ કરે અથવા કોઈ કાર્ય કરે ત્યારે તેના પરિણામરૂપે તેને જે સુખદુઃખનો અનુભવ થાય છે તેને સામાન્ય વ્યાખ્યામાં ભોગ કહેવાય છે. શ્રીપુરુષોત્તમજી સિદ્ધાંન્તરહસ્ય ગ્રન્થના પાંચમા શ્લોકની ટીકામાં જણાવે છે "સુખદુઃખાન્યતરસાક્ષાત્કારો હિ ભોગઃ તદ્વિષયં ભુક્તં".

આપણી પુષ્ટિમાર્ગીય પુષ્ટિભક્તિ અને પુષ્ટિપ્રપત્તિ માં ભોગની પ્રતિબન્ધકતા અત્રેનો વિષય છે. આરમ્ભમાં ભોગની વ્યાખ્યા વિષે વિચાર વિમર્શ છે. પછી અલગ અલગ ટીકાકારોની સેવાફલ ગ્રન્થમાં આવતી આગવી ટીકાઓનો ઉલ્લેખ તથા તેનો સંકલિત અર્થ સમજવાનો પ્રયાસ કર્યો છે. શ્રીમહાપ્રભુજીએ સ્વયં સેવાફલવિવરણમાં આજ્ઞા કરી છે કે **"ભોગો દ્વિવિધઃ લૌકિકો અલૌકિકશ્ચ"**. આથી અલૌકિકભોગની વ્યાખ્યાઓનો વિચાર વિમર્શ તથા સંકલિત અર્થને સમજવાનો પ્રયાસ કર્યો છે. ત્યારબાદ લૌકિકભોગની અનિચ્છનિયતા અને પ્રતિબન્ધકતા ના સાધનો/કારણોનો પરિત્યાગ અથવા પરિવર્તન જેના કારણે

ભોગ સહાયક થઈ શકે તેની શક્યતાનું વિવેચન કરવામાં આવ્યું છે. અન્તમાં આધુનિક પુષ્ટિમાર્ગમાં પરિસ્થિતિ તેનામાટે સિદ્ધાન્તથી સૂચવાયેલ સમાધાન અને તેના અમલમાં દેખાતી અડચણ અથવા અણસમજ ના નિરાકરણની અપીલ કરવામાં આવી છે.

ગ્રન્થ સન્દર્ભ : સિદ્ધાન્ત રહસ્ય સેવાફલ સંન્યાસનિર્ણય નિરોધલક્ષણ તથા ગીતાજી ના વચનોનો તથા ટીકાઓનો સન્દર્ભ લેવામાં આવ્યો છે.

ભોગની પ્રક્રિયા તથા વિશ્લેષણ :

ભોગની પ્રક્રિયાનો વિચાર કરીએ તો સૌથી પ્રથમ પગલું ભોગ્યપદાર્થ-વિષય અને ભોક્તા નો ઈન્દ્રિયોદ્વારા સંયોગ. વિષય અને ઈન્દ્રિયો નો સન્નિકર્ષ. તેના પરિણામરૂપે ભોક્તાની મનબુદ્ધિમાં થતી પ્રતિક્રિયા. આકર્ષણ અને સાનિધ્ય ના કારણે ભોક્તામાં વિષયને ભોગવવાની થતી ઈચ્છા. **"સઙ્ગાત્ સઞ્જાયતે કામઃ"** (ભ.ગી.૨।૬૨) ઈચ્છાને વશ થઈ પોતાના સુખમાટે વિષયનો કરાતો ઉપયોગ, તેને સામાન્ય ભાષામાં ભોગ કહેવાય છે.

વાસ્તવિકતા એ છે કે ઈન્દ્રિયોનું ઘડતર જ એવું કરવામાં આવ્યું છે કે તે બહારનું જ જુએ છે અન્તરાત્મા તરફ વળતી નથી. કોઈ વીરલા જ અમૃતત્વની ઈચ્છાવાળા આંખોને આવૃત્ત કરીને આત્માને જુએ છે. **"પરાઞ્ચિખાનિ વ્યતૃણોત્ સ્વયમ્ભૂ તસ્માત્ પરાઙ્ પશ્યતિ ન અન્તરાત્મન્ કશ્ચિત્ ધીરાઃ પ્રત્યગ્ આત્માનમ્ ઐક્ષત્ આવૃત્તચક્ષુઃ અમૃતત્વમ્ ઈચ્છન્."**

ગીતાજીમાં પણ કહ્યું છે **"ઇન્દ્રિયસ્ય ઇન્દ્રિયાર્થે...પરિપન્થિનૌ"** (ગી.૩।૩૪). ઈન્દ્રિયોને તેના શબ્દાદિ વિષયોમાં ઈષ્ટમાં રાગ અને અનિષ્ટમાં દ્વેષ અવશ્ય રહેલા જ છે. તેમને વશ ન થવું કારણકે તે વિઘ્ન કરનારા શત્રુઓ છે વળી શ્લોક ૨।૬૦ માં બતાવ્યું છે **"યતતો હિ અપિ...હરન્તે પ્રસભં મનઃ"** ઈન્દ્રિયો એવી બળવાન છે કે વિદ્વાન-વિવેકશીલ પુરુષના મનને પણ પ્રયત્ન કરવા છતાં બળપૂર્વક ખેંચી જાય છે.

ઉપરોક્ત ઉપદેશ સ્પષ્ટ સમજાવે છે કે ઈન્દ્રિયોની વસ્તુસ્વભાવથી નૈસર્ગિક માગ જ વિષયોપભોગની છે અને કોઈ ધીર પુરુષો જ તેના વશમાં

આવતા નથી. તેમનો નિગ્રહ કરવો અતિ દુષ્કર છે. ભગવાન પણ અર્જુનને કહી રહ્યા છે **"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्"** (गी.६।३४) આથી જ ભીષ્મપ્રતિજ્ઞાને 'ભીષ્મપ્રતિજ્ઞા' કહેવાય છે. ટૂંકમાં નિષ્કર્ષ નીકળે છે કે ઇન્દ્રિયો વિષયોમાં જ રમતી રહે છે વિષયાસક્તિ જ વધે છે અને ભગવાન ભૂલાઈ જાય છે તેના કારણે આધ્યાત્મિક અથવા આધિદૈવિક ઉત્કર્ષ અસંભવ જેવો બની જાય છે.

ઉભયતોપાશ :

આધિભૌતિક સુખ તો મળે જ છે એવો કોઈ પક્ષ લેવામાં આવે તો તે સુખ પણ આભાસ માત્રજ છે. વ્યક્તિ જેમ જેમ વિષયને ભોગવતો જાય છે તેમ તેમ તેની સુખની માત્રા ઘટતી જાય છે. પહેલા ઘૂંટમાં જે સુખ હોય છે તેટલું બીજા ઘૂંટમાં હોતું નથી અને અન્તમાં તે સુખ શૂન્ય થઈ જાય છે પરન્તુ તેથી વાતનો અન્ત આવતો નથી. ખૂબી એ છે કે વાસના તો રહીજ જાય છે વધતીજ જાય છે. એક વખત ભોગ કરવાથી સન્તોષ થતો નથી વારંવાર ભોગ કરવાની ઇચ્છા થતી જ રહે છે. પુરાણમાં યયાતિરાજાનું ઉદાહરણ આવે છે કે તેની ભોગની વાસનાને કારણે તેણે પોતાના દિકરાનું યૌવન માંગી લીધું. તેને ભોજનથી સન્તોષ નહોતો થતો ત્યારે તે ખૂબ ખાઈ પેટ ભરાઈ જાય ત્યારે ઉલટી કરી પાછો ખાવાની તૈયારી કરતો હતો. કહેવાય છે કે **"न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति. हविषा कृत्स्न वर्तमेव भूय एव अभिवर्धते"** કામનું ઉપભોગથી શમન થતું નથી અગ્નિમાં જેમ ઘી હોમવામાં આવે અને અગ્નિ વધે તેમ ઉપભોગથી કામ વધતો જાય છે.

એક બાજુ ભોગ કરવાથી પણ સુખ અને સન્તોષ મળતા નથી જ્યારે બીજી બાજુએ ઇન્દ્રિયોના વસ્તુસ્વભાવના કારણે તેને જીવનમાંથી બાદ કરવો અશક્યપ્રાયઃ છે. તેથી જો ઇન્દ્રિયોને જબરદસ્તીથી સમ્પૂર્ણ દબાવી દેવામાં આવે તો ક્યારેક ને ક્યારેક તે સ્પ્રીંગની જેમ બમણાબળથી ઉછળવાનો સમ્ભવ અધિકાધિક રહે છે. આમ બન્ને બાજુથી ભોગ માણસને કનડતો જ હોય છે.

ધર્મસમ્પ્રદાયોનો અભિગમ :

લગભગ દરેક ધર્મસમ્પ્રદાયે અને તત્ત્વચિંતકે ભોગને વ્યક્તિના આધ્યાત્મિક અને આધિદૈવિક ઉત્કર્ષમાટે અનિચ્છનિય-અનિષ્ટ અવરોધક=પ્રતિબન્ધક હોવાથી અવમાન્ય માન્યો છે. ચાર્વાકમત જેવા કોઈ

અપવાદ બાદ કરતાં. ઉભયતોપાશમાંથી ઉપર ઉઠવામાટે ઉદાત્તિકરણનો ઉપાય અપનાવ્યો છે. પ્રત્યેક સમ્પ્રદાયે પોતાની જરૂરીયાત અને તત્ત્વજ્ઞાન પ્રમાણે અલગ અલગ પ્રક્રિયા અપનાવી છે. કોઈકે પોતાની સાધનાપ્રણાલીમાં ત્યાગને પ્રાધાન્ય આપ્યું છે તો કોઈકે સંયમને સ્વીકાર્યો છે તો કોઈકે સમર્પણને તથા કોઈકે વૈરાગ્યને વિશેષ મહત્વ આપી ઉદાત્તીકરણનો માર્ગ અપનાવ્યો છે. આપણા શ્રીમહાપ્રભુજીએ પુષ્ટિસમ્પ્રદાયમાં પ્રમુખતયા સ્વસર્વસ્વસમર્પણપૂર્વક સેવાનો સિદ્ધાન્ત સ્વીકાર્યો છે.

પુષ્ટિમાર્ગીય પરિભાષા :

શ્રીમહાપ્રભુજી સેવાફલ ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરે છે **"भोज्ये अपि एकम्..."** તેમજ વિવરણમાં સ્પષ્ટ સમજાવે છે કે **"भोगो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्च. तत्र लौकिकः त्याज्यएव"** બાધકોનો પરિત્યાગ કરવો જોઈએ, ભોગમાં પણ એકનો તે ભોગ બે પ્રકારનો છે લૌકિક અને અલૌકિક તેમાં લૌકિક તો ત્યાજ્ય જ છે.

ઉપરોક્ત પંક્તિઓની ટીકાકારોએ પોતપોતાના ભાવ અને દૃષ્ટિકોણ મુજબ અલગ અલગ વ્યાખ્યા કરી છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી : *"लौकिको लोकसिद्धः. यथा लोकाः स्वार्थम् उच्चावचान् पदार्थान् आनीय भोगं कुर्वन्ति."* લોકમાં જેવી રીતે લોકો પોતાનામાટે ઉચ્ચનીચ પદાર્થ લાવી ભોગ કરે છે તે.
શ્રીગોપેશ્વરજી : *"रूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां लौकिकविषयाणाम् अत्यासक्त्या सेवनम्"*. રૂપરસગન્ધશબ્દસ્પર્શના લૌકિક વિષયોનું અત્યન્ત આસક્તિથી સેવન કરવું-ઉપભોગ કરવો.
શ્રીહરિરાયજી : *"तत्र लौकिकोलौकिक पदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां स्वतः आसक्त्या भोगः"*. ભગવત્સમ્બન્ધરહિત ભગવત્પદાર્થોનો પોતાની આસક્તિના કારણે ભોગ.
શ્રીવલ્લભજી : *"अनिवेदित पदार्थानां समर्पणं विना विषयासक्त्या भोगो लौकिकोभोगः"*. નિવેદન નહીં કરેલા પદાર્થોનો સમર્પણ વિના વિષયાસક્તિથી કરાયેલો ભોગ લૌકિકભોગ છે.
શ્રીપુરુષોત્તમજી : *"भोगो नाम सुखदुःखसाक्षात्कारोव्यवहारूपः प्रसिद्धो*

देहेन्द्रियोभयनिष्ठत्वात् उभयविध सेवाविरामशैथिल्यो अविघ्नः स्वभावतः प्राप्तः''. લોકમાં સુખ અથવા દુઃખ ઉભય અનુભવ કરાવનારો જે પ્રસિદ્ધ છે તે દેહઇન્દ્રિય બન્નેમાં રહેલો હોવાથી બન્ને પ્રકારની સેવાવિરોધીવૃત્તિરૂપ બળવાન સ્વભાવથી પ્રાપ્ત છે તે. એટલે દેહ અને ઇન્દ્રિયો ના સ્વભાવથી પ્રાપ્ત હોવાથી તેમાંજ સ્થિત છે અને તેથી બળવાન એવો તે તેમાં સુખ અથવા દુઃખ નો અનુભવ કરાવીને સેવા વિરોધી વૃત્તિ પેદા કરવાવાળો ભોગ લૌકિકભોગ છે.

શ્રીલાલુભટ્ટજી : *''सुखसाधकतया विषयासक्तिसम्पादकत्वेन भगवदासक्ति-विरोधात् सेवाविरोधी.''* વિષયના ભોગથી કોઈક પ્રકારનું સુખ થાય છે તેના કારણે તે વિષયમાં આસક્તિ નિર્માણ થાય છે અને જ્યારે આસક્તિ નિર્માણ થાય છે ત્યારે ભગવદાસક્તિનો અવકાશ રહેતો નથી કારણકે બન્ને આસક્તિ એકબીજાથી વિરોધી છે તેથી તે ભોગ અન્તમાં સેવામાં રુકાવટ લાવે છે. સેવા વિરોધી થાય છે.

ઉપરની બધી વ્યાખ્યાઓનું એક સંકલિત વાક્ય બનાવીએ તો- ભગવદ્સમ્બન્ધરહિત અનિવેદિત રૂપરસસ્પર્શગન્ધશબ્દવાન એવા ઉચ્ચનીચ લૌકિક પદાર્થોનું સમર્પણ કર્યા સિવાયનું પોતાનામાટે પોતાની અતિઆસક્તિથી કરેલું સેવન જે સુખ સમ્પાદન કરાવતું હોવાને કારણે ભગવદાસક્તિ વિરોધી વિષયાસક્તિ પેદા કરાવીને દેહઇન્દ્રિય ઉભયમાં સેવા વિરોધી વૃત્તિ ઉત્પન્ન કરે છે તે સેવનને લૌકિકભોગ કહેવાય છે આવું મહાવ્યાખ્યાવાક્ય બને છે.

આમાં ભગવત્સમ્બન્ધરહિત અનિવેદિત પદાર્થોનું સમર્પણ સિવાયનું સેવન એ વાક્યાંશ ભોગ્યપદાર્થની અયોગ્યતા/લૌકિકતાનું દ્યોતન કરે છે અને પોતામાટે પોતાની અતિઆસક્તિથી સેવન એ જે વાક્યાંશ છે તે ભોક્તાના ભાવની અયોગ્યતા/લૌકિકતાનું દ્યોતન છે. આ બન્ને અગત્યના અંશ છે જેનું નિરાકરણ પુષ્ટિમાર્ગે કેવી તે કર્યું છે તે આગળ જોઈશું.

લૌકિકતાની ત્યાજ્યતા :

હવે પુષ્ટિમાર્ગ આ લૌકિકતાને ત્યાજ્ય કેમ કરે છે તેનો વિચાર કરવો જરુરી બને છે. શ્રીમહાપ્રભુજી સેવાફળ ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરે છે **''सविघ्नोऽल्पोघातकः स्यात् ईति सविघ्नत्वात् अल्पत्वात् भोगः**

त्याज्यः. એતી प्रतिबन्धकी.'' આ પંક્તિઓની વ્યાખ્યાનો વિચાર કરીએ.

શ્રીકલ્યાણરાયજી : *''सविघ्नत्वात् सर्वथा न सिद्धति जायमानोऽपि अल्पसुखजनको भवति भावघातको अपि भवति अतः त्याज्यः.''* વિઘ્ન સમ્ભાવનાવાળો હોવાથી સર્વપ્રકારે સિદ્ધ થતો નથી સિદ્ધ થાય તો પણ અલ્પ સુખ આપવાવાળો અને ભાવનો ઘાત કરવાવાળો પણ હોય છે માટે ત્યાજ્ય છે.

ચાચાજીપેશ્વરજી : *''आधिव्याधिलक्षणप्रत्युप सहितः. अल्प आशुतरि-नाशी इति अर्थः''*. આધિવ્યાધિ વગેરે વિઘ્નસહિત અને જલ્દી નાશ પામે તેવો.

શ્રીદેવકીનન્દનાચાર્ય : *''सविघ्नो विघ्नसहितः. तादृशोऽपि अल्पः, स्वरूपतः फलतश्च सोऽपि न त्यज्यते चेत् तद्य घातकः सेवा प्रतिबन्धकः स्यात्.''* વિઘ્નવાળો સ્વરૂપથી અને ફળથી અલ્પ અને જો ત્યાગ કરવામાં ન આવે તો સેવામાં પ્રતિબન્ધક થાય.

શ્રીહરિરાયજી : *''सविघ्नो विघ्नसहितः कर्मकालादिभिः तत्र विघ्नसम्भवात्''*. કર્મકાળ વગેરેથી વિઘ્નનો સમ્ભવ હોવાથી વિઘ્નસહિત. સ્વરૂપથી ફળથી અને સાધનથી પરિચ્છિન્ન/મર્યાદિત.

શ્રીપુરુષોત્તમજી શ્રીહરિરાયજી પ્રમાણે સઙ્કલિત વ્યાખ્યા પરથી નક્કી કરી શકાય કે લૌકિકભોગ આધિવ્યાધિ વગેરેના ક્રાણક્રમે વગેરેના વિઘ્નવાળો હોય છે તેમજ અલ્પસુખ આપવાવાળો શીઘ્ર વિનાશ થાય તેવો સ્વરૂપથી ફળથી સાધનથી પણ અલ્પ-ઓછા પ્રમાણવાળો અને જો ત્યાગ કરવામાં ન આવે તો સેવાનો પ્રતિબન્ધક થાય છે. ટૂંકમાં જે આધિભૌતિક સુખ આપે છે તે પણ વિઘ્નવાળું પ્રમાણમાં ઓછું શીઘ્રવિનાશ થાય તેવું હોય છે. અહીં અગત્યની વાત તો તે છે કે તે ભાવનો તથા સેવાનો ઘાતક હોય છે.

અલૌકિકભોગ :

શ્રીકલ્યાણરાયજી વ્યાખ્યા કરે છે કે ભગવાને આપેલ, જેમકે સેવોપયોગી દેહને આપીને સેવા કરાવીને પ્રસાદપણાથી, આપેલાનો ભોગ

ભગવાન્ કરાવે તે.

દેવકીનન્દનાચાર્યજી કહે છે કે સ્નેહ થાય તેવું સેવારૂપ સાધન કરાવીને નિરોધલક્ષણમાં નિરૂપિત દુઃખવિશેષ અને સુખવિશેષ ના મનોરથની વિષયતા પ્રાપ્ત કરાવવાવાળો ભોગ.

શ્રીવલ્લભજી પણ લગભગ એવા જ સન્દર્ભમાં કહી રહ્યા છે કે નિવેદિત પદાર્થોનો ભગવદ્ભોગાર્થ વિનિયોગ થયા પછી ભગવાને આપેલ પ્રસાદના ભાવથી પોતે કરેલો ઉપભોગ.

શ્રીપુરુષોત્તમજી તેવી જ વ્યાખ્યા આપી રહ્યા છે.

શ્રીહરિરાયજી ટૂંકમાં કહે છે કે ભગવદ્સમ્બન્ધીભોગ.

બધા વ્યાખ્યાકારોનો સારાંશ છે કે નિવેદિત પદાર્થોનો સેવાદ્વારા વિનિયોગ કરાવીને ભગવાને આપેલ પ્રસાદ તરીકે કરવામાં આવતો ભોગ તે અલૌકિકભોગ છે.

શ્રીવ્રજોત્સવજી 'સિદ્ધાન્તરહસ્ય' ગ્રન્થમાં **"तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु समर्पणम्"** (શ્લોક-૫ ૧/૨)ની ટીકામાં સમર્પણની આવશ્યકતા અગત્યતા સમજાવીને કહે છે કે **"अेवं सति सेवा उपयोगीत्वेन आत्मशोधकत्वेन साक्षात् अलौकिकरसात्मकत्वेन प्रभूपभुक्तं तदत्त महाप्रसादत्वेन अेव तत्तत् पदार्थेन तावन्मात्रदेहादिकमपि कर्तव्यम्, नतु भोगत्वेन लौकिकादि उत्साहेन च अधिकव्ययादिकम् इति अपि ज्ञापितम् भवति"**. અહીં સમર્પિતપદાર્થોને પ્રસાદરૂપે લેવાની ભાવના સૂચિત થતી લાગે છે. કહે છે જો સમર્પણ કર્તવ્ય છે તો તે તે સમર્પિત પદાર્થોને સેવોપયોગીપણાથી આત્માની શુદ્ધિ કરનારપણાથી સાક્ષાત્ અલૌકિક રસાત્મક છે તેવા ભાવથી તથા પ્રભુએ ઉપભુક્ત કરીને મહાપ્રસાદ તરીકે આપેલ છે તેવાથી જ જરૂરી દેહ વગેરેનો નિર્વાહ પણ કરવો, નહીંકે ભોગપણાથી કે લૌકિક વગેરે લાભ થાય તેવા ઉત્સાહથી અધિક વ્યય વગેરે કરવો. પ્રસાદની ભાવના અને તેની માત્રાનો નિર્દેશ થયો હોય તેવું લાગે છે. ઉપરોક્ત ભાવના પ્રસાદમાટેની સાચી ભાવના છે. હવે

પુષ્ટિમાર્ગમાં ભોગની બાધકતાનું નિરાકરણ સમજીએ.

બાધકતાનું નિરાકરણ સમર્પણદ્વારા :

શ્રીમહાપ્રભુજી સેવાફલ ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરે છે બીજો અલૌકિકભોગ વિઘ્નરહિત મહાન છે, પ્રથમ ફળમાં રહે છે. "...तथा परमा निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा" આપણે જોયું કે લૌકિકપદાર્થોનો ભોગ પણ જો નિવેદિત કરી સેવાસમર્પણદ્વારા ભગવદર્થ ભગવદ્વનિયોગ કરાવી, કરવામાં આવે તો તેનું અલૌકિકભોગમાં પરિવર્તન થાય છે. વળી અલૌકિકભોગ પ્રથમ ફળમાં અલૌકિક સામર્થ્યમાં પ્રવેશ કરાવે છે. તેથી સમર્પણદ્વારા ભોગનું ઉદાત્તીકરણ અને તેનાદ્વારા ફળ-ભજનાનન્દાનુભવની પ્રાપ્તિ એ પુષ્ટિમાર્ગીય પ્રક્રિયા છે.

અહીં આપણે જોઈ શકીએ છીએ કે ભોગ્ય પદાર્થની અયોગ્યતા/લૌકિકતાનું નિરાકરણ ભગવાનદ્વારા ઉપભુક્ત કરાયેલ પદાર્થો ભગવાને દીધેલ પ્રસાદ તરીકે ગ્રહણ કરવામાં આવે તેથી થઈ જાય છે. અને ભોક્તાના ભાવની અયોગ્યતા-લૌકિકતાનું નિરાકરણ પદાર્થ સ્વાર્થ ન લાવતાં ભગવદર્થ લાવવામાં આવે છે તેના કારણે તેમાં વિષયાસક્તિ ન રહેતાં ભગવદાસક્તિ રહે છે તેનાથી થઈ જાય છે.

પુષ્ટિમાર્ગીય સિદ્ધાન્તનું રહસ્ય :

આ જ સિદ્ધાન્તનું રહસ્ય 'સિદ્ધાન્તરહસ્ય' ગ્રન્થમાં શ્રીઠાકુરજીએ દેવીજીવોના ઉદ્ધારની ચિન્તામાં વ્યગ્ર શ્રીમહાપ્રભુજીને આપેલ ઉપદેશરૂપે આપણને મળે છે. વિશેષ કરીને નીચે ઉદ્ધૃત પક્તિઓથી મળે છે.

૧) असमर्पित वस्तुनाम् तस्मात् वर्जनमाचरेत् ।
निवेदितैः समर्प्यैव सर्वम् कुर्याद् इति स्थितिः । (૪ ૧/૨)
૨) तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु समर्पणम् । (૫ ૧/૨)
૩) सेवकानाम् यथालोके व्यवहारः प्रसिध्यति ।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः । (૭ ૧/૨)

શ્રીપુરુષોત્તમજી (૧)ની ટીકામાં જણાવે છે **"स्वात्मसमर्पणावसरे ... समर्पणं विधाय अेव कुर्यात्"** ભાવાર્થ : આત્મસમર્પણ/બ્રહ્મસમ્બન્ધદીક્ષા સમયે સ્ત્રી વગેરે ચેતન વસ્તુઓ તથા ગૃહ વગેરે અચેતન

વસ્તુઓ જે ભગવાન્‌ને નિવેદિત કરી છે તેના વડે જે કાંઈ કરવાનું હોય તે બધું ભગવાન્‌ને તેઓના યથોચિત વિનિયોગરૂપ સમર્પણ કરીને જ કરવું.

શ્રીપુરુષોત્તમજી (૨)ની ટીકામાં કહે છે **"यस्माद् असर्पित संसर्गः सामिभुक्त समर्पणं च अयुक्तम्, ...वस्तूना समर्पणं मतम् इति अर्थः"**. ભાવાર્થ : અસમર્પિતનો સંસર્ગ અને સામિભુક્તનું સમર્પણ યોગ્ય નથી ત્યાજ્ય છે તેના કારણે બધા જ વૈદિક, સ્માર્ત અને લૌકિક કાર્યોમાં કાર્ય કર્યા પહેલાં જ ત્યાં ત્યાં અપેક્ષિત બધી વસ્તુઓનું સમર્પણ કરવું એવો મત છે. અને શ્લોક ચારમાં કહે છે **"लब्धानां 'सर्वलाभोपहरणम्' इत्युक्तरीत्या भगवद्-निवेदितानाम् पदार्थानां वर्जनम् आचरेत्"** એટલે પ્રાપ્ત વસ્તુઓના બધા લાભ અર્પણ કરવા જોઈએ તે ન્યાયથી ભગવાનને અનિવેદિત પદાર્થોનું વર્જન-ત્યાગ કરવો. તે પદાર્થો ભગવાન્‌ને ભોગ ધર્યા સિવાય પોતે ન વાપરવા.

અત્રે તાત્પર્ય નીકળી રહ્યું છે કે અસમર્પિત વસ્તુઓનો ત્યાગ કરવો જોઈએ તથા કોઈ પણ વસ્તુઓનો ઉપભોગ કર્યા પહેલાં અને કોઈ પણ કાર્ય કર્યા પહેલાં જે રીતે ઉચિત હોય તે રીતે ભગવદ્ સેવામાં સીધો અથવા પરમ્પરાથી વિનિયોગ કરવો જોઈએ સમર્પણ કરવું જોઈએ.

અસમર્પિતત્યાગના સિદ્ધાન્તનો આધુનિક સમયમાં અમલ :

અન્ય અગત્યના સિદ્ધાન્તોની જેમ આ અગત્યના સિદ્ધાન્તના અમલમાટે આપણા માર્ગમાં અસમજ ગેરસમજ તથા વિપરીત સમજ નજરે પડે છે. મતભેદ પણ જણાય છે.

આઠ-દસ વર્ષ પહેલાં અમે ચાર-પાંચ ભાઈઓ થાણા નજીક આવેલ મોપાડા ગામમાં વૈષ્ણવોના સમ્પર્કમાટે તથા યુવાનોમાં માર્ગની જાગૃતીમાટે ગયા હતા ત્યાં ૬૦-૬૫ વર્ષના બે પ્રૌઢભાઈઓ સાથે વાતચીત કરતાં જાણવા મળ્યું કે તેઓ ઠાકુરજીની સેવા ઘણા વર્ષોથી કરે છે મીશ્રી અને દૂધઘર પાળે છે. અમે પૃચ્છા કરી કે ઠાકુરજીને પુષ્ટાવ્યા છે? તો કહે કે પુષ્ટાવીએ-સમર્પિત થઈએ તો અમારો વ્યવહાર કેમ ચાલે? ધંધામાટે સુરત અમદાવાદ વગેરે ખરીદી કરવા વારંવાર જવું પડે તો શું કરીએ? વ્યવહારમાં શાદી-વિવાહ પ્રસઙ્ગે જવું પડે તો ખાવાપીવાનું શું કરીએ? અને ન જઈએ તો અમારા ત્યાં પ્રસઙ્ગોએ કોણ આવે? અમારા

છોકરાછોકરીઓના સમ્બન્ધ કેવી રીતે થાય? આમ જ હકીકત હોય તો શું એમ સમજવું કે પુષ્ટિમાર્ગનો સૌથી અગત્યનો સિદ્ધાન્ત વાંઢા અને વાંઝીયાઓ ને વધારે અનુકૂલ છે અથવા જીવનમાં બધું પરવારી છૈયાછોકરાને ઠેકાણે પાડી પછી અપનાવવા જેવો છે?

આ ઉપરાન્ત બીજા ઘણા પ્રશ્નાર્થ ચિન્હો ઉપસ્થિત થાય છે. જેવા કે

(૧) આ સિદ્ધાન્ત ફક્ત ભોજન પૂરતો જ મર્યાદિત છે કે બધાજ વ્યવહારને લાગુ પડે છે અથવા સમગ્ર જીવનને સમ્બન્ધ ધરાવે છે?

(૨) અત્યારે જેને અગ્રતા અપાઈ રહી છે તે ભોજનનો જ વિચાર કરીએ તો તેમાં પણ વિવિધ પ્રકાર નજરે પડે છે.

(ક) શ્રીમહાપ્રભુજીએ રાજભોગ પર્યન્તની સેવાને 'દ્વિકાલં વા' કહીને સમ્પૂર્ણ પ્રકાર તરીકે માન્યતા આપી છે તો તે પ્રકારમાં સાંજના ભોજનમાટે શું?

(ક/૧) સવારે સાંજનામાટેનું બનાવી ઠાકુરજીને સવારે ધરેલું સાંજે લેવું?

(ક/૨) સાંજે નવિન બનાવી મન્દિરને ભોગ ધરી લેવું?

(ક/૩) સંયુક્ત કુટુમ્બ હોય તો પોતાની થાળીમાં પીરસાવ્યા પછી ભગવદનુસન્ધાન કરી લેવું?

(ખ) બીજા વૈષ્ણવના ત્યાં લેવાનો પ્રસઙ્ગ આવે તો (૧) તેના ઠાકુરજીને સમર્પિત અને પ્રસાદી આપણું સમર્પિત નથી તો તે લેવામાં કાંઈ બાધ આવે? (૨) પ્રસાદી ન હોય તો લેવાય કે નહીં? (૩) તેના ત્યાં ઠાકુરજી બિરાજતા ન હોય તો લેવાય કે નહીં? (૪) વૈષ્ણવ ન હોય તેવા સમ્બન્ધીના ત્યાં લેવાય કે નહીં? લેવાય તો તેનો પ્રકાર શું હોઈ શકે?

(ગ) બીજી વ્યવસ્થા શક્ય ન હોય જેમકે કોઈ અજાણ્યા સ્થળમાં અથવા પરદેશમાં, તો હોટેલનું લેવાય કે નહીં? હોટેલનું લેવા કરતાં મન્દિરની પાતળ લેવી યોગ્ય ગણાય?

(ઘ) શ્રીમહાપ્રભુજીએ અપ્રસાદીનું વર્જન ન કહેતાં અસમર્પિતનું વર્જન કહ્યું છે તો તેમાં કાંઈ વિશેષ તાત્પર્ય હોઈ શકે?

(ઙ) નિવેદનમન્ત્રની દીક્ષા સમયે કરવામાં આવતું સામાન્ય સમર્પણ અને તે ઠાકુરજીના વિનિયોગમાટે સામગ્રી સિદ્ધ કરી પ્રત્યક્ષ કરાતું વિશેષ સમર્પણ એમ વિભાગ કરી સામાન્ય સમર્પણમાં આપણી મમતાના વર્તુળમાં આવતી બધી વસ્તુઓ અને વ્યક્તિઓ સમર્પિત ગણાય? વગેરે.વગેરે.

આ બધા પ્રકારો તથા પ્રકારોમાટે પેદા થતા પ્રશ્નો સામાન્ય જનતામાં ઉદ્ભવી રહ્યા છે તેનો અહીં નિર્દેશ કરવામાં આવ્યો છે. તેનું કોઈ વ્યવસ્થિત માર્ગદર્શન મળી શકે તો ઉપકારક થાય તે આશયથી.

શક્ય સમાધાનનો વિચાર :

હવે આ પ્રશ્નોનો તથા શક્ય સમાધાનનો આગળ ઉદ્ધૃત કરેલી (૩)થી અંકીત પક્ષિકૃતઓનો શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકાના સન્દર્ભમાં વિચાર કરીએ. **"સેવકાનાં...સર્વેષાં જ્ઞાયતા તતઃ".**

આધુનિક સમયમાં સમર્પિત વસ્તુ જ ગ્રહણ કરવાની બાબતમાં આવતી મુશ્કેલીઓની યાદી જોતાં લાગે છે કે પાલન કરવું ઘણું મુશ્કેલ છે.

શ્રીપુરુષોત્તમજીએ પણ તે સમયની મુશ્કેલીઓના ઉદાહરણ આપી અશક્યોપદેશ હોવાના પૂર્વપક્ષને ઉપરોક્ત શ્લોકની ઉત્થાનિકામાં વર્ણવ્યો છે. તેઓ પૂર્વપક્ષમાં કહે છે કે બધા કાર્યો પહેલાં સર્વવસ્તુસમર્પણ અને અસમર્પિત-વસ્તુનું વર્જન એ અશક્યોપદેશરૂપ છે. બધા જ કર્મોની પહેલેથી જાણ થવી અશક્ય છે. જ્વર વગેરે રોગના પથ્ય તરીકે વૈદ્ય તે જ વખતે આપવાની વાત કરે તેની પૂર્વ જાણ થવી અશક્ય છે. કોઈ સમ્બન્ધીવડે તથા કોઈ શિષ્યદ્વારા અથવા રાજાથી વિનય યા બળપૂર્વક તેમના ઘરમાં ભોજન અથવા વસ્ત્રાલંકારના દાન વખતે સમર્પણ કરવું અશક્ય હોવાથી અસમર્પિત વર્જન કરવું અશક્ય બને છે.

પછી ટીકામાં આનો ઉત્તર આપતાં સ્પષ્ટ કહે છે કે જેવી રીતે લોકમાં સેવા કરનાર સેવકોનો જેવો વ્યવહાર પ્રસિદ્ધ છે તે પ્રકારે સમર્પણ કરવું. ઉદાહરણ આપે છે **"યથા નિષ્કપટસેવકાઃ"** જેવી રીતે નિષ્કપટ નોકરો પોતાના ગુરુ અથવા પોતાના માલિક ને કાર્ય પહેલાં, પછી અથવા બન્ને સમયે પણ વિજ્ઞાપન કરતા હોય છે તે પ્રમાણે સમર્પણ કરીને વ્યવહાર કરવો. વિજ્ઞાપનમાં સમર્પણ શબ્દનો પ્રયોગ થઈ શકે છે. તેવી રીતે પોતાને કોઈ વસ્તુની ભૂખ લાગી હોય ત્યારે પ્રભુને વિજ્ઞાપન કરી, તેમ કરીને સમર્પણ કરી પછી ભોગ કરવો.

વળી આગળ કહે છે કે ભાગવતના અગીયારમા સ્કંધના ઓગણીસમા

અધ્યાયમાં **"શ્રદ્ધામૃતકથાયાં મે"** ઈત્યાદિ સાડાચાર શ્લોકવડે સર્વકામનો ત્યાગ અને ભગવાન્માટે તેના વિરોધી વિષયભોગસુખનો પરિત્યાગ ની જે આજ્ઞા કરી છે તેનાથી ઉપરની વિજ્ઞાપનની રીત વિરુદ્ધ હોવાને કારણે તે રીત મુખ્ય સાધન કક્ષા સુધી પહોંચાડતી નથી તેથી તે પ્રમાણે કરીને **"જુષમાણઃ ચ તાન્ કામાન્"** (તે કામનો ઉપભોગ કર્યો છે પણ ગર્હિત છે તેમ માનવું) એ ન્યાયથી ગ્લાનિ જણાવવી. **"અશક્યે વા સુશક્યે વા સર્વથા શરણં હરિઃ"** એવી ભાવના કરવી. અંકુશ અને વજ્રવાળા ચરણનું ધ્યાન ધરવું. જેનાથી આ મનના દોષનું શીઘ્ર નિવર્તન થાય છે. અહીં સેવાને વિપરીત સંજોગોમાં પણ નિભાવી શકાય તેમ છે તે દર્શાવવાનો આશય છે નહીં કે છૂટ આપવાનો.

વળી અન્તમાં, પાછળથી વિજ્ઞાપનદ્વારા કરાતા સમર્પણના પ્રકારની ઉપપત્તિ આપતાં શ્રીપુરુષોત્તમજી કહે છે કે 'સર્વાદૌ' એ સમર્પણના વાકયથી પહેલાં કરાતા સમર્પણની વાત તો કહી જ દીધી છે પછી અહીંયા પુનઃ કહેવાની વ્યર્થતાનો પ્રસઙ્ગ થશે.

ઉપરછલ્લો વિચાર કરતાં જણાઈ રહ્યું છે કે એક શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં સમર્પણ કર્યા પછી જ ક્રિયા કરવી જોઈએ એમ કહ્યું છે જ્યારે બીજા શ્લોકની વ્યાખ્યામાં ક્રિયા કર્યા પછી કરેલ વિજ્ઞાપન અથવા વિજ્ઞાપન અને ગ્લાનિ થી પણ સમર્પણ સિદ્ધ થશે એમ જણાવ્યું છે.

પરન્તુ બારીકાઈથી અભ્યાસ કરતાં અત્રે 'નિષ્કપટસેવકાઃ'શબ્દ મહત્વનો લાગે છે. અહીં નિષ્કપટનો અર્થ એ જ થાય છે કે સેવકે જ્યાં સુધી શક્ય હોય ત્યાં સુધી પહેલાં સમર્પણ કરવું જોઈએ પરન્તુ કોઈ પ્રકારના પોતાના સ્વાર્થ યા પ્રયોજન વિના અને/અથવા કોઈ અનિવાર્ય સંજોગોને લીધે ન થઈ શકયું હોય તો જ પાછળથી વિજ્ઞાપન કરવાનો પ્રસઙ્ગ ઉપસ્થિત થાય. તે જ પ્રકારે પ્રભુને સમર્પણની બાબતમાં પણ સિદ્ધાન્તો તે જ રહેશે. કોઈ કાર્ય કર્યા પહેલાં અથવા કોઈ વસ્તુનો ઉપભોગ કર્યા પહેલાં ઠાકુરજીને સમર્પણ કરવું જોઈએ. સઙ્કલ્પ તો તે જ હોવો જોઈએ. પોતાના સામર્થ્યની મર્યાદાને કારણે ન કરી શકાય તો જ બીજા વિકલ્પો અપનાવવા જોઈએ. પોતાના સામર્થ્યની મર્યાદા નિષ્કપટતાથી તટસ્થ રહીને સમજવી જોઈએ. આ જ એક કસોટી છે જેનાથી સમસ્યાનું સમાધાન થઈ શકે. જોકે પ્રભુને સમર્પણ કરવાની પરિસ્થિતિ અથવા સામર્થ્ય ન

હોય તેવા અધિકારીઓએ સેવાપક્ષ ન અપનાવતાં કથાપક્ષ અથવા પ્રપત્તિપક્ષ અપનાવવો જોઈએ એવો બીજો મજબૂત સબળ પક્ષ પણ રજૂ કરવામાં આવે છે.

ગમે તે પક્ષ સ્વીકારીએ પણ શ્રીપુરુષોત્તમજીના વચનોથી નિઃસન્દિગ્ધપણે સ્પષ્ટ સમજી શકાય છે કે સ્વસર્વસ્વસમર્પણ માત્ર ભોજન પુરતું મર્યાદિત રાખવું અને તેમાં મિશ્રી દૂધઘર નાગરી અનસખડી જેવા પ્રકારો પાડી સંતોષ માનવો એ પ્રકારને પુષ્ટિમાર્ગસેવા પ્રકારમાં અંશભર અવકાશ મળતો નથી.

છતાં પણ શાસ્ત્રોક્ત પૂજાપ્રકાર પ્રત્યેક વર્ણાશ્રમીને શાસ્ત્રમાં આપેલ આજ્ઞા પ્રમાણે ઉપલબ્ધ છે જ તો જો કોઈ વૈષ્ણવ શાસ્ત્રીય આજ્ઞાનું પૂર્ણપણે અનુસરણ કરીને શાસ્ત્રીય મર્યાદા મુજબનો પૂજાપ્રકાર પૂજામાર્ગ પ્રમાણે નીભાવી રહ્યો છે એમ સમજી અનુસરતો હોય તો તે વેદને સમ્પૂર્ણતયા માનનાર શ્રીમહાપ્રભુજીને અમાન્ય હોઈ શકે નહીં. **"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति, तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः"** (ગી.૯/૨૬)

ઉપસંહાર :

શ્રીમહાપ્રભુજી સંન્યાસનિર્ણય ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરે છે **"विषयाक्रान्त देहानां नावेशः सर्वथा हरेः"** (સ.નિ.૬). વાસ્તવિકતા આ જ છે. વિષયથી ઘેરાયેલા જીવોનો હરિમાં આવેશ કોઈ પ્રકારે નથી જો વિષયને આપણા પર હાવી થવા દેવામાં આવે તો હરિના આવેશનો અવકાશ નહીં રહે. વળી વિષયોની વચ્ચે જ આપણે રહેવાનું છે અને આપણી ઈન્દ્રિયોની વૃત્તિને વિષયોનું સ્વાભાવિક આકર્ષણ છે. આ પરિસ્થિતિથી ઉગરવાનો રસ્તો વિષય અને વૃત્તિ બન્નેની હાનીકારતાનો નાશ કરવો તે જ છે. કારણકે વિષયોમાંથી છૂટવું અને વૃત્તિઓને નિર્મૂળ કરવી એ અશક્યપ્રાયઃ છે.

શ્રીમહાપ્રભુજીએ અધિકારી એવા પુષ્ટિજીવોને યોગ્ય ગુરુપાસે બ્રહ્મસમ્બન્ધદીક્ષા લઈ માર્ગમાં નિર્દિષ્ટ વિધિપ્રમાણે સ્વરૂપ પુષ્ટાવીને પોતાના તન અને ધન થી સ્વસર્વસ્વસમર્પણપૂર્વક તનુવિત્તજાસેવા કરવાનો ઉત્તમ રસ્તો બતાવ્યો છે. આ પ્રકારથી વિષયોની શુદ્ધિ ભગવદ્ સેવામાં સીધા અથવા પરમ્પરાથી વિનિયોગ દ્વારા થાય છે જ્યારે વૃત્તિની શુદ્ધિ ભક્તિ અને પ્રપત્તિ થી

થાય છે. વળી આ બન્નેમાંથી જો કોઈ એક નબળું પડે તો બીજું તેને સંભાળી લે છે આમ આ યન્ત્રવત્ અન્યોન્યાશ્રિત પ્રક્રિયા છે. વિષય વિનિયોગ નબળો પડશે અથવા શક્ય નહીં હોય તો ભક્તિ અને પ્રપત્તિ તેની સંભાળ લેશે અને જો ભક્તિ અને પ્રપત્તિ નબળી પડશે તો વિનિયોગ થયેલ વિષય તેની સંભાળ લેશે.

અન્તમાં છેલ્લું પણ અન્તિમ નહીં તેવું તારણ આપવાનું રોકી શકાતું નથી કે આજના કાળમાં શ્રીમહાપ્રભુજીએ ઉપદિષ્ટ સેવા પ્રકાર આચરણમાં લાવવો શક્ય નથી તેવી વકીલાત કરનારા વૈષ્ણવો અને વૈષ્ણવેતરો એ શ્રીપુરુષોત્તમજીએ આપેલું અર્થઘટન સાવધાનીથી સમજી લઈ પોતાના અભિપ્રાયમાં ફરક કરવાની આવશ્યકતા લાગે છે. બાકી આપણો સંસાર જેમ છે તેમ ચાલતો રહે આપણી અહંતા-મમતાને ઉની આંચ ન આવે બલ્કે પોરાતી જાય ભૌતિકભોગ ભોગવતાં રહીએ અને એવા જીવનમાં પુષ્ટિમાર્ગીય સેવાનો પ્રવેશ થાય એવી આશા રાખનારાઓએ પુષ્ટિમાર્ગને નમસ્કાર કરી દેવા જોઈએ. એ ઝાંઝવાનાં જળ છે. એમનામાટે પુષ્ટિમાર્ગ નથી એમનામાટે પુષ્ટિમાર્ગીય સેવાસાધના નથી કે નથી પુષ્ટિમાર્ગીય ફળ. બીજું જે કાંઈ હોય તે. 'કુછ પાને કે લીયે કુછ ખોના ભી તો પડતા હૈ.'

આમ અન્તિમ આદર્શ તો એ જ છે કે આપણે આપણું સમસ્તજીવન સમર્પણાત્મક કરવું જોઈએ. જેનામાટે પુષ્ટિપ્રભુએ પુષ્ટિસૃષ્ટિને પ્રકટ કરી છે. **"भगवदङ्ग सेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्"** તે સ્થિતિમાં કરવામાં આવતા બધા ક્રિયાકલાપ સ્વાભાવિકરીતે ભગવદર્થ જ રહેશે અને તેના કારણે જીવન નિભાવવા કરવી પડતી બધી ક્રિયાઓ સાક્ષાત્ અથવા પરમ્પરાથી ભગવત્ સમર્પિત બની રહેશે. આ અવસ્થા ન આવે ત્યાં સુધી સેવકે જીવન નિભાવવાની આવશ્યકતાથી અધિક કોઈ જ ક્રિયાકલાપ સ્વાર્થ કે ભોગાર્થ ન થાય તેની સાવધાની રાખવાનો નિષ્કપટભાવે પ્રયત્ન કરતા રહેવું જોઈએ.

चर्चा

પુષ્ટિમાર્ગીય ભક્તિ અને પ્રપત્તિ ની સાધનામાં પ્રતિબન્ધક : ભોગ

श्रीरसिक शाह

गो. श्या. म. : अभी मौखिक प्रस्तुतिमें रसिकभाईने कही के कोई बातकी छूट सिद्धान्तमर्यादामें रहके देनी शुरु करेंगे तो आदमी छूट लेतो ही जायेगो, स्वच्छन्द हो जायेगो या भयसुं छूट नहीं देनी वो ठीक नहीं है. और जो स्वच्छन्द है वो तो छूट नहीं देंगे तब भी छूट खुद ही ले लेगो.

या सम्बन्धमें मोकुं ऐसे लगे है के न या बाजुको नियम अपन बांध सके हैं के छूट देंगे तो सब तरहकी छूट लेलेंगे. और न वा बाजुको नियम बांध सके हैं के छूट नहीं देंगे तो लेनेवाले तो ले ही लेंगे. मनुष्य बहोत अनप्रिडिक्टेबल् है. छूट ले भी सके है और नहीं भी ले सके है. यासुं मनुष्य क्या करेगो वो मनुष्यपे अपन छोड़ दें. विचार अपनकुं वाको करनो चहिये के सिद्धान्तके अन्तर्गत अपन समर्पणमें कौन-कौनसी छूट दे सके हैं और कौनसी नहीं दे सके हैं, समर्पणकी रेंज् क्या है, भोगकी रेंज् क्या है. दोनोंमें ये बात तो रहेगी के ब्रह्मको विषयतया भी भोग हो सके है और विषयको ब्रह्मतया भी भोग हो सके है. "**सर्वेषां ब्रह्मता ततः**" में विषयको ब्रह्मतया भोगकी बात है. और "**तदा सेवा नाधिदैविकी**" में ब्रह्मके विषयतया भोगको ही सन्दर्भ है. क्योंके कृष्ण तो वहां अधिदेव तरीके बिराज्यो ही भयो है. तो फिर सेवा क्यों आधिदैविकी नहीं भई? अपन यदि प्रतीकोपासना नहीं करते होवें, साक्षात् श्रीकृष्णकी सेवा करते होवें तो साक्षात् स्वरूपकी सेवा साक्षात् आधिदैविकी नहीं है ऐसो विधान जब श्रीमहाप्रभुजी कर रहे हैं मतलब वहां कुछ-न-कुछ लफड़ा है के ब्रह्मको विषयतया भोग हो रह्यो है. ऐसे ही सेवा भक्त्यर्थ भी हो सके है और भक्तीतर प्रयोजनार्थ भी हो सके

है. सिद्धान्ततः वाकी रेंज् कितनी है वो अपनकुं विचारनो बहोत ही जरूरी है. नहीं तो आगे जाके अपनकुं निश्चित मार्गदर्शन नहीं मिलेगो. आज तो गुरु लोग प्रायः ऐसो शोर्टकट् लेते होवे हैं के जब जो मनमें आयो वो कह दियो. जैसे शरद्बाबाने गोपालके पेपरकी चर्चामें कह्यो हतो के आज अधिकार-अवस्थाको कोई विचार नहीं रह्यो है. सब लोग सब कछु जान रहे हैं, बांच रहे हैं, सुन रहे हैं. पर कौनकेलिये क्या है वाको विचार कोई कर नहीं रह्यो है. पुराने समयमें तो गुरु-शिष्यके सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ हते. यासुं वा समयमें ये समस्या कम होती हती. सर्वनिर्णयनिबन्धमें श्रीमहाप्रभुजी गुरुकुं कह रहे हैं के शिष्यकी योग्यताको अच्छी तरहसुं परीक्षण करो. और शिष्यकुं भी आज्ञा दे रहे हैं के वो भी गुरुकी योग्यताकी अच्छी तरहसुं परीक्षा करे. तो जब दोनोंने एक-दूसरेको अच्छी तरहसुं परीक्षण कियो होवे और घनिष्ठ सम्बन्ध भयो होवे तो दोनों एक-दूसरेकी क्षमता-सीमा समझ सकेंगे. और दोनोंनमें यदि मार्गके प्रति वफादार रहनेको सदाशय होयगो तो उपदेश भी मार्गके प्रति वफादारीसुं प्रकट होयगो. दुर्भाग्यसुं आज ऐसी परिस्थिति गुरु-शिष्यके बीच रही नहीं है. आज न गुरु-शिष्यके बीच वैसी क्लोज़नेस् रह गयी है, न गुरु अपने शिष्यकुं पर्सनली एटेंड् कर रह्यो है या वैसी केर ले रह्यो है. मोर् ओर लेस् व्यक्ति-व्यक्तिको गुरु या शिष्य नहीं रहके पद और अनुगामिगण के रूपमें गुरु-शिष्यभाव आज है. याके कारण गुरु-शिष्यके बीचको व्यवहार पुष्टिके ढंगसुं चलनेके बजाये मर्यादा और प्रवाह के ढंगसुं चल रह्यो है. 'पुष्टि' मैं पोषणके अर्थमें कह रह्यो हूं के गुरु शिष्यके भावको पोषण करे और शिष्य गुरुके उपदेशमें आत्मकल्याण देखे. ऐसे नहीं होके आज एक मर्यादासी बन गयी है के वो गुरु हैं, हम चेला हैं, पधरामणी हो रही है, उद्घाटनें हो रहे हैं, हस्तमिलाप करवा रहे हैं. बस, हो गयो गुरु-शिष्यको काम. ये सब मर्यादा-प्रवाह जैसी बाते हैं. याके कारण आज सम्प्रदायमें बहोतसी समस्या खड़ी हो गयी हैं जाको विचार अपनकुं करनो चहिये.

देवेन्द्र शाह : છુટ-છાટનો કેવો દુરુપયોગ થઈ શકે છે એનું એક ઉદાહરણ આપું છું. એક જાણકાર વૈષ્ણવને ત્યાં જવાનું થયું. તેમણે મને કહ્યું કે તમે

સત્સંગમાં ક્યાં પણ જાઓ ત્યાં સમર્પિત થવાનો જે આગ્રહ રાખો છો તેને ઢીલો પાડી દો. સમર્પિત થવા ઊપર ભાર ન મૂકો. એનું કારણ એમણે એવું જણાવ્યું કે સમર્પણ ઊપર ભાર મુકવાને કારણે જેઓ સમર્પણ કરી નથી શકતા તેમના મનમાં ઈન્ફીરિયોરિટિ કોમ્પ્લેક્સ્ ઘર કરી જાય છે. મેં કહ્યું કે ઈન્ફીરિયોરિટિ કોમ્પ્લેક્સ્ આવે છે તો આવવા દો, એમાં શું ખોટું છે! તેઓ જ્યાં પ્રવચનમાટે જાય છે ત્યાં શ્રીપુરુષોત્તમજીનું નામ આપીને એવું નિરૂપણ કરતા હોય છે કે સર્વસ્વ સમર્પણ ન થાય તો કંઈ વાંધો નહીં, શ્રીપુરુષોત્તમજીએ એવી છૂટ આપી છે. પાછું શ્રીપુરુષોત્તમજીનો ખરો અભિપ્રાય શું છે એ તેઓ જાણે છે, પોતે પણ પોતાના જીવનમાં છૂટ-છાટ લેતાં નથી, સમર્પિતજ જીવન જીવે છે, છતાં એમના વચનોનો દુરુપયોગ તેઓ કરે છે અને અજ્ઞાની વૈષ્ણવોને ગેરમાર્ગે દોરે છે. એટલે છુટ-છાટના નામે આવું બધું ચાલી શકે છે. બસ એ જ મારે કહેવાનું હતું.

પરેશ શાહ : દુરુપયોગ તો આ સુખધામનો પણ થઈ શકે છે. રસિકભાઈનો આશય એવો લાગે છે કે વૈષ્ણવોને સમર્પિત થવામાં ટેન્શન્ આવી રહ્યું છે. કેમકે આપણે સમર્પણની સાચી રેંજ જાણતા નથી. એનો જો વિચાર કરીએ તો ચાહે શ્રીપુરુષોત્તમજીનો મત હોય ચાહે જે-તે વૈષ્ણવભાઈનો મત હોય આપણે અતિવાદથી બચી શકીએ કે સમર્પણ આવી રીતે થાય તો જ સાચું, આમ ન જ થવું જોઈએ. આજે આપણે એમ સમજતા હોઈએ કે આપણે સમર્પિત છીએ તો એ વાત કદાચ ભોજન પુરતી સાચી હોઈ શકે છે. બાકી ભોજનને છોડીને આપણે બાકી બાબતમાં સમર્પિત નથી. એટલે જ 'ભોગ' કહેતાં તરત ખાવા-પીવાની વાત આવે છે. બીજી બાબતમાં આપણે સમર્પણનો વિચાર કરતા નથી એવો કંઈક રસિકભાઈનો આશય છે.

દેવેન્દ્ર શાહ : રસિકભાઈના આશય બાબત મેં વિરોધ નથી કર્યો. રસિકભાઈએ છૂટની વાત કરી એના એક પક્ષનો દાખલો મેં આપ્યો કે છૂટની અતિશયતા કેવી રીતે આવી જાય છે. તમે કહ્યું એ પણ બરાબર છે કે સમર્પણની રેંજ ન જાણવાને કારણે લોકો માર્ગથી દુર થઈ જાય છે.

અસિત શાહ : છૂટ બાબત એવું છે કે કેટલીક પ્રકારની છૂટ આપણને ઑલ્રેડી મળેલી છે. શ્રીગોકુલનાથજીના વચનામૃતમાં કહ્યું છે કે પ્રવાસમાં તમે ગયા હો અને સમર્પિત લેવાનું શક્ય ન હોય તો આપદ્ધર્મ તરીકે કંઠીને

ભોગ ધરીને લેવું. પણ આપદ્ધર્મ બાબત વિચારવાનું રહ્યું કે એને એક્સ્ટેંડ કરીને ક્યાં સુધી આપદ્ધર્મ કીધા કરવું. સ્મૃતિમાં પણ છૂટ-છાટ અપાઈ છે કે જો કોઈ બ્રાહ્મણ બ્રાહ્મણની વૃત્તિથી નિર્વાહ ન કરી શકતો હોય તો આપદ્ધર્મ તરીકે અમુક સમયસુધી વૈશ્યવૃત્તિથી નિર્વાહ કરી શકે છે. પણ જો આપણે આપદ્ધર્મ-આપદ્ધર્મ જ કરતા રહ્યા અને મુખ્ય ધર્મનો નિર્વાહ કર્યો જ નહીં તો અમુક સમય સુધી વાંધો નથી આવતો. જેમ શ્રીહરિરાયજી કહે છે કે "સર્વત્ર ભ્રાન્તસમ્બન્ધ ભાવનાનાશ એવ હિ". જો આપણે અસમર્પિત લેતા જ રહ્યા, લેતા જ રહ્યા જીવતાં સુધી તો પછી એ આપદ્ધર્મ ન રહી ગયો, ધર્માભાસ બની ગયો. એવામાં જો કોઈને સમર્પણ કર્યાનો સન્તોષ થઈ જાય તો એ ખોટો સન્તોષ હશે. તેથી થોડા સમય માટે છુટ-છાટ લેવી ઠીક વાત છે પણ થ્રુઆઉટ્ લાઈફ્ આપણે એ નહીં કરી શકીએ.

રસિક શાહ : તારી વાત પરથી સમાધાન એવું લાગે છે કે આપણને સિદ્ધાન્તના પાલનથી શું લાભ થાય છે એ લોકોના ગળે ઉતારવું જોઈએ. ગળે ઉતરી ગયા પછી આપદ્ધર્મ આપોઆપ સમજાઈ જશે અને તે અનુસાર કરશે. આપણે શું કરીએ છીએ કે અપરસ પાળવાનો લાભ શું છે તે સમજાવતા નથી અને પાળવા ઊપર ભાર આપીએ છીએ. તેથી લોકો અપરસના નામથી ડરીને ભાગવા માંડે છે. પણ જો માણસને તેની ઉપયોગિતા-મહત્વ સમજાવવામાં આવશે એ એનો ગેરલાભ નહીં લે. વહુ સાસરે આવે એટલે સૌથી પહેલાં એને અપરસ બતાવે. ઠાકોરજી તો બતાવે જ નહીં કે જેમના માટે અપરસ પાળવામાં આવી રહી છે. અહીં ન અડવું, ત્યાં ન અડવું. બિચારી ગભરાઈ એવી જાય કે ક્યાં હાથ મુકવો એ જ સમજાતું બંધ થઈ જાય. બિચારી અપરસને કારણે ઠાકોરજીથી ડરી જતી હોય છે. પણ એને ઠેકાણે એને પહેલાં ઠાકોરજીમાં પ્રેમ-આદર થાય એવું કંઈ કરવામાં આવે તો એ સામે ચાલીને ઉત્સાહથી અપરસ પાળશે. પણ આપણે સિદ્ધાન્ત-નિયમોની ઉપયોગિતા એનું મહત્વ સમજાવતા નથી અને બન્ધનોમાં બાંધી દઈએ છીએ.

ગો. શરદ્ : તમે જે વાત કરી રહ્યા છો એ તો બિલકુલ સત્ય છે. હવે રહે છે વાત સમર્પણના નિયમ અને અપવાદ ની. તો એ સમ્બન્ધમાં શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકાના આધારે તમે આલેખમાં જે નિરૂપણ કર્યું છે

એ સાંગોપાંગ છે. એટલે એ સમ્બન્ધમાં આનાથી વિશેષ બીજી કોઈ ચોખવટ કરવાની રહેતી હોય એવું લાગતું નથી. કેમકે એમાં સામાન્ય - વિશેષ દરેક પ્રકારની સ્થિતિના સમ્બન્ધમાં નિર્ણય અપાઈ ગયો છે. તેથી સિદ્ધાન્તના વિષયમાં તો કોઈ અસ્પષ્ટતા બચતી નથી. શ્રીપુરુષોત્તમજીએ લૌકિકવ્યવહારાનુરોધી અને ભગવદ્ધર્માનુરોધી સમર્પણ એમ બે પ્રકારના સમર્પણ ગૌણ-મુખ્ય ભાવથી બતાવ્યા છે. સમર્પણના ભેદથી તેના ફળમાં પણ ભેદ થશે એ વાત પણ શ્રીપુરુષોત્તમજી કહી રહ્યા છે. અર્થાત્ ગૌણ સમર્પણથી મુખ્ય સમર્પણનું ફળ નહીં મળે. તેથી આપત્કાલમાં ખાન-પાનાદિ વ્યવહાર ચલાવવાના સમ્બન્ધમાં જે પ્રકારો બતાવવામાં આવ્યા છે દા.ત. ઘરના ઠાકોરજીને ધરેલ પ્રસાદ મેળવીને લેવું, ઠંઠીને ભોગ ધરીને લેવું, ચરણામૃત પધરાવીને લેવું કે ભાવનાથી ભોગ ધરીને લેવું વગેરે પ્રકારો મુખ્ય સમર્પણના પ્રકારો નથી એ વાત તો ધ્યાનમાં રાખવી જ પડશે.

બીજી વાત એ છે કે શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા કરે છે કે **"એતત્ સર્વં પ્રયત્નેન ગૃહસ્થસ્ય પ્રકીર્તિતમ્, અન્યેષાં સમ્ભવેત્ તુ સ્યાત્ યતેઃ પર્યટનં વરમ્"** અને **"અવ્યાવૃત્તો ભજેત્ કૃષ્ણં પૂજયા શ્રવણાદિભિઃ"**. જ્યારે શ્રીમહાપ્રભુજી સર્વસ્વ સમર્પણાત્મિકા સેવા + ગુણગાન રૂપા મુખ્ય સાધનાનો ઉપદેશ કરી રહ્યા છે ત્યારે આપની સામે એ ઉપદેશનો મુખ્ય અધિકારી અવ્યાવૃત્ત ગૃહસ્થ છે. અને તેથી સેવા-સમર્પણના ઉપદેશો પણ આપે એની યોગ્યતાને લક્ષ્યમાં લઈને આપ્યા છે. જેમ કોઈ કન્યા પરણ્યા પછી પોતાના પિતાનું ઘર, પરિવાર બધું છોડીને તેના પતિના ઘરને જ પોતાનું સર્વસ્વ સમજીને ત્યાં ગઈ હોય. પ્રભુ પણ જ્યારે આત્મનિવેદનદીક્ષાનો મન્ત્ર આપીને **"અસમર્પિતવસ્તૂનાં તસ્માદ્ વર્જનમાચરેત્"** આજ્ઞા કરી છે તો એમાં પ્રભુએ શું વધારે પડતું કહી દીધું છે? કોઈ કન્યા પરણીને સાસરે જાય તે વખતે એને એમ કહેવામાં આવે કે હવે પછી તારા પતિનું ઘર જ તારું ઘર છે, તારા પતિનો પરિવાર જ તારો પરિવાર છે, એ જ તારી સમ્પત્તિ છે, બીજું બધું પારકું જાણજે. તો એમાં શું અજુગતી વાત છે? પરણીને પિતાનું ઘર છોડીને સાસરે જનારી વધુને પણ આ વાત અતિશયોક્તિપૂર્ણ કે અમાન્ય નહીં લાગે. કેમકે એ સ્વયં એવી માનસિકતાથી, સ્વીકૃતિના ભાવથી, સમજ પૂર્વક એ પગલું ભરી રહી

છે. અને સાથે-સાથે એણે વિવાહની પરમ્પરામાં સર્વત્ર આવો જ વ્યવહાર જોયેલો છે. પણ સમસ્યા એ છે કે જે ઉચ્ચ ભાવનાના સ્તરે ઊપર શ્રીમહાપ્રભુજી અને શ્રીઠાકોરજી આત્મનિવેદન અને સમર્પણ ની વાત કરી રહ્યા છે એ ભાવનાના સ્તરને આત્મનિવેદન લેનાર પણ સમજવાનો પ્રયત્ન કરતો નથી કે આ મારો પ્રભુની સાથે અલૌકિક વિવાહ થઈ રહ્યો છે. અને આત્મનિવેદન આપનાર ગુરુ પણ એ બાબતમાં તદ્દન બેદરકાર છે. આ મુખ્ય કારણ છે કે આજે લોકોને પુષ્ટિમાર્ગના સેવા, સમર્પણ, અસમર્પિતત્યાગ વગેરે ઉપદેશો આકરા લાગી રહ્યા છે. તેથી જ જ્યારે નિષ્ઠાવિહીન પુષ્ટિમાર્ગીઓને આ ઉપદેશો સંભળાવવામાં આવે છે ત્યારે તેઓ બચાઓ, બચાઓ કહીને ભાગવા લાગે છે. વસ્તુતઃ તો એ લોકો પુષ્ટિમાર્ગી છે જ નહીં. આપણે એમને પુષ્ટિમાર્ગી માની લીધા છે. તેથી મને એમ લાગે છે કે લોકો સેવા-સમર્પણથી દુર એટલા માટે નથી ભાગી રહ્યા કે સેવા-સમર્પણની સાધના અઘરી છે. ઘણા ખરા લોકોનું દુર ભાગવાનું મૂળ કારણ એ છે કે તેઓને સેવા-સમર્પણની ભાવના અને સાધના ની ન તો સમજ છે કે ન તેના પ્રત્યે સ્વીકૃતિનો ભાવ છે. એવા લોકો તો પુષ્ટિમાર્ગથી દુર ભાગી જાય એમાં માર્ગનું હિત જ છે.

આમ છતાં શ્રીમહાપ્રભુજીએ એવા લોકો માટે પણ અનુકલ્પો બતાવ્યા છે કે જેઓ વર્તમાનમાં ભલે માર્ગીય સિદ્ધાન્ત અનુસાર આદર્શ સેવા-સમર્પણની સાધના ન કરી શકતા હોય પણ શરણાગતિ અને આત્મનિવેદન ની ભાવના એમનામાં માર્ગાનુસારી અત્યન્ત શુદ્ધ હોય. દા.ત. નિબન્ધમાં આપ આજ્ઞા કરે છે કે **"એકકાલં દ્વિકાલં વા ત્રિકાલં વાપિ પૂજયેત્"** માં જે અવ્યાવૃત્ત છે તેના માટે આપે બહુકાલસાધ્ય અષ્ટયામ સેવા પણ બતાવી છે. અને જે વ્યાવૃત્ત છે, જેને લૌકિક સાંચવવાનું છે, વ્યવહારો સાધવા પરગામની યાત્રા પણ કરવી પડી શકે છે, વૈદિક પણ કરવાનું છે તેના માટે **"સર્વથા વૃત્તિહીનશ્ચેદ્ એકં યામં હરૌ નયેત્**. યામમાત્રં ભગવત્સેવાં વિધાય પશ્ચાદ્ અનિષિદ્ધેન ઉપાયેન જીવનં સમ્પાદયેત્" અલ્પકાલસાધ્ય સેવાનો પ્રકાર પણ ઉપદેશ્યો છે. એટલે શ્રીમહાપ્રભુજી આવી વ્યક્તિની પરિસ્થિતિથી સારી રીતે વાકેફ છે કે જેને યાત્રા-પરગામ જવાનું થાય એના માટે સાક્ષાત્ ભોગ ધરીને ખાન-પાન કરવું

બધે શક્ય ન બને. આવી સ્થિતિમાં સેવા કરનારે **"असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्"** અને **"निवेदितैः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद्"** આ બે આજ્ઞાઓનું પાલન કેવી રીતે કરવું એ સમ્બન્ધમાં ઉપદેશગ્રન્થોમાં કોઈ પણ પ્રકારનું માર્ગદર્શન કણ્ઠોક્ત પ્રકારે મળતું નથી. પરન્તુ વાર્તા-વચનામૃત અને પરમ્પરા માં આવી સ્થિતિમાં શું કરી શકાય અથવા આવી સ્થિતિમાં ભગવદીયો પોતાનો વ્યવહાર કેમ સાંચવતા હતા એના ઉલ્લેખો મળી રહે છે.

આ સમ્બન્ધમાં આદર્શ સ્થિતિ જો વિચારીએ તો **'સમર્પિત'** એટલે જેનું નિવેદન કરવામાં આવ્યું છે તેનો પોતાના સેવ્ય પ્રભુની સેવામાં વિનિયોગ કરવો અને તે પછી જે મહાપ્રસાદ તરીકે પ્રાપ્ત થાય તેનાથી પોતાના સર્વ કાર્યો કરવા. પ્રભુને નિવેદન કેવળ પોતાની સત્તાનું કરવામાં આવે છે. તેથી સમર્પણ પણ કેવળ પોતાની સત્તાનું જ પ્રભુને કરી શકાય. તેથી 'સમર્પિત' અથવા **'समर्पितप्रसाद'** પણ એ જ કહેવાશે કે જે પોતાની સત્તાનું હોય અને જેનો વિનિયોગ પોતાના ગૃહસ્થિત સેવ્યપ્રભુની સેવામાં કરવામાં આવ્યો હોય. આ સિવાયનું બધું તેના માટે **અસમર્પિત** ગણાશે કે જેના ત્યાગની આજ્ઞા કરવામાં આવી છે. પછી એ પ્રસાદ એના પિતાના ઘરનો હોય, ભાઈના ઘરનો હોય, ગુરુના ઘરનો હોય, મંડાણનો હોય કે પછી કોઈ મરજાદી-બિનમરજાદી વૈષ્ણવના ઘરનો હોય. આ સ્થિતિમાં જો સિદ્ધાન્તરહસ્ય ગ્રન્થના પરિપ્રેક્ષ્યમાં વિચારીએ તો જે પ્રસાદ **'समर्पित'** નથી, એટલે કે પોતાની સત્તાની સામગ્રી પોતાના ગૃહસ્થિત સેવ્યપ્રભુને સમર્પિત કરવામાં આવી નથી તે બધું 'असमर्पित' કહેવાશે અને એ આદર્શ રૂપમાં ત્યાજ્ય છે. શ્રીગોકુલનાથજીના સેવકનો પ્રસિદ્ધ પ્રસંગ છે કે શ્રીગોકુલનાથજીના જન્મદિવસે આપ સ્વહસ્તે બધા વૈષ્ણવોને પ્રસાદ લેવડાવી રહ્યા હતા ત્યારે તે સેવકના આંખમાંથી આંસુ સરવા લાગ્યા. કારણ પૂછતાં તેણે જણાવ્યું કે મારા ઘરના ઠાકોરજી આ સામગ્રી આરોગ્યા નથી તો એ મારાથી કેમ લેવાય! આ પરથી એવું જણાય છે કે જેમ પ્રાચીન કાલમાં પત્નીઓ પતિની થાળીમાં જમવાનો આગ્રહ રાખતી, તે સિવાય ન જમતી તેમ ભક્તિમાર્ગમાં પણ **"उच्छिष्टभोजिनो दासाः"** ન્યાયે પોતાના સેવ્યના ઉચ્છિષ્ટથી જ પોતાના દેહનું પોષણ થાય એવો ભાવ સેવાકર્તા ના મનમાં રહે એ

અભિનન્દનીય જ નહીં પણ આવશ્યક પણ મનાયું છે. જેનાથી આ નભી શકે એનાથી ઉત્તમ તો કંઈ જ નથી. પણ જેનાથી આવું નભી ન શકે તે એ કારણે સેવા કરવા લાયક જ ન ગણાય એટલું અનિવાર્ય આ મનાયું હોય એવું પણ લાગતું નથી. કેમકે જો આ વ્યવહાર એટલો બધો અનિવાર્ય મનાયો હોત તો શ્રીમહાપ્રભુજીના કાલમાં જ દરેક સેવાકર્તાને આ પ્રકારે અનુસરવામાટે ફરજ પડાઈ હોત. પરન્તુ પ્રાચીનોના વ્યવહારને જોતાં એવું લાગતું નથી. તે સમયે વૈષ્ણવો એક-બીજાને ત્યાં આવતાં-જતાં કે પ્રસઙ્ગો પર પ્રસાદ લેતા હતા. ઘણા વૈષ્ણવો કે જેમનું ગામ અડેલ-ગોકુળના રસ્તા પર આવેલું હોય તેઓ તો પોતાના ઘરમાં આવતાં-જતાં વૈષ્ણવોને રોકાવાની અને પ્રસાદ લેવાની ખાસ સગવડ પણ રાખતા હતા. શ્રીગુસાંઈજી જાતિવ્યવહારમાં ભોજન કરતા હતા એવો ઉલ્લેખ મળે છે.

વલ્લભકુળમાં ઘણા વર્ષોથી બે-બે રસોડાં, એક ઠાકોરજીનું અને એક તેનાથી જુદું, એવી વ્યવસ્થા જોવા મળે છે. મૂળમાં આવી વ્યવસ્થા જુદી ઊભી કરવા પાછળ કોઈ દુરાશય નહીં હોય. પરન્તુ આજે તો એ વ્યવસ્થા ચટાકેદાર ગરમાગરમ વાનગીઓ ખાવા માટે અને મંદિરના હલકી કવોલિટિના સ્વાદ વિનાનું ભોજન કે જે મંદિરના કર્મચારીઓને પગાર પેટે આપવામાટે ફરજીયાત રાંધવું પડે છે અને મંદિરના ઠાકોરજીને ભોગ ધરવું પડે છે તે પ્રસાદને ખાવાથી બચવા માટેની વ્યવસ્થા રહી ગયી છે. પણ પ્રાચીન કાલમાં જ્યારે આવી જુદી રસોડાની વ્યવસ્થા ઊભી કરવી પડી હશે એના પાછળનું કારણ મોટા પરિવારના લૌકિક વ્યવહારોને ચલાવવા માટેનું હશે. પરિવાર મોટો હોય, પરિવારમાં વૃદ્ધ-બીમાર-બાળક બધા જાતના લોકો હોય. સ્કૂલ-નોકરી-ધંધા વગેરેના સમય સેવાના ક્રમના અનુકુળ ન હોય, સેવાનો ક્રમ વિસ્તૃત-વિધિસરનો હોય. આવામાં પ્રભુને સાક્ષાત્ સમર્પિત થયું હોય એવા પ્રસાદથી ખાન-પાનાદિ વ્યવહાર ચલાવવા શક્ય ન રહી જાય. અને જો સાક્ષાત્ સમર્પિત પદાર્થોના ખાન-પાનનો આગ્રહ રાખવામાં આવે તો સેવામાં પણ વિક્ષેપ થાય. તેથી, આવી સ્થિતિમાં લૌકિક વ્યવહારને પાર પાડવા માટે અને પ્રભુસુખને સાંચવવા માટે સમર્પણની રેંજને થોડી મોટી કરીને પ્રભુની આજ્ઞા લઈને જુદિ વ્યવસ્થા કરવામાં આવી હોય એવું બની શકે છે. શ્રીપુરુષોત્તમજી પણ

આવી છૂટ આપતાં સમજાવે છે કે જો વિવાહાદિ પ્રસઙ્ગોમાં જ્ઞાતિભોજ માટે બનતી રસોઈનું સાક્ષાત્ સમર્પણ શક્ય ન બને તો આપણા ઘરના પ્રભુની આજ્ઞા લઈને જો તે વ્યવહાર પાર પાડવામાં આવે તો એને પણ સમર્પણ જ સમજવું. આ જો કે અનુકલ્પ છે પણ જે વિષમ સ્થિતિમાં સેવા કરી રહ્યો છે એના માટે અત્યન્ત ઉપકારક ઉપાય છે. વલ્લભકુળમાં આ વ્યવસ્થા કલંકિત ત્યારે બની કે જ્યારે એ અલગ રસોડાની રસોઈ આરોગવામાટેના તપેલીના ઠાકોરજી જુદા બિરાજતામાં આવ્યા. જો આ ગોટાળો ન થયો હોત તો જુદિ રસોઈની વ્યવસ્થામાં કોઈ દૂષણ ન હતું. તાત્પર્ય એ છે કે સાક્ષાત્ સમર્પણ શક્ય ન બને ત્યારે નિવેદન કરીને વ્યવહાર ચલાવવાનો અનુકલ્પ સિદ્ધાન્તસમ્મત છે. શ્રીપુરુષોત્તમજીએ આ અનુકલ્પ એટલા માટે જ બતાવ્યો છે કે જે સેવાકર્તા સમર્પણના આદર્શ પ્રકારને અનુસરવા માંગે છે અથવા અનુસરી રહ્યો છે તેના જીવનમાં ક્યારેક વિષમ સ્થિતિ આવી પડે તો તેવી સ્થિતિમાં એ માર્ગમાં કેમ ટકી રહી શકે અને એની સમર્પિત રહેવાની ભાવના ખંડિત ન થઈ જાય. તેથી શ્રીપુરુષોત્તમજીએ સિદ્ધાન્તરહસ્યની ટીકામાં જે અનુકલ્પો બતાવ્યા છે તેનાથી સમર્પણના સમ્બન્ધમાં પેદા થતી બધી વ્યાવહારિક સમસ્યાઓનું સમાધાન મળી રહે છે. એનાથી વધારે સૈદ્ધાન્તિક સ્પષ્ટતા કરવાની આવશ્યકતા જણાતી નથી.

असित शाह : रसिकभाईने अपनो पेपर सिद्धान्तरहस्यकी लाईट्में लिख्यो है. पर वाके अलावा भी मेरे हिसाबसुं वामें अपेक्षित है. प्रतिबन्धको विचार करें तो श्रीमहाप्रभुजीके पूर्व भी सभी साधनाप्रणालीमें ये विचार कियो गयो है. साधनामें लोग कैसे विरत हो जावे हैं वाके सम्बन्धमें जनरली चार बातें बतायी जाय है : लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद. विक्षेप तो श्रीमहाप्रभुजीने वैसे ही लियो है के जैसे दूसरे लेवे हैं. विक्षेप माने इन्द्रियन्के कारण होतो विक्षेप. और भोगकी बात रसास्वादसुं रिलेटेड् है. जब अपन कोई साधनामें प्रवृत्त होवें तो वामें आनुषंगिक या अवान्तर फल मिल जावे तो वामें ही अपनकुं इतनो आनन्द आ जावे के अपन अपने साधनाके पथसुं विरत हो जावें. या तरहके प्रतिबन्धकुं रसास्वाद कह्यो जाय है. हर साधनामें लोगन्ने वाकुं अपने-अपने तरहसुं डील् कियो है के

रसास्वादरूपी प्रतिबन्धसुं अपन कैसे बच सकें. यहां तो समर्पणको विषय है. पर वाके अलावा भी श्रीमहाप्रभुजी बतावे हैं के "**ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं, ब्रह्म ततो अतिरिच्यते अतो न तत्र आसक्तिः कर्तव्या**". इन्द्रियसुं अनुभूत होते विषयके बारेमें अपनकुं कैसी सावधानी रखनी चहिये समर्पणके कारण. वाके अलावा अपने स्वजनमें भी आसक्ति नहीं करनी चहिये. ये सब बात भी आलेखमें आनी चहिये.

धर्मेन्द्रसिंह झाला : रसिकभाईने जो प्रश्न उठायो वामें क्रिया और भाव ऐसे दो बातें करी है. क्रियामें कुछ गड़बड़ी बई तो भाव सम्हाल लेगो. भावमें कमी आई तो क्रिया वाकुं सम्हाल लेगी. वामें एक ओर बात ज्ञानकी है. जैसे "चिन्ताकापि न कार्या" कहने पर, श्रीगुसांईजी आज्ञा करे हैं, स्वच्छन्दता आ जायेगी. क्योंके लौकिकगति नहीं होयगी फिर तो सब छूट मिल गयी! ऐसो नहीं होवे वाकेलिये श्रीमहाप्रभुजी तुरन्त आज्ञा कर रहे हैं के "निवेदनन्तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः". तो क्रिया-भावके साथ तीसरी बात निवेदनको स्मरण करनो भी है. जो निवेदन कियो है वाके स्वरूप-भावना-अर्थ आदिको ज्ञान ही नहीं है के अपनने क्या कह्यो, क्या कियो. तो जो निवेदनकुं जी रह्यो होवे वाके संग मिलके निवेदनको स्मरण करे तो क्रिया-भावमें जहां-जहां कमी आयेगी वाकी पूर्ति हो सकेगी. यासुं ये तीसरो पक्ष ज्ञानको है जाकुं वामें जोड़नो जरूरी है.

પુષ્ટિમાર્ગીય ભક્તિસાધનામાં પ્રતિબન્ધક : અત્યાગ્રહ

(ભગવત્સેવાના સન્દર્ભમાં)

પરેશ શાહ

ઉપક્રમ :

લૌકિક સિદ્ધિના હેતુવશ કહેવાય છે કે જેમ "ઉપાયાન્ ચિન્તયેત્ પ્રાજ્ઞઃ અપાયાન્ અપિ" માં જેટલો ઉપાયનો વિચાર જરૂરી છે એટલો જ અપાયનો પણ અથવા દેહની સ્વસ્થતાના હેતુવશ પથ્યાપથ્યના વિચારમાં પથ્યના જેટલો જ અપથ્યનો વિચાર આવશ્યક છે. આવશ્યકતા ત્યારે જ જણાય જ્યારે અનિષ્ટ હોવાનું જ્ઞાન અથવા અનર્થનું નિશ્ચિત હોવાનું ભાન થાય. (શ્રીપુરુષોત્તમજી-સિ.મુ.) તેથી પુષ્ટિભક્તિની સિદ્ધિનેમાટે અથવા સ્વસ્થ સાધનાના હેતુવશ સાધન વિચારની સાથે પ્રતિબન્ધનો વિચાર પણ અત્યાવશ્યક છે.

પ્રતિબન્ધનું સ્વરૂપ :

શ્રીપુરુષોત્તમજી સેવાફલમાં પ્રતિબન્ધનું સ્વરૂપ બતાવતાં કહે છે :

"પ્રતિલક્ષણે પ્રાતિકૂલ્યે વા. બન્ધ બન્ધને. સો અત્ર સેવાયાં રુચૌ સત્યામપિ શરીરાદિસામર્થ્યે સત્યપિ સેવાકરણકાલે લૌકિકવૈદિકકાયિકાદિવ્યાપારરૂપો બાહ્યસેવા સામાનાધિકરણ્યાત્ તદ્વિરુદ્ધસામગ્ર્યાત્મકઃ તત્સ્વરૂપ પ્રતિબન્ધકઃ કાદાચિત્કઃ".

પ્રતિલક્ષણમાં અથવા પ્રાતિકૂલ્યમાં, બન્ધ એટલે બંધાઈ જવું. સિદ્ધાંતમુક્તાવલ્યાદિ ગ્રન્થમાં નિરૂપિત સેવાના કારણ લક્ષણ (તત્સિદ્ધયે તનુવિત્તજા) કાર્ય લક્ષણ (કૃષ્ણસેવા સદા કાર્યા) સ્વરૂપ લક્ષણ (ચેતસ્તત્પ્રવણં સેવા) અને પ્રયોજન લક્ષણ (માનસી સા પરા મતા) થી વિરુદ્ધલક્ષણ હોવાથી તેને પ્રતિલક્ષણ જાણવું અથવા સેવાનિર્વહનમાં પ્રતિકૂલતા આવવી તે પણ પ્રતિબન્ધ કહેવાશે. જેમ આપણે કોઈકને વેતન તરીકે પૈસા આપીને સેવા કરાવીએ તો ચિત્તમાં અહંકાર વધે છે કૃષ્ણપ્રવણતા નહીં. તેવી સેવા સેવાના સાધનલક્ષણ અને સ્વરૂપલક્ષણ થી વિરુદ્ધ હોવાને કારણે પ્રતિલક્ષણ કહેવાશે. સેવાકરણકાલમાં (આત્મનિવેદનની દીક્ષા પછી) લૌકિકવૈદિક કાયિકાદિની કાર્યાસક્તિ બાહ્યસેવાનો સામાનાધિકરણ્ય હોવાથી સેવાથી

વિરુદ્ધસામગ્રી સેવાસ્વરૂપનું પ્રતિબન્ધક થશે. જેમ લૌકિકાવેશ ચિત્તને પ્રભુમાં પ્રવણ થવા નહીં દે તો સેવાનું સ્વરૂપલક્ષણ નહીં નીભે અને લૌકિકાવેશ પ્રતિબન્ધક થશે.

પ્રતિબન્ધનું વર્ગીકરણ 'સેવાફલ' અને 'સર્વનિર્ણય' ના આધારે :

શ્રીમહાપ્રભુજી વિરચિત 'સેવાફલ' અને 'સર્વનિર્ણય' ને આધારે પ્રતિબન્ધનું સ્વરૂપ નીચે મુજબ લાગે છે.

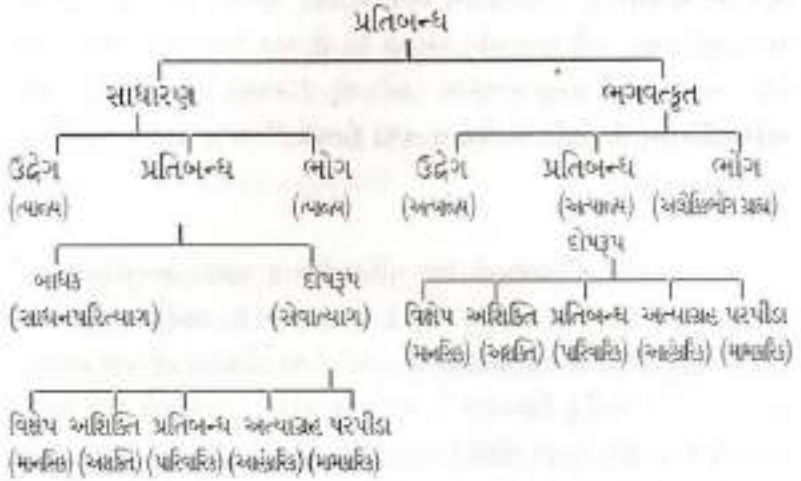

ઉપરોક્ત વર્ગીકરણના આધારે 'અત્યાગ્રહ' એ દોષરૂપ પ્રતિબન્ધક હોવાથી શ્રીમહાપ્રભુજીએ તેવા પ્રતિબન્ધમાં સેવાત્યાગની આજ્ઞા આપી છે.

અત્યાગ્રહનો ગ્રન્થ સન્દર્ભ અને અત્યાગ્રહનું સ્વરૂપ :

શ્રીમહાપ્રભુજી 'સર્વનિર્ણય'માં આજ્ઞા કરે છે કે

"ગ્રહસ્થાનામપિ પૂજાયાં પઞ્ચદોષ સમ્ભવે પર્યટનમેવ શ્રેષ્ઠમ્ ઈતિ આહ વિક્ષેપાદ્ ઈતિ.

વિક્ષેપાદ્ અથવાશક્ત્યા પ્રતિબન્ધાદપિ ક્વચિત્ ।
અત્યાગ્રહપ્રવેશે વા પરપીડાદિસમ્ભવે ।।
તીર્થપર્યટનં શ્રેષ્ઠં સર્વેષાં વર્ણિનાં તથા ।।૨૪૭।।

ગ્રહસ્થને સેવામાં પાંચ પ્રકારના દોષ સમ્ભવી શકે છે : 'વિક્ષેપ

[1]અશક્તિ [2]પ્રતિબન્ધ [3]અત્યાગ્રહ [4]પરપીડા —આવા દોષ જો હોય તો સેવાનો ત્યાગ કરવો.

ઉપરોક્ત દોષો સેવામાં પ્રતિકૂળ કે પ્રતિલક્ષણરૂપ હોવાથી તે સેવા ભગવદ્ગામિની ભગવત્સુખાર્થ કે ભગવત્સ્નેહવર્ધક ન હોવાથી સેવાત્યાગનું કથન છે. આમાં અત્યાગ્રહ એ 'આહંકારિક' સમસ્યા છે જેનું સ્વરૂપ શ્રીમહાપ્રભુજી સમજાવે છે **"स्वस्य वा परम आग्रह उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति"**. સેવાકર્તાને એવો મૂઢાગ્રહ બન્ધાઈ જાય છે કે સેવામાં ભગવાનથી ભિન્ન બધી વસ્તુઓનું સ્મરણ રહે છે પણ ભગવાનનું સ્મરણ રહેતું નથી એજ વાત શ્રીપુરુષોત્તમજી કહે છે **"स्वस्य वा इत्यादि. यथा अस्मदादिनाम् उत्कटादि आवेशात् तथा ईत्यर्थं."** જેમ પોતાના ઉશ્કેરાટને કારણે થતી સેવા.

ગોસ્વામી શ્રીશ્યામમનોહરજી પુષ્ટિઅસ્મિતા ગ્રાનમાં અત્યાગ્રહનું સુંદર દૃષ્ટાન્ત આપે છે *"આ તો કેવું થયું કે જાનમાં ગયેલા જાનૈયાઓ નાચવામાં એટલા મશગૂલ થઈ ગયા કે વરરાજા ઘોડા પરથી ગબડી પડ્યો તો પણ નાચવાનું ચાલું રહ્યું."* (ધર્મીનું વિસ્મરણ) આ વાત બીજા ઉદાહરણથી પણ સમજી શકાય જેમ પત્નીએ નિયમ લીધો કે પતિને લેવડાવીને જ લેવું પણ તકલીફ ક્યારે થાય કે જ્યારે પત્નીને જે કાંઈ ખાવા-પીવાની ઇચ્છા થાય તે પતિને ત્રાસ થાય છે કે સુખ થાય છે તેની પરવા કર્યા વગર તેને લેવડાવી દેવું. (તત્સુખનો ત્યાગ અને અહંકારમૂલક ધર્માચરણની વૃત્તિ)

તેથી સંસ્કાર જો સંસ્કાર્યનો નાશ કરે અથવા જો દ્રવ્યવિઘાતક થઈ જાય તો સંસ્કાર નિરર્થક થઈ જાય છે. સેવા સંસ્કારરૂપ હોવાથી જો લૌકિક અહંતા-મમતા ભગવદ્દાસત્વમાં પરિણત ન થતી હોય અને તામસિક વૃત્તિમાં પનપતી હોય તો તેવી સ્થિતિમાં સેવા ત્યાગની આજ્ઞા આપી તીર્થપર્યટનાદિનો અનુકલ્પ શ્રીઆચાર્યચરણ બતાવે છે.

અત્યાગ્રહ ત્રણ રીતે સમ્ભવે :

વૃત્તિભેદથી અન્તઃકરણ ચાર પ્રકારનું છે મન બુદ્ધિ ચિત્ત અને અહંકાર. ચિત્ત શાન્ત સ્વચ્છ અને અવિકારી છે **"स्वच्छत्वम् अविकारित्वं**

शान्तत्वमिति चेतसः वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथाऽयां प्रकृतिः" (ભા.પુ.૩/૨૯/૨૨). જેમ વરસાદનું જળ પ્રથમ સ્વચ્છ હોય છે પણ ભૂમિનો જ્યારે સમ્બન્ધ થાય છે એમાં મલિનતાદિ દોષો પ્રાપ્ત થાય છે. તેવી જ રીતે ચિત્તને મન બુદ્ધિ અને અહંકાર ની વૃત્તિઓના સમાગમ થતાં એ મલિન થાય છે. વ્યક્તિની આહંકારિકવૃત્તિ ચિત્તમાં વિમૂઢતા લાવે છે. **"अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते"** તે વિમૂઢતા અત્યાગ્રહરૂપ દોષમાં પરિણમે છે. આ અત્યાગ્રહ ત્રણ પ્રકારે સમ્ભવે છે. [1]સહજ [2]આગન્તુક [3]પ્રતિક્રિયારૂપ.

(૧) સહજ અત્યાગ્રહ : વ્યક્તિનો અહંકાર નિરપેક્ષ હોઈ શકતો નથી. તે અહંકારની વૃત્તિ આનુવંશિક અથવા પરિવાર ને કારણે પ્રાપ્ત થાય છે. મકોડાને ગમે તેટલીવાર તેના ટ્રેક પરથી ખસેડો તે જ્યાં હશે ત્યાં પાછો આવી જશે. તેનું ઘડતર જ એવું છે કે તેનો ટ્રેક છોડતો નથી.

(૨) આગન્તુક અત્યાગ્રહ : દુઃસંગને કારણે પેદા થતો અત્યાગ્રહ આગન્તુક માનવો. કોઈ મહામરજાદી સાથેનો સત્સંગ (!!!)પ્રાપ્ત થાય અથવા ભવાડારૂપ ભાવભાવનાવાળાઓ સાથેનો સંગ. (એક ઝારીજી ભરતાં ૫-૧૦ મિનીટ થાય)

(૩) પ્રતિક્રિયારૂપ : આધુનિક ચિકિત્સાપ્રણાલીમાં આપણે જેને 'દવાનું રીએક્શન' કહીએ છીએ તેને પ્રતિક્રિયારૂપ માનવો. સેવા તો સેવકધર્મ છે તે સેવકત્વ અથવા દાસત્વના ભાવને પ્રબલીકૃત કરવા 'કૃષ્ણસેવા સદા કાર્યા' કહ્યું. પણ આહંકારિક પ્રતિક્રિયાને કારણે થાય શું ? 'દાસોઽહમ્' બોલે પણ 'દા' હળવાશથી બોલે અને 'સોઽહમ્'ની મજા આવતી હોય. દર વખતે અહંકારનો જ આનન્દ આવે. જેમ કથામાં આવે છે કે ગુરુજીના બે ચેલા રોજ રાત્રે ગુરુની ચરણસેવા કરે. એક ચેલો એક ચરણની સેવા કરે બીજો ચેલો બીજાચરણની. હવે થયું એવું કે ઊંઘમાં ગુરુજીનો એક પગ બીજા પગ ઉપર આવી ગયો એટલે જે ચેલો ગુરુજીના જે ચરણની સેવા કરતો હતો તેનો પગ નીચે આવી ગયો તેણે બીજા ચેલાને કહ્યું 'તારો પગ હટાવ' પેલો કહે 'મારો પગ ક્યાં છે ? ગુરુજીનો છે' પેલો કહે 'પગ કોઈનો પણ હોય હું જે પગની સેવા કરું તેના પર બીજો પગ ન જોઈએ'. બન્ને ઝઘડ્યા. પેલા ચેલાએ દંડો લઈને ઉપરવાળા પગ ઉપર મારી દીધો. બિચારા ગુરુજીની ઊંઘ ઉડી ગઈ કે શું ગોટાળો થયો ? સેવા કરતાં કરતાં અંગની મહત્તા વધારે છે કે અંગીની તેનો વિચાર જ ન રહ્યો.(येन तमसि

प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति)

ઉપરોક્ત 'અત્યાગ્રહ'ની વિવિધ સમ્ભાવના છે. ઈદમિત્થંતયા કોને કેવા પ્રકારનો અત્યાગ્રહ છે તે કહેવો મુશ્કેલ છે. પરિવારના કોઈ એક સદસ્યના અત્યાગ્રહને કારણે બીજાની સેવા છૂટી શકે છે. કોઈકનો સદાગ્રહ બીજાને અત્યાગ્રહ પણ લાગે. સેવાકર્તાને તેનો અત્યાગ્રહ ન લાગતાં સદાગ્રહ લાગે અને બીજાને તે અત્યાગ્રહ લાગે તે સહજ સમ્ભવ છે. ખોરાકની માત્રા કોણે કેટલી લેવી તેનો કોઈ નિયમ હોઈ શકતો નથી છતાં કોઈ અસ્વાભાવિક રીતે ખોરાક લે તો ચોક્કસ ચિકિત્સક પાસે લઈ જવો જોઈએ. તેવી જ રીતે વ્યક્તિનો સદાગ્રહ પરિવારની સહજતાને ભંગ કરનાર ન હોવો જોઈએ છતાં જો કોઈનો અત્યાગ્રહ થઈ જાય તો પરિવારના અન્ય સભ્યોની જવાબદારી છે કે તેને આચાર્યવચનોથી તેનું ભાન કરાવવું અથવા ગુરુ પાસે જવું. તેમ છતાં જો અત્યાગ્રહ ન છૂટે તો સેવા છોડી દેવી જોઈએ પરન્તુ મનમાં એ ભાવ હોવો જરૂરી છે કે મને ફરીથી સેવાની પ્રાપ્તિ થાય. અત્યાગ્રહ તત્કાલિન્ કે દીર્ઘકાલિક હોઈ શકે છે.

અત્યાગ્રહ-સાધારણ અને ભગવત્કૃત :

ઉપરોક્ત અત્યાગ્રહ સાધારણ હોવાથી તેનું નિવારણ શક્ય છે. તેના ઉપાયો આ આલેખમાં આગળ જણાવ્યા હોવાથી અત્રે ઉલ્લેખ કર્યો નથી. ભગવત્કૃત અત્યાગ્રહનો ગ્રન્થસન્દર્ભ પ્રાપ્ત ન હોવાથી સેવાફલના આધારે એટલું વિચારી શકાય કે તે દોષો અસાધારણ હોવાથી તેનું નિવારણ શક્ય નથી. ત્યાં એવી શંકા થાય કે જેમને દીર્ઘકાલિક અત્યાગ્રહ થયો છે તેને ભગવત્કૃત કેમ ન માનવો ? ત્યાં એટલું જ કહી શકાય કે જેમ વ્યાધિને કારણે પીડાતી વ્યક્તિને પીડામુક્ત અને સ્વસ્થ જીવનની આશા આપવી ઉચિત ગણાશે, નહીં તો મૃત્યુનું કારણ નિરાશા હશે વ્યાધિ નહીં. તેવી રીતે દીર્ઘકાલિક અત્યાગ્રહને કારણે છૂટતી સેવામાં એવું કહેવું વધારે ઉચિત રહેશે કે પ્રારબ્ધ અથવા ભગવદ્ઇચ્છાને કારણે હાલમાં સેવા પ્રાપ્ત ભલે ન હોય ભવિષ્યમાં એ પ્રાપ્ત થશે. ભગવત્કૃત ન કહેવામાં મુખ્ય તાત્પર્ય એ છે કે સેવા આધિદૈવિકી નથી.

વાર્તાપ્રસઙ્ગ :

<u>સેવાકર્તાની અહંકારને કારણે સેવા છૂટી</u>

શ્રીગોવિંદદાસ ભટ્ટાજી (૮૪-૧૧)ની વાર્તામાં-શ્રીગોવિંદદાસજી પોતે

સેવા કરી રહ્યા હતા અને શ્રીગોવર્ધનધરની પરચારગી પણ કરતાં પણ બધી સેવા અહંકારથી કરતાં. ભાવપ્રકાશમાં આજ્ઞા કરે છે "ગોવિંદદાસ ભટ્ટા તામસી હતે સો અહંકાર સોં કરતે. સ્ત્રીકો ત્યાગ હૂ અહંકારસોં કર્યો. મહાવનમેં હૂ ચોવીસ ટકાકી સામગ્રી નિત્ય કરતે. સો અહંકાર સોં કરતે. ઈહાં હૂ સગરી સેવા અહંકાર તે કરતે. શરીરકો કષ્ટ પાવતે. પરન્તુ સગરે સેવકનકોં નીચે કરિ દિયે. જો-મો બરાબર કોન કરેગો ? તાતે શ્રીગોવર્ધનધર કોં આછો ન લગતો. ત્યારે શ્રીગોવર્ધનધરે શ્રીઆચાર્યજીને ફરીયાદ કરી-'જો તિહારો સેવક મોકોં ખિજાવત હૈં'. ભાવપ્રકાશ-'જો અહંકારસોં બહોત સેવા કરત હૈં મોકોં ખિજાવત હૈં.' શ્રીમહાપ્રભુજીએ ગોવિંદદાસજીને શ્રીજીની રસોઈમાં મહાપ્રસાદ લેવાની આજ્ઞા કરી ત્યારે 'મહારાજ ! દેવઅંસ કૈસે લેહું ?' ત્યારે શ્રીમહાપ્રભુજીએ આજ્ઞા કરી કે 'હમારી રસોઈમેં મહાપ્રસાદ લેઉ' તબ ગોવિંદદાસ ફેરી અહંકાર કરી કહે 'ગુરુઅંસ કૈસે લેહું' ? તબ શ્રીઆચાર્યજી મહાપ્રભુનને કહી જો-'સેવા છોડી દેઉ.' ભાવપ્રકાશ-શ્રીનાથજીકે પહાં અહંકાર કિયે તબ સહજમેં સેવા છૂટી ગઈ. સો સેવા છોડી દીની પરન્તુ આજ્ઞા ન માની...શ્રીગોકુલનાથજીકોં અહંકાર પ્રિય નાહીં હૈ. તામસાનામ્ અધોગતિઃ. કાહેતેં અહંકાર દાસભાવમેં વિરોધી હૈ".

<u>પરિવારના સદસ્યના અત્યાગ્રહને કારણે કોઈ અન્ય સદસ્યની સેવા છૂટી</u>

પાર્વતીના બેટા રઘુનાથદાસ ની વાર્તામાં (૮૪- ૪/૩) - ભાવપ્રકાશમાં "મેરે ઠાકુરજી ઈનને મન લગાઈકે બસ કિયે હૈં સોં અબ મેં બસ કરોં". તાતેં પાર્વતીતે કહે, 'મેં ન્યારો હોઈકે સેવા કરુંગો." ભક્તપણાના અહંકારને કારણે માતાની સેવા છોડાવી. "પાછે રઘુનાથદાસ કછૂક દિન સેવા કરી. પાછે જ્ઞાન ભયો. જો-પાર્વતિકી સેવા અહંકાર કરિ છુડાઈ."

નિયમ અને અપવાદ :

દરેક નિયમ સાથે અપવાદ હોય જ છે. જેમ પક્ષી બે પાંખને કારણે ઉડી શકે છે તેમ નિયમ અને અપવાદની પાંખ દરેક સ્થિતિમાં હોય છે ચાહે તે સામાજીક આર્થિક ધાર્મિક પારિવારિક કોઈપણ સ્થિતિ યા વ્યવસ્થા હોય. 'અત્યાગ્રહે સેવા ત્યક્તવ્યા' એ નિયમમાં 'અત્યાગ્રહે સેવા કાર્યા' એ અપવાદ પણ આપણે ત્યાં છે પરન્તુ તેમાં શરત છે કે ત્યાં 'ભગવન્તમ્ એવ સ્મરતિ ન તુ અન્યઃ' આપણે ત્યાં પ્રસઙ્ગમાં આવે છે કે શ્રીગોવિંદરાયજીના પુત્ર શ્રીકલ્યાણરાયજીના લગ્નપ્રસઙ્ગમાં જ્યારે લગ્નમાટે પ્રસ્થાન કરી રહ્યા હતા ત્યારે

શ્રીગુસાંઈજીએ જોયું કે શ્રીગોવિંદરાયજીના આંખમાં આંસુ હતા ત્યારે આપશ્રીએ પૂછ્યું 'કેમ રડી રહ્યા છો ?' ત્યારે શ્રીગોવિંદરાયજીએ કહ્યું કે 'ઉત્થાપનનો સમય થયો છે' અને શ્રીગુસાંઈજીએ આજ્ઞા આપી કે 'આપ પધારો લગ્ન તો થઈ જશે'.

શ્રીમહાપ્રભુજીની વાણીનો સઙ્ગ છોડવાને કારણે થતી હાની :

અહંતાની સમસ્યા એટલી ગંભીર છે કે તે દોષરૂપ ન થઈ જાય અને 'દાસોઽહમ્' નો ભાવ પનપે તે હેતુથી શ્રીઆચાર્યચરણે અનેકાનેક ઉપાયો બતાવ્યા છે. **"યથા ગ્રહમ્ અવ્યાકુલં બહિઃ પૂજાયાં કર્તવ્યં તથૈવ હૃદયમ્ અવ્યાકુલં વિધેયમ્"**. સેવા કરવામાં ગૃહની વ્યાકુલતા દૂર કરવી આવશ્યક છે તેવીજ રીતે હૃદયની વ્યાકુલતા દૂર કરવી પણ આવશ્યક છે. (સા.પ્ર.૨૩૩ની ટીકા) **"સાપેક્ષમ્ અસમર્થં ભવતિ ઈતિ મૂલં ભગવદર્થે સ્થાપયિત્વા સાધનાભાવાદ્ વૈકલ્યં જાતમપિ નિવાર્ય ચિત્તં ભગવત્યેવ સ્થિરીકૃત્ય યથા પુત્રઃ પિતરિ માતરિ વા વિશ્વાસં કરોતિ તથા દૃઢવિશ્વાસો લૌકિકયુક્ત્યા યથૈવ પૂજા સિદ્ધ્યતિ તથૈવ કર્તવ્યમિતિ લૌકિકયુક્તિરેવ ઉપદિષ્ટા"**. બધી અપેક્ષાઓને છોડીને ભગવાનનેમાટે સ્થાપન કરીને સાધનાભાવથી પેદા થતી વિકલતાને નિવારી ચિત્તને ભગવાનમાં સ્થિર કરીને જેમ માતાપિતા પુત્રનું હિત વિચારે છે તેમ ભગવાન મારું હિત કરશે એવો દૃઢ વિશ્વાસ રાખીને લૌકિકયુક્તિથી જેવી રીતે સેવાસિદ્ધ થાય તેમ કરવું. (સા.પ્ર.૨૩૫-પ્રકાશ) **"અથ બાધકાનાં વિશેષમાહ "કૃષ્ણે સર્વાત્મકે નિત્યં સર્વથા દીનભાવના, અહંકાર ન કુર્વીત માનાપેક્ષાં વિવર્જયેત્"** (સા.પ્ર.૨૪૧) પ્રકાશ : **મનસિ સ્વસ્ય દીનતા ભાવનીયા...અન્યકૃતકાપમાનેઽપિ નાહંકારં કુર્યાત્"** બધાના આત્મરૂપ શ્રીકૃષ્ણમાં નિત્ય બધા પ્રકારથી દીનતાનો ભાવ કરવો અભિમાન ન કરવું અને માનની પણ અપેક્ષા છોડવી. પ્રકાશ- મનમાં સદા દીનતા રાખવી. જો કોઈ આપણું અપમાન કરે તો અહંકાર ન કરવો. ઉપસંહરતિ **"ગૃહસ્થસ્ય એતન્મુખ્યમ્ એવં કુર્વન્ સકુટુમ્બો ભગવત્સાયુજ્યમ્ અશ્નુતે"** (સા.પ્ર.૨૪૬) ગૃહસ્થને સેવા મુખ્ય છે. પહેલાં કહેલી રીત પ્રમાણે સેવા કરવાથી કુટુમ્બસહિત ભગવાનનું સાયુજ્ય પ્રાપ્ત થાય છે.

આ ઉપાયોને શોભાના ગાંઠીયાની જેમ મૂકી રાખવાથી લૌકિકઅહંતાનું સમ્પ્રસારણ સેવાકર્તામાં પણ થાય તે સ્વાભાવિક છે. ચિકિત્સક પાસેથી લઈ આવેલ દવાનું સેવન કરતાં કરતાં કુપથ્ય કે રોગવર્ધક નું એટલું સેવન કરવું કે દવા

નિરર્થક થઈ જાય ! જેવી રીતે પિત્તશામક દવાસાથે પિત્તવર્ધક આહાર દવાને નિરર્થક બનાવે છે.

સહજ ભક્તિ :

શ્રીઆચાર્યચરણ આજ્ઞા કરે છે **"...યથા લબ્ધોપચારકૈ."** (સા.પ્ર.૨૨૯) **યથાવદ્ મુખ્યતયા પ્રાપ્તૈઃ દ્રવ્યૈઃ ઉપચારાઃ"** (પ્રકાશ-૨૨૯) અનિન્દિત વૃત્તિથી તથા સહજ ઉપાર્જીત હોય તેવી ભગવત્સેવોપયોગી સામગ્રીથી ભક્તિપૂર્વક શ્રીકૃષ્ણનું ભજન કરવું. શ્રીપુરુષોત્તમજી આજ્ઞા કરી રહ્યા છે **"ઉપચારાશ્ચ શક્ત્યનુસારેણ"** તેથી સેવા સહજ હોવી જોઈએ. તે સેવામાં પરિવારની માર્ગની સહજતા હોવી જરૂરી છે. 'સહજ પ્રીત ગોપાલ હિ ભાવે.' જે ભાવ જે સુવિધા જે અપરસ જે રીતરિવાજનું જ્ઞાન જે પરિવારનો સહકાર જે સૌકર્ય મને મળી રહ્યું છે એના મુજબ હું પ્રભુની સેવા કરીશ. આવો સહજ સમર્પણનો ભાવ ભક્તિનો ભાવ છે. સેવામાં આ ભાવ ભૂલી જવાને કારણે સેવામાં પ્રતિબન્ધ કે દોષની સમ્ભાવના પેદા થાય છે.

સમસ્યા અને સમાધાન :

પૂર્વોક્ત દોષ સમ્ભાવનામાં સેવાત્યાગની આજ્ઞા કરીને શ્રીઆચાર્યચરણ અનુકલ્પ બતાવે છે. 'સેવા પ્રતિબન્ધક પાપો દૂર થાય તેનેમાટે તીર્થપર્યટન કરવું. 'તે ન થાય તો શ્રીભાગવતાશ્રય કરવો. 'તે ન થાય તો શ્રીપુરુષોત્તમસહસ્ત્રનામ ત્રિવિધનામાવલીનો આશ્રય કરવો. 'તે પણ ન થાય તો શરણાગત થઈને સહસ્ત્રનામાદિનો પાઠ કરતાં જ્યાં પૂજાપ્રવાહ હોય ત્યાં રહેવું.

શ્રીપુરુષોત્તમજી આવરણભંગમાં દોષસમ્ભાવના પૂર્વેનો જે ક્રમ બતાવે છે તે અત્રે અવિસ્મરણીય છે. પ્રથમ તો ભગવત્કૃપાનું અંકુરણ સ્વતઃ અથવા વૈષ્ણવના સઙ્ગથી ઉદ્બોધ થાય ત્યારે આ માર્ગમાં રુચિ થાય. પછી માર્ગ પ્રવેશની ઇચ્છા થાય. તે પછી કૃપાનું અઙ્કુરણ દૃઢ થાય ત્યારે બધા માર્ગથી ઉત્તમમાર્ગ લાગે. પછી દ્વારભૂત ગુરુદ્વારા ભગવાનને શરણે આવે. પછી સત્સઙ્ગથી શ્રીઆચાર્યચરણમાં અભેદ બુદ્ધિ થાય પછી સર્વોત્તમસ્તોત્રાદિના પાઠદ્વારા ગુરુસેવા કરે પછી ભગવદીયનો સઙ્ગ કરીને પૂર્વ રીતિ પ્રમાણે ભગવાનની સેવા કરે અને સ્વમાર્ગીય ગ્રન્થોનું અવલોકન-શ્રવણાદિથી પ્રતિબન્ધક નિવૃત્તિ હોય ત્યારે દોષ નિવૃત્તિ અને સેવાના ઉપયોગી ગુણોની

પ્રાપ્તિ થાય. એ ન્યાયે નીચે બતાવેલ સમસ્યા અને સમાધાનનો વિચાર કરેલ છે.

સમસ્યા :

(૧) અપરસનો અત્યાગ્રહ : (ક) પાણી પીવાલાયક ન હોય તો પણ બોરિંગના પાણીમાં કૂવાના જલની ભાવના કરીને તે જ પાણીથી નહાવું સામગ્રી કરવી ઝારીજીમાં વાપરવું. તેવું જો શક્ય ન થાય તો સેવા ન કરવી અથવા પરિવારનો સભ્ય સેવામાટે અનધિકારી થઈ જાય. (ખ) સેવામાં અમુક પ્રકારના કપડાંનો આગ્રહ. ઝભ્ભો-લેંઘો પહેરે તો અપરસ છોવાઈ જાય. (ગ) પોતનાથી શુદ્ધિ ન થાય. બધે ઠેકાણે જલથી જ ધોવું. પ્રભુ હાથમાં હોય અને દુર્વાસાના અવતાર બની જાય. પોતાને ભારરૂપ લાગતી હોવા છતાં અપરસનો અત્યાગ્રહ ન છૂટે. ક્યાંક ભીતર અપરાધભાવથી ગ્રસ્ત હોવાને કારણે.

આ તો ભક્તિમાં કેવી અ-પરસ છે કે ભક્તિનો અપ-રસ થઈ જાય તો પણ અપરસનો આગ્રહ બન્યો રહે નાચવામાં મશગૂલ જાનૈયાની જેમ. ઉપરના ઉદાહરણ તો ઉપલક્ષણાત્મક વર્ણિત છે. આજની હકીકત તો એ છે કે અપરસના આવા અત્યાગ્રહને કારણે વૈષ્ણવપરિવારના મોટાભાગના સભ્યો વૈષ્ણવપુત્ર થઈ ગયા છે. કદાચ હવે તો કથા એનાથી પણ આગળ નીકળી ગઈ છે કે વૈષ્ણવપુત્ર પણ નથી રહ્યાં.

સમાધાન : શ્રીઆચાર્યચરણ આજ્ઞા કરે છે **"स्वधर्माचरणं शक्त्या"** પોતાની શક્તિ અનુસાર વર્ણાશ્રમાદિ ધર્મનો નિર્વાહ કરવો. સાથે સાથે અતિવાદથી બચવામાટે આપ આજ્ઞા કરી રહ્યાં છો **"अधुना तु कलौ सर्वे विरुद्धाचार तत्परा:...अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा."** ત્યાં પણ કૃષ્ણભજનની મુખ્યતા છે અને ભક્તિમાર્ગાઙ્ગત્વેન વર્ણાશ્રમ નિભાવવો.

(૨) શૃંગારનો અત્યાગ્રહ : કોઈકને વળી શૃંગારનો અત્યાગ્રહ થઈ જાય, સ્વરૂપ નાનું હોય તો પણ સ્ટ્રક્ચર્ની જેમ બાતી ઘરીને પણ શૃંગાર તો ધરવા ભલે સ્વરૂપ ગાયબ થઈ જાય. પુસ્તકમાં લખેલ હોય તે પ્રકારે જો પ્રભુએ શૃંગાર ન ધર્યા હોય તો પ્રભુને ધારણ કરેલા શૃંગાર વડા કરી રીત અનુસાર જ શૃંગાર કરવા. કેમ ? હું શૃંગારી.

સમાધાન : **"यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैः आभरणैरपि...अलंकुर्वीत**

सप्रेम". (પ્રેમમૂલક અલંકરણ નહીં કે અહંકારમૂલક)

(૩) નેગ-ભોગનો અત્યાગ્રહ : પ્રભુના ભોગમાટે -આટલો નેગ તો ધરવો જ પડશે. આ સામગ્રીતો આ દિવસે જોઈશે જ. સામગ્રીતો મીઠીજ જોઈએ.(ભલે પછી કોઈ પ્રસાદ ન લે)

સમાધાન : **"सेवनं स्वयोग्यानुसारेण. न तु अल्पं बहु वा प्रयोजकम्"** (સ.નિ.૩૧૭) પોતાની યોગ્યતાનુસાર સેવા કરવી. સેવાના વિષયમાં અલ્પતા કે અધિકતા એ પ્રયોજક નથી. **"यद् यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः"** લોકમાં જે બધાને અભિલષિત હોય અને આપણને અત્યન્ત પ્રિય હોય તેવી વસ્તુ પ્રભુને ધરવી.

(૪) સેવાસમયનો આગ્રહ : કર્તાપણાના જોરને કારણે સવારથી સાંજ ઢોરની જેમ સેવા કરતા રહીએ અને બીજો પણ એ રીતે કરે તેવો આગ્રહ રાખે. સેવામાં આનન્દ ન આવે તો પણ સેવાનો સમયતો આટલો જ જોઈએ તેવી તામસિક મનોવૃત્તિ.

સમાધાન : **"એકકાલં દ્વિકાલં ત્રિકાલં વાપિ પૂજયેત્"** (સ.નિ.૨૩૭) જીતનો સ્નેહ હોય તિતની સેવા કરની.

ઉપરોક્ત સમસ્યા તો ઉપલક્ષણાત્મક વર્ણવી છે. આવી અન્ય અનેક સમસ્યા જેવી કે સમર્પિતનો અહંકાર દેખાદેખી ભક્તત્વની સ્ફૂર્તી વગેરે સેવામાં દોષ પેદા કરે છે. આ બધી 'અહંકારની દુર્ગન્ધ' છે તેવી દુર્ગન્ધ સાથે પ્રભુસન્મુખ થવું શ્રીમહાપ્રભુજીને રુચતું નથી. પ્રભુનો સ્વભાવતો અતિકોમલ છે. પૂર્વમાં કહેલ ઉપાયો ઉપરાન્ત અન્ય અનેક ઉપાયો શ્રીઆચાર્યચરણે ષોડશગ્રન્થમાં પણ નિરૂપિત કર્યા છે જેમકે **"अभिमानश्च सन्त्याज्य स्वाम्यधीनत्व भावनात्" "अतः अन्य विनियोगेऽपि चिंता का स्वस्य सोऽपि चेत्"** પરન્તુ તે વાણીરૂપ ઔષધનું સેવન ન કરવાને કારણે થતી હાનિ છે.

અત્યાગ્રહ છોડવાથી સેવાનિર્વહન શક્ય -વાર્તા પ્રસઙ્ગને આધારે :
શ્રીપદ્મનાભદાસજી ની વાર્તામાં (૮૪-૪) : તેમને નેગ-ભોગ-સામગ્રીનો

અત્યાગ્રહ ન કર્યો અને શ્રીમથુરાનાથજીને છોલામાં બધી સામગ્રીની ભાવના કરીને સ્નેહપૂર્વક આરોગાવી. "તબ શ્રીમથુરાનાથજીને કહી, મોકોં તેરો કિયો ભાવત હૈ. તાતેં જો ધરેગો સો પ્રીતિ તેં આરોગૂંગો".

બનીયાની બેટી ની વાર્તામાં (૨૫૨-૧૦૨) : પત્ની શ્રીગુસાંઈજીની સેવક હતી પણ પતિ રામાનન્દી હતા. સ્વરૂપ-શૃંગારનો અત્યાગ્રહ છોડી બન્ને સ્નેહ સંયુક્ત સેવા કરતા. 'પરિ વે જો કાર્ય કરે સો સ્નેહ સંયુક્ત કરે'.

સ્ત્રી-પુરુષ ગુજરાતના ની વાર્તામાં : વૈભવથી સેવા કરવાના અત્યાગ્રહમાં અલ્પકાલિન સેવા છૂટી છે અને તે જ વાર્તામાં અત્યાગ્રહનો ત્યાગ કરતાં સેવા નભી છે (૨૫૨-૧૫૯).

ઉપસંહાર :

શ્રીલાલુભટ્ટજી પ્રમેયરત્નાર્ણવગ્રન્થમાં કહે છે

"યથા 'નેહસ્થેયં બહુતિથં સન્ત્યુત્પાતાશ્ચ ગોકુલે' ઈત્યનેન પ્રાદુર્ભૂતભગવત્સુખાનુભવપ્રતિબન્ધકજ્ઞાને વસુદેવસ્ય કારણતા એવમ્ અત્રાપિ ગુરોઃ સકાશાત્ ભક્તિમાર્ગપ્રતિબન્ધકજ્ઞાનમ્".

જેમ શ્રીકૃષ્ણના લાલન-પાલનમાં આવતાં પ્રતિબન્ધકનું જ્ઞાન શ્રીવસુદેવજીએ નન્દરાયજીને કરાવ્યું તેવી રીતે હું જે પ્રભુસેવા કરી રહ્યો છું તેમાં પ્રભુનું સુખ થાય અને સેવામાં કયા કયા પ્રતિબન્ધ આવી શકે તે પ્રતિબન્ધકને સમજવામાટે સેવાકર્તાએ ગુરુપાસે જવું. પણ તે આપણને આવશ્યક લાગતું નથી કે નથી તેની ચિંતા ભલે આપણી ભીતરના ભક્તિભાવને પૂતના હણી જાય. હું કરું હું કરું...જેમ શકટનો ભાર શ્વાન તાણે એવી આહંકારિક વૃત્તિથી ભક્તિભાવ કરમાઈ ગયો અને આત્મનિવેદન દીક્ષાની સુગન્ધ હણાઈ ગઈ. હું સેવાકર્તા, હું ભક્ત, હું મહામરજાદી, હું ટ્રસ્ટી, હું સમર્પિત, હું છપ્પનભોગ કરનાર, હું દર્શનાર્થી, હું ભાગવતકથાનું આયોજન કરનાર, હું વ્રજયાત્રાનું આયોજન કરનાર આવી અનેક પ્રકારની સેવાસ્વરૂપથી વિઅદ્વલક્ષણગ્રસ્ત વૃત્તિ પ્રભુની સાથે સાથે શ્રીમહાપ્રભુજીના માર્ગને પણ ડુબાડવા આમાદ્ય થઈ હોય તેવું લાગે છે ચાહે તે નાદસૃષ્ટિ હોય કે બિન્દુસૃષ્ટિ. આપણે ભગવાનની એ વાત ભૂલી ગયા **"ગૃહસુશ્રૂષણં મહ્યં દાસવદ્ યદ્ અમાયયા અમાનિત્વમ્..." "તદહં ભક્ત્યુપહૃતં અશ્નામિ પ્રયતાત્મનઃ" "પત્રં પુષ્પં ફલં તોયં યોમે ભક્ત્યા પ્રયચ્છતિ"** કારણ કે અહંકારે દાસભાવને હણી નાખ્યો. પ્રભુતો ભાવસાપેક્ષ છે

તેને આપણે વસ્તુ કે વ્યક્તિ સાપેક્ષ બનાવી દીધો પરન્તુ તે તો શ્રીમહાપ્રભુજીના માર્ગમાં ભ્રમણા જ છે. નાના બાળકની વયનો વિચાર કર્યા વગર ઉભા કરવાના કે ચલાવવાના આગ્રહમાં બાળકના શારીરિક વિકાસમાં અસ્વસ્થતા આવે તે સ્વાભાવિક છે તેવી રીતે ભક્તિનું સ્વરૂપ કે અવસ્થા નો વિચાર કર્યા વગર મૂકાતી ઘોટ અનિષ્ટ જ પરિણામ લાવે છે. શ્રીગોપીનાથજી આજ્ઞા કરે છે **"શ્રીમદાચાર્યપાદાબ્જ-રેણોર્ ન સ્મરણં ત્યજેત્, તત્ત્યાગે મહતી હાનિર્ માનુષ્યં નિષ્ફલં ભવેત્"** શ્રીમદ્યાચાર્યચરણકમલના રેણુનું ધ્યાન ક્યારે પણ ન છોડવું. તેના ત્યાગમાં મોટી હાનિ થશે અને આપણો નિષ્ફલ થશું. જે આજની હકીકત છે. શ્રીમદ્યાચાર્યચરણની વાણીરૂપ ચરણરેણુનું સ્મરણ છોડવાથી હાનિ થઈ છે. શ્રીમહાપ્રભૂપદિષ્ટ સાધનમાં નિષ્ઠા રાખવાથી નિશ્ચિતપણે અત્યાગ્રહાદિ દોષોથી બચી શકશું.

બુદ્ધિપ્રેરકકૃષ્ણસ્ય પાદપદ્મં પ્રસીદતુ

चर्चा

પુષ્ટિમાર્ગીય ભક્તિસાધનામાં પ્રતિબન્ધક : અત્યાગ્રહ

(ભગવત્સેવાના સન્દર્ભમાં)

શ્રીપરેશ શાહ

અસિત શાહ : તમે પેપરમાં આપેલી સારણીમાં સેવાફલોક્ત સાધારણ અને ભગવત્કૃત પ્રતિબન્ધમાં તમે વિક્ષેપ, અશક્તિ, પ્રતિબન્ધ, અત્યાગ્રહ અને પરપીડા ને લીધા છે. આ વર્ગીકરણ શેના આધારે કર્યું છે?

પરેશ શાહ : "सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्" આધારવાક્ય છે. સેવાફળમાં ઉદ્વેગ, પ્રતિબન્ધ અને ભોગ પ્રતિબન્ધો બતાવ્યા છે એ અલગ પ્રકારના છે. પણ મેં વિચાર્યું કે સર્વનિર્ણયની ૨૪૭ કારિકામાં પ્રતિબન્ધ બતાવ્યા છે એને સાથે કલબ્ કરી નાખીએ.

અસિત શાહ : મને એમ લાગે છે કે સેવાફળમાં કહેલું સાધારણ પ્રતિબન્ધ અને સર્વનિર્ણયમાં કહેલું પ્રતિબન્ધ તો એક વસ્તુ હોઈ શકે છે. પણ વિક્ષેપ, અશક્તિ, અત્યાગ્રહ અને પરપીડા એ, મારા હિસાબે, સેવાફળવાળા પ્રતિબન્ધના અન્તર્ગત આવતા નથી. કેમકે પરપીડામાં પ્રતિબન્ધ જેવું કંઈ નથી. પરપીડા થતી હોય છતાં લોજિકલિ સેવા ચાલુ રાખી શકાય છે. શ્રીમહાપ્રભુજી આવી સ્થિતિમાં "सेवा त्यक्तव्या" કહી રહ્યા છે. સેવા થઈ રહી છે તેથી 'त्यक्तव्या' કહી રહ્યા છે. પણ આ કેસ પ્રતિબન્ધનો નથી કે જેથી શ્રીમહાપ્રભુજીએ સેવા છોડવાનું કહ્યું હોય. સેવા તો પ્રાપ્ત છે પણ આવી સ્થિતિમાં સેવા કરવાથી એ સેવા શ્રીમહાપ્રભુજીને અભિપ્રેત પ્રકારે થઈ નથી શકતી તેથી છોડવાનું કહ્યું છે. તેથી મને એમ લાગે છે કે સેવાફલનું વર્ગીકરણ ઉદ્વેગ-પ્રતિબન્ધ-ભોગને આના ઉપર સુપરઈમ્પોઝ ન કરવું જોઈએ. સર્વનિર્ણયનું વર્ગીકરણ બીજા સન્દર્ભમાં છે. તેથી વિક્ષેપ, અશક્તિ, અત્યાગ્રહ અને પરપીડા ને સર્વનિર્ણયના રેફરન્સમાં જ વિચારવું જોઈએ સેવાફળના સાધારણ પ્રતિબન્ધના અન્તર્ગત ન લેવું જોઈએ.

પરેશ શાહ : પ્રતિબન્ધમાં બાધક અને દોષ રૂપ એમ બે પ્રકાર લીધા છે. બાધક

કહેતાં સેવાફલનો સન્દર્ભ છે અને દોષરૂપ ...આ પ્રતિબન્ધમાં પણ બન્ને કેટેગરી હોઈ શકે છે. જેમ સાધારણ પ્રતિબન્ધમાં પહેલા પણ વાત કરી કે કેટલાક અપરાધવાળા હોય. તો અપરાધ દોષરૂપ છે. અને બીજા સામાન્ય પ્રતિબન્ધો પણ હોય કે જે બાધક છે. બાધકમાં સેવાત્યાગનું કથન નથી. અને જે દોષરૂપ છે એની કેટેગરી બનાવીને વિચારીએ તો એમાં બે શક્યતા સાધારણ અને ભગવત્કૃત નો હોઈ શકે છે, સેવાફલની શ્રીમહાપ્રભુજીની પોલિસીના આધારે. તેથી મેં અહીં લઈ લીધું કે જે દોષરૂપ હોય ત્યાં સેવાત્યાગનું કથન લેવું. પરન્તુ એને સાધારણ માનવું કે ભગવત્કૃત તો મેં સેવાફલની પોલિસી એડૉપ્ટ્ કરી.

અસિત શાહ : દોષરૂપ તો ઉદ્વેગ, પ્રતિબન્ધ અને ભોગ ત્રણેય છે. માટે પ્રતિબન્ધમાં પાંચને લેવા જરૂરી નથી. બાધકરૂપતા પણ ત્રણેની છે.

પરેશ શાહ : દોષરૂપ એટલા માટે કે "गृहस्थानां पञ्चदोषसम्भवे...

રસિક શાહ : અત્યાગ્રહ આવી રહ્યું છે એટલે પેલાની સામે કોષ્ટક બનાવ્યું નથી.

અસિત શાહ : અત્યાગ્રહમાં પણ એ જ વાત છે. શ્રીમહાપ્રભુજી એને સેવા છોડવાનું કહી રહ્યા છે. એ તો અત્યાગ્રહ કાયમ રાખીને પણ સેવા કરી શકે છે. પણ એમ કરવાથી ભક્તિ સાઈડટ્રેક થઈ જશે અને એનો અહંકાર વધતો જશે જે શ્રીમહાપ્રભુજીને અનભિપ્રેત છે. એટલે આપ આજ્ઞા કરે છે કે સેવા છોડો. પણ ત્યાં પ્રતિબન્ધ નથી.

પરેશ શાહ : મને એમ લાગે છે કે દોષ અને બાધક માં કંઈક ભેદ છે. ઉદ્વેગ, પ્રતિબન્ધ અને ભોગ ને હું દોષ નથી માનતો બાધક માનું છું. બાધકના સાધનનો પરિત્યાગ છે અને દોષમાં અપરાધ છે. જેમ હૃદમાં જલ પડે તો પીવા લાયક રહેતું નથી એમ અહીં દોષરૂપ ગણવું જોઈએ. દોષ હોય તો સેવા ન કરવી.

અસિત શાહ : અત્યાગ્રહ એ આપણી ગર્હિત મનોવૃત્તિ છે. પણ અશક્તિ એવી વસ્તુ નથી. માણસ પોતે તો એવું વિચારતો હોય કે મારામાં એવી શક્તિ હોય કે હું સેવા કરી શકું. પણ વાર્ધક્ય આદિ કારણે તે એવું ન કરી શકે. તો દોષ એ શારીરિક અશક્તિ છે. એ દોષ કંઈ ગર્હિત દોષ નથી.

હિતેન્દ્ર શાહ : જેજે એ શરુઆતમાં પ્રતિબન્ધ અને અપરાધ એમ બે વાત બતાવી. પ્રતિબન્ધ એવી વસ્તુ છે કે જેનું નિવારણ થઈ શકે. અને દોષ એવી વસ્તુ છે કે જે અપરાધને કારણે તમારે શ્રીમહાપ્રભુજીની આજ્ઞા "सेवा त्यक्तव्या" શિરોધાર્ય કરવી તે સિવાય બીજો કોઈ પર્યાય જ

નથી. તેથી દોષને એમણે અપરાધ ગણ્યો હોય એવું લાગે છે કે જ્યાંથી પાછા વળવું ડિફિકલ્ટ છે. તેથી આવામાં સાવા છોડ્યા સિવાય છૂટકો નથી. એવું મને લાગે છે.

गो. श्या. म. : ''गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोषसम्भवे ...पूजा त्यक्तव्या''. असितने ये बात कही वो सच है के अशक्ति इतनो गर्हित दोष नहीं है. विक्षेप, अशक्ति, प्रतिबन्ध, अत्याग्रह या परपीडा होवे. जा व्यक्तिकुं कोई भी कारणसुं अपने धर्ममें निष्ठा है. ...जैसे एक प्रसिद्ध वचन है ''न जातु कामान् न भयान् न लोभाद् धर्म त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः''. काममें, भयमें, लोभमें और यहां तक के मरते हो तो मर जाओ पर धर्म मत छोड़ो. तो एक ओर धर्मकेलिये इतनो आग्रह है. ये उचित भी है. इनको सन्दर्भ अपनकुं विचारनो चहिये. पर साथ-साथ अपनी एक नीति है के अपन जो सेवा-भक्ति कर रहे हैं वाकुं धर्म नहीं मान रहे हैं ऐसो नहीं है. ''स्वस्यायमेव धर्मो हि'' धर्मतो निश्चित मान रहे हैं. पर श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के सेवाधर्मको आचरण भी अपनकुं धर्मनिष्ठासुं नहीं करके धर्मिनिष्ठासुं करनो चहिये. दो अतिवाद हैं. धर्मिनिष्ठाके कारण धर्मको अनाग्रह या धर्मको त्याग ये एक अतिवाद है. और धर्मको अत्याग्रह, ऐसो अत्याग्रह के **''भगवन्तमेव न स्मरति''**. ये धर्मिनिष्ठाके त्याग पूर्वक कियो जातो धर्माचरण है. ऐसो धर्माचरण करे हैं तो धर्मकी दृष्टिसुं वो शायद उत्तम बात हो सके है पर जहां भक्तिको प्रश्न है वहां श्रीमहाप्रभुजी बिदक जायेंगे. ये गड़बड़ हो गयी. क्योंके ऐसो धर्माग्रह जो अपनने ''कृष्णएव तात्पर्यम्'' विषय लियो हतो के कृष्णमें तात्पर्यसुं सेवा करी भी जा सके है और छोड़ी भी जा सके है. वो धर्मिनिष्ठाकी बात हती. श्रीहरिरायजीने भी 'पुष्टिमार्गलक्षणानि'में या बातपे भार दियो है के अपनो सारो आचरण धर्मिनिष्ठासुं है. **''स्वरूपमात्रपरता तात्पर्यज्ञानपूर्वकम्, धर्मनिष्ठा यत्र नैव पुष्टिमार्गः स कथ्यते''**. वार्तामें देखें तो धर्मिनिष्ठासुं किये गये अधर्माचरणकी भी कोई तरहसुं प्रशंसा करदी गयी है.

''भगवद्रूपसेवार्थम्''में सेवामें धर्म है और भगवद्रूपमें धर्मी है. यासुं धर्मी + धर्म ऐसे आ रह्यो है. अब पकड़नो इन दोनोनकुं एकसाथ है. पर दोनोंकुं साथ पकड़ते भये भी अपनी निष्ठा धर्मीमें

होनी चहिये. ये करीब-करीब ऐसी ही स्थिति है के जब विवाहमें हस्तमिलाप होवे है तब वो अङ्गनिष्ठासुं नहीं होके अङ्गीनिष्ठासुं होवे है. विवाह अङ्गनिष्ठासुं भी हो सके है. हाथ ही तो पकड्यो है! हाथ छोड़ दियो : तलाक तलाक तलाक. बस छुट्टी. अपने यहां अङ्ग या धर्मनिष्ठासुं धर्माचरण नहीं है, धर्मिनिष्ठासुं धर्माचरण है. जब धर्मिनिष्ठासुं अपन धर्माचरण कर हे हैं तब जहां धर्मिको स्वरूप विकृत होतो होवे, अनादर होतो होवे तो वहां सेवा अधर्मरूप बन जावे है. ये अपनो तात्पर्य है.

या सन्दर्भसुं परपीडाकुं सोचें तो मैं सेवा करतो होऊं वाके कारण मेरे परिवारको कोई व्यक्ति दुःखी होतो होवे तो वामें मेरो क्या गयो? पर श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट हैं के या तो तुम वा व्यक्तिकुं सेवामें पार्टी मत बनाओ. और यदि वाकुं पार्टी बनाते हो तो वाके आनुकूल्यको विचार करके बनाओ. वो भी तुम नहीं कर सको तो फिर तुम्हारे अंदर इतनी हिम्मत होनी चहिये के तुम वाको त्याग कर सको. पर उनकुं दुःखी रखके सेवा करनी वामें धर्मीको स्वरूप अपनने विकृत सोच्यो है के अपनो सेव्य शनीकी तरह तेलको दान मांग रह्यो है. वाकुं देनो ही पड़ेगो दशा लगी है करके. ऐसे ठाकुरजीकी अपनकुं दशा नहीं लगी है. अपनो धर्मी आनन्दस्वरूप है, सुखरूप है, क्लेशासहिष्णु है, कृपालु है. वाके स्वरूपको अपन या तो अस्वीकार कर रहे हैं या अभावन कर रहे हैं. या विचारके कारण यहां प्रतिबन्धकता है.

अशक्तिमें अपन सेवा कर रहे हैं तो कितनी बड़ी बात है. पर ऐसेमें अपन कहीं प्रभुके स्वरूपकी कठोरताको तो भावन नहीं कर रहे हैं!

यासुं इन पांच दोषनमें अपने नेचरमें कोई गलती नहीं है. क्योंके धर्ममें है तो वामें अपनी इतनी निष्ठा तो होनी ही चहिये के ''न जातु कामान् न भयान् न लोभाद् धर्म त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः''. पर यदि अपनो आग्रह अपन वा एक्सटेंट् तक कर हे हैं के धर्मी खुद कैंसल् हो रह्यो होवे तो ये बात ऐसे बरघोडा जैसी हो जायेगी के बरराजा घोडापेसुं गिर गयो है और बराती वासुं बेखबर होके नाचनेमें मस्त हैं. क्योंके नाचनो ही धर्म है. या स्थितिमें मोकुं

लगे है के ये पांच प्रतिबन्धमें प्रसक्त हो जायेंगे.

यामें देखनेवालेकेलिये सीन् कुछ ओर होयगो, भक्तकेलिये कुछ ओर और प्रभुकेलिये कुछ ओर सीन् होयगो. देखनेवालो ऐसो आग्रह कर सके है के ये अशक्तिमें सेवा कर रहे हैं या अत्याग्रहसुं सेवा कर रहे हैं या विक्षेपकेसाथ सेवा कर रहे हैं. यामें निर्णय ले पानो मुश्किल है. अपन कोईके ऊपर इनकुं लेके आरोप नहीं लगा सके हैं के कौन कैसे सेवा कर रह्यो है. अन्तरात्मा ही यामें प्रमाण हो सके है. पर फिर भी हर सेवाकर्ताकुं इतनी सावधानी बरतनी चहिये के श्रीमहाप्रभुजी जब सेवाकी आज्ञा या तरहसुं कर रहे हैं ... और यहां एक बात खास ध्यानमें रखनेकी है के न जाने क्यों यहां श्रीमहाप्रभुजीने 'सेवा'के बजाये 'पूजा' शब्द वापर दियो है! 'पूजा' यद्यपि 'सेवा' को पर्याय है पर मोकुं नहीं लगे है के यहां पर्याय होनेके कारण 'पूजा' शब्द वापर्यो है. सेवा अपन अपने बच्चाकी भी कर सके हैं, पत्नीकी भी कर सके हैं. और आगे जानो होवे तो अपन अपने पालतु घोड़ा, चिड़िया, बिल्ली, कुत्ता की भी सेवा करे ही हैं. पर उनमें सेवाकर्ताकुं पूज्यभाव नहीं होवे है. पूज्यभाव को मतलब है माहात्म्यज्ञानके सहित सेवा करनी जो भक्तिको एक अङ्ग है. अपने प्रभुको जो भक्तिमार्गीय माहात्म्य वर्णित कियो है वाकुं भूलके यदि अपन कुछ आचरण कर रहे हैं तो फिर प्रभुकी पूजा नहीं हो रही है, अपूजा हो रही है. या अर्थमें श्रीमहाप्रभुजीने 'पूजा' शब्द वापर्यो होनो चहिये. ऐसो मोकुं लगे है.

द्वितीयदिवसीय उपक्रम

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी

सेवा, भक्ति और प्रपत्ति में प्रतिबन्धके विचारके अन्तर्गत कल अपनने अज्ञान, चिन्ता, भोग और अत्याग्रह इन चार तरहके प्रतिबन्धपे लिखे आलेखन्पे विचार कियो. एक बात फिरसु आपके ध्यानपे लानो चाहूंगो के प्रतिबन्ध और अपराध के भेद कल अपनने देखे उनके अन्तर्गत फिर चाहे अज्ञान होवे, चिन्ता होवे, भोग होवे, चाहे अत्याग्रह होवे या आगे आनेवाले दूसरे भी प्रकार होवें उन सबके ये दो रूप तो निरन्तर होते जायेंगे. कल याकी चर्चाको अवकाश नहीं रह्यो हतो.

जब इनके प्रतिबन्ध और अपराध ऐसे दो रूप बने हैं तब ध्यान देनेकी बात ये है के प्रतिबन्धमें जब अपनो कर्तृत्व प्रकट होवे है तो वो अपराधको रूप ले लेवे है. और जिन प्रतिबन्धनमें कर्तृत्व प्रकट नहीं होवे है तो वो फिर अपराध भी क्यों न होवे, गाममें लोग वाकु अपराध कहते होंगे, पर टेक्निकली वो अपराध नहीं है, केवल प्रतिबन्ध है. ये बात साफ-साफ समझ रखनी चहिये. वाके निकष ध्यानमें रखने चहिये. अपनी सिस्टम्के तहत एक बात आपके ध्यानपे लानो चाहूंगो.

प्रतिबन्ध यदि स्वभावकृत है. मतलब, जैसे श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं : **"जीवाः स्वभावतो दुष्टाः"**. स्वभावतः दुष्ट होनो जीवको स्वकृत दोष नहीं है. वो तो वाको स्वभाव जैसो बनायो गयो है वामें दोष प्रकट हो रह्यो है. यदि स्वकृत दोषन्के कारण दुष्ट होतो तो "स्वभावतो दुष्टाः" नहीं कहके "जीवाः स्वकर्मतो दुष्टाः" कह्यो होतो. बात सीधी लगे है पर अपने धर्मकी खासीयत यामें रही भयी है.

वाकु समझो. आदमने फल खायो जाकी वाकु मनाई हती. ईश्वरकी आज्ञाके उल्लंघनके कारण वाको अधःपतन भयो. बायबल्के अनुसार अपन वा आदमकी सन्तानें हैं. आदमने ईश्वरसुं बहस करी है के तेनें मोकु जो जीवनसाथी दियो वाके आग्रहसुं मैंने फल खायो हतो. मेरी इच्छासुं मैंने फल नहीं खायो हतो. आदम ये कहनो चाह रह्यो हतो के फल खानो दोष हो सके है पर अपराध नहीं है. जब यहवाने ईवकु पूछी तो वाने कही के मोकु शैतानने उकसायो हतो के जो आपको फरिश्ता है. ईव भी अपनी रिस्पोन्सिबिलिटी

ट्रान्फर् कर रही है के मैने अपने बनते नहीं खायो है. यहवाने फरिस्ताकुं पूछी . उनके यहां फरिश्ता ऐसे हैं जैसे अपने यहां नारद, सप्तर्षि हैं. फरिस्ताने कही के तुमने याके पैर छूनेकी कही तो मैं याकी परीक्षा लेनो चाहतो हतो के ये वाके लायक है के नहीं! मैने तो याकी परीक्षा ली हती. अब याने फल खा लियो तो वामें मैं क्या करूं! तो यहवा फरिस्ताके ऊपर भी नाराज़ हो गयो. यहवाने कही के *यू विल् बी ट्रीटेड एज़ अ डार्क फोर्सिस्*. अब परिस्थिति बहोत उलझ गयी है के यामें आखिर जिम्मेदार कौन है! कहांसु आखिर ये अपराध पैदा भयो है! मुसलमाननमें ऐसे कह्यो जाय है : "ज़िन्दगी क्या है गुनहा ए आदम, ज़िन्दगी है तो गुनहगार हूं मैं". आदम और हौवा नहीं होवें तो अपन हो नहीं सके हैं. और उनकु श्राप भगवानने ये दियो के तुम ही नहीं तुम्हारी सारी सन्तति भी गुनहगार कही जायेंगी. अमने कोई अपराध नहीं कियो होवे, बस मांके पेटसुं जन्मे हैं. ये भी अपराध है बायबल्के अनुसार. अपराध अपनकु परम्परामें मिल रह्यो है. बात कहां जा रही है वापे ध्यान दो. अपने यहां आदमीकी उत्पत्तिमें ओरिजिनल् सिन् जैसी अपराधकी कोई धरणा नहीं है. अपने यहां क्या है? "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध-विपर्ययौ". अपने यहां उत्पत्तिमें अपराध नहीं है. पर एतावता प्रतिबन्ध नहीं है ऐसे तो नहीं कह सकेंगे. अपनेमें जो आनन्दको तिरोभाव भयो है, वाके कारण जो ऐश्वर्यादिको तिरोभाव भयो और वाके कारण जो अध्यासें पैदा भये हैं वो सब तो अपने यहां भी प्रतिबन्धक हैं ही. पर वाके बावजूद क्योंके वामें अपनो कर्तृत्व जुड़ नहीं रह्यो है करके अपन याकु अपराध नहीं मानें हैं.

कर्तृत्वके जुड़नेकी पहली शर्त ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न है. जिन प्रतिबन्धनकु अपन अपने ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न सुं उत्पन्न करें हैं वहां कर्तृत्व प्रकट होवे है. याके कारण वहां अपनो अपराध भी प्रकट होवे है. वहां केवल प्रतिबन्ध नहीं रहे है. याकी डेलिकेट् सिच्युएशन्पे ध्यान दो के कोई काममें अपनी इच्छा और प्रयत्न है पर ज्ञान नहीं है के या कार्यको परिणाम क्या होयगो, याको स्वरूप क्या है, याकु करनेके अपन अधिकारी हैं के नहीं हैं. जब अपनकु ज्ञान नहीं है और इच्छा-प्रयत्नसुं कोई कार्य अपनने कर दियो तो फिर अपन अपराधी नहीं हैं. जैसे मेने कोई फल मेरी इच्छासु खायो. मोकु ये ज्ञान नहीं है के वो दोषजनक है या गुणजनक. वो फल जहरीलो हतो. मैने वो खायो और मैं मर गयो. क्या मोकु आत्महत्याको पाप लगेगो? नहीं लगेगो. क्योंके मैने आत्महत्या करनेकेलिये फल नहीं खायो हतो.

अब इच्छाकु लो. कोई अपनसु अपनी इच्छाके विरुद्ध जबरदस्ती काम करवा रह्यो है. अपन जान रहे हैं के अपनेसु जो करवायो जा रह्यो है वो अपराध है. पर अपन विवश हैं. अब क्या होयगो? "**सर्वान् बलकृतान् अर्थान् अकृतान् मनुरब्रवीत्**". बलकृत कार्य अकृतवत् माने जायेंगे. फिर अपनो कर्तृत्व नदारद हो गयो.

मानो के ज्ञान और इच्छा दोनों है. पर अपनने अभी तक अपने ज्ञान और इच्छा के अनुरूप कोई प्रयत्न नहीं कियो है. समझो के घरको कोई वृद्ध व्यक्ति दारुण रुग्णावस्थामें तड़प रह्यो है. प्रायः लोग ऐसेमें इच्छा करते होवे हैं के मरे तो अच्छो, बिचारो बहोत तकलीफ पा रह्यो है. अब देखो, ज्ञान और इच्छा दोनों है पर जब तक अपन वाकु मारनेकी क्रिया नहीं करेंगे तब तक अपनकु वधको अपराध नहीं लगेगो. ऐसी इच्छा होनो बुरी बात है. पर क्योंके अपनो कर्तृत्व प्रकट नहीं भयो यासु अपराध नहीं मान्यो जायेगो. कोई ऐसो आक्षेप कर सके है के तुमकुं जाननो चहितो हतो के मरनेके बजाये ये बच कैसे सके. पर जाननेको उपाय आदमी तब कर सके है के जब वो जानतो होवे. जाननेकी सब सामग्री अपने अधीन तो है नहीं. तो अज्ञान भी कोई स्थितिमें प्रतिबन्ध है और कोई स्थितिमें अपराध भी हो सके है. अज्ञान अपराध वा स्थितिमें हो सके है के जामें अपनकु ये पता है के अज्ञान बुरी बात है, अपन ये चाह रहे हैं के अज्ञानसुं ही हमारो सब स्वार्थ सिद्ध होयगो. अपन प्रयत्न भी ऐसे ही कर रहे हैं के कोई भी तरहसुं ज्ञान प्रकट नहीं हो जाये. ऐसेमें अज्ञान भी अपराध है. वरना अज्ञान अपराध नहीं होके केवल प्रतिबन्ध है. ये बात जैसे अज्ञानपे लागू होयगी ऐसे ही चिन्तापे भी लागू होयगी, भोगपे भी लागू होयगी, अत्याग्रहपे भी लागू होयगी और ऐसे ही आगे आनेवाले कई तरहके विषयनपे लागू होयगी. ये बात या सन्दर्भमें समझ लेनी चहिये.

दूसरो विषय मैं आपकु प्रस्तुत चर्चागोष्ठीसुं सम्बन्धित नहीं है पर जनरल् पॉलिसीके तहत बता रह्यो हूं क्योंके अज्ञानको प्रश्न आयो हतो वा लिये. सामान्यतया कोई भी मत, फिर वो धार्मिक होवे, दार्शनिक होव, चिकित्सा संगीत या कला शास्त्रीय मत होवे, यदि कोई सिस्टम् ऑफ् थोट् है, बहोत सारे प्रपोज़िशन्सकी, तो वामें तीन व्यूह होवे हैं. प्रथम व्यूह **पदार्थविभाजन** माने केटेगरीज़ होवे हैं. दूसरो व्यूह उन पदार्थविभाजन **प्रतिपादन** होवे हैं. बहारके दर्शनमें सामान्यतया प्रतिपादन लक्षण-प्रमाणसुं होवे है. अपने यहां वाके स्थानपे शास्त्रवचन प्रतिपादक होवे हैं. अपन यहां

वाल्लभसिद्धान्तकी बात कर रहे हैं यासु आचार्यवचन प्रतिपादक माने जायेंगे. और इन दोके बीचमें एक प्रक्रिया होवे है. प्रक्रिया ये बतावे है के पदार्थनको समायोजन कैसे है, स्ट्रक्चर् कैसो है, उनकी परम्परा क्या है. दूसरी बात प्रक्रिया ये समझावे है के प्रतिपादक वचननको समायोजन कैसे करनो. उनमें भी हेयरार्की होवे है. जैसे श्रीमहाप्रभुजीने विविदिषादशाकी हेयरार्की बताई के **''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि, समाधिभाषाव्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्, उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम्, अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा''**. ये प्रक्रिया है. प्रमाणचतुष्टय है ये एक स्टेट्मेंट् है, प्रक्रियाकी बात नहीं है. पर इनकी प्रक्रिया पाछी ओर है. प्रक्रिया श्रीमहाप्रभुजीने बताई है : **''उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम्, अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा''**. प्रक्रिया जैसे पदार्थविभाजनकी होवे है ऐसे प्रतिपादक वचननकी भी प्रक्रिया प्रायः सभी व्यवस्थित सिस्टममें होवे है. प्रमाणकी प्रक्रियाको निरूपण श्रीमहाप्रभुजीने अनेकत्र कई तरहसुं कियो है. उनकुं अपन संकलित करें तो कई भ्रान्तियें दूर हो सके हैं. प्रक्रिया नहीं जाननेके कारण लोगनमें ऐसी बेवकूफी भरी भ्रान्ति फैल गई के श्रीमहाप्रभुजी चार प्रस्थान मानें हैं. अपने यहां प्रस्थानचतुष्टय है ही नहीं. ऐसे ही पदार्थविभाजनको ज्ञान होवे पर वाकी प्रक्रियाको ज्ञान नहीं होवे तो भी अनर्थ होवे है. यासु अपनकु केटेगरीज़ कितनी हैं वाको भी ज्ञान होनो चहिये और साथ-साथ उनको समायोजन कहां-कैसे हो रह्यो है वाको ज्ञान भी अपनकु होनो चहिये. ऐसे जब अपनकुं पदार्थविभाजन, प्रमाण और दोनोंको समायोजन कैसे होवे है या प्रक्रियाको भी सम्यक् ज्ञान होवे तो निर्णय व्यवस्थित हो सके. याही लिये अपने यहां लालूभट्टजीने 'प्रमेयरत्नार्णव' प्रक्रियाग्रन्थ लिख्यो. मूलमें श्रीमहाप्रभुजीने सर्वनिर्णयनिबन्ध प्रक्रियाग्रन्थके रूपमें ही लिख्यो हतो, पदार्थविभाजनके तहत नहीं लिख्यो हतो. प्रक्रियाको प्रौढतासुं निरूपण प्रस्थानरत्नाकरमें भयो है. अपन वो नहीं जानें तो क्या होवे वाको उदाहरण समझो. ''चेतस्तत्श्रवणं सेवा'' कहते भये श्रीमहाप्रभुजीकुं अचानक ''मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं'' ऐसे अन्यान्य मतनकी बात कहांसुं सूझी! ऐसो विचार अपनकु तब आवे के जब अपन प्रक्रिया नहीं जानते होवें. श्रीमहाप्रभुजी सेवाकु समझाते भये सेवक, सेव्य, सेवा, सेवास्थल सब कछु समझा रहे हैं. वाके तहत अन्य मतकी भी बात आयी है. ये प्रक्रिया है. ऐसे ही कोईकु ऐसो भी समझमें आ सके है के ''मुरारिपुश्च सन्तुष्यति'' कहते-कहते बालबोधमें

श्रीमहाप्रभुजी ''तदाश्रय-तदीयत्वबुद्ध्या किञ्चित् समाचरेत्'' आज्ञा कर रहे हैं यासु शिवको आश्रय और शिवकी तदीयता ही करनी चहिये. ऐसी अबुद्धि क्यों होवे है? या तो अपनकु पदार्थविभाजन पता नहीं है या वाकी प्रक्रिया पता नहीं है. वो पता है तो प्रमाणनको समायोजन कैसे करनो वो पता नहीं है. यासु अपनकुं अपनेमें ऐसी कुशलता जगानी चहिये के कोई भी विषयको प्रतिपादन करते वख्त पदार्थविभाजन, वाको प्रतिपादन और वाकी प्रक्रिया इन तीनों व्यूहनकुं साथ लेते भये चलें.

भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध

(शिक्षापत्रमें मिलते उपदेशोंके प्रकाशमें)

जयलक्ष्मी अनुपम तैलंग

उपक्रम :

श्रीमदाचार्यचरणको शतशः नमन वह उनकी कृपादृष्टिके विश्वासके साथ मैं यहां यह आलेख जो प्रस्तुत करने जा रही हूं उसका विषय है सेवामें प्रतिबन्ध (शिक्षापत्रमें मिलते उपदेशोंके प्रकाश में) सेवामें प्रतिबन्धका उल्लेख करते वक्त मैंने श्रीमदाचार्यचरणके ग्रन्थोंके अथाह सागरमेंसे 'सिद्धान्तमुक्तावली' 'सिद्धान्तरहस्य' 'भक्तिवर्धिनी' 'नवरत्न' 'सेवाफल' और 'साधनप्रकरण' रूपी मुक्ताओंको चुना है. साथ ही आपके वचनोंको उद्धृत करते हुए श्रीहरिरायजीके 'शिक्षापत्र' ग्रन्थका अवलम्बन ले कर प्रतिपाद्य विषयके स्पष्टीकरणका प्रयास किया है. शिक्षापत्रके अवलम्बन लेनेका हेतु है यही है कि यह ग्रन्थ हमारे सम्प्रदायका एक ऐसा दस्तावेज है कि जिसके कारण साधारणतया हम सभी अनुगामी जन श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिमार्गीय साधनाचरण सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी अनमोल विरासतके उत्तराधिकारी बनते चले आये हैं. अतः शिक्षापत्र सुविज्ञ लोगोंसे ले कर सामान्य अनुगामी तकके लिए सुगम होनेसे इसका आधार ले कर उपपादन करने पर विषय सर्वग्राही बन पायेगा. साथ ही श्रीहरिरायजी ने ये ४१ पत्र अपने अनुज श्रीगोपेश्वरजीकी भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध उत्पन्न होनेकी सम्भावनाको देखते हुए ही प्रकट किये थे; अतः ये मुझे अपने विषयके सबसे अधिक सहायक व समीप भी प्रतीत हुए.

पुष्टिमार्गमें सेव्य भगवत्स्वरूप और उनकी पुष्टिसेवा :

वेदोंमें प्रतिपादित अनादि अनन्त अजन्मा ब्रह्म फिर भी यशोदोत्संगलालित, अर्जुनको अपनी विराटता दिखला कर हतप्रभ करनेवाल किन्तु मां यशोदाके वात्सल्यके समक्ष पराजित हो उखलसे बांधे जाने पर रोने-मचलनेवाला, वैसे विश्ववन्द्य किन्तु ब्रजकी निकुंजोंमें राधाके पदकमलोंमें पलौटनेवाला वह विरुद्धधर्माश्रय कृष्ण अपनी रति-मति-गतिका अवलम्बन

तब ही बन सकता है जब हम उसे अपनी जीवनप्रणालीके तरसे सेवाकी दृढ़ रज्जुसे बांध पायें.

पुष्टिमार्गमें सेवा ही वह साधन है जो पल-पल अपनी क्रीडाके हेतु निर्मित इस सृष्टिके रंग बदलनेवाले नटखट नन्दकिशोरको अपने घरके पालनेमें चुपचाप लेट कर झुलनेको विवश कर सकती है, जिसका साक्ष्य सूरदासजीका यह पद है : *''यशोदा हरि पालने झुलावे हुलरावे दुलरावे, मेरे लालको आओ री निंदरिया जोइ सोइ कछु गावे''.*

श्रीमहाप्रभु द्वारा निर्देशित तनुवित्तजा और मानसी सेवाके प्रशस्त पथ पर यदि हम सच्चे सनेह, सर्वस्व-समर्पण और अटूट निष्ठाके आकाशदीपके सहारे आगे बढ़ें तो पुष्टिप्रभु हमसे दूर नहीं. आवश्यकता केवल सेवाकी आज्ञाको बुद्धि और हृदयके दोनों करोंमें दृढ़तासे थामें रहनेकी है.

वल्लभवाणीके अनुसार सेवाका आशय :

तो आईये इस सेवापथ पर अग्रसर होनेसे पूर्व आचार्यचरणाभिप्रेत 'सेवा' शब्दका आशय समझ लें सेवाको परिभाषित करते हुए वे यह आज्ञा करते हैं कि **''चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''** (सिद्धा.मुक्ता.२) अर्थात् चित्तका श्रीहरिमें रम जाना ही सेवा है. और सेवाकी इस परम उच्चकक्षाके प्राप्तिपथमें तनुवित्तजा दिशासूचक पट्ट है. तनु-वित्तके परस्पर संयुक्त विनियोग द्वारा ही अपनी अहन्ता-ममता समर्पित और परिष्कृत कर ही जीव मानसीकी कक्षा तक पहुंच सकता है. प्रभुके प्रति सनेहके बीजभावको अंकुरित करना हो तो सेवाके नीर द्वारा सतत सींचन आवश्यक है. और इसी बातको समझाते हुए कहा गया है कि **''बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः''** (भ.व.३). स्वधर्माचरणपूर्वक घरमें रह कर भगवत्सेवाके प्रतिकूल उद्योगोंको त्याग कर पूजा और श्रवण आदिसे श्रीकृष्णका भजन करना ही इस बीजभावकी दृढ़ताका उपाय है. सेवाके साथ-साथ सेव्यके प्रति सेवकके बरतावके विषयमें भी अपेक्षित सावधानीके उपदेश **''सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः''** (सिद्धा.रह.७)में यह समझाया गया है कि लोकमें जैसे एक सेवक अपने

स्वामीके साथ जैसे विनयपूर्वक बरतता है वैसे ही अपने सेव्यप्रभुके प्रति दैन्यभावके साथ सेवामें तत्पर रहना चाहिए.

सेवाके पथको कंटीले बनाते प्रतिबन्ध :

इन आचार्याज्ञाओंको आत्मसात् कर आगे बढ़नेवालोंकेलिए भी सेवाका पथ इतना सहज या सरल नहीं है. यहां पद-पद पर विभिन्न प्रतिबन्धोंके कण्टक सेवापथके पथिकके चरणोंको लहुलुहान करने मुंहबांये खड़े हैं. भगवत्सेवाके अनुष्ठानमें तीन प्रमुख प्रतिबन्ध ये गिनाये गये हैं : ''**[1]उद्वेगः [2]प्रतिबन्धो वा [3]भोगो वा स्यात्तु बाधकः**'' (से.फ.२) अर्थात् उद्वेग प्रतिबन्ध और भोग ये तीनों सेवामें बाधक माने गये हैं. अतएव श्रीहरिरायजी भी ''**उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगश्चापि प्रजायते, प्रतिबन्धसेवनं तैः प्रत्याशा का फलस्य हि?**'' (शि.प.२७।१६-१७) इस वचनमें इन तीनोंकी भगवत्सेवामें बाधकता प्रतिपादित करते हैं.

[1]**उद्वेग :** यह हमारे मनमें चाहे स्वयंकृत हो या प्रभुकृत, दोनोंके ही कारण भगवत्सेवामें चित्त प्रवण रह नहीं पाता. इसलिए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं ''**चित्तोद्वेगं विधायापि हरिः यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेद्**'' (न.र.८) अर्थात् जीव ही नहीं प्रभु भी चित्तमें कभी उद्वेग प्रकट करते हों तो भी चिन्ताका त्याग शीघ्र कर देना उचित है.

[3]**भोग :** भोग भी दो तरहके दिखलाये हैं ''**भोगेऽप्येकं तथाऽपरं निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमें विशते सदा, सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद्**'' (से.फ.४-५) एक लौकिक एवं दूसरा अलौकिक. इनमें लौकिक भोग अल्प तथा अनेक विघ्नोंके साथ जुड़ा होनेसे त्याज्य होता है किन्तु अलौकिक भोग तो अलौकिकसामर्थ्यरूप फलके अन्तर्गत माना गया है.

[2]**प्रतिबन्ध :** प्रतिबन्ध भी दो तरहके होते हैं ''**प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्च. तत्र आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः, भगवत्कृतः चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यति इति मन्तव्यम्, तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः**'' (से.फ.वि.४) अर्थात् प्रतिबन्धके दो प्रकारोंमें एक साधारण होता है और दूसरा भगवत्कृत. इनमें साधारण प्रतिबन्ध

लौकिक चतुराईके प्रयोग द्वारा दूर किये जा सकते हैं किन्तु भगवत्कृत प्रतिबन्धमें प्रभुकी फल प्रदान करनेकी इच्छा न होनेके कारण अपनी अनधिकारिता समझ लेनी चाहिए. ऐसी परिस्थितिमें भगवत्सेवाकी हठ पकड़नेके बजाय शोक-मोह दूर करनेको ज्ञानमार्गका अवलम्बन श्रेयस्कर होता है.

प्रतिबन्धोंके विविध रूपोंका वर्गीकृत रूप सरलताके साथ समझना हो तो प्रस्तुत सारणीका अवगाहन लाभकारी हो पावेगा :

अर्थात् सेवामें भक्तिरूपा सीताका अपहरण कर उन्हें प्रिय पतिसे विलग करनेवाले रावणके दस मुख जैसे ये प्रतिबन्धक हैं.

[1]असमर्पितोपभोगके त्यागके बारेमें आचार्यचरण ''**असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद्**'' (सि.र.४) आदेश देते हैं. सेवाके प्रथम संकल्पके रूपमें असमर्पितका त्याग आवश्यक है. पुष्टिमार्गीय पद्धतिके अनुसार आचार्यनिवेदित जीवको अपने उपभोगार्थ सम्पादित वस्तुओंको उपभोगसे पूर्व अपने सेव्य प्रभुकी सेवामें अर्पण करना अनिवार्य है. श्रीआचार्यचरणके आदेशको स्पष्ट करते हुए श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं ''**दुष्टान्नभक्षणं चापि ह्यसमर्पितभक्षणम्... सर्वथा हि भावबाधकः**

इष्यते" (शि.प.९।३३). श्रीगोपेश्वरजी इस श्लोककी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दुष्टपुरुषोंके अन्नका भक्षण, दुष्कर्मसे उपार्जित अन्नका भक्षण; और असमर्पित अन्नका भक्षण ये तीनों ही सर्वथा बाधक हैं. दुष्टान्न कितना विघातक हो सकता है इसके उदाहरण भीष्म पितामह हैं जो सब कुछ जानते हुए भी दुर्योधनके अन्न पर निर्भर होनेके कारण कौरवोंके अन्याय और अधर्मके दुष्पक्षका त्याग कर नहीं पाये.

[२]असत्संग प्रतिबन्धात्मक रावणका दूसरा मुख है. इसी असत्संगके त्यागकी आज्ञा करते हुए श्रीहरिरायजी कहते हैं "**असत्संगस्य च त्यागो भावबाधकता यतो यथा व्याघ्रो बाधकः स्यात् शरीरादेः शरीरिणः**" (शि.प.१४।३). असत्पुरुषोंका संग त्यागना चाहिए क्योंकि इससे भगवद्भाव नष्ट होता है. उदाहरणतया शरीरका भक्षण करनेवाले बाघसे जैसे देहधारी मनुष्य दूर रहता है वैसे ही भगवद्भावके नाशक इस असत्संगरूप बाघसे भक्तको दूर रहना चाहिए. असत्संगकी घातकताको लक्ष्यमें रख कर ही यह कहा गया है कि "**संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः संगस्य भेषजम्**" (पं.श्लो.२) अर्थात् सच्चे भगवदीयका संग संसारी भक्तको भगवद्भावयुक्त बनानेकी परम औषधि है. इस सत्संगकी महत्ता और असत्संगके दुष्परिणामसे पूर्णतः परिचित होनेके कारण श्रीकुंभनदासजी ने देशाधिपतिके समक्ष निर्भीक हो कर यह पद गाया *"संतन को सिकरी सों कहा काम? ...बिसर गयो हरिनाम, जिन को देख कुबुद्धि उपजत है तिन को करनो पर्यो प्रणाम"* (८४ वै.वा.८३।३). इसलिए नवरत्नमें श्रीमहाप्रभुजी ने सर्वथा तादृशी जनोंके साथ निवेदनके स्मरणकी आवश्यकता पर बल दिया है. इसी तरह सुबोधिनीमें भी भगवान्के आधिभौतिक दो चरणारविन्दोंमें प्रथम चरण सत्संग और दूसरा चरण भागवत है ऐसी भावना भी समझायी है (द्रष्ट.न.र.२ तथा सुबो.१०।३।३७).

[३]उद्वेग पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब अविवेक, अधैर्य एवं भगवदाश्रयकी शिथिलता यों तीन उद्वेगजनक डरावने मुख नज़र आते हैं. इन तीनों मुखोंसे वैष्णवोंको उद्वेगमुक्त करनेको ही श्रीमहाप्रभुजी ने विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थकी रचना की. और इनमें प्रथम उपायरूप विवेककी परिभाषा "पुष्टिमार्गीय विवेक श्रीहरि सब कुछ निजेच्छासे ही करते हैं" (वि.धै.आ.१) दरसायी है.

निजेच्छाका वास्तविक स्वरूप समझाते हुए श्रीहरिरायजी कहते हैं "**अनिष्टमेव सर्वज्ञो बलाद् दूरीकरोति हि इष्टानिष्टविवेको हि जीवबुद्ध्या न जायते**" (शि.प.६।८) अर्थात् हम अपनी अल्पबुद्धिके आधार पर अपने वास्तविक हित या अहित क्या है यह समझ न भी पाते हों परन्तु भगवान् सर्वज्ञ होनेके कारण उसे जानते हैं और अतएव कभी हमारा अहित होने नहीं देंगे. ऐसे भगवदीय विवेकको चार प्रकारसे निभाना होता है : १.प्रार्थनात्याग २.अभिमानत्याग ३.हठत्याग ४.धर्माधर्मका विवेक रखते हुए उनके अविवेकके कारण पैदा हुए आग्रहका त्याग. प्रार्थनात्याग इसलिए आवश्यक है कि जब हमारे हित या अहितका वास्तविक स्वरूप क्या यह जान पाने हम समर्थ ही न हों तो किसी अहितपूर्ण बातमें हमारा हित मान कर भगवान्के सामने प्रार्थना करनेका अविवेक हमें प्रकट नहीं करना चाहिए. दूसरे जिसे अपनी इष्ट उपलब्धि मान कर हम थोथे अभिमानमें रचपच जाते हैं वह हमारे लिए वस्तुतः स्पृहणीय उपलब्धि न हो कर अनिष्टकारी तत्त्व भी हो सकता है. तीसरी हठत्यागकी आवश्यकताके हेतुतया भी यही बात लक्ष्यमें रखने लायक है. कई बार अपने अविवेकके कारण अपने लौकिक वा अलौकिक हितकी भ्रान्तिमें वस्तुतः अहितकारी कर्म या वस्तुकी हठ पकड़ कर हम बैठ जाते हैं. प्रभुसम्बन्धी कार्योंमें भी यदि हठधर्मिता अपनाई जाती है तो कई बार प्रभुको वह परिश्रम देनेका निमित्त बन जाती है. इस प्रसंगमें त्रिपुरदासजीकी वार्ताका उदाहरण विचारा जा सकता है (८४ वै.वा.२३।२). इसी तरह धर्माधर्मके विवेकको निभानेको अविवेकजनित आग्रहको त्याग देनेके आदेशका अभिप्राय यही है कि श्रौत-स्मार्त धर्मोंका आचरण भगवत्सेवाके अनवसरमें सम्पन्न करना चाहिए, भगवत्सेवाको छोड़ कर नहीं.

[४]धैर्यकी परिभाषा दरसाते हुए श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों तरहके दुःखोंको आजीवन सह लेना ही धैर्यकी रीति है (वि.धै.आ.६). श्रीहरिरायजी ने धैर्यधारणकी बात दसवें पत्रमें समझायी है. इसमें विविध प्रकारकी आर्ति=क्लेश प्रदान कर भगवान् कैसे हमारी भक्तिको स्वस्थ रखते हैं यह निरूपण किया गया है. इसके निष्कर्षतया श्रीहरिरायजी कहते हैं "**लौकिकार्तेरगणनं परमानन्दचिन्तनाद् यथा न गणयेद् रोगी तिक्तभेषजभक्षणम्, अहितं निजभक्तानां विदधाति हरिर्नहि समस्तानां सखा स्वीयभक्तानां न कथं**

भवेत्?'' (शि.प.१०।७-८) अर्थात् लौकिक आर्ति या क्लेशके संकट आ पड़ने पर भगवान्के परमानन्द स्वरूप पर हमारा ध्यान जुटाना चाहिए. रोगार्तिके निवारणार्थ तीखी या कड़वी दवाई खानेका कष्ट हम धैर्य धारण करके झेल लेते हैं. ऐसे ही धैर्य धारण कर लौकिक आर्तिजनित कष्ट हमें सह लेने चाहिए. अतएव इस धैर्यको धारण करनेके हेतु चार सटीक उदाहरण ये दिये गये हैं :

१.'तक्रवद्' उदाहरण द्वारा यह समझाया गया है कि जैसे घोर यातनापूर्ण जीवन जीनेवाली ग्वालन केलिए छाछका ढुल जाना एक नगण्य दुःख बन जाता है, वैसे ही सहस्रों वर्षोंके प्रभुविछोहके आगे लौकिक दुःख कोई मायने नहीं रखते.

२.'देहवद्' उदाहरण द्वारा यह समझाना अभीष्ट है कि सेवामें प्रतिबन्ध करनेवाले पारिवारिक जनोंका और असत्पुरुषोंका तिरस्कार इस भावनाके साथ सह लेना चाहिए कि अपनी देह पर केवल अपना एकाधिकार नहीं प्रत्युत यह सभीके अधिकारकी सार्वजनिक सम्पत्ति है.

३.'जडवद्' उदाहरण द्वारा यह उपदेश दिया गया है कि काया मन और वाणीका निरोध करनेको इन्द्रिय संबन्धित दुःखोंमें जड़भरतका अनुकरण करते हुए जो भी दुःख जीवनमें सामने आयें उन्हें सहज उदासीनताके साथ स्वीकार लेना चाहिए.

४.'गोपभार्या'के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अपने असामर्थ्यका विचार करके आधिदैविक दुःखोंको उसी प्रकार सहन कर लेना चाहिए जैसे व्रजकी गोपिकाओं ने भगवान्के मथुरा-द्वारका पधार जाने पर भगवदिच्छाको शिरोधार्य कर भगवद्विरह सहन कर लिया.

'आश्रयकी परिभाषा श्रीमहाप्रभुजी ''इहलोक या परलोक सर्वत्र श्रीहरिके शरणमें होनेकी अखण्ड निष्ठा बनाये रखना आवश्यक है'' (वि.पै.आ.१०) विधानमें दी है. चाहे कोई कार्य अशक्य हो सुशक्य दोनोंमें ही सदा-सर्वदा श्रीहरिकी शरण ही बांछनीय है. ऐसे दृढ़ आश्रयकी ओर संकेत करते हुए श्रीहरिरायजी कहते हैं ''**विश्वासेन यथाप्नोति चातकः स्वातौ जलं तथा चेत् कृष्णजलदः स्वानन्दं वर्षयिष्यति**'' (शि.प.२६।९) अर्थात् जैसे विश्वासके कारण चातक स्वाति नक्षत्रमें बरसे जलबिन्दुओंको प्राप्त कर पाता है वैसे ही श्रीकृष्ण घनश्याम अपने चातकों (भक्तों)की दृढ़

आश्रयभावनाको देख कर आनन्दकी वृष्टि करेंगे ही. इस आश्रयको निभानेके भी चार उपाय समझाये गये हैं : १.अपने मनमें और वाणी द्वारा शरणभावनाको दोहराते रहना २.श्रीहरिके सिवा अन्य किसीके आश्रय होनेकी भावना नहीं करनी ३.श्रीहरि पर कभी अविश्वास नहीं करना ४.अच्छे-बुरे या उत्कृष्ट-अपकृष्ट सभी कर्मोंमें श्रीहरि पर अपनी अनन्य निर्भरताके भावको भुला नहीं देना चाहिए.

अतः विवेक धैर्य और आश्रय हमारी सेवापद्धतिके प्रयोगमें आनेवाली एक प्राणायामके जैसीकी प्रक्रिया है. इसमें विवेकको पूरक, आश्रयको कुम्भक; तथा, धैर्यको रेचक हम मान सकते हैं. अर्थात् हमारे मन वाणी और कायाके व्यवहारोंको विवेकसे पूरित करते रहना चाहिए. आश्रयके मनोभावोंको कुम्भककी तरह अपने भीतर सदा संजोये रखना आवश्यक होता है. इसी तरह धैर्यकी रेचनप्रक्रिया द्वारा सारे दुःखोंका विरेचन कर देना भी भगवत्सेवामें अति उपकारक होता है. अन्यथा विवेक धैर्य आश्रय रूपी श्वसनप्रक्रिया पर क्षणिक अनियन्त्रण भी एक परम भगवदीयके पुत्रको म्लेच्छ बना कर सेवारूप स्वास्थ्यमें कैसी-कैसी व्याधियां उत्पन्न करने लगता है यह श्रीदामोदरदास संभलवालेकी वार्ता (द्रष्ट. : ८४ वै.वा.३।)से स्पष्ट है.

जैसा कि उल्लिखित सारणीके अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिबन्धके दो प्रकार होते हैं : भगवत्कृत या साधारण प्रतिबन्ध. अतः इन दोनोंके ही पांच-पांच अवान्तर प्रकार हो सकते हैं. इन्हें सेवाफल ग्रन्थमें निरूपित साधारण प्रतिबन्ध और भगवत्कृत प्रतिबन्धके साथ समन्वित करके एकरूपता प्राप्त करनी हो तो इन्हीं पांचो प्रतिबन्धोंका यदि लौकिकचतुराईके प्रयोग द्वारा निवारण शक्य हो तो भगवत्सेवाका सहसा त्याग ही करना महाप्रभुको अभिप्रेत आशय हो नहीं सकता है. जब, किन्तु, इन प्रतिबन्धोंका निराकरण कर पाने भगवत्सेवाकर्ता सक्षम न हो तो सेवाफल ग्रन्थमें निर्दिष्टरीतिके अनुसार इन्हें भगवत्कृत प्रतिबन्ध मान भगवत्सेवाका परित्याग उचित कर्तव्य माना जा सकेगा. अतः उन्हें क्रमशः देख लेना उपयुक्त होगा.

इनका विवरण श्रीमहाप्रभुजी ने इस तरह दिया है-

"विक्षेपादथवाशक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचिद् अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे... तत्र पूजा त्यक्तव्या, तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया, तत्रापि दोषसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यम्, पापानां प्रतिबन्धकरूपाणां नाशाय, तदा यत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या."

(त.दी.नि.प्र.२।२४७).

यहां यह कहा गया है कि गृहस्थको भगवत्पूजा या सेवा करनेमें तत्पर होने पर पांचं तरहके दोष प्रतिबन्धक बन सकते हैं. इन्हें सेवाफल ग्रन्थमें निरूपित प्रतिबन्धके दो उपभेदोंके साथ जोड़ कर देखने पर ये दोष यदि अप्रतीकार्य हों तो इन्हें भगवत्कृत प्रतिबन्ध मानना चाहिए और यदि भगवत्सेवा करनेवाला यथाकथंचित् इनका प्रतीकार कर पाने समर्थ हो तो उसे अपनी चतुराई प्रयोगमें ला कर इन प्रतिबन्धोंका परिहार कर लेना ही उचित होगा नकि भगवत्सेवाका इन दोषोंके कारण परित्याग. इन दोषोंके अन्तर्गत प्रथम विक्षेप दोष मानसिक दोषरूप होता है. दूसरा अशक्ति शारीरिक दोष होता है. तीसरा प्रतिबन्ध पारिवारिक दोष होता है. चौथा अत्याग्रह आहंकारिक दोष होता है. अन्तिम परपीड़ा मामकारिक दोष होता है.

[1]मानसिक विक्षेप अर्थात् फर्ज़-अदाई या मशीनी ढंगसे या यन्त्रवत् भगवत्सेवाको कर्मकाण्डकी तरह किसी तरह करते चले जाने पर मानसिक अशान्ति या मनकी चंचलता भगवत्सेवाकी सरसता या तादात्म्यको समाप्त कर देती है. इसी बातका उल्लेख करते हुए श्रीहरिरायजी कहते हैं "**सत्संग-कृष्णस्मरण-शरणागति-साधनैः तदभावे कृतिः सर्वा वैयर्थ्यमेति हि**" (शि.प.२९।२). अर्थात् सत्संग श्रीकृष्णका स्मरण और शरणागतिको साधनरूपमें ग्रहण करके बुद्धिकी रक्षा करनी चाहिए. यदि इस प्रकार रक्षाकी नहीं जाती है तो सम्पूर्ण कृति व्यर्थ हो जायेगी. इसी श्लोककी टीकामें श्रीगोपेश्वरजी कहते हैं कि "श्रीकृष्णाश्रयमें कहें हैं सो शरणकी भावना करे. काहेते? जो भाव बिना क्रिया करे सो सब व्यर्थ है, जैसे राखमें होम ताको कहा फल तैसे ही भाव बिना जो करे सब व्यर्थ है" (वही). मनकी चिन्ता या विग्रह सेवामें बाधक बनती है इस बातका सशक्त हस्ताक्षर श्रीमहाप्रभुजीका

'नवरत्न' नामक ग्रन्थ है. श्रीगोविन्द दूबे घरमें सेवा करते थे परन्तु मानसिक विग्रहके कारण सेवामें चित्त लगता नहीं था. तब उन्होंने अपने इस विक्षेपका उल्लेख करते हुए श्रीमहाप्रभुजीको पत्र लिखा था. इसके प्रत्युत्तरके रूपमें श्रीमहाप्रभुजी ने 'नवरत्न' ग्रन्थ लिख कर भेजा था (८४ वै.वा.३४।१). इसका प्रथम श्लोक है "**चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्**" (न.र.१). चौरासी वैष्णवकी वार्तासे यद्यपि यह स्पष्ट है कि श्रीगोविन्द दूबेका मानसिक विक्षेप भगवत्सम्बन्धी ही था *"जीव तो द्वारकालीला-सम्बन्धी और सेवाभावना व्रजकी करे."* (८४ वै.वा.भा.प्र.३४।१) किन्तु फिरभी वह इस तथ्यका तो उद्घोष है ही कि किसी भी प्रकारका मानसिक विक्षेप चाहे वह लौकिक हो या अलौकिक सेवापथमें बाधक तो होता ही है.

[2]भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध हो पानेवाले तत्त्वोंमें शारीरिक अक्षमता भी एक प्रमुख बाधक कभी किसीकेलिए हो सकती है. वार्धक्य अथवा रोगादिके कारण भी कई बार भगवत्सेवा निभा पानेको शरीर असमर्थ या अशक्त हो जाता है. अतः श्रीहरिरायजी कहते हैं "**न देहाद्यर्थसिद्ध्यर्थं भगवानपि अपेक्षते यतो देहादिरक्षापि प्रभुलीलोपबोगतः**"(शि.प.३४।१०). अर्थात् भगवत्सेवा करनेवाले भक्तिमान् साधकको अपने देह-परिवार आदिकी पालन-पोषण करनेको भगवान्की अपेक्षा करनी भक्तिमार्गोचित भावसे विपरीत होने पर भी भगवत्सेवाके निर्बाध निर्वाहके हेतु देह-परिवार आदिका पालन-पोषण सर्वथा भक्तिमार्गोचित मनोभाव ही होता है. शारीरिक अस्वस्थता न केवल जीवको सेवापथपर आगे बढ़ पानेको अक्षम बनाती हैं बल्कि ऐसी अस्वस्थता प्रभुको भी परिश्रम देनेका निमित्त बनती हैं, जिसका उदाहरण दोसौ बावन वैष्णवन्की वार्ताके अन्तर्गत किशोरीबाईकी वार्ता (द्रष्ट. : २५२वै.वा.२०९)में आता है कि किशोरी बाईके अस्वस्थ होनेके कारण स्वयं श्रीयमुनाजीको पधारना पड़ा. अतः सर्वप्रथम तो उपचार द्वारा शरीरको स्वस्थ-सशक्त बनाना आवश्यक होता है अन्यथा अन्यान्य अनुकल्पोंको अपनाया जासकता है.

[3]मानसिक और शारीरिक बाधा तो केवल सेवकसे ही सम्बन्धित हैं. अतः वह श्रीआचार्यचरण द्वारा दिखलाये गये उपायोंके प्रयोगद्वारा उनपर

नियन्त्रण पाया जा सकता है. जब, परन्तु, पारिवारिक प्रतिबन्ध भगवत्सेवामें बाधक बनने लगें तब अर्थात् युद्धक्षेत्रमें आ फंसे अर्जुनकीसी मनःस्थिति हो तो सेवामें परायण रहना चाहते भक्तकेलिए युद्धस्थल जैसे बने गृहमें क्या-कैसा कर्तव्य होना चाहिए? इसके उत्तरस्वरूप श्रीमहाप्रभुजी तथा श्रीहरिरायजीकी ये आज्ञायें गीतोपम प्रदीप बनकर हमारे सेवापथ पर छाये सारे अन्धकारका निराकरण कर देती हैं **''भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्''** (त.दी.नि.२।२३१). प्रतिबन्धकी निवृत्तिके निमित्त अपनी शक्तिके अनुरूप उपाय करना और प्रतिकूलताका निराकरण कथमपि शक्य न हो तो गृह या भगवत्सेवा परित्याग एक उपाय बच जाता है. यही बात शिक्षापत्रमें भी दोहरायी गयी है **''यावच्छक्तिः प्रकर्तव्यो ह्युपायस्तन्निवर्तने प्रतिकूले च तत्त्यागपर्यन्तं विहितं पुनः''** (शि.प.३६।१४). इस श्लोककी टीकामें श्रीगोपेश्वरजकेलिए हैं *''या भांति वैष्णवप्रतिबन्धकी निवृत्तिपूर्वक हरिशरणके उपायमें रहे प्रतिबन्धके त्यागमें मन राखें. जो कोई कुटुम्बी स्त्री-पुत्र-माता-पिता आदि प्रतिकूल होंय तो तिनको त्याग करें, जो अनुकूल न होंय ता अकेले सेवा करे, उनको महाप्रसाद और प्रसादी वस्त्र दैवे पोषण करे जो केवल प्रतिबन्धरूप होंय-भगवद्धर्ममें द्वेष राखें तो उनको त्याग करे''*. श्रीआचार्यचरणकी ऐसी आज्ञाको शिरोधार्य कर अनेक वैष्णवोंके वृत्तान्त हमें ८४ तथा २५२ वैष्णवोंकी वार्ताओंमें मिलते ही हैं. दामोदरदास संभलवालेकी वार्तामें पुत्रके म्लेच्छ बन जानेके कारण उनकी पत्नीने पतिके देहके शान्त होने पर पुत्रको सेवासामग्री सौंपनेके बजाय गुरुके पास सेव्य तथा सेवासामग्री पहुंचवादी (द्रष्ट. : ८४ वै.वा.३।८). इस सम्बन्धी और भी अनेक तथ्य चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता (५९ तथा१७)के अवलोकन द्वारा निर्धारित किये जा सकते हैं जहां स्वयं सेव्यप्रभु भी महाप्रभुकी भावनाका समादर कर स्वयं तिरोहित हो गये

[९]अत्याग्रह अर्थात् आहंकारिक दोष भी सेवामें बाधक बनता है जिसके बारेमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **''अत्याग्रहप्रवेशे... स्वस्य वा परमाग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति''** (त.दी.नि.प्र. २।२४७). कहनेके अभिप्राय यह है कि कभी-कभी ऐसे पूर्वाग्रहसे सेवा करनेवाला बंध जाता है कि उसे भगवत्सेवाके अन्य सभी साधनों या बारीकियोंका तो दुराग्रह कठोर होता है परन्तु स्वयं सेव्य प्रभुकी सुधी रह नहीं

जाती. इस मनोवृत्ति को, सिद्धान्तकी स्पष्ट प्रेरणा जान लेनेके बाद भी नियन्त्रित कर पाना शक्य न हो तो भगवत्सेवा अर्थहीन बन जाती होनेसे उसका परित्याग एक अच्छी बात है. अन्यथा पूर्वसिद्ध साधनोंका मोह उसे ऐसे दिग्भ्रमित कर देता है कि वह- *''है अंधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है''* पंक्तिका सार ग्रहण कर उन भिन्न परिस्थितियोंमें अपनेलिए सेवाके प्रशस्त राजमार्गको भूल कर किसी सांकरी खोरमें आगे बढ़नेके बजाय सेवा ही छोड़ देता है कभी-कभी अपनी श्रेष्ठताका अहंकार ही अपनी सेवाके पथकेलिए पादशूल बन जाता है. इस ओर ध्यान आकृष्ट करनेको श्रीहरिरायजी कहते हैं **''देहाभिमानः कुलजो विद्यादिविहितोऽपि च भगवत्सेवनाभावसहितं देहपोषणम्''** (शि.प.२७।४) अर्थात् ऊंचे कुलमें जनमनेके कारण.पनपा देहका अभिमान अथवा विद्या-धन-प्रतिष्ठा आदि अर्जित करनेके कारण पनपा देहका अभिमान और भगवान्की सेवा किये बिना देहके पोषणकी मनोवृत्ति सेवाभक्तिमें बाधक बन जाती है. इसी अहंकारके परित्यागका आदेशार्थ कहते हैं **''अतो दैन्यं हि मार्गेऽस्मिन् परमं साधनं मतम्, अभिमानो मदश्चापि सततं तद्विरोधिनो''** (शि.प.३३।४).अभिमान और मद ये दोनों ही दैन्यभावके विरोधी हैं अतएव श्रीमहाप्रभुने वासुदेवदास छकड़ाके समक्ष इसी प्रश्नको रखा था *''तुमकों गर्व बहोत मनमें रहत है सो हमारी सरनी आवके कहा करोगे? हमारी सरनतें दैन्यता होत है''* (८४वै.वा.भा.प्र.३८।१). वासुदेवदासजीने तब यही कहा कि उन्हें गर्व नहीं चाहिए, क्योंकि गर्वसे बिगाड़ होता है. तब श्रीमहाप्रभुजीने उनका नाम 'छकड़ा' रख कर कहा ''आगे गर्वमें छके रहते अब भगवद्रसमें छके रहोगे'' (वहीं). अहंकारके परित्यागके साथ अत्याग्रहके त्यागकी शिक्षा देती सिंहनदकी क्षत्राणीकी वार्ता भी अनुसंधेय है जहां स्वयं ठाकुरजी आज्ञा करते हैं कि उधार लेकर पकवानकी तुलनामें प्रभुको चुपड़ी रोटी अधिक भाती हैं (द्रष्ट. : ८४ वै.वा.६०।१). केवल छोलेका भोग धरनेवाले श्रीपद्मनाभ-दासजीके साथ रहनेका श्रीमथुराधीशका आग्रह भी इसी सिद्धान्तका पोषक है कि प्रभुसेवामें अत्याग्रह नहीं प्रत्युत भगवद्भाव ही प्रमुख है.

[१०]परपीड़ा मामकारिक दोष है. यह भी भगवत्सेवामें बाधक माना गया है. ''मुझे भगवत्सेवा करनी है अतः मेरे परिवारके सभी सदस्यों केलिए भी वह अनिवार्य कर्तव्य है'' ममताका ऐसा अतिरेक पारिवारिक जनोंकेलिए बड़ी पीड़ादायक स्थिति पैदा करता है. अतः श्रीहरिरायजी कहते हैं

"गृहवित्ताद्यनासक्त्या तदीयेष्वविरागतः नवरत्नस्य पाठेन सर्वचिन्ता निवर्तते" (शि.प.२३।१४) अर्थात् गृह और धन आदिमें अनासक्ति रखते हुए भगवदीयमें अनुराग रखते हुए नवरत्न ग्रन्थके पाठ करने पर सभी चिन्ता दूर हो जाती हैं. भगवद्भाव हमारेलिए एक हृदयैकग्राह्य भाव होना चाहिए कन्धों पर लादा जानेवाल बोझ नहीं. यही बात श्रीआचार्यचरणके सेवक श्रीगोपालदास क्षत्रिय नरोड़ावालेकी वार्ताके आधारपर भी मुखरित हो रही है. उन्हें श्रीआचार्यचरणने आज्ञाकी "तुमतें भगवत्सेवा तो बनेगी नहीं. काहेतें, स्त्री-पुत्र दैवी नाहिं हैं. तुम दैवी हो" (८४वै.वा. भा.प्र.७९।१). तब श्रीमहाप्रभुजीने उन्हें श्लोक और पञ्चाक्षर लिखकर किलिए इनको भोग धरकर खान-पान करना. यहां पर भी गोपालदासजीको परिवारके जनोंपर सेवा लादनेका उपदेश न दे कर अपने हृदयमें भगवत्सनेहसे भगवद्भावका दीप सदैव प्रज्वलित रखनेको प्रेरित किया.

इन सेवाप्रतिबन्धोंका आचार्योपदिष्ट समाधान :

इस प्रकार सेवामें प्रतीकार्य दोषों केलिए श्रीआचार्यचरणने सेवा नहीं तो कथा, कथा नहीं तो वैष्णवोंके श्रीहरिपूजाके स्थलोंमें प्रपत्ति, और यह नहीं तो तीर्थाटनका उपदेश दिया है, जो तत्त्वार्थदीपनिबन्धके सर्वनिर्णयान्तर्गत साधनप्रकरणमें उपलब्ध होता है :

> "अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात् पठनीयं प्रयतकेन सर्वहेतुविवर्जितं... प्रपत्तिमार्गम् आह जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरंगे वेंकण्टे तथा यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः... तत्रापि दोषसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यं पापानां प्रतिबन्धकरूपाणां नाशाय तदायत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या."
>
> (त.दी.नि.प्र.२।२५३, २५५,२४७)

श्रीहरिरायजीने इन और अन्य दोषोंको 'हरिविस्मारक' कह कर इनसे सावधान रहनेकी आज्ञा दी है "एते चान्ये च बोद्धव्याः दोषाः विस्मारकाः हरेः सावधानीभूय दासैः कृष्णस्य स्थेयमादरात्" (शि.प.२७।११) इस प्रकार जिनका प्रतिकार शक्य हो उन दोषों केलिए तो मार्गदर्शन प्रदान किया

ही है किन्तु जो ये ही मानसिक विक्षेप आदि पांच प्रतिबन्ध यदि भगवत्कृत हों तो यह सुस्पष्टआज्ञा प्रदानकी है कि भगवदिच्छा और अपनी-अपनी अनधिकारिताका विवेक बरतते हुए भगवत्सेवाका आग्रह त्याग दो. आप सेवाफलमें कहते हैं "अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिः नहि यथावा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्... भगवत्कृतः चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यति इति मन्तव्यम्. तदा आसुरोऽयं जीवः इति निर्धारः. तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः" (से.फ.वि.३). अर्थात् "मेरा यह जन्म आसुरावेशवाला है ऐसा विचार कर 'राज़ी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रज़ा है' मानकर निरुद्विग्न रहना ही विवेक है.

उपसंहार :

इस प्रकार सेवाके प्रतिबन्धोंका निरूपण करनेके साथ ही साथ महाकारुणि अदेयदानदक्ष श्रीमदाचार्यचरण और श्रीहरिरायचरणने उन प्रतिबन्धोंके निराकरणकी राहभी दिखलायी है. अब आवश्यकता इस बातकी है हम आपके सिद्धान्तोंकी उंगली पकड़े निर्भीकतासे आगे बढ़ें. जैसे नन्हा बालक चलना सीखनेकी शरुआतमें लड़खड़ता भी है और कई बार गिरकर भी उंगली पकड़े होनेके कारण सम्हल ही जाता है. वैसे ही हम बालबोधकक्षाके पुष्टिमार्गी कभी इन प्रतिबन्धोंके कारण स्वमार्गपर चलते लड़खड़ा भी जायें तब भी आपश्रीके सिद्धान्तोंकी उंगलीके सहारे चलनेकी मनोवृत्ति रखें तो वे हमारेलिए आश्वासनदायक अवलम्बन बनेंगे ही. अतः अपनी पुष्टि-अस्मिताके संरक्षणहेतु आगे बढ़ें तो बाधाएं स्वयं रास्ता देने लग जायेंगी. एक कविके भावोंको दोहराउं तो *"कौन कहता है आस्मामें सुराख नहीं हो सकता एक पत्थर तो तबीयतसे उछालो यारों"* यहां यह पत्थर कुछ और नहीं केवल प्रतिबन्धोंके आकाशमें सेवक द्वारा किया गया "कृष्णएव गतिर्मम"का गर्जन है. यदि हम अपनी अहन्ता-ममताके प्रवाहको सांसारिक पोखरके स्थानपर प्रभुसनेहके सागरकी दिशा दे पायें, यदि हम आश्रयके दीपको हृदयके सनेहसे अन्याश्रयकी आंधीमें बुझने न दें; और यदि हम मानसिक शारीरिक पारिवारिक आदि बाधाओंकी मछलिओंको निश्चिन्तता स्वास्थ्योपाय और सेवापरायणताकी जलराशिमें रहती-तैरती बना पायें तो प्रतिबन्धोंकी उत्ताल तरंगें अवश्यमेव शान्त हो जायेंगी. आवश्यकता केवल श्रीहरिरायचरणके इस वचनको मानसपटलपर अंकित करनेकी है "सेवैव साधनं सेवा

फलमैहिकमत्र सा सेवा लौकिकदेहेन सम्भवेत् पारलौकिकम्'' (शि.प.४१।७). अर्थात् सेवा ही साधन और सेवा ही फल है. अतः सेवाफलकी भावना रखना पुष्टिमार्गीयिका प्रमुख कर्तव्य है. यद्यपि इस कर्तव्यके निर्वाहके समय भी अपराधोंसे भरे जीवसे कई त्रुटियोंकी सम्भावना बनी रहती हैं फिर भी ऐसी स्थितिमें भी उद्वेगकी कोई आवश्यकता नहीं है. विज्ञप्तिके **''बलिष्ठाअपि महोषाः त्वत्क्षमाग्रेऽतिदुर्बलाः तस्याः ईश्वरधर्मत्वाद् दोषाणां जीवधर्मतः''** (नवविज्ञ.३।१९) विज्ञप्तिके अनुसार हमारे दोष चाहे जितने बलिष्ठ क्यों न हों पर भगवान्की क्षमा प्रदान करनेकी सामर्थ्यकी तुलनामें अतीव दुर्बल ही सिद्ध होते हैं क्योंकि दोष जीवोंका गुणधर्म है जबकि क्षमा तो परमेश्वरका दिव्य गुणधर्म होता है. अतः अपने दोषोंके कारण घिघियाते रहनेके बजाय नवरत्नकी आज्ञाको आत्मसात् करें **''अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्''** (न.र.७). सेवामें चित्तकी स्थिरता ही सारे पुष्टिसुखोंका उत्स है और सेवामें रति मति गति पुष्टिजीवनकी कृतार्थता है.

काम–क्रोध–लोभादिकी प्रतिबन्धकता

योगेश गोस्वामी

मङ्गलाचरण :

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः।।
(भा.पु.३।९।६).

अर्थ : जब तक पुरुष भगवान्के अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभी तक उसे धन, घर और बन्धुजनों के कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभादि सताते है और तभी तक उसे मैं-मेरेपनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण है.

कामादिकी उत्पत्ति प्रक्रिया :

श्रीआचार्यचरण कामादिकी उत्पत्ति प्रक्रिया समझाते हुए कहते हैं :

''भगवान्को जब सृष्टि रचनाकी इच्छा हुई तब अपने स्वरूपात्मक सच्चिदानन्दमें से सदानन्द एक कोटिमें रहा और चैतन्यांश दूसरी कोटिमें रहा. उसमें चिद्रूपकी शक्ति व्यामोहिका माया है. यह व्यामोहिका माया पुरुषको मोहमें डालकर उसे जीव बना डालती है. यद्यपि यह पुरुष चिद्रूप है तथापि इसका आनन्दस्वरूप इससे अन्तर्निगूढ हो चुका है, इसलिये आनन्दकी प्राप्तिके लिये वह माया इसे भूलावेमें डालती है. यह जीव ऐसा समझता है कि इस मायाके सम्बन्धसे उसे (जीव को) आनन्द मिलेगा. और इसी कारण उस मायासे वह सम्बन्ध करता है. यह मोहक माया बहुरूपवाली है. अतएव जब यह व्यष्टिजीव उसके साथ सम्बन्ध करता है तब खुदभी बहुरूप जैसा दीखने लगता है. और अनेक रूपान्तरोंवाला अपने आपको मानने लगता है. रोगी, बलिष्ट, दरिद्र, धनी, इत्यादि. यह जीव बहुरूप होकर उसके गुणों या विषयों में रमण करने लगता है. यह गुण मायाके हैं लेकिन वह खुद उसे

ग्रहण करना चाहता है.'' (सुबो.२।९।१-२)

अतएव श्रीमद्भागवतमें कहा गया है : ''जिस समय यह मन मैं और मेरेपनेके कारण होनेवाले काम-लोभादि विकारोंसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है उस समय वह सुखदुःखसे छूटकर सम-अवस्थामें आ जाता है. इससे स्पष्ट होता है कि देहादि पदार्थोंमें हमारी अहन्ता-ममता ही काम-क्रोध-लोभका कारण है.'' (भा.पु.३।२५।१६).

हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमशः काम और क्रोध के रूपमें होता है. भगवान् कहते हैं ''हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है. इसीतरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है'' (भ.गी.३।२७). कामका यही विकृत रूप लोभ है और लोभका ही विकसित रूप मोह है. इसी तरह क्रोधका विकृत रूप मद और आगे चलकर मात्सर्यका रूप भी वह ले लेता है.

रागको उत्पन्न करनेवाला काम है. भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी इच्छारूप कामही रागके उत्पन्न होनेमें कारण है. द्वेषको उत्पन्न करनेवाला क्रोध है परन्तु यह क्रोध कामका ही परिणाम है. क्योंकि कामना पूर्ण न होनेपर क्रोध होता है. क्रोध तो काम-क्रोध-लोभ इन तीनोंके बीचमें रहनेवाला है क्योंकि कामपूर्ति न होनेपर क्रोध होता है. इसीतरह लोभका अर्थ सिद्ध न होनेपरभी क्रोध प्रकट होता है.

भगवान् इस कामको दुष्पूर और महापाप करानेवाला बतातें हैं (द्रष्ट. : भ.गी.३।३७-३९). कामोपभोगसे भी यह शांत नहीं होता है, इसलिए इसे 'दुष्पूर' कहा है. श्रीमद्भागवतमें कहा है कि काम इच्छित पदार्थोंके भोगसे कभीभी शांत नहीं होता है किन्तु घृतकी आहुतिसे जैसे अग्नि प्रवृद्ध होती है ऐसे भोग उसे पुनः बढ़ाता ही जाता है (द्रष्ट. : भा.पु.९।१९।१४). काम दुष्पूर होनेसे ही महापाप कराता है. इसलिए खुदकी इच्छा न होनेके बावजूद वह (काम) पुरुषको राग-द्वेषमें प्रवृत्त करके पापका आचरण बलात् करानेवाला है. इसलिए भगवान् इसको शत्रु बता रहे हैं. भगवान्ने इस कामके रहनेके स्थान

इन्द्रियां, मन और बुद्धि बताये हैं (द्रष्ट. : भ.गी.३।४०).

काम-क्रोधादि का स्वरूप :

इन काम क्रोध आदिका स्वरूप श्रीआचार्यचरण सर्वनिर्णयनिबन्धमें समझाया है :

> ''सुख धर्मी है और सुखका धर्म (आकार) इच्छा या काम होता है. विषयकी अभिलाषारूप जो सुखाकार स्वल्प अभिव्यक्त होता है, उसे 'इच्छा' कहते है. विषयकी आशंसारूप जो सुखाकार अधिक प्रकट होता है वह 'काम' कहा जाता है. इष्ट विषयके अनुभवके समय जो अनुकूलताके ज्ञानसहित मानस आनन्द प्रकट होता है वह 'सुख'कहा जाता है. इस प्रकार यह तीनो, इच्छा-काम-सुख अनुकूल बुद्धिसे वेद्य है.
>
> इस प्रकार द्वेष-क्रोध-दुःख भी धर्मीरूप दुःखके धर्म हैं. विषयकी अनाशंसारूप जो दुःखाकार स्वल्प अभिव्यक्त होता है वह 'द्वेष' है. वही दुःखाकार जब अधिक प्रकट होता है तब वह 'क्रोध' कहा जाता है. अनिष्ट विषयके अनुभवके समय जो प्रतिकूलताके ज्ञानसहित मानससुखका तिरोभाव होता है उसे दुःख समझना चाहिये. यह तीनो द्वेष-क्रोध-दुःख प्रतिकूल बुद्धिसे वेद्य है.
>
> सुख तथा दुःख रूपी दोनों धर्मिओंका जब एकसाथ उद्गम होता है तब वह 'लोभ' कहा जाता है. विषयकी अत्यंत अभिलाषासे प्रगट हुए सुखके आकारकी (अर्थात् 'यह विषय या पदार्थ मुझेही प्राप्त हो) तथा अन्य जीवके लिए अनाशंसासे (अर्थात् अन्यको यह पदार्थ प्राप्त न हो) प्रगट हुए दुःखके आकारकी एकताका नाम 'लोभ' है. काम तथा द्वेष का एकीभाव होता है वह लोभ है. लोभमें 'यह पदार्थ जो मुझे अत्यंत अभिष्ट है उसका भोग मैं अकेला ही करूं' ऐसा सुखाकार मनमें होता है. इतना ही नहि परन्तु 'अन्य इस पदार्थका भोग न करें' ऐसी दुःखाकारकी वृत्तिभी मनमें होती है. इस प्रकार जब सुखाकारका तथा दुःखाकारका ऐक्य मनमें होता है तब लोभका उद्भव हुआ समझना चाहिए.
>
> मोह राग या प्रीति से उत्पन्न हुआ दो रूपवाला एक मनोभाव है.

जैसे किसी वृक्षकी एक लतासे दो पत्र अलग-अलग रूपवाले उत्पन्न होते है. जैसे धर्मरूप सुखका कुछ उद्भेदरूप मोह पुत्रके वात्सल्यमें होता है और धर्मरूप दुःखका कुछ उद्भेदरूप मोह पुत्रादिकमें क्लेश हो तब होता है.

चित्तकी प्रसन्नताको 'हर्ष' कहते है. जब इस हर्षका उत्कर्ष होता है तब 'मद' हुआ समझना चाहिए. जब दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं होता है तब 'मात्सर्य' दोष हुआ समझना चाहिए. यहां 'मद' सुखरूप है परन्तु मात्सर्य दुःखरूप है. इसीप्रकार राग, भय, लज्जा आदिका स्वरूप भी सुखदुःखोंका ही यथासम्भव उद्गम ही है. सुखकी सूक्ष्मपूर्वावस्था राग है, दुःखकी सूक्ष्मपूर्वावस्था भय है. जैसे धर्म करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है और अधर्म करनेसे दुःखकी प्राप्ति होती है ऐसेही आभासमात्रधर्म (अपूर्ण धर्म) करनेसे इच्छा-कामादि होते हैं. आभासमात्र अधर्म करनेसे क्रोध-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं."

(त.दी.नि.२।२८४-२८६).

अवस्था या विषय भेदसेही कामादिकका निर्दुष्ट या दुष्ट होना :

श्रीआचार्यचरण सुबोधिनीजी (१०।७।१३) में आज्ञा करते हैं कि काम-क्रोध-लोभ ये तीन, अवस्था और विषय के भेदसे ही, 'दोष' कहे जाते हैं. हर अवस्थामें या हर विषयमें इन्हें सदा दोषरूप ही मान लेना आवश्यक नहीं है. परन्तु काम-क्रोध-लोभके कार्यरूप दोष तो सब अवस्थाओंमें और सब विषयोंमें सदा दोषरूप होते हैं. इन तीनोंके कार्यरूप छह दोष है –

(१) असूया : गुणोंमें भी दोषोंका आरोपण करना.
(२) अनृत : झूठ बोलना अर्थात् काया-वाणी-मनकी एकरूपता न होना.
(३) दम्भ : दूसरोंको अपनी उत्तमता दिखानेके लिए चेष्टा करना.
(४) हिंसा : दूसरोंको मारना या सताना.
(५) ईर्ष्या : दूसरोंके गुणोत्कर्ष सहन न होनेसे उनमें दोषोंको ढूंढना.
(६) मान : दूसरोंको सतानेपर जो गर्व होता है वही अभिमानरूप दोष.

यहां पर असूया और अनृत वाणीके, दम्भ और हिंसा कायाके, ईर्ष्या

और मान मनके दोष हैं.

काम-क्रोध-लोभके विषय यदि भगवान् बन जाते हैं तब ये भाव दुष्ट होनेपर भी पतनके कारण नहि बनते हैं, बशर्ते कि वहां भगवान्का साक्षात् प्राकट्य हुआ होना चाहिए, जैसेकि भगवान्के अवतारकालमें. भागवतके सप्तमस्कन्ध (७।१।२८-३१) में यही बात बताई है कि जब राजसूययज्ञ प्रसंगमें युधिष्ठिरजीने नारदजी से पुछा था कि जन्मसेही द्वेष करनेवाले शिशुपालको भगवत्सायुज्य ऐसा श्रेष्ठ फल कैसे मिला? इस प्रश्नके उत्तरमें नारदजीने बताया कि यदि मनुष्य भगवान्में द्वेष-क्रोधके भावसे मनको तन्मय बना देता है तो वह भगवद्रूप हो जायेगा, जैसे भृङ्गी कीड़ेको लाकर अपने भीतर अपने छिद्रमें बन्द कर देता है और वह भय तथा उद्वेग से भृङ्गीका चिन्तन करते-करते उसके जैसाही हो जाता है. यही बात भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी है क्योंकि लीलाकेद्वारा मनुष्य जैसे मालूम पड़ते हुए ये सर्वशक्तिमान भगवान् ही तो है. इनसे वैर करनेवाले भी इनका चिन्तन करते-करते पापरहित होकर इन्हींको प्राप्त होगये. एक नहीं अनेको मनुष्य कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्में लगा कर एवं अपने सारे पाप धोकर उसी प्रकारसे भगवान्को प्राप्त हुए है जैसे भक्त भक्तिसे. गोपियोंने तीव्र कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोने परिवारके सम्बन्धसे, तुम लोगोंने (युधिष्ठिरादि) स्नेहसे और हम लोगोंने भक्तिसे अपने मनको भगवान्में लगाया है. उनमेंसे राजा वेनकी तो किसीमें भी गणना नहीं की जा सकती क्योंकि उसने किसी भी प्रकारसे भगवान्में मन नहीं लगाया था. भगवान्के पार्षद जय-विजयके दैत्यभावका मर्दनभी भगवान्ने उन्हें सनकादिमुनिओंद्वारा शाप दिलवा कर तीन जन्मोके अन्तरायके बाद किया. प्रथम जन्ममें हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बना राक्षसयोनिमें उनसे लोभ करवा कर, द्वितीय जन्ममें रावण और कुम्भकर्ण के रूपमें काम करवा कर, तीसरे जन्ममें दन्तवक्त्र और शिशुपाल के रूपमें उनसे क्रोध करवा कर उनका उद्धार प्रभुने किया था. दोसौ बावन वैष्णवोकी वार्तामें एक कृपणकी वार्तामें आता है कि वह अत्यन्त लोभी था. श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणने उसके लोभको ही प्रभुमें जुड़वा कर उसे मानसी सेवा सिद्ध करवा दी थी. गीता (७।११) में भी धर्मसे अविरुद्ध कामको भगवान्का स्वरूप बताया गया है. भागवत (१०।१९।२६) में भी भगवान् कहते है कि जिस

प्रकार भुंजे हुए और बफे हुए जौ की धानी फिरसे बीज उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार बुद्धि मुझमें आविष्ट हुई है, उनका काम दूसरे काम को उत्पन्न नहीं कर सकता. भागवतमें वर्णित रासलीलाके बारेमें भी परीक्षितको लौकिक काम जैसा होनेकी शंका हुई थी किन्तु श्रीआचार्यचरण इस विषयमें सुबोधिनी (१०।२६।४२) मे बहुतही सावधानीपूर्वक समझाते हैं कि रसशास्त्रमें कही हुई सभी लौकिक क्रिया जैसी क्रियायें रासलीलामें है. उनमें, परन्तु, लौकिक काम नहीं है. स्वयं गोपीजन कहती है कि वे सभी विषयोंका परित्याग कर भगवान्के चरणोंमें गयी थी (द्रष्ट. : भा.पु.१०।२९।३१). इससे सिद्ध होता है कि गोपीजन भगवान्की ही तरह निष्काम (लौकिक काम रहित) ही हैं. यदि गोपीजनोंका काम लौकिक होता तो, न तो वह भगवान्के अलौकिक कामसे पूर्ण होता बल्कि उसके परिणाम स्वरूप पुत्र इत्यादि उत्पन्न होते. ऐसा, परन्तु, रासलीलाके परिणाम स्वरूप ऐसा कुछभी नहि हुआ है. इससे स्पष्ट होता है कि भगवान्के कामकी तरह गोपीजनोंका काम भी अलौकिक था. शुकदेवजी परीक्षित को कहते हैं "शिशुपाल भगवान्से द्वेष करता था परन्तु वह भगवत्सायुज्य प्राप्त कर सका, तो फिर ये भगवान्के प्रिय गोपीजन सिद्धि प्राप्त करें, इसमें क्या आश्चर्य है? अप्राकृत, अचिन्त्य, निर्गुण और सभी गुणों के आत्मरूप, ऐसे भगवान्का प्राकट्य मनुष्योंके कल्याणके लिये ही है. जो मनुष्य सदा भगवान्में काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता या भक्ति रखते हैं वे भगवद्रूप हो जाते हैं" (भा.पु.१०।२९।१३-१६). आगे भी शुकदेवजी भागवतमें स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं "जो कोई भगवान्की इस अलौकिक निष्काम रासलीलाका श्रवण-कथन करते हैं, उनके कामरूपी हृद्रोगका शीघ्र नाश होता है और वे सब प्रकारसे निष्काम हो जाते हैं" (भा.पु.१०।३०।४०).

इन्हीं काम-क्रोध-लोभके विषय यदि लौकिक हों तो वे मनुष्यका नाश कर देते हैं. इसका विवेचन गीता (२।६२-६३) में ऐसे किया है कि लौकिक विषयोंका ध्यान-चिन्तन करनेवाले पुरूषको विषयोंमें आसक्ति होती है, विषयासक्ति हो जानेसे विषयभोगकी कामना जगती है. यह कामना जब पूर्ण नहीं होती है तब क्रोध उत्पन्न होता है. क्रोधके कारण संमोह हो जाता है. जिससे विवेक खो जाता है. मोह होनेसे शास्त्रमें अथवा गुरुद्वारा जो उपदेश श्रवण किया होता है उसकी स्मृतिका भ्रंश हो जाता है. स्मृतिके भ्रंश होनेसे बुद्धिका नाश होता है. बुद्धिनाश होनेसे पुरुषका स्वयंका भी नाश हो जाता है.

कामादिकी प्रतिबन्धकता :

गीता (१६।२१) में भगवान् आज्ञा करते हैं कि काम-क्रोध-लोभ ये तीनों आत्माके नाशक और नरकके द्वार हैं. इसलिए इन तीनोंका त्याग करना चाहिए. श्रीआचार्यचरण सुबोधिनीकारिका (३।१।९-१०) में आज्ञा करते हैं कि कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीनों मार्ग मोक्ष देनेवाले है. ये यदि स्थिर रहें तो यहां सृष्टिही न होगी. इसलिए इनकी स्थिरता नही रहती है. इनका भी नाश हो जाता है, जिससे सृष्टि होती रहती है. कामसे कर्मका, क्रोधसे ज्ञानका और लोभसे भक्तिका नाश होता है. इसमें प्रमाण देते है कि कर्म करनेवाले कश्यपजीने कामवश होकर अपने कर्मका नाश किया, ज्ञानी सनत्कुमारोने जय-विजयपर क्रोध करके अपने ज्ञानका नाश किया, जय-विजयने अधिकारके लोभवश घमण्ड किया. फलतः उनकी भी भक्ति नष्ट हुई. चौरासी वैष्णवोंकी वार्तामें कृष्णदास अधिकारीको भी जय-विजयकी तरह ही अधिकारका लोभ होनेसे गर्व हुआ था, जिसके कारण उन्होंने श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणको श्रीनाथजीकी सेवामें जानेसे रोका था.

श्रीआचार्यचरण सन्यासनिर्णयग्रन्थमें आज्ञा करते है कि जब तक हृदयमें लौकिक विषयोंका आवेश है; और इनके कारणभूत कामादि दोषोको जब तक जीत नहि लिया जाता, तब तक हृदय कभी भी शुद्ध नहि होता है. ऐसे अशुद्ध हृदयमें प्रभुका वास कभी भी नहि होता है. श्रीहरिरायमहाप्रभुने अपने कामाख्यदोषविवरण ग्रन्थमें सभी दोषोका मूल कामदोषको ही माना है. इन्द्रियोंको जब अभिलषित विषयोकी पूर्ति नहि होती है, तभी अनेक अनर्थ उत्पन्न होते है. कठोपनिषद्में भी बताया गया है कि यदि इन्द्रियरूप अश्वोंको नियमनमें नहि रखा गया तब तो यह शरीररूप रथ उल्टा हो जानेसे सर्वनाश हो जायेगा.

इस कामदोषका प्रभाव इतना बलवान है कि इसके कारण बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, महात्मा और योगी भी सामान्य जैसी स्त्रियोंके पास कामपूर्तिकी याचना करने लगते हैं. इस ग्रंथमें उदाहरणके रूपमें पुराणोंमें आते कई महात्माओंकी गिनती की गई है, जिनको काम दोषने घेर लिया था. जैसे कि विश्वामित्र, पराशरमुनि, मनुराजाके पौत्र आग्नीध्र, इन सभीकी तपस्या इसी काम रूपी दोषने विफल कर दी थी. स्वयं महादेव शिवजी भी प्रभुके मोहिनी

अवतारके दर्शन करते हुवे काममुग्ध हो गये थे. भक्त नारदको तो इसी कामतृप्तिके लिये स्त्रीका रूप धारण करना पड़ा था. इसके फलरूप उन्होंने अपने स्त्रीरूपसे साठ पुत्रोंको भी जन्म दिया था. इससे तो यही लगता है कि प्रभुने कामदेवको इसीलिये इतना बलशाली बनाया है कि जिससे इन महापुरुषोंका गर्व न रहे. इसी संदर्भमें श्रीआचार्यचरण पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा ग्रंथमें आज्ञा करते हैं कि मिश्रपुष्टि जीवोंकी अन्यमें आसक्ति देखकर अथवा उनका अहंकार देखकर कभी भगवान्ही उनको श्राप दिलवाते हैं जिससे उनका मिश्रभाव दूर होकर उन्हें भक्ति प्राप्त हो. इसी तरह ऋषभदेवजीके पुत्र राजा भरतको, जिनका अन्तिम जन्म होनेके बावजूद, वनमें एक मृगके बच्चेमें आसक्ति हो जानेसे, उन्हें तीन जन्मोंके अन्तरायके बाद मोक्ष प्राप्त हुआ. राजा पुरञ्जनको भी स्त्रीकी इच्छा एवं उसीके स्मरणके कारण स्त्रीयोनी प्राप्त हुई थी. स्वयं ब्रह्माजीभी अपनी पुत्रीमें कामासक्त हो गये थे. बादमें प्रायश्चित्तके रूपमें अपने देहका परित्याग किया था. यह सभी दृष्टांत श्रीहरिरायमहाप्रभुने अपने इस ग्रन्थमें उद्धृत किये हैं.

कर्ममार्गमें प्रतिबन्धकता :

भागवत एकादश स्कंधमें जिनकी कामना अति प्रबल है, ऐसे अति आसक्त जीवोके लिये कर्ममार्गका उपदेश बताया है क्योंकि कर्ममार्गमें साधककी ममताको विभिन्न देवताओंसे जोड़नेकी प्रणाली अपनाई गई है. स्वयंके उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता यहां दिखलाई है. जिससे साधक निष्कामकर्मकी ओर कर्ममार्गमें बढ़ता चला जाता है. इस निष्काम कर्मयोगका विवेचन गीताके तीसरे अध्यायमें हुआ है. परन्तु यह कामरूप दोष साधकको निष्कामकर्म करने नहीं देता है बल्कि वह अपनी ममतामयी सकामवृत्तिके द्वारा निर्दुष्ट निष्कामकर्मको सकाम बना देता है. फलतः वह आत्मसुखरूप स्वर्गफलसे वञ्चित रहकर, क्षणिक लौकिकफल एवं पारलौकिक स्वर्गलोकके फलमें उलझ जाता है. ऐसे जीवोंके लिये भगवान् आज्ञा करते हैं "वे निष्पाप तीनों वेदोंके जाननेवाले, स्वर्गलोकके फलके लिये देवोंका यजन करते हैं. वस्तुतः यजन भगवान्का ही स्वरूप है, इस बातको कामदोषके कारण नहीं जान कर वे स्वर्गलोकमें दिव्य भोगोंको भोग कर, पुनः पुण्य क्षीण हो जानेपर मर्त्यलोकमें आते हैं और फिर इसतरहसे जन्म-मरणके फेरेमें फंस जाते है" (भ.गी.९।२०-२१).

परन्तु यदि कोई साधक अपनी कामनाको नियंत्रित करके अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोड़ी धीरज रख कर देवताओंके लिये "यह मेरा नहीं आपका है" यों कह कर देवयजनके रूपमें निष्कामताके मार्गपर आगे बढ़ता है, तो उसे अन्तमें यही निष्कामकर्म आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा. यह निष्काम कर्ममार्ग, किन्तु, हमारी अहन्ताकी परवाह अधिक नहीं करना चाहता. हमारी ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है. अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गकी प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुणके साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पद-पदपर रहती है. इस तरह कर्ममार्गमें प्राधान्यतया कामही प्रतिबन्धक है. कभी असावधानीमें क्रोधभी हानि पहुंचा सकता है.

ज्ञानमार्गमें प्रतिबन्धकता :

भागवतके एकादशस्कंधमें वैराग्य जिसे सिद्ध है ऐसे अनासक्त जीवोंको ज्ञानमार्गका अधिकारी माना है. क्योंकि ऐसे अनासक्त जीवकी ममता विकृत नहीं होती है, उनके वैराग्य सिद्ध होनेके कारण. अतः ज्ञानमार्ग जीवकी अहन्ता स्वस्थ बनानेका प्रयास है. कर्ममार्गमें जैसे ममताको देवताओंसे जोडा गया था इसीतरह ज्ञानमार्गमें साधकको अपनी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है. जैसे "मैं ब्रह्मही हूं, मैं ही मेरा होम ब्रह्ममें करता हूं" ऐसी साधना साधकको करनी पड़ती है. 'भक्तिवर्धिनी'के ग्रन्थपरिचय (श्रीश्याममनोहरजीकृत) में बताया गया है कि ज्ञानयोग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहुति देना सिखलाता है परन्तु यदि अपनी अहंकारकी धधकती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहुति दी जाय तब फिर वह ज्ञानयोग नहीं रह जाता है. प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साधक जब 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी साधना करता है तब यदि 'मैं' पर ज्यादा जोर आ गया तब इस 'मैं' के अलावा सभीमें मिथ्या होनेकी दृष्टि पनपती है. जिससे यह ज्ञानमार्ग ही नष्ट हो जाता है. यहां मूलमें अहन्ताके साथ रजोगुणका संयोग क्रोधरूप दोष उत्पन्न करता है. इस क्रोधसे ज्ञानमार्ग ही अस्थिर हो जाता है और सर्वज्ञता प्रगट नहीं होने देता.

कई बार ऐसा भी होता है कि कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता, ज्ञानमार्गपर चलते हुए साधकको रजोगुणके साथ मिलकर शिष्येषणा जैसी कामनाओंका रूप धारणकर मोहमें फंसा देती है. गीता (३।३९) में भगवान् बताते हैं कि यह कामरूपी दुष्पूर अग्निने ज्ञानीओंका ज्ञान ढक दिया

है. इसलिये इस कामको ज्ञानीका शत्रु जानना चाहिए.

भक्तिमार्गमें प्रतिबन्धकता :

श्रीहरिराय महाप्रभु कामाख्यदोषविवरण ग्रन्थमें बताते हैं कि काम और लोभ दो बड़े पर्वतके समान है. जैसे बड़े पर्वत को लांघ कर जाना बहुत ही कठिन है, उसी तरह ये काम और लोभ दोनोंको वशमें लाना बहुत कठिन है. जब तक इन दोनों पर विजय प्राप्त न किया जाय तब तक भगवानकी प्राप्ति नहि हो सकती है. आप शिक्षापत्र (३४।२६-२८) में आज्ञा करते हैं कि "कामके कारण इन्द्रियां भगवानसे विमुख होकर विषयोंकी तरफ भागती हैं. जिससे बहिर्मुखता आती है. लोभमें पाखण्डकी संभावना है क्योंकि जिसको लोभ होता है वह द्रव्यादिकके लिये अनेक पाखण्ड करता है. क्रोध तो यह तीन (काम-क्रोध-लोभ) के बीचमें रहनेवाला है क्योंकि काम पूर्ति न होनेपर क्रोध होता है. उसी तरह लोभका अर्थ सिद्ध न होने पर क्रोध प्रकट होता है. क्रोध प्रकट होनेपर अन्य अनेक तरहके मोह इत्यादि दोष प्रकट होते है. जिससे अष्टप्रहर लौकिकावेश एवं लौकिक ध्यान हृदयमें रहता है. जो दैन्यभावका नाशक है. आपश्री आज्ञा करते है कि श्रीकृष्णकी सेवा, कथा और आश्रय ऐसे सर्व कार्यमें दैन्यही बीज है. जैसे मन्त्रशास्त्रमें बीजयुक्त मन्त्र फल देनेवाला होता है, इसी तरह पुष्टिभक्तिमार्गमें सेवा, कथा, आश्रय ये सभी दैन्ययुक्त होनेपर ही फल देनेवाले बनते हैं. अन्यथा वे भगवान्के अनुग्रहके साधक नहीं है. यह क्रोध सभीका बीजरूप सर्वस्वरूप दैन्यका नाश करनेवाला है.

पुष्टिभक्तिमार्गान्तर्गत शरणमार्गमें प्रतिबन्धकता :

भक्तिमार्गमें सर्वप्रथम भगवदाश्रयकी अतीव आवश्यकता बताई गई है. एक भगवान्के अनन्याश्रय बिना भक्ति कभी भी फलित नहीं होती है. श्रीआचार्यचरणने भगवदाश्रय दृढ़ करनेके विवेकधैर्याश्रयग्रन्थमें चार उपाय बतलाये है :

(१)आश्रयकी मानसिक-वाचिक भावना.
(२)अन्याश्रयत्याग.
(३)प्रभुमें दृढ़ विश्वास.
(४)शरणभावना हृदयमें दृढ़ रखकर जो कुछभी सहज प्राप्त हो जाता है उसीका निर्मम सेवन करना.

जीव जब भगवान्की शरण जाता है तब सबसे पहले उसे यह दृढ़ विश्वास होना अति आवश्यक है कि प्रभु जो कुछ भी अपनी इच्छासे करेंगे वह जीवके कल्याणके लिये ही करेंगे, ऐसा प्रभुमें विश्वास रखकर, जो कुछ भी सहजमें प्राप्त हो जाए, उसीको प्रभुका प्रसाद मान कर, ममतारहित हो कर जीवननिर्वाह करना चाहिए. भगवान् भी आज्ञा करते हैं "जो लोग अनन्य होकर मेरा चिंतन करते हुए सर्वप्रकारसे मेरी सेवा-भजनमें जुड़ गये हैं, ऐसे भक्तोंका योगक्षेम तो स्वयं मैं ही चलाता हुं" (भ.गी.९।२२). प्रभुमें दृढ़ विश्वास और जो सहज प्राप्त है और उसीका निर्ममभोग, इन दोनोंका निर्वाह होनेपर तो जीव कभी अन्याश्रय कर ही नहीं सकता. उसका चित्त प्रभुमें स्थिर हो जाता है. जिससे वह भगवान्की शरण भावना मानसिक और वाचिक रूपमें कर पानेमें समर्थ बनता है. फलत: उसे भगवदाश्रय दृढ़ हो जाता है.

किन्तु काम-लोभ दो ऐसे दोष हैं कि वे इन चारों उपायोंको अच्छी तरहसे जीवको निभाने ही नहीं देते हैं. लोभसे वश हुआ जीव सहज प्राप्तका निर्मम सेवन नहीं कर पाता है. वह विषयोंकी ओर भागता है. इस दौड़भागमें कई बार विवेक खो कर, जीव भगवान्से क्षुद्र फलकी याचना भी कर लेता है. प्रभुतो भक्तोंका कल्याण करनेवाले हैं, वे ऐसे तुच्छ फल कि जिससे जीवका पतन हो, नहीं देते हैं. प्रभुकी स्वयंकी जो इच्छा है उसी तरह आप फलदान करते हैं. जीवको, परन्तु, अज्ञानवश वहां प्रभुमें अविश्वास हो जाता है और वह भगवान्को छोड़ कर अन्यदेवोंकी शरणमें जाता है. भगवान् आज्ञा करते हैं कि "जिनका ज्ञान अनेक कामनाओंकी अपेक्षाओंके कारण नष्ट हो चुका है, ऐसे लोग अपने राजस या तामस स्वभावके वश होकर अपनी अन्तहीन इच्छाओंको पूर्णकरनेके लिये मेरा आश्रय छोड़ कर अन्य अनेक देवोंको प्रसन्न करनेके लिये उनके शरण जाते हैं. अन्यदेवोंकी उपासना-व्रतादि करते हैं, जिससे उनकी मनोकामनाए पूर्ण हों. वे भगवान्का भजन नहीं करते हैं" (भ.गी.७।२०). इस तरह यह कामरूप दोष जीवसे अन्याश्रय करवाता है. ऐसे जीवोंके लिये आगे भगवान् कहते हैं "इन अल्पबुद्धिवालोंके फल विनाशी होते हैं. ये लोग भगवान्को प्राप्त नहीं होते लेकिन उन-उन देवोंको प्राप्त होते हैं" (भ.गी.७।२३). काम-लोभ जीवको निरंतर लौकिक विषयोंमें भटकनेके लिये प्रेरित करते हैं. जिसके कारण चित्त स्थिर नहीं रह पाता है और बिना स्थिर चित्तके आश्रय सिद्ध नहीं होता है. यही कारण है कि जीव भगवदाश्रयकी

मानसिक-वाचिक भावना भी नहीं कर पाता है. फलतः वह शरणमार्गसे भ्रष्ट होजाता है.

पुष्टिभक्तिमार्गान्तरगत कथापक्षमें प्रतिबन्धकता :

कथापक्षसे भक्ति दृढ़ करनेके जो उपाय श्रीआचार्यचरणने भक्तिवर्धिनी एवं निरोधलक्षण ग्रन्थोंमें बताये हैं वहांपर भी ये दोनो दोष प्रतिबन्ध खड़े करते हैं. कथापक्षमें भगवान्के गुणोंका वर्णन करना ही मुख्यसाधन माना गया है. इससे प्रभुका प्राकट्य भक्तके हृदयमें होता है. श्रीहरिरायमहाप्रभुने कामाख्यदोषविवरण ग्रन्थमें बताया है कि जिसका हृदय कामदोषके कारण पराभूत हो चुका है, ऐसे मनुष्यका ध्यान प्रभुमें स्थिर नहीं हो सकता है, क्योंकि अपनी कामनापूर्तिकी लालचमें उसका चित्त लौकिक विषयोंकी तरफ आकर्षित होता है. ऐसी स्थितिमें वह प्रभुके गुणगान कहांसे कर पाएगा? प्रभुके गुणगानका कार्य संसारासक्ति दूर कर वैराग्य उत्पन्न करना है, जबकि कामवश चित्ततो सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिमें ही उलझा हुआ रहता है. उसे प्रभुके गुण कहांसे अच्छे लगेंगे इसीलिये श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं "लोभरहित एवं मात्सर्यरहित होकर प्रभुके गुणगान सदा वर्णन करने चाहिये". (निरो.लक्ष.१६). परन्तु जब तक व्यक्ति लोभ एवं मात्सर्यरहित होकर गुणगानमें प्रवृत्त नहीं होता है, तब तक उसकी सहज रुचितो गुणगानमें न होकर लौकिक विषयोंमें ही रहती है. परिणामतः वह व्यक्ति—

(१)प्रभुके गुणगानको ही अपने लाभ (द्रव्यप्राप्तिके लिये) पूजा (अपनी कीर्ति लोकमें फैलानेके लिये) के लिये करने लग जाएगा. फलतः वह भक्तिमार्गसे भ्रष्ट होजाता है.

(२)प्रभुकी अलौकिक, निर्दोष, निष्काम लीलाओंमें लौकिकता ढूंढने लगता है. जैसे पीलिया रोगसे पीड़ित रोगीको सारी दुनिया पीली दिखाई देती है, ठीक उसी तरह लौकिक कामी पुरुषको प्रभुकी दिव्य आदिदैविक लीलाओंमेंभी प्राकृतता-लौकिकता दिखाई देती है. ऐसे व्यक्तिकोभी प्रभुके गुणगान कभी फलित नहीं होते हैं बल्कि वहभी भक्तिमार्गसे गिर जाता है.

गुणगानकी प्रक्रियामें प्रभुको हृदयमें धारण करना है परन्तु जबतक

हृदय शुद्ध नहीं हो प्रभु वहां नहीं पधारते हैं. शिक्षापत्र (३२।१-५)में श्रीहरिराय महाप्रभुजीने कैसे हृदयमें प्रभु कभी भी प्रवेश नहीं करते उसकी पूरी एक सूचि बताई है वह निम्नलिखित है.

(१)कामसे आविष्ट (२)क्रोधयुक्त (३)संसारासक्त (४)लोभसे व्याप्त (५)निरन्तर धनसंचय करनेमें तत्पर (६)दयारहित (७)सक्लेहरहित (८)संतोषरहित (९)शोकसे व्याकुल (१०)भयसे आक्रान्त (११)लौकिक विषयोंके ध्यानमें तत्पर (१२)अहंकारयुक्त (१३)क्रूर (१४)दुष्ट व्यक्तिका पक्षपाती (१५)प्रभु स्वामी और खुद सेवक है ऐसे भावसे रहित होकर ज्ञानमार्गमें स्थित (१६)अन्यदेवोंके समान प्रभुको जानना (१७)लौकिक विषयोंमें सन्मुख (१८)श्रीकृष्णके भक्तोंसे विमुख (१९)श्रीकृष्णकी अलौकिक लीलामें दोषदृष्टि (२०)भगवान्की सेवा-कथाको गौण मानकर कर्ममें आसक्त (२१)श्रीआचार्यचरणसे विमुख अर्थात् उनकी वाणीरूप उपदेशसे विपरीत चित्तवाला (२२)गुरु और शास्त्रवाणी के बारेमें नित्य कुतर्क करके उन्हें झूठ स्थापित करनेकी वृत्ति.

उपर गिनावेगए बाईस दोष अविद्याके कारण होते हैं. कामादि षड्वर्गसे ही ये सभी प्रेरित होते हैं.

पुष्टिमार्गान्तर्गत सेवापक्षमें प्रतिबन्धकता :

सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थमें श्रीआचार्यचरणने हरिमें चित्तका प्रवण होना ही सेवाका स्वरूप बताया है. मनका प्रभुमें लग जाना ही सेवाकी श्रेष्ठत्तम अवस्था है. हरिमें चित्तप्रवणताकी सिद्धिके लिए सर्वस्वसमर्पणपूर्विका तनुवित्तजा सेवाका उपदेश वहां आपश्रीने दिया है. प्रभुको अपने घरमें पधरा कर घर-परिवार-धन-सम्पत्ति सबको प्रभुसेवामें लगाते हुए यदि हम खुदभी प्रभुकी सेवा करते हैं, तभी हमारा मन अपने आप प्रभुमें लग जाएगा इसीको सर्वस्वसमर्पणपूर्विका 'तनुवित्तजा सेवा' कहते हैं. पुष्टिमार्गमें केवल सेवा नहीं किन्तु सर्वस्वसमर्पणपूर्विका तनुवित्तजासेवा बताई गयी है. सर्वस्वसमर्पणका प्रकार सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभुजीने बताया है. सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें वर्णित सर्वस्वसमर्पण प्रकारसे रहित सेवाका प्रकार पुष्टिमार्गमें मान्य ही नहीं है.

इसीलिए श्रीगुसांईजी सि. मु. ग्रन्थकी अपनी विवृत्तिमें 'तनुवित्तजा सेवा' का अर्थ समझाते हुए बताते हैं–

> ''द्रव्य देकर किसी औरके द्वारा करवाई गई सेवा और दूसरोंसे द्रव्यादि लेकर की गई सेवातो सेवा ही नहीं है. इस प्रकार की जाती सेवासे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता है. इस अपने अभिप्रायको प्रकट करनेके लिए श्रीआचार्यचरणने 'तनुवित्तजा' ऐसे समस्त पदका प्रयोग किया है. इससे यह सिद्ध होता है कि किसीभी तरहके लौकिक भावोंके अधिन हुए बिना अपने सर्वस्वका निवेदन भगवान्को करके, अपने देहकाभी भगवदर्थ विनियोग करनेपर, जब भगवत्प्रेम प्रकट होता है तब कहीं जाकर चित्त कृष्णप्रवण हो पाता है''.

परन्तु काम-लोभवश जीवसे प्रभुको सर्वस्वसमर्पण करपाना कठिन होता है. जीवकी विकृत ममता उसे लौकिक विषयोंमें भोगकी ओर प्रेरित करती है. ऐसा काम-लोभ युक्त चित्त 'लौकिक विषयोंकी पूर्ति न हुई तो' ऐसी आशंकाके कारण भयभीत भी रहता है. यही भय उसे उद्वेग कराता है. उद्वेगका अर्थ है 'अब मेरा क्या होगा?' ऐसा मनमें भाव होना. लौकिक भोग और उद्वेग इन दोनोंको ही श्रीआचार्यचरणने सेवाफल ग्रन्थमें सेवाके प्रतिबन्धक गिनाये हैं. मूलमें लौकिक भोग और उद्वेग दोनोंही भक्ति विरोधीभाव है जो जीवको प्रभुसे दूर ले जाते हैं. इन दोनोंके मूलमें कामादि दोषही कार्य करते हैं. उद्वेगकी प्रतिबन्धकता एवं उसके निवारणका विवेचन नवरतग्रन्थ एवं शिक्षापत्र ३६में हुआ है. वहां उद्वेगके निवारणके रूपमें मुख्यतः आत्मनिवेदनके चिन्तनका उपाय ही बताया गया है.

लौकिक काम जीवको प्रभुसेवामें रुचि उत्पन्न नहीं होने देता है, बल्कि लौकिक विषयोंकी ओर आकर्षित करता है इससे उसे सेवामें स्वतः आनन्द नहीं आता है. श्रीहरिराय महाप्रभुजी कामाख्यदोषविवरण ग्रन्थमें बताते हैं कि भक्तिमार्गीय जीवको प्रभुके अलावा अन्य किसीभी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती. किन्तु कामी पुरुषोंको कामतृप्ति, इन्द्रियोंके विषयोंकी तृप्तिकी इच्छा सदा जागृत रहती है. एक ही समयमें एकही कार्य सम्भव है दो

नहीं, यातो लौकिक विषयोंकी इच्छा या फिर अलौकिक प्रभुकी चाहना. ऐसे कामी पुरुषोंसे सतत प्रभुकी शरणभावना एवं समर्पण भावना शक्य नहीं होती क्योंकि उनका हृदय लौकिक विषयोंके कारण चलायमान रहता है. उन्हें सदा लौकिक फलकी ही इच्छा हृदयमें रहती है, जिसके कारण सभी वस्तुओंको प्रभुको समर्पण करना भी दुष्कर होता है. अन्य पदार्थमें रही हुई ममताके कारण समर्पण अच्छी तरह नहीं निभ पाता है. जिस कारण असमर्पितका त्यागभी नहीं हो पाता है और असमर्पित भक्षणसे बहिर्मुखता आती है. यहां असमर्पितके त्यागका अर्थ केवल खाद्यपदार्थोंतक सीमित न लेकर जीवनके सभी लौकिक-वैदिक व्यवहारों तक लेना चाहिए.

कई बार ऐसे लोग अपनी सेवाको दूसरोंकी ओर प्रदर्शित करनेमें बाधित होते हैं. अपनी सेवाको बाहर जनतामें दिखाकर खुदकी कीर्ति बढ़ानेके चक्करमें वह फंस जाता है. फिर उससे ''स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्'' (साध.दीपि.१०८) अर्थात् जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसेकोही अपने श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिए इस सिद्धान्तकी अवहेलना हो जाती है. और फिर पाखंडवश सभी हमारे स्वजन हैं और भक्त हैं ऐसा आभास खुदको होता है या दूसरोंको करवाता है. इसीलिये भाष्यकार कहते हैं ''भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण, वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोंकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोंका भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते हों तो भगवद्भावोंका बाहर प्रदर्शन सम्भव नहीं है. (अणुभा.३।४।४९). पुष्टिमार्गमें प्रभुका स्वरूप और प्रभुसेवा दोनों ही भावात्मक है. प्रभु और प्रभुसेवाके दर्शन किसी भी विवेक बिना सभीको करवा कर, व्यक्ति इस बहाने संचय-परिचय, कीर्ति इत्यादि लौकिक विषयोंकी पूर्ति करने लगजाता है. यह पाखंड व्यक्तिमें रहा हुआ लोभ ही करवाता है. आगे चलकर इसी बहाने धीरे-धीरे प्रभुकी सेवाके लिये द्रव्यादि स्वीकार करना इत्यादि प्रकारभी शुरु हो जाते हैं, जो सर्वथा मार्गीय सिद्धान्तसे विपरीत है. इसी सन्दर्भमें श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि ''यदि कोई लोकार्थी हो कर कृष्णका भजन करता है तो वह सर्वथा क्लेश ही पाता है. यदि कोई आजीविका कमानेके लिये या यश पानेके लिये भजन करता है, तो

न केवल उसे ऐहिक क्लेश ही होता है प्रत्युत ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण उसके सारे पारलौकिक अधिकार और फल भी नष्ट हो जाते हैं. (सि.मुक्ता.). ऐसी देवलक वृत्तिको शास्त्रमें महापतित माना है.

इस तरह जो लोग खुदके घरमें प्रभुसेवा नहीं करते, परन्तु धन देकर दुसरोंके द्वारा दुसरोंके वहां सेवा करवाते हैं, वे भी ऐसी लौकिक भोगरूप प्रतिबन्धके शिकार है, क्योंकि उन्हें यह भय लगता है कि यदि घरमें प्रभुकी सेवा सर्वस्वसमर्पणपूर्विका की जाए तो उनकी लौकिक भोगकी वृत्तिमें बाधा आ जाएगी. या फिर अकेले ही अपने संकुचित द्रव्यसे सेवा करनेसे उन्हें सुख नहीं मिलता है, क्योंकि मूलमें लौकिक विषयोंपर उनकी दृष्टि टीकी हुई है, प्रभुमें नहीं. आधुनिक समयमें जो तथाकथित पुष्टिमार्गीय सार्वजनिकसेवाका प्रकार, मार्गीय सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत होनेपर भी, बहुसंख्यामें चल रहा है, इसका कारणभी यही समझमें आता है कि सेवा करनेवाले और करवानेवाले दोनोंहीके हृदय काम-लोभ दोषसे आक्रान्त हो चुके हैं. जिससे उन्हें अपने घरमें सर्वस्वसमर्पणपूर्विका तनुवित्तजासेवाका श्रीआचार्यचरण प्रमाणित प्रकार मान्य नहीं है या सुहाता नहीं है. सच पूछो तो श्रीआचार्यचरणने ऐसे अधिकारी जिनमें 'विक्षेप' दोष आ पड़ा है, उन्हें सेवा त्यागकी बात बताई है, अन्यथा वही सेवा जो पुष्टिमार्गका प्राण है, उनके लिये पतित बननेका कारण बन जायेगी. 'विक्षेप' दोषका अर्थ सर्वनिर्णय निबन्धमें बताया है कि स्वतः सेवामें प्रवृत्त नहीं होनेवाली इन्द्रियोंको बलात् सेवामें लगानेपर, ऐसी इन्द्रियें चित्तमें विक्षेप उत्पन्न करती है. ऐसे विक्षेपके साथ सेवा करनेपर, प्रभुसेवा अशुद्ध बन जाती है. यह विक्षेपदोष भी अति कामासक्त और लोभयुक्त चित्तका ही परिणाम है.

कामादिदोषोंके निवारणका प्रयोजन एकमात्र भक्ति :

शास्त्रोंमें जितनेभी नियमसम्बन्धी आदेश हैं उनका एकमात्र तात्पर्य यही है कि काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य इन छह शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली जाए. ऐसा होनेपर भी यदि उन नियमोंके द्वारा भगवान्के ध्यान-चिंतन आदिकी प्राप्ति नहीं होती तो उन्हें केवल श्रम ही श्रम समझना चाहिए (द्रष्ट. : भा.पु.७।१५।२८). धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेपर भी यदि मनुष्यके हृदयमें भगवान्की लीलाकथाओंके प्रति अनुरागका उदय नहो तो वो

निरा श्रम ही श्रम है (द्रष्ट. : भा.पु.१।२।८). यहांपर कामादि इन छह दुर्गुणोंको शत्रुकी उपमा इसलिये दी है कि ये सभी दुर्गुण भगवान्की भक्तिमें प्रतिबन्धक है. इन दुर्गुणोंको दूर करनेका भी एकमात्र प्रयोजन तो भगवान्की निर्बाध भक्ति होना ही है. अतएव दोष दूर भी हो गये परन्तु जो भगवान्की भक्ति न हुई तो ऐसी निर्दोषता भी किस कामकी है भक्तके लिये तो ऐसी निर्दोषता भी निरर्थक ही है.

कामादिदोषोंके निवारणका उपाय :

इस प्रकार कामादि दोषोंकी भयंकरता और उनकी भक्तिमार्गमें प्रतिबन्धकता का विवरण देख लेनेके बाद, इन दोषोंके निवारणके उपायोंका विचार करना भी आवश्यक है. पहले देख चुके हैं कि व्यामोहिका मायाके कारण ही कामादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है. इस व्यामोहिका मायाको ही यदि वशमें कर ली जाए तो ये दोष अपने-आप दूर हो जाएंगे. शास्त्रोंमें जितने भी धर्मसम्बन्धी नियम, जैसेकी तप, अभ्यास, वैराग्य, सन्तोष, अनेक प्रकारके व्रत इत्यादि बताये हैं, उन सबका प्रयोजन भी इस मायाको वशमें करना ही है. परन्तु इस मायाको दूर करनेका श्रेष्ठतम उपाय स्वयं भगवान्ने बताया है "जो मेरा ही आश्रय करता है वही मेरी इस गुणमयी दैवी दुस्तर मायाको तैर पाता है" (भ.गी.७-१३). विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) दोनोंकी नियामिका यही माया है. भगवान्की शरण जानेसे अतिरिक्त अन्य जितने भी उपाय है, जैसेकि कर्म, ज्ञान, तप, इत्यादि, वे कोई भी इस दुस्तर मायाको तैर पानेमें समर्थ नहीं है. केवल भगवत्शरणागति ही एकमात्र उपाय है (द्रष्ट. : स.नि. ३०४-३०५). इसीलिये श्रीआचार्यचरण कृष्णाश्रय (श्लो.९) ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं "विवेक, धैर्य, भक्तिसे रहित और विशेषरूपसे पापाचरणमें आसक्त जीवके लिये श्रीकृष्णकी शरणागतिसे अतिरिक्त ओर कोई मार्ग नहीं है.

श्रीहरिराय महाप्रभु कामाख्यदोषविवरण ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं "कामादि दोषका स्वरूप अति भयंकर है, उनपर विजय पाना बहुत ही कठिन है. किन्तु उनको जितनेका भी श्रेष्ठ साधन एकही है; और वह है अपने श्रीआचार्यचरणकी शरणमें जाना. जीवमें सभी साधनोंके अभाव होनेपरभी श्रीआचार्यचरण अपने अनुग्रहसे जीवका उद्धार कर देंगे. इसलिए जिन्हें श्रीगोकुलेशके भजनकी आकांक्षा है, उन्हें तो श्रीमहाप्रभुजीका शरण

स्वीकारनेके अलावा ओर कोई मार्ग है ही नहीं इस सन्दर्भमें भागवतमें भी कहा है :

"स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोसहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहोभवान्।।

(भा.पु१०।२।३१).

अर्थ : हे परमप्रकाशस्वरूपपरमात्मन् सत्पुरुष भक्तोंपर आपकी बड़ी कृपा है, जिससे वे स्वयं इस भयंकर और दुस्तर संसारसागरको पार कर, जाते-जाते अन्य लोगोंके कल्याणके लिये आपके चरणकमलोंकी नौका स्थापित कर जाते हैं.

इस श्लोकका भाव समझाते हुए श्रीगुसांईजी भक्तिहंसमें आज्ञा करते हैं कि भगवान्के चरणकमल, भक्तिमार्गरूप होनेके कारण, उनका स्थापित करना वस्तुतः भक्तिमार्गरूप सम्प्रदायका प्रवर्तन करनाही है. जो लोग समर्थसाधनोंसे रहित हैं उनपरभी भगवान् अनुग्रह करते हैं, क्योंकि उनलोगोंने सत्पुरुषोंकी शरण ली है और भगवान् सत्पुरुषोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं. भगवान् अपने द्वारा साक्षाद् रूपसे अनुगृहीत भक्तोंका पक्षपात करते हैं. इस कारण ऐसे भक्तोंसे सम्बन्ध होनेके कारण, उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायमें प्रवृत्त लोगोंकेसमर्थसाधन-रहित होनेपरभी, भगवान् ऐसे साधनरहितों परभी अनुग्रह करते हैं.

"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।"

(भा.पु २।४।१८).

अर्थ : किरात हूण आन्ध्र पुलिन्द पुल्कस आभीर कंकयवन और खस आदि नीची जातियां तथा दूसरे पापी, जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्व शक्तिमान् भगवान्को बार-बार नमस्कार है.

चर्चा

काम-क्रोध-लोभादिकी प्रतिबन्धकता

श्रीयोगेश गोस्वामी

असित शाह : आलेखमें 'काम' शब्द दो-तीन अर्थछायामें यूज़ कियो है. कहीं तो काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य ये छे बताये हैं. कहीं जैसे श्रीहरिरायजीको कामाख्यदोषनिरूपणम् है तो वामें विजातीय आकर्षण और वा प्रकारके कामको निरूपण है. इन दोको कोरिलेशन् समझनो है.

गो. योगेश : सर्वनिर्णयमें श्रीमहाप्रभुजी 'काम'की व्याख्या जनरल् बता रहे हैं. यहां वाके प्रतिबन्धक पक्षपे ज्यादा भार नहीं है. और हरिरायमहाप्रभु लौकिक विषयन्में अपनी आसक्ति कैसे भक्तिमें प्रतिबन्धक हो रही है वो बात समझा रहे हैं.

असित शाह : आप लिख रहे हो के अहन्ताके कारण क्रोध होवे है और ममताके कारण काम होवे है. आगे आप बता रहे हो के ममताके कारण काम होवे है और कामके कारण क्रोध पैदा होवे है. यासु आप क्या कहनो चाह रहे हो?

गो. योगेश : कामकी पूर्ति नहीं होवे तब क्रोध होवे है. यासुं क्रोध कामको परिणाम है.

असित शाह : ये तो समझमें आवे है पर अहन्तासुं वो कैसे जुड़े है?

गो. योगेश : अहन्ताके ऊपर विशेष भार आ जावे तो अपन दूसरेको उत्कर्ष अपन सहन नहीं कर पावें और अपनकु क्रोध आ जावे. यासु अहन्ताके विरुद्ध कुछ भी होयगो तो अपनकु तुरन्त क्रोध आवेगो.

गो. श्या. म. : मोकु यामें ऐसो लगे है के कामके मूलमें ममत्व और क्रोधके मूलमें अहन्ता है ...फ्रॉयड् और दूसरे मनोवैज्ञानिक सर्टन् ड्राईव्ज़कुं बेज़िक् माने हैं. उनके कारण अपनो ईगो, अपनो एटेच्मेंट् डेवलप् होवे है. अपनी साय्कोलोजी दूसरी बात कह रही है. जैसे फ्रॉयड्केलिये सेक्स अपनी इतनी बेज़िक् ड्राईव् है के वो वाकु अपन जैसे परब्रह्म-परमात्मा माने हैं ऐसो मूल तत्त्व माने है. यासु वो अपनी

सब वृत्तीन्को मूल सेक्स माने है. एक जमानामें फ्रॉयड्की तूती चलती हती. आजकल वाको प्रभाव उतनो नहीं रह्यो है, दूसरी बहोतसी थियरीएं आ गयी हैं. पर अपने यहांकी साय्कोलोजीके हिसाबसुं अपन फ्रॉयड्की तरह नहीं माने हैं. यद्यपि अपने यहां ऐसे वचन मिले हैं के **"कामस्तदग्रे समवर्ततााधि"** और **"काममयोऽयं पुरुषः"** पर वहां जो काम है वो सेक्सवालो काम नहीं होके विषयकाम है. **"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते, सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते"** ये साय्कोलोजिकल प्रक्रिया गीतामें बताई है. तो अपने हिसाबसुं बेज़िक् ड्राईव कहनी होवे तो अपन यों माने हैं के मनुष्य ...वैसे मोड्र्न साय्कोलोजिस्टमें भी कईने स्वीकार्यो है के मनुष्य ग्रेगेरियन् एनिमल् है, संगमें रहनो चाहे है, निःसंग नहीं रहनो चाहे है. अपनो अनुभव भी ऐसो है के निःसंग रहनेमें अपनकु भय होवे है. श्रीमहाप्रभुजी भी आज्ञा करे हैं के **"बाधसम्भावनायान्तु नैकान्ते वास इष्यते, हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः"**. तो एकान्तसुं अपनकु डर है. तो अपने यहांकी साय्कोलोजीके हिसाबसु अपन ये माने हैं के मूलमें अपन संगजीवी प्राणी हैं. संग अपनेमें ममता पैदा करे है. जिनमें अपनी ममता है वामें काम पैदा होवे है. सेक्स् तो वाकी एक वेरायटी है. फ्रॉयड्की तरह अपन सब जगह सेक्स् नहीं माने हैं. क्योंके यदि वो सेक्स् कैंसल् हो जावे तब भी ये काम कैंसल् नहीं हो सके है. मूल बात ये है. अब संगजीवी प्राणीको संगमें जीनो ये जैसे एक पहलू है ऐसे अपनमें एक तरहकी सेल्फ्अवेरनेस् भी है के मैं संगजीवी हूं. और एक बात ध्यानसुं समझो के संगमें दूसरो आदमी खो जावे है पर कभी भी अपन नहीं खोवें हैं. जैसे भीड्में अपने संगको आदमी खो सके है पर अपन अपनेआपकेलिये एक लाखकी भीड्में भी खो नहीं सके हैं. ये उदाहरण शाङ्करनने "दशमस्त्वमसि"के रूपमें दियो है. पर श्रीमहाप्रभुजी वाकु हेल्दी उदाहरण नहीं मानें हैं. अहन्ताकी विस्मृति दीखनो विकृत उदाहरण है, स्वस्थ साय्कोलोजिकल् उदाहरण नहीं है. महाप्रभुजीके हिसाबसु और शङ्कराचार्य भी कहे हैं के **"सर्वोऽपि लोको अहमस्मीति प्रत्येति नाहमस्मीति ब्रूयात्"**.

"मैं नहीं हूं" या "मैं खो गयो हूं" ऐसी अनुभूति न कोईकु नहीं होवे है. मेरे लोग खो गये हैं ऐसे तो होवे है पर मैं खो गयो हूं ऐसो कभी नहीं होवे है. तो अपनी अहन्ताको कभी भी विलोपन नहीं होवे है. अहन्ता प्रबल-निर्बल हो सके है. जैसे भय होते ही अहन्ता निर्बल हो जावे है. तब अपन संरक्षण चाहे हैं. शरणागतिमें भी मूलमें अपनो ये ही भाव है. अपनी अहन्ताकु कमजोर बनाके शरणागत हो जाओ. अहन्ता जब प्रबल है तो "काम अपूर्ण + अहन्ता = क्रोध" ऐसो ईक्वेशन् है. "- अहन्ता = क्रोध" ऐसो कभी भी नहीं हो सके है. क्योंके वो अपनमें ऐसो फ्रस्ट्रेशन् पैदा करे है के जामें अपने अहंकारके कारण अपनकु ऐसो लगे है के क्यों मेरो काम पूर्ण नहीं भयो. अरे, पर तू कौनसे सुरखाबके पर लगाके आयो है के तेरो काम पूर्ण होनो ही चहिये! पर वो बात सोचनेकु अपनी अहन्ता अपनकु समय नहीं दे है. यदि अपनकु ये बोध हो जावे के ऐसो कोईको अहंकार नहीं हो सके है के जाकी सब कामनायें पूर्ण होनी ही चहिये तो अपनकु क्रोध नहीं होयगो. "प्राप्तं सेवेत निर्ममः" या बाजु ममताकु सोबर बनानेकी प्रक्रिया है पर 'सेवेत'में सेवनमें जो ममता प्रकट हो रही है के इनको मोकु सेवन करनो है वो अहन्ताकु सोफ्ट् बनानेके कारण अपूर्णकाम + निर्बल अहन्ता क्रोधकी जनक नहीं होयगी पर प्रबल अहन्ता हर बक्त क्रोधकी जनक होवे है. अक्सर अपूर्ण अहन्ता और काम जब एकदम रजोगुणसुं संबलित होके जब विकराल रूप धारण करे है, रजोगुणको मतलब अहन्ता स्थिर नहीं होके चञ्चल हो गयी. इतनी के कहीं भी अपनो आश्रय खोज रही है. अहन्ता सात्विक-राजस-तामस तीनों तरहकी हो सके है. अपने यहांकी साय्कोलोजिके हिसाबसुं सात्विक अहन्ता स्थिर-अचञ्चल और जाग्रत है. तामस अहन्ता स्थिर है पर सुषुप्त-जडीभूत है. और राजस अहन्ता एकदम चञ्चल है. वो सखणी नहीं बैठे है. वाके कारण अपनकु उद्वेग ज्यादा होवे है. यदि वो स्थिर और प्रकाशरूप हो जाय तो वो उद्वेग पैदा नहीं करेगी. वो नहीं होवे तो चञ्चल अहन्ता क्रोध पैदा करेगी ये अपने यहांकी साय्कोलोजी है. वाकु श्रीमहाप्रभुजीने समझायो है के सुख धर्मसुं इच्छा पैदा होवे है. इच्छा प्रबल होनेके बाद काम होवे है. हर इच्छा अपनी काम नहीं

है. वात्सन्ने याके पेरेलल् वान्ट्स् और डिज़ायर् को भेद बतायो है. वोन्ट्स् हेबिट्सुं पैदा होवे है. वो जब फुल्फिल् नहीं होवे तो तुमकु वाकी डिज़ायर् होवे है. वोन्ट्स् और डिज़ायर् को जो भेद है वो अपने यहां इच्छा और काम हैं. अंग्रेजीमें वाकु हंगर् और एपेटाईट् भी कह सके हैं. हंगर भूखसामान्य है पर एपेटाईट् विशेष वस्तुकी भूख है. मोकु ढोकला ही खाने हैं, फाफड़ा ही खाने हैं. ये एपेटाईट् है. वो कामको रूप है. हंगर् इच्छाको रूप है. वो पैदा हो रही है सुखसुं. क्योंके जासुं दुःख होवे वाकी अपनकु इच्छा नहीं होवे है. श्रीमहाप्रभुजीकी साय्कोलोजीकी ब्यूटी देखो के इच्छा सुखसुं पैदा हो रही है. सुख कहांसुं पैदा हो रह्यो है? आनन्दसुं. "**यो वै भुमा तत्सुखं नाल्पीवे सुखमस्ति**". "**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**" आत्मरूप काममें धर्मभूत आनन्दकी अनुभूति हो रही है वासुं अपनकुं सुखानुभूति होवे है. वो सुखानुभूति जाके सम्पर्कमें अपन आवे हैं वाके कारण इच्छाको रूप धारण कर रही है. वो इच्छा जब स्पेसिफाईड् होवे है तब कामको रूप धारण करे है. और वो जब अन्फुल्फिल्ड होवे, और जब अहन्ता सात्त्विक अवस्थामें नहीं है तो झट्सु वो क्रोधको रूप धारण कर लेवे है. और अन्फुल्फिल्ड् काम और मूढ अहन्ता आदमीकु हिस्टीरिया, स्युसाईड्, डिप्रेशन् जैसी बातन्में ले जावे है. ये सब मूढ अहन्ताके प्रकार हैं. पर राजस अहन्ता जो एजाईल् है वो अपूर्णकामकुं सहन करने नहीं दे है. अहन्ताको ईगो हर्ट् होवे है. वो क्रोधको रूप धारण करे है.

सात्त्विक अहन्ता जागृत है पर एजाईल् नहीं है. यासु अपूर्ण काम है पर अहन्ता सात्त्विक है तो आप अपूर्ण कामकुं फील् करोगे. बस्. दुनियामें न जाने कितने ऐसे व्यक्ति हैं के जिनके काम अपूर्ण हैं. वामें एक मेरो भी काम पूर्ण नहीं भयो तो वामें कौनसी गाज गिर गई! सात्त्विकता आपकु ये रियलाईज़ करायेंगे के ऐसे क्यों मान लेनो चहिये के मोकु कामना भई तो वो पूर्ण होनी ही चहिये. वो इच्छाकु देखेगी के मोकु याकी इच्छा हो रही है. पर अपूर्ण है. क्या करनो? इतनो देखके वो पाछी चली जायेगी. क्योंके वो सात्त्विक है, स्थिर है. पर राजस अहन्ता दौड़ती भयी अहन्ता है. वो क्रोध पैदा करे है.

मैं समझुं हूं के युरोपकुं अपनी साय्कोलोजी समझनेमें बहोत टाईम लगेगो. अपनी साय्कोलोजी बहोत डीपर है.

गो. शरद् : उपनिषद्में सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें वर्णन आवे है के "**यथा स्त्री-पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्**" यहां स्त्री-पुरुषके कामको वर्णन आवे है. वाके पीछे भागवतमें ब्रह्माजीद्वारा सृष्टि करनेको वर्णन है वहां भी सृष्टिको विस्तार हो नहीं रह्यो हतो तब ब्रह्माजीके देहमेंसुं स्वायम्भुव मनु और शतरूपा उत्पन्न भवे. ऐसे सृष्टिके वर्णनमें स्त्री-पुरुषके कामको वर्णन मिले है. याके कारण कई लोग ऐसो कहे हैं के अपने यहांके ये सब वर्णन फ्रोयडियन् साय्कोलोजीकी धारणाकुं सपोर्ट करे हैं. या सम्बन्धमें अपनी क्या धारणा है?

गो. श्या. म. : मैने या ही लिये खुलासा कियो हतो के 'काम'को सेक्स् अर्थ पहाड़की चोटीकुं पहाड़ समझ लेने जैसो है. पर चोटीको पहाड़ बहोत क्षुद्र-छोटो होवे है. पर वा चोटीकु बनाये रखनेकेलिये वाके नीचे तरहटी तक पहाड़को जो विस्तार है वो बहोत बड़ो है. ऐसे सेक्सवालो काम बहोत क्षुद्र काम है. बाकीके कामको विस्तार इतनो बड़ो है के मेरे पोताके पोतेकेलिये भी मैं पैसा जमा करनो चाहुं हूं! कोईने शेठजीकु कही के आपकी सम्पत्ति तो इतनी है के आपकी तीन पीढ़ीकु खाने-पीनेकी कोई चिन्ता नहीं है. ये सुनके शेठजीकु रोनो आ गयो के मेरी चौथी पीढ़ीको क्या होवगो! शिलालेख लोग लिखवावें हैं वो क्या है? वो ही काम है. वल्लभ पञ्चशतीके बखत परिषद्कुं कुछ करनेको उत्साह आयो. एक गटरके पास कोई बगीचा हतो. परिषद्ने वाको नाम "वल्लभाचार्य उद्यान" रखवा दियो. गटरके पासके बगीचाको नाम श्रीमहाप्रभुजीपे रखनेकी क्या तुक! पर काम लग गयो है तो कुछ तो करनो ही है! श्रीमहाप्रभुजीको वो काम नहीं हतो. तुम्हारे घरमें सेवाको बगीचा खिलाओ तो श्रीमहाप्रभुजी अधिक प्रसन्न होंगे. गटरके पास गार्डन्को नाम 'वल्लभाचार्य उद्यान' रखनेसुं क्या फायदा? परिषद्कुं पञ्चशतिपे दूरसो काम जग्यो के सब बड़े-बड़े लोगन्की टपाल टिकिट छपे है तो श्रीमहाप्रभुजीकी भी छपनी चहिये. पांचसो वर्षमें कभी कोईके बापकी ताकत नहीं हती के श्रीमहाप्रभुजीकुं थूंक लगा सके वो वैष्णव परिषद्ने

वल्लभपञ्चशतिपे लगवाई. श्रीमहाप्रभुजीके प्रति ये कैसी ममताको भाव है? देखो, ये सब कामके खेल हैं. तो देखो के ग्राउंड् लेवल्पे काम वा एक्स्टेंट् तक जावे है. याकु सेक्स्वाले कामके साथ कोई लेना-देना नहीं है. तो "नान्तो कामस्य विद्यते". टिकिट छपवानेमें भी पाछी हाँसातोंसी इतनी भई के लोग झगड़ने लगे. एकने कही के टिकिट मैने छपवाई. तो दूसरेने कही के चित्र मैने दियो हतो वासु मेरो नाम आनो चहिये. पोस्ट ऑफिस् वालेनकु पता भी नहीं है के वल्लभाचार्य कौन हते और अपन उनपे थूक लगवाये जा रहे हैं! ये सब काम है.

આસુરાવેશ

અસિત શાહ

ઉપક્રમ :

શ્રીમહાપ્રભુજીવિરચિત 'શિક્ષાશ્લોકી' એ **"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"** શાસ્ત્રવચનનું અધોપિત પુષ્ટિમાર્ગીય ભાષ્ય જ છે જાણે! **"यदा बहिर्मुखा यूयं ... नैव लौकिकम्"** એ **"धर्म एव हन्तो हन्ति"**નું ભાષ્ય છે, જ્યારે કે **"भावस्तत्राप्यस्मदीयः ... हि नः"** એ **"धर्मो रक्षति रक्षितः"** નું.

આસુરાવેશને સમજવા માટે આ "धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः" સૂત્ર સમજવું આવશ્યક છે. કેમ કે આપણે ત્યાં કોઈ શૈતાન તો છે નહીં જે પુરુષને ભરમાવીને રવાડે ચઢાવે! **"એष उ एव साधुकर्म कारयति"** અને **"એष उ एव असाधुकर्म कारयति"**. એક જ દિગ્દર્શક છે આ ક્રીડામાં. કર્તા જીવ છે ને કારયિતા પ્રભુ છે.

આ સૂત્રને બીજા શબ્દોમાં કહીએ તો હણાતા ધર્મમાં વ્યક્તિને હણવાનું સામર્થ્ય છે, જ્યારે કે રક્ષાયેલ ધર્મમાં વ્યક્તિને રક્ષવાનું સામર્થ્ય છે. અરક્ષિત ધર્મમાં રક્ષવાનું સામર્થ્ય નથી અને ન હણાઈ રહેલ ધર્મમાં હણવાનું સામર્થ્ય નથી. આને આપણે આપણા શરીરમાં દાંત સાથે સરખાવી સમજી શકીએ. દાંતની આપણે કાળજી લઈએ તો દાંત આપણા સ્વાસ્થ્યની કાળજી ખોરાકને સુપાચ્ય બનાવી લે છે. અને દાંત સડી કે પડી જાય તો સ્વાસ્થ્ય પણ કથળી જાય છે. સડેલા દાંતમાં સ્વાસ્થ્યને રક્ષવાનું સામર્થ્ય નથી અને સારા દાંતમાં સ્વાસ્થ્ય બગાડવાનું સામર્થ્ય નથી. સંક્ષેપમાં ધર્મને રક્ષક કે ભક્ષક બનવાને સમર્થ અર્થાત્ ફલમુખ્યયોગ્ય વ્યક્તિ સ્વયં જ બનાવી શકે છે; સ્વરૂપયોગ્યતા ધર્મમાં બન્ને પ્રકારની હોવાથી. આવો લીલાનિયમ કે રુલ ઓફ ધ ગેમ છે આ સૃષ્ટિમાં.

ભાષ્યમાં સૂત્રોક્ત સાથે અનુક્ત વાત પણ કહેવાય છે. તે ન્યાયે શિક્ષાશ્લોકીમાં શ્રીઆચાર્યચરણ **"गोपीशः विधास्यति अखिलं हि नः"** આજ્ઞા કરી સૂચવે છે કે પુષ્ટિજીવો માટે વિશેષતયા સ્વયં પ્રભુ અર્થાત્ ધર્મી સામર્થ્ય પ્રકટ કરે છે; તેને ધર્મનું સામર્થ્ય પ્રકટ થતું ન જાણવું. અસ્તુ.

યૌગિકાર્થ :

અસુરસંબંધી તે આસુર; આસુર એવો આવેશ તે આસુરાવેશ. **"આસુરી યોનિમાપન્ના મૂઢા જન્મનિ જન્મનિ મામપ્રાપ્યૈવ કૌન્તેય તતો યાન્ત્યધમાં ગતિમ્"** ગીતાવચનને આધારે પ્રલયપર્યન્ત ભગવદ્પ્રાપ્તિ જેમના વરણમાં લખાઈ હોય તે આસુરી જીવો. તો દૈવી જીવો પણ આસુરી જીવો જેવું ભગવદ્વિમુખતાભર્યું વર્તન કરે ત્યારે તેમનામાં આસુરાવેશ થયો જાણવો. આમ આસુરી જીવોને તો અસુરપણું સિદ્ધ હોય છે; ચિર કે અચિરકાલસ્થાયી આસુરાવેશ તો દૈવી જીવોને જ થઈ શકે.

આસુરાવેશવિચારૌચિત્ય :

"વિષયાક્રાન્તદેહાનાં નાવેશઃ સર્વથા હરેઃ" જેવા વચનો વાંચતા જ લાગે કે વિષયાવેશ અને ભગવદ્યાવેશ વચ્ચે સહાવસ્થાનાસહિષ્ણુ વિરોધ છે આગ અને પાણી જેવો. પણ તે તો ઉત્કટ આવેશને તબક્કે. પ્રારંભિક કે અનુત્કટ આવેશનું તો ચક્ર ચાલતું હોય છે. અનાયાસ ભગવદ્યાવેશ અને આસુરાવેશ આવી-જઈ શકે છે. તેથી જ શ્રીમહાપ્રભુજીના શબ્દોમાં ગાયના શિંગડા પર રાઈનો દાણો ટકે તેટલી વારે ય ભગવન્નામ છુટ્યું તો આસુરાવેશ આવ્યો જ જાણો એવી પરિસ્થિતિ હોવા છતાં ય આસુરાવેશથી ગભરાયા વિના તેનો સ્વભાવ જાણી સાવધ રહેવું પર્યાપ્ત છે.

આસુરાવેશ અને ભગવદાવેશમાં સામ્ય અને તેના પર આધારિત ઉપદેશ :

(૧) **"પરાભિધ્યાનાત્ તુ તિરોહિતં તતો હ્યસ્ય બન્ધવિપર્યયઃ"** બ્રહ્મસૂત્ર અને **"વિદ્યાવિદ્યે હરેઃ શક્તી માયયૈવ વિનિર્મિતે તે જીવસ્યૈવ નાન્યસ્ય દુઃખિત્વં ચાપ્યનીશતા"** એ શ્રીમહાપ્રભુજીના વચનાનુસાર જીવનું બંધન એ ભગવત્કૃતિ છે. તેથી જેમ વિદ્યા અને અવિદ્યા એ બે ભગવાનની શક્તિની અસર તળે જીવમાં જ્ઞાન અને અજ્ઞાનનું એક સતત ચક્ર ચાલતું રહે છે તેમ જ દૈવી અને આસુરી આવેશોનું પણ ચક્ર સતત ચાલતું રહે છે. **"દ્વયા હ વૈ પ્રાજાપત્યા"** એ શ્રીભાગવતવચન પ્રમાણે ઇન્દ્રિયોમાં દૈવી અને આસુરી બંને પ્રકારની વૃત્તિઓ હોય છે.

(૨) **"પરાંચિ ખાનિ વ્યતૃણોત્ સ્વયંભૂ તસ્માત્ પરાગેવ પશ્યતિ નાન્તરાત્મન્"** શ્રુત્યનુસાર ઇન્દ્રિયો બહિર્ગામી હોવાથી તેમના સ્વભાવવશાત્

ચિત્તવૃત્તિને બહાર વિષયો તરફ ખેંચી જાય છે. આ ભૌતિક દેહ પ્રાકૃત હોવાથી આમ જ ચાલતું રહે છે. નવતનુત્વની સિદ્ધિ થાય તો, **"જહુઃ ગુણમયં દેહં"** શ્લોકમાં અંતર્ગૃહ્યતા ગોપીજનો માટે નિરૂપણ થયું છે તેમ નૂતન અપ્રાકૃત દેહ મળતાં, આ ચક્રની બહાર નિકળી જવાય. પછી સેવોપયોગી દેહ મળે તે આસુરાવેશરહિત હોય. પણ તે તો ભગવત્સામર્થ્યજનિત પ્રક્રિયા છે જે તાત્કાલિક અસરકર્તા હોય છે. તેમાં ભગવત્સામર્થ્ય તો પ્રકટ થાય પણ ભક્તિમાર્ગીય પ્રક્રિયા પ્રકટ નથી થતી.

(૩) આ સિવાયની એક તનુનવત્વની અલૌકિક સામર્થ્યની પ્રક્રિયા છે, જે લાંબી હોવા છતાં રસાલ હોય છે; એક માટીના કાચા ઘડાને પકવવા જેવી સર્જનાત્મક પ્રક્રિયા. તેમાં કામ તો **"પ્રદાનવત્"** સૂત્રાનુસાર ભગવત્સામર્થ્ય કરતું જ હોય છે પણ તો ય ભગવત્સામર્થ્ય અપ્રકટ રહેતું હોવાથી જીવે જ પ્રસૂતિપીડા ભોગવવાની રહે છે. આ પ્રક્રિયાના ફલસ્વરૂપે દેહેન્દ્રિયાદિ પ્રાકૃત રહે તે છતાં ય તેમાં આસુરાવેશ નથી થતો. મન નિરુદ્ધ થઈ જવાથી પ્રપંચવિસ્મૃતિપૂર્વક ભગવદાસક્તિ બની રહે છે. આ પ્રક્રિયા ભક્તિશાસ્ત્રાનુસારી અને કેટલેક અંશે રસશાસ્ત્રાનુસારી હોય છે. મન તેમાં ઇન્દ્રિયોનું દોરવાયું ન દોરવાતા ઇન્દ્રિયોને દોરે છે. ભગવદ્રસાવેશવશાત્ પ્રતિક્ષણ નૂતન આહ્લાદ અનુભવાતો રહે છે; ન સ્થગ અનુભવાય કે ન સમય.

આની શરૂઆત માર્ગરુચિથી થાય છે. પછી સેવા-કથાની પ્રક્રિયાથી ભગવત્સંગ બન્યો રહે તો ભગવદાવેશનો સમયગાળો વધતો જાય છે. **"યદા યદા હરિઃ કૃષ્ણઃ મનસ્યાવિશતે નિજે તદા તદા સાધનેષુ પરિનિષ્ઠા વિવર્ધતે"** ન્યાયે માર્ગરુચિથી ભગવદ્રુચિ અને ભગવદ્રુચિથી ભજનરુચિનું વર્ધન થતું રહે છે. વૃદ્ધિંગત ભજનરુચિ ભગવત્પ્રેમાસક્તિવ્યસન સિદ્ધ કરી દે છે. આ છે ભગવદાવેશની વૃદ્ધિની સ્વમાર્ગીય પ્રક્રિયા.

આસુરાવેશ પણ વૃદ્ધિંગત થઈ શકે છે! સાંખ્યશાસ્ત્રમાં કોઈ પારિભાષિક શબ્દ આ માટે શોધીએ તો તે 'પ્રકૃતિવિકૃતિ' છે. અર્થાત્ તે જન્ય પણ છે અને જનક પણ. **"ધ્યાયતે વિષયાન્ પુંસઃ સંગસ્તેષૂપજાયતે સંગાત્ સંજાયતે કામઃ..."** ગીતાવચનાનુસાર વિષયસંગાદિ બાહ્ય કે મનશ્ચાંચલ્યાદિ આંતરિક કારણોથી આસુરાવેશ પેદા થઈ શકે છે અને અવિશ્વાસ, સન્દેહ,

દુઃસંગ, અન્યાશ્રય, ભગવાનમાં લૌકિક બુદ્ધિ આદિ બહિર્મુખતાના સ્રોતોને પેદા પણ કરી શકે છે.

(૪) આ સિવાય તેમાં અને ભગવદાવેશમાં એક સામ્ય એ પણ છે કે બંને ક્રિયા-વાણી-મન ત્રણેયમાં અંશતઃ કે પૂર્ણતઃ વ્યાપી રહે છે. સેવામાં કીર્તન કરતી ઘડીએ મન વિષયોમાં ભટકતું હોય એવું સહજ સંભવે.

(૫) નિરાયાસ કે સપ્રયત્ન, સાધનદશામાં ભગવદાવેશ કે આસુરાવેશ અખંડ અવિચ્છિન્ન બન્યા નથી રહેતા. આયુર્વેદમાં શારીરિક આવેગો માટે કહ્યું છે તેમ આસુરાવેશના આવેગને રોકવાથી કે વધારવાથી ભક્તિમાર્ગીય રોગોનો ઉપદ્રવ થઈ શકે છે. તેને ક્યારેક સહજતાથી લઈ લેતા ચક્રાત્મક પ્રક્રિયાન્તે પાછો ભગવદાવેશ ઉપલબ્ધ થઈ જતો હોય છે. તેથી શ્રીગોપીનાથજી સાધનદીપિકામાં **"ततो वार्ता स्वकीयानां बहुपायैरनाकुलाम् यात्रार्थमेव सेवेत नाभिवेशोऽत्र संचरेत्" "सुतार्थिनी स्वपत्नी चेत् व्रजेत् तां जेतुमिन्द्रियम्"** જેવી અનુજ્ઞાઓ આપે છે.

(૬) ભગવદાવેશ દિન હોય તો આસુરાવેશ રાત્રિ છે. તેમનું ચક્ર ચાલતું રહે છે. રાતભરકા હૈ મહેમાન અંધેરા, કિસકે રોકે રુકા હૈ સબેરા. પણ આમાં ગાફેલ રહેવું ન પાલવે. કેમકે તેને બેરોકટોક ચાલવા દઈએ તો ભજનમાં વિઘ્ન કર્યા વગર ન રહે. તેથી **"ऋणदेहवदातुरः"** ન્યાયે આસુરાવેશને સહી લેવો, તેનું પોષણ ન કરવું. **"यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य"** અને **"वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्"** આચાર્યવચનો આ જ ઉપદેશે છે.

(૭) વળી મન કે બુદ્ધિ સાવ ત્રિક્ષણાવસ્થાથી નહીં તો ય ચંચલ તો રહેવાના જ, તેથી જેમ ભજનમાં આસુરાવેશ વ્યવધાન કરી શકે છે તેમ આસુરાવેશમાં ય ભજનાનુરૂપ ક્રિયાદ્વારા વ્યવધાન કરી તેને બને તેટલો જલ્દી નિવૃત્ત કરી શકાય છે. તેથી અહર્નિશ અષ્ટાક્ષરરટણ કરવાનો ઉપદેશ છે, કે કમસે કમ વાણી તો ભગવન્નિષ્ઠ રહે તો ય પાછી ગાડી પાટે ચઢે ભજનની.

(૮) "સો શ્રીઆચાર્યજીકો યહ નિયમ હતો જો રાત્રિમેં દોય તીન બેર

ઉઠિ સગરે સેવકનકોં દેખિ જાય, જો કોઈ સેવક લૌકિક વાર્તા, કાહૂકી નિંદ્ય ન કરન પાવે. સો અર્ધરાત્રિસમય એક દિવસ શ્રીઆચાર્યજી પધારે. સો દૂરતેં દેખે તો કોઈ સેવક કીર્તન ગાવત હૈ, કોઈ સેવક ધોલ ગાવત હૈ, કોઈ સેવક પંચાધ્યાયીકો પાઠ કરત હૈ, કોઈ ભગવદ્વાર્તા કરત હૈ. સો દેખિકે પ્રસન્ન ભયે, જો કોઈ લૌકિક બાત કાહૂકી નિંદા નાહીં કરત હૈ. પાછેં ગોપાલદાસકોં આય દેખેં તો નીંદકો ઝોકા આયો હૈ પરંતુ પાનનકો પંખા કરત હૈં. તબ શ્રીઆચાર્યજી મહાપ્રભુ ગોપાલદાસકે ઉપર બહોત પ્રસન્ન ભયે, જો યહ સબતેં શ્રેષ્ઠ હૈ જો નીંદ હૂ આવતમેં ભગવત્સેવા કરત હૂં."

આ દૃષ્ટાન્તનું વિશ્લેષણ કરીએ તો ભક્તિમાર્ગીય સાધનાના શરૂઆતના તબક્કે એવી પુરુષતન્ત્ર પ્રક્રિયા અપેક્ષિત છે જેમાં મન અને ઈન્દ્રિયોનો નિગ્રહ કરી તેમને ભગવદભિમુખ કરવાના રહે છે. પણ સિધ્ધકક્ષામાં રાગતન્ત્રવશાત્ તેઓ એમની મેળે જ ભગવદભિમુખ થઈ જાય છે. આને શ્રીયમુનાષ્ટકમાં સ્વભાવવિજય કહેવામાં આવેલ છે. મુર અસુર જો આસુરાવેશનું મૂર્તિમાન રૂપ હોય તો મુરારિ પ્રભુ તેને નાથી શકે છે. શ્રીયમુનાષ્ટકમાં નિરુપ્યું છે તેમ સ્વભાવવિજય થતાં સમસ્તદુરિતક્ષય, મુકુન્દમાં રતિ, સકલસિદ્ધિ અને મુરારિનો સન્તોષ બધું જ સરળતાથી મળી રહે છે.

આસુરાવેશ અને ભગવદાવેશમાં અસામ્ય :

ભગવદાવેશ કેવળ દેહાદિના સ્વભાવજન્ય ન હોઈને ભગવદ્વરણજન્ય પણ હોય છે. તેથી ભક્તિનો બીજભાવ દેવીજીવમાં કાયમ રહે છે; ભલે તેને અહર્નિશ આસુરાવેશ પણ કેમ ન થઈ જાય. એક જન્મમાં ભગવદાવેશવૃધ્ધિની પ્રક્રિયા પૂરી ન થાય તો **"खंडशः क्रियमाणा भक्तिः अन्तिमजन्मनि फलं जनयति"** ન્યાયે જન્માન્તરમાં તે પૂર્ણ થાય છે. કોઈપણ સ્થિતિમાં ભક્તિના બીજભાવનો નાશ નથી થતો. ૨૫૨ વૈષ્ણવોમાંના ગુલાબદાસ/ખાનની વાર્તા આનું દૃષ્ટાન્ત છે કે મ્લેચ્છવત્ દીનચર્યા થઈ ગયેલ હોવા છતાં શ્રીગુસાંઈજીએ મોકલેલ વૈષ્ણવનો ભેટો થતાંજ વિરહાર્તિ જાગી અને પ્રબળ દૈવી આવેશ પુનઃ પ્રકટ્યો.

જેમ બીજભાવ નષ્ટ નથી થઈ શકતો તેમ પેદા પણ નથી થઈ શકતો. તે તો જેનામાં હોય તેનામાં હોય. તેથી ખાસ તો ઉપદેશકોએ એ સમજવાનું રહ્યું કે ભગવદાવેશવર્ધનની કોઈ સાર્વજનિક પ્રક્રિયા ન હોઈ શકે.

શિક્ષાપત્રમાં આ બાબતનો ઉપદેશ :

શિક્ષાશ્લોકી અને શિક્ષાપત્ર બન્ને વડીલે સ્વજનોના હિતાર્થે આપેલ સન્દેશ છે. બન્નેમાં 'શિક્ષા'શબ્દનું હોવું કોઈ યોગાનુયોગમાત્ર નથી. એકમાં મૌનવ્રતધારી છતાં ય સ્પષ્ટવક્તા, દેહદેશત્યાગની સ્વામીની આજ્ઞાને અનુસરનારા છતાંય સ્વજનહિતેપિતાના અત્યાગી સંન્યાસીને છાજે તેવી સન્મુખ ઉપસ્થિત શોકગ્રસ્ત પુત્રાદિને ઉપદેશ આપવાની શૈલી છે. તો બીજામાં જવાબદાર ગૃહસ્થ મોટાભાઈએ દૂર રહીને ય કાન્તાસમ્મિત શૈલીમાં શોકગ્રસ્ત નાનાભાઈને ઉપદેશ આપેલ છે. તેથી સંક્ષેપ-વિસ્તારનો ભેદ રહેવાનો જ. છતાં ય બન્નેનું સ્વારસ્ય ભગવદભિમુખ બની રહેવામાં જ સ્વજનોનું હિત છે તે જણાવવામાં છે. શિક્ષાશ્લોકી સૂત્ર હોય તો શિક્ષાપત્ર તેનું ભાષ્ય છે. વિસ્તારભયે અહીં પંક્તિશઃ ઉલ્લેખો આપતો નથી. દરેક શિક્ષાપત્ર અહીં ટાંકી શકાય તેવા સમૃદ્ધ છે છતાં ય કેટલાકનો જ અહીં ઉલ્લેખ કરીશ.

૨૦મા શિક્ષાપત્રમાં અક્ષરાક્ષર, આત્મસંબંધદીક્ષા, સેવા, ગુણગાન, આર્તિ, તાપ અને વિરહ ઉત્તરોત્તર દોષસમૂહનાશક બતાવ્યા છે એક પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીયના જીવનમાં. પરંતુ અવિશ્વાસ એવો મહાબાધક છે કે તે પેદા થાય તો કોઈ ગતિ નથી. તેથી આજીવન આપાતસુંદર એવા અલ્પજ્ઞના વચનોથી બુદ્ધિ ચલિત ન થાય તે માટે સેવા-સદાચાર-ધર્મમાર્ગસ્થિતિ, અવિરુદ્ધવચન-કૃતિ, આચાર્યવચનેકનિષ્ઠા, સતત ભાવુકતા, તદીયજનસંસર્ગ અને અન્યસંગ-વિવર્જનનો ઉપદેશ છે.

૨૨મા શિક્ષાપત્ર અનુસાર હૃદયમાં ભગવદ્ભાવ નિધિરૂપ અને તેથી સર્વથા સંરક્ષ્ય છે. તેનું વિરોધી ત્યાગવું.

૨૭મા શિક્ષાપત્રમાં હરિવિસ્મારક ૪૦ દોષો ગણાવ્યા છેઃ ધન, ગૃહ, ગૃહાસક્તિ, લોકવેદમાં પ્રતિષ્ઠા, મનની કર્માદિમાં નિષ્ઠા, સ્વર્ગાદિફલાકાંક્ષા, લૌકિકમાં પરમપ્રીતિ, વિરુદ્ધવિષયેષણા, વિષયાસક્તિ, ભોજન, દેહ-કુલ-વિદ્યાભિમાન, દેહપોષણ, અસત્સંગ, કૃષ્ણાનુચ્છિષ્ટભક્ષણ, નિવેદનાનુસંધાનત્યાગ, શરણવિસ્મૃતિ, દેવાન્તરાશ્રય, તેમની પ્રાર્થના, ફલાર્થિતા, ભગવચ્ચિત્તરહિતા લૌકિકી વ્યાવૃત્તિ, ગુરુદ્રોહ, ભગવદીયોથી પોતાને અધિક જાણવા, અત્યન્તદેહસામર્થ્ય, ઇન્દ્રિયોનું પોષણ, ગૃહમાં અભિરતિ,

ભાર્યાપુત્રાદિમાં મનોગતિ, કૃષ્ણાનુભાવરહિત દેશમાં સતત સ્થિતિ, લોકમાં લાભથી હર્ષ અને લોકમાં હાનિથી શોક, સ્વાતંત્ર્યભાવન (સ્મર્તવ્ય ગીતા– "ઈશ્વરોઽહં અહં ભોગી..."), જીવસ્વાભાવિક હઠ, અધિકાર, પાપરતિ, દુષ્પક્ષપાત, હૃદયકૂરતા, દીનજનોપેક્ષા, અક્ષમા. તેમનાથી બચવા સાવધાન થઈ કૃષ્ણદાસે ભગવન્માર્ગમાત્રસ્થિતિ, તન્માર્ગફલાકાંક્ષા, અન્યત્ર વિરક્તિ, કૃષ્ણગુણાસક્તાન્તરાત્મતા, સ્વાચાર્યશરણ, વિશ્વાસ, અખિલ પરિત્યાગ અને દર્શનોત્સુકતા બનાવી રાખવાનો ઉપદેશ છે.

૨૯મા શિક્ષાપત્રમાં "**બુદ્ધિનાશાત્ પ્રણશ્યતિ**" એ ગીતાવચનને ધ્યાનમાં રાખી બુદ્ધિને રત્નની જેમ જાળવવાનો ઉપદેશ છે. તે માટે સત્સંગ-કૃષ્ણસ્મરણ-શરણાગતિદ્વારા બુદ્ધિને ગોપ્ય રાખવાનું કહેલ છે. તે ઉપરાંત નિત્યસેવાકૃતિ, પ્રસાદભક્ષણ, સત્સંગ અને કૃષ્ણકથાશ્રવણકીર્તન કરવા.

૩૨મા શિક્ષાપત્રમાં કેવા હૃદયમાં ભગવદાવેશ ન થાય તે બતાવેલ છે– કામાવિષ્ટ, ક્રોધયુત, સંસારાસક્તિસંયુત, લોભાભિભૂત, સતત ધનાર્જનપરાયણ, દયાવિરહિત, રુક્ષ, નિત્યસન્તોષવર્જિત, શોકાકુલ, ભયક્રાંત, વિષયધ્યાનતત્પર, અહંકારયુત, ક્રૂર, દુષ્પક્ષૈકપોષક, જ્ઞાનમાર્ગસ્થિત, સર્વસામ્યચિન્તનભાવિત, લૌકિકમાં સન્મુખ અને કૃષ્ણજનવિમુખ, કૃષ્ણલીલામાં દોષદૃષ્ટિયુક્ત, કર્મજડ, આચાર્યવિમુખ, નિત્ય અસદ્વાદવિભૂષિત. વળી કેવા હૃદયમાં ભગવદાવેશ થાય તે ય બતાવેલ છે– દીન, શુદ્ધ, નિઃપ્રપંચ, લીલાચિન્તનતત્પર, સ્વાચાર્યશરણ, નિત્ય સર્વકામવિવર્જિત, વ્રજસ્ત્રીચરણરેણુપ્રાપ્ત્યભિલાષી, ગુણગાનપરાયણ, કૃષ્ણનામાર્થપરિભાવુક, અનન્ય, અનન્યસેવૈકનિષ્ઠાતત્પર, ભગવદ્ધર્મનિરત, વિરક્ત, ગુણસંગી, કૃષ્ણાર્તિભાવસંયુક્ત, સરસ, અન્યરસાતીત, અચંચલ, કૃષ્ણલીલાચંચલ, દર્શનાકુલ, મનોરથશતાક્રાંત, સર્વોદ્વિગ્નન્યસંયુત.

૩૪મા શિક્ષાપત્રમાં કહેલ છે કે કામથી ઇન્દ્રિયવૈમુખ્ય થાય છે તેથી તેને વશમાં રાખવા વૈરાગ્ય કેળવવો. લોભથી પાખંડ વધે છે તેથી પરિતોષ કેળવવો. અને ક્રોધ દૈન્યભાવવિનાશક હોવાથી ક્રોધ ન કરતાં દૈન્ય કેળવવું.

૩૫મા શિક્ષાપત્રમાં ઉપદેશક માટે માર્ગદર્શન છે. આધિભૌતિક દુષ્ટ જીવ દુષ્કર્મા હોય તેને સત્ક્રિયાનો ઉપદેશ કરતાં તેને કર્તવ્યબોધ થતાં તે સુધરી જાય છે.

આધ્યાત્મિક દુષ્ટ જીવ જ્ઞાનશૂન્ય કે અન્યથાજ્ઞાનવાન હોઈ તત્ત્વબોધથી તેને શુધ્ધ કરી શકાય. પણ પ્રીતિશૂન્ય નીરસ આધિદૈવિક દુષ્ટ જીવ શ્રવણાદિથી પણ ન સુધરે. તેમને આસુરી જીવ જાણી છોડી દેવા.

સંક્ષેપમાં ભગવદ્ભાવ અને બુધ્ધિને કેળવવાનો, પોષવાનો, ગુપ્ત રાખવાનો અને બાધકોથી બચાવવાનો ઉપદેશ અહીં ઉપલબ્ધ થાય છે.

ઉપસંહાર :

ભગવદ્ગીતાદિમાં પણ દૈવી અને આસુરી ભાવ-ક્રિયાદિનું વિસ્તારથી નિરૂપણ છે. વિસ્તારભયે અહીં ત્યાંના વચનો ઉધ્ધૃત નથી કર્યા. એકંદરે જોતાં એવું લાગે છે કે આસુરાવેશનિવૃત્તિ માટે પ્રાથમિકોપદેશમાં ભાર સતત સાવધાન રહી ભાવ અને બુધ્ધિને સ્વમાર્ગીયસાધનાપરાયણ રાખવાના જીવપ્રયત્ન પર છે. તેવા પ્રયત્નોથી ન નાથી શકાય તો જ આસુરાવેશનિવૃત્તિની ચિંતા ભગવાન પર છોડવાનું કહેલ છે. આ ગડમથલ પરંતુ સાધનકક્ષામાં જ છે; સિધ્ધકક્ષામાં નિયમરૂપે આસુરાવેશ બાધા નથી કરતો. અપવાદરૂપે કૃષ્ણદાસ અધિકારીને થયું તેમ (*"सुरतें असुर थये असुरतें सुर थये चरनन छांय"*) સિધ્ધકક્ષામાં આસુરાવેશ થાય તો તેને ભગવત્કૃતિ જાણવી.

આધુનિક સાંપ્રદાયિક પરિસ્થિતિ :

આને વર્ણવવા તો રેડીમેડ ફાસ્ટફૂડ કલ્ચર કે પ્રદૂષિત નદીઓનું દૃષ્ટાન્ત જ કામ લાગે. જેટલા કહેવાતા સાંપ્રદાયિક આયોજનોમાં સમ્મિલિત થાઓ તેટલું ભક્તિમાર્ગીય સ્વાસ્થ્ય કથળે ને આસુરાવેશ વધે તેવી હાલત છે. આહારની જાણે કે રોજિંદી ઘટમાળભર્યા નીરસ ફાસ્ટ જીવનમાં ઉત્તેજક, વિસ્મારક અથવા રેચક (થ્રીલ કે ચીલ આઉટ) તરીકેની જ ભૂમિકા હોય તેવું ઠસાવવાનો સભાન પ્રયત્ન જેમ ફાસ્ટફૂડ કલ્ચર વિકસાવનારા કરે છે તેમ ભક્તિ પણ વીક એન્ડમાં પિકનિક કે મેળાવડારૂપે કરવાનો ચસકો લગાડવાના પ્રયાસ થાય છે. આમાં ભગવદ્ભાવેશ તો નજરઅંદાજ થતાં થાય પરંતુ આસુરાવેશનું ય અવમૂલ્યન થતું જણાય છે. આસુરાવેશ કાંઈ આવી કાચીપોચી માયા નથી; જડભરત જેવા તેના હિટલિસ્ટમાં સામેલ છે. આથી ગાફેલ રહેવું સર્વથા ન પોષાય. *"बुध्धियोरकृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु!"*

चर्चा

આસુરાવેશ

શ્રીઅસિત શાહ

ગો. શરદ્ : "भगवदावेश केवळ देहादिना स्वभावजन्य न होईने भगवद्वरणजन्य पण होय छे" . या सन्दर्भमें आसुरावेशके सम्बन्धमें मैने जो बात कही हती वासु अलग अभिप्राय होवे तो वाको स्पष्टीकरण अपेक्षित है.

दूसरो, "भगवदावेश वर्धननी कोई सार्वजनिक प्रक्रिया न होई शके" तो शुं व्यक्तिगत होय ऐसो आशय है!

तीसरी बात "सिद्धकक्षामां नियमरूपे आसुरावेश बाधा नथी करतो" या विधानको क्या आशय है?

इन तीनके अतिरिक्त एक जिज्ञासा यह है के जीवको आसुरत्व और आसुरी योनी इनमें क्या भेद है.

दूसरी जिज्ञासा आवेश और प्राकट्य में जो प्रक्रिया भगवान्‌में सम्भव हो पा रही है क्योंके भगवान् अन्दर भी हैं और बाहर भी हैं यासु चाहें तो हृदयस्थित भगावान् बाहर भी प्रकट हो जावें. और सर्वत्र हैं यासु हृदयमें भी बिराजे रहें. या तरहसु आसुरावेशकु कैसे समझानो.

साधनदीपिकामें श्रीगोपीनाथजी आज्ञा करे हैं के "देहः संशोधनीयो ही हरिभावो न चान्यथा, शौचाचारविहीनस्य आसुरावेश सम्भवात्" यहां प्रसङ्ग गर्भाधानादि षोडशसंस्कारको है. इनकी भक्तिमार्गमें आवश्यकता बताते भये श्रीगोपीनाथजी आज्ञा कर रहे हैं के भगवदावेशके लायक देहकु बनानेकेलिये देहको संशोधन संस्कार और शौचाचारके पालन द्वारा करनो चहिये. यदि या तरहसु देहको संस्कार नहीं हो पायो तो आसुरावेश होयगो. याकु कैसे समझनो?

અસિત શાહ : "भगवदावेशना वर्धननी कोई सार्वजनिक प्रक्रिया न होई शके" यासुं मैं ये कहनो चाह रह्यो हूं के भगवदावेश है वामें एक कारण

भगवद्वरण और बीजभाव को होनो है. बीजभाव वरणके अनुसार बनेगो. जैसे दृढ है के अदृढ है. वाकी मार्गरुचि भी वैसी ही होयगी. सेवामें या कथामें रुचि. जाको जैसो बीजभाव होयगो वैसी वाकी मार्गरुचि होयगी. वाके अनुसार वाको भगवदावेशको वर्धन होयगो. वाकी कोई सार्वजनिक प्रक्रिया नहीं हो सके है.

गो. शरद् : 'सार्वजनिक' सर्वाधिकारक-सर्वसामान्यके अर्थमें कहनो चाह रह्यो है के पब्लिक् और प्रायवेट् के अर्थमें?

असित शाह : कॉमन् प्रक्रिया नहीं हो सके है. एक ही प्रक्रिया दस आदमीकु बता दो के तुब सब ऐसो काम करो तो तुम्हारो भगवदावेश बढ़ जायेगो. कोईको भगवदावेश कुछ करनेसुं बढ़ेगो तो कोईको भगवदेवेश कुछ दुसरो काम करनेसुं बढ़ेगो. और कोईमें यदि बीजभाव है ही नहीं तो वो कितने भी उपाय करेगो तो भी वाको भगवदावेश नहीं बढ़ेगो. तात्पर्य ये है के सबकेलिये कोई कॉमन् प्रक्रिया नहीं हो सके है. प्रायमाफेसी अपन ये कह सके हैं के एक सेवाकी प्रक्रिया है, दूसरी कथाकी है. पर उनमें भी व्यक्तिशः थोड़ो-थोड़ो चेंज् आयेगो. भक्तिवर्धिनीमें भी पांच अधिकारी बताये हैं.

दूसरी बात अंदरसुं बाहर और बाहरसुं अंदरकी हती. यामें में ये कहनो चाह रह्यो हूं के सर्वत्र व्याप्त है वो भी प्रकट हो सके है. वामें अंदरसुं बाहर या बाहरसुं अंदर जैसो कुछ नहीं है. वो सर्वत्र है ही. आवेश भी ऐसो ही होवे है. वो अंदरसुं बाहर आवे या बाहरसुं अंदर जावे ऐसो नहीं है.

गो. शरद् : सर्वत्र है वो प्रकट होवे वो शायद भक्तकु अभीष्ट नहीं होयेंगे. भक्तकु तो वाने भगवान्के जा स्वरूपकु अपने भावसुं भावित कियो है वो प्रकट होवे तो वाकु कामके...

असित शाह : और खुलासा करुं हूं. शिक्षाश्लोकीमें कह्यो है के "**तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत, सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान्**" यामें कालको प्रवाह श्रीमहाप्रभुजी बता रहे हैं. वामें देह-चित्त दोनों बता रहे हैं. तो अंदरसुं बाहर भी जा सके है और बाहरसुं अंदर भी आ सके है. यदि आपको देह कालप्रवाहस्थ होके भगवद्विमुख हो गयो तो वाके कारण आवेश वा डिरेक्शन्में जा सके

है. माने देहके कारण चित्तादि प्रभावित होवें. और रिवर्समें ये भी सम्भव है के आसुरावेश चित्तमें होवे तो वाके कारण वो इन्द्रिय और देह में संक्रान्त होवे. ऐसे कोई भी डिरेक्शन्में जा सके है. 'आवेश' माने ये सोचनो जरुरी नहीं है के वो अंदरसुं बाहर ही होवे या बाहरसुं अंदर ही होवे.

गो. शरद् : वृत्रासुर चतुःश्लोकीमें प्रभुचरण आज्ञा करे हैं के "**जीवस्य भगवदीयत्वेपि देहस्य आसुरत्वेन अयोग्यत्वात् देहान्तरे दासो भविष्यामि**". तेने कही के भगवदावेश जैसे चित्त-देहेन्द्रियादि सबमें हो सके है ऐसे आसुरावेश भी हो सके है. वामें कोई आसुरावेश ऐसो होवे के जो केवल देह तक होवे. जीवमें तो प्रश्न नहीं है यदि वो दैवी है. परन्तु कुछ आवेश अन्तःकरणमें होवे हैं. कुछ आसुरावेश ...ये प्रश्न या लिये उठ्यो है के "**उत्पन्नाखिविधा जीवाः देव-दानव-मानवाः**" ऐसो वचन है. इनमें देव-मानवकुं तो शास्त्रनियमानुसार स्वर्गादि फल प्राप्त होवे हैं. पर वेद-पुराणन्में ऐसे वर्णन मिले हैं के राक्षस लोग बिना कुछ कर्म करे स्वर्गमें घुस जावे हैं. यहां तक के स्वर्गको राज्य हड़पके इन्द्र तककुं स्वर्गसुं भगा देवे हैं. तो राक्षस एक अलग कक्षा है. ऐसे राक्षसकुलमें दैवीजीवको प्राकट्य भी होवे है. जैसे प्रह्लादजी. याही तरहसुं राक्षस देह भी होवे है. जा देहके रहते भगवान् स्वयं भी वाकु दासत्वेन अङ्गीकार करनो नहीं चाह रहे हैं. जब तक तु या राक्षस देहको त्याग नहीं करेगो तब तक तु मेरे लायक नहीं बनेगो. और दूसरी ओर "**देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा**" जैसे वचन भी हैं. इन सबको क्या मतलब है?

असित शाह : मोकुं ऐसो लगे है के ये प्राधान्येन व्यपदेश है. जैसे कोई योनि पापयोनि कही जाय है. जैसे स्त्री-शूद्रयोनि. कोई योनि पुण्ययोनि कही जाय है. जैसे द्विज. ये प्राधान्येन व्यपदेश है. यामें लचीलोपन है. ऐसो वोटरटाईट् नहीं है के या योनिमें आ गये तो भक्ति कर ही नहीं सके. पर मोस्ट ऑफ् ध टाईम् वामें पोटेन्शियालिटि ऐसी है के असुर लोग पापदिशामें ज्यादा प्रवृत्त होवें. जैसे पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद में श्रीमहाप्रभुजी बतावें हैं के "**प्रवाहेपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते**". तो योनि प्रबल बाधक नहीं है के वामें पड़ गये तो भक्ति

बढ़ ही नहीं सके है. पर साधारणतया ऐसो देखवेमें आवे है के वा योनिमें जीव गयो तो वामें भगवदावेशवर्धनके चांस् कम हो जावें हैं, इन् कम्पेर् टु मनुष्ययोनि. ऐसो दैवीयोनिमें भी हो सके है. जैसे अपने यहां कह्यो जाय है के वैकुण्ठकी प्राप्ति भक्तकुं अपेक्षित नहीं होवे है क्योंकि भक्ति जैसी भूलोकमें हो सके है ऐसी स्वर्गादि या वैकुण्ठ में नहीं हो सके है. तो अपन यों माने हैं के देवयोनि भी भक्तिकेलिये उतनी अच्छी नहीं है जितनी मनुष्ययोनि अच्छी है. अपन मनुष्ययोनिमें भक्ति कर पानेकी पोटेन्शियालिटि अधिक सोचे हैं. ऐसे ही आसुरयोनिमें भी भगवदावेश बढ़नेकी पोटेन्शियालिटि कम है. पर यदि बीजभाव है तो वो नष्ट नहीं होयगो. आसुरयोनिमें वो होयगो तो प्रतिकूलता ज्यादा रहेगी.

''सिद्धकक्षामां नियमरूपे आसुरावेश बाधा नथी करतो'' या विषयमें , एक ऐसी मान्यता है के वैकुण्ठादिमें या सिद्धकक्षाके अधिकारी हैं उनकु आसुरावेश नहीं हो सके है या ईर्ष्यादि नहीं जग सके है. ये एक साधारण नियम है. पर वाके भी अपवाद हो सके हैं. जैसे श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं ''भगवानेव शापं दापयति क्वचित्''. श्रीहरिरायजी भावप्रकाशमें बतावें हैं के सिद्धकक्षाके भक्तमें यदि आसुरावेश अपनकुं दीखे, जैसे कृष्णदास अधिकारी, तो वाकु भगवल्लीला जाननी चहिये. अपन उनकी निन्दा करें ऐसे नहीं वो खुद अपनी निन्दा कर रहे हैं के ''सुरते असुर भये असुरते सुर भये चरणन छोय''. कृष्णदास सिद्धकक्षाके हैं, श्रीगुसांईजी उनकु मान्य कर रहे हैं पर बावजूद वाके उनमें आसुराचेश दीख रह्यो है. पर उनको आसुरावेश सामान्य जीवमें होते सायक्लिकल् आसुरावेश जैसो नहीं है. आपवादिक तया भगवदिच्छासुं आवे है. नियम ये ही है के सिद्धकक्षामें आसुरावेश नहीं होवे है.

संस्कार और शौचाचार के विषयमें स्वयं भगवान् आज्ञा करें हैं के ''**श्रुति-स्मृती ममैवाज्ञे**''. श्रुति-स्मृति मेरी ही आज्ञायें हैं. जो उनको पालन नहीं करे है वो मेरी आज्ञाको उल्लंघन करे है. वो मोकु प्रिय नहीं है. यासु जो भगवदाज्ञाको अनुसरण करवेकी दृष्टिसुं शौचाचार पाले हैं तो उनको भगवदावेश बढ़ेगो. यासुं श्रीगोपीनाथजी अपनकुं समझा रहे हैं के शौचाचारको आग्रह रखनो

चहिये.

''भगवदावेश केवळ देहादिना स्वभावजन्य न होईने भगवद्वरणजन्य पण होय छे'' या सन्दर्भमें : जैसे मैंने बतायो है के ''द्वया ह वै प्राजापत्याः''. देह-इन्द्रियादि सब ऐसे बनाये गये हैं के जासुं उनमें कुछ दैवीपनो भी है और कुछ आसुरीपनो भी है. देहादिमें दैवीपनो है यासुं भगवदावेश होनेकी सम्भावना रहे है ऐसे ही आसुरीपनो होनेसु उनमें आसुरावेश आनेकी भी सम्भावना है. पर भगवदावेश ऐसी बात नहीं है के जो वाके अंदर रहे भये दैवीपने मात्रसुं आ जातो होवे. भगवदावेशमें असाधारण कारण भगवद्वरण होवे है. जाको भगवान् वरण करें वाकुं ही भावदावेश हो सके है. भगवदावेश आनेकेलिये भगवान्को वरण और देहादिककी दैविता ये दो फेक्टर् होवे हैं. जब कि आसुरावेश तो देहादिकमें रहे भये आसुरांश मात्रसुं आ सके है. कहनो होवे तो अपन यों कह सके हैं जैसे गीताजीमें कह्यो है ''आसुरीं योनिमापन्नाः मूढाः जन्मनि-जन्मनि'' ये भी एक तरहको वरण ही है. पर ये अपन आसुरी जीवके बारेमें तो कह सके हैं पर जा दैवीजीवकुं आसुरावेश आ रह्यो है वाके बारेमें भगवान्को वरण ऐसो नहीं है के वो सदा आसुरी बन्यो रहे. भगवान्को वरण वाके बारेमें ऐसो ही है के वो सदा दैवी ही रहे पर क्वचित् वामें आसुरावेश आ सके है. यासु आसुरावेश आनेमें देहादिको स्वभाव ही एक कारण है.

जयलक्ष्मी तैलंग : लेखके अन्तमें ''आने वर्णववा तो रेडीमेड् फास्टफूड् कल्चरनुं दृष्टान्त ज काम लागे'' लिख्यो है वाको क्या तात्पर्य है?

असित शाह : आसुरावेशको निवारण और भगवदावेशकु बढ़ानेको प्रयत्न अपनकु सतत करनो पड़े ऐसो है. ये ऐसी बात नहीं है के थोड़े दिन कुछ कर लियो और अपनो काम हो गयो. अपने यहां भक्ति भी टेम्परारी नहीं है के एक बार रवीवारकु थोड़ी भक्तिकी मजा ले ली, कथामें जा आये तीन घंटा या कहीं दर्शन कर आये. ये फास्टफूड कल्चर जैसो है के जामें खाना पकानेकी कोई झंझट नहीं है. गये और खा लियो. काम पूरो हो गयो. आपकु ये पता नहीं है के खाना कैसे पके है, पकानेको आनन्द कैसो है...भक्ति या तरहसुं नहीं की जा सके है. यदि अपनो लक्ष्य भगवदावेश बढ़ानो और आसुरावेशको

निवारण करनो है तो उपदेशकनुकु साधनाके नैरन्तर्यपे भार देनो चहिये. दर्शन-मनोरथ-सप्ताह-बैठकयात्रा जैसे फास्टफूड् कल्चरकुं बढ़ावा नहीं देनो चहिये.

धर्मेन्द्रसिंह झाला : सामान्तया साधनावस्थामें तीन तरहसुं विचार कियो गयो है : १.प्रतिकूलता २.उदासीनता और ३.अनुकूलता. जब अपन भगवदावेश और आसुरावेश की बात करे हैं तब शायद प्रतिकूलता और अनुकूलता के ही एंगल्सुं कर रहे हैं. जैसे कीर्तन कर रहे हैं और मन कीर्तनमें नहीं है. तो वाकुं क्या आसुरावेश कहेंगे? ये प्रश्न क्यों भयो के जैसे श्रीगुसांईजी आज्ञा करे हैं "तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम, वदद्भिरेव सततं स्थेयम्" वहां आगे जाके आज्ञा करे हैं के सर्वभावसुं शरणागतिकी भावना करते भये अष्टाक्षरको जप करनो. पर कभी वो नहीं हो सके तो "**अन्तःकरणे तथाभावे अतथाभावेपि तथावदनम् आवश्यकम्**" वैसे बोलते तो रहनो चहिये. जा कारण तीनों फेकल्टिसुं प्रभुमें अपन नहीं लगे हैं तो एकके कारण दूसरी, वाके कारण तीसरी...एसे क्यो दो ही कम्पार्टमेंट् हैं : भगवदावेश और आसुरावेश. जैसे अपन कीर्तन कर रहे हैं. मन कीर्तनमें नहीं है तो क्या मनमें आसुरावेश है ऐसो कह्यो जायेगो?

असित शाह : उत्कट अवस्थामें आसुरावेश होयगो तब भगवदावेश नहीं रहेगो और भगवदावेश रहेगो तब आसुरावेश नहीं रहेगो. पर अनुत्कट अवस्थामें ये सम्भव है के दोनों साथ-साथ रहें. जैसे मन-वाणी-कायामेंसुं एक-दो भगवदाविष्ट हैं तो एक-दो आसुराविष्ट हैं.

धर्मेन्द्रसिंह झाला : उदासीनकी केटेगरि यामें है ही नहीं. मन न प्रतिकूल है और न अनुकूल है. साधनावस्थामें मन प्रभुमें नहीं जा रह्यो है तो क्या ऐसी अवस्थाकुं अपन आसुरावेश कहेंगे?

असित शाह : 'आसुर' शब्द थोड़ो कठोर है. पर 'आसुरावेश' सुनके घबड़ानेकी जरूर नहीं है. वाकी भी अवस्थाएं अलग-अलग हो सके हैं. प्रारम्भिक अवस्थामें आसुरावेश होवे तो समझो के मन-वाणी-देहमेंसुं वाने एकुकु ग्रसित कियो है. वो भी चंचल है. ऐसो नहीं है के मनमें घुस गयो तो निरन्तर वो प्रोब्लेम् करतो ही रहेगो. कीर्तन कर रहे हैं और मन थोड़ी देर विषयमें घूमके पाछो आ गयो. ऐसो नहीं

सोचनो चहिये के आसुरावेश भयो मतलब अपन पातालमें ही चले गये.

गो. श्या. म. : वाकु ऐसे भी सोच सके हैं : "**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः अधो गच्छन्ति तामसाः**". तो राजस भाव न तो स्पेसिफिकलि आसुर भाव है और न दैवी भाव है. वो मनुष्यको भाव है. साधारणतया मनुष्य जैसो निर्मित है...श्रीमहाप्रभुजीकी साय्कोलोजीको तृतीयस्कन्धमें निरूपित चेप्टर् देखें तो आपने प्रायः सभी साय्कोलोजिकल् केटेगरीज़्की उत्पत्ति राजसमेंसुं बताई है. मनुष्य यदि अपनेमें सत्त्वकु विकसित करलेवे पर स्वभासुं वो राजस ही है. और देव अपनेमें तमोगुण या राजसगुण प्रकट कर भी देवें तब भी वो स्वभावसुं सात्त्विक हैं. ऐसे ही राक्षादिं योनि भी यदि अपनेमें सत्त्वगुण प्रकट कर लेवें, सत्त्वगुणकी बात तो दूरकी है निर्गुण भाव भी प्रकट कर लेवें व्रत्रासुर-प्रह्लाद जैसे तब भी स्वभावसुं वो तामस हैं. यासु या तरहको बैलेन्स् मानसको भाव है. वो एक्ज़ेक्टली उदासीन भाव है. वैसे बहोत पेरेडोक्स् है यामें के रजोगुण चञ्चल है फिर भी वाकु उदासीन कह रहे हैं. पर इन दोनोंको सम्बन्ध हाथ और दस्ताने जैसो है. कोई भी ठिकाने वो स्थिर या लिये नहीं रह सके है क्योंके जहां वो टिके वहां थोड़ी ही देरमें वाकु उदासीनता आ जावे है. जावे बहोत झपटके है पर स्थिरता निभा नहीं सके है. यासुं ये उदासीनता प्रतिक्षण प्रकट होती रहे है जो प्रतिक्षण नये आकर्षणकी मांग करे है. ये राजसको गुण है के वामें क्षणमें छांव और क्षणमें धूप आ जावे है. ये वस्तुतः मनुष्यकी अधिकारिता है के वो चाहे तो देव बन जाय, चाहे तो राक्षस बन जाय, चाहे तो वो अपनेमें आसुरावेश खिला लेवे, चाहे तो दैवी आवेश प्रकट कर लेवे. चाञ्चल्यके कारण मनुष्यकु मिल्यो ये एड्वान्टेज् है. वामें डिस्एड्वान्टेज् भी बहोत सारे हैं पर चाञ्चल्यको ध बेस्ट् एड्वान्टेज् है तो ये है. क्योंके या बाजु सत्त्व और तम दोनों लाचार हैं क्योंके दोनों अचञ्चल हैं. तमस् मूढतासुं ग्रस्त अचञ्चल है और ये स्वस्थताके कारण अचञ्चल है. बिना चञ्चलताके आगे गति हो नहीं सके है. यासुं अपने यहांकी साय्कोलोजिकी प्रक्रियामें ये स्पष्ट बतायो है के अहंकार कोई तरहकी मूढता लियो भयो है पर मन निरन्तर चञ्चल

है. वाको ये लाभ है के अपन रोड़पे चलते भये कारसुं टकरा नहीं जावे हैं. क्योंके जब अपन साईन् बॉर्ड या दुकान-मकान देख रहे होवे हैं वा बखत अपनो चञ्चल मन आती भयी बस-कार सबकी खबर रखे है. इन्द्रियमें ये सामर्थ्य कहां है! वो तो इतनी आसुरी वृत्तिसुं ग्रस्त है के देखने लग गई तो देखती ही रहेगी. मनकु धन्यवाद है के इन्द्रिय देखती रह और वो कहीं ओर चल्यो जाय. या ही लिये भगवान् आज्ञा करे हैं "**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**". जबरदस्त सामर्थ्य वामें है के वो कहीं भी लिप्त हो जाये और कहीं भी अलिप्त हो जाय. याकेलिये मन रजोगुणको आभारी है. पाश्चात्यवाले मूर्ख लोग मनुष्यकी परिभाषा बुद्धिसुं करे हैं. पर अपने यहां मनुष्यकी परिभाषा मनसुं है. जो मनस्वी है वो मनुष्य है. 'मनु' अवबोधनेसुं ही 'मन' शब्द बन्यो है और वासु ही 'मनुष्य' शब्द भी बन्यो है. यासु मन मनुष्यकी बहोत बड़ी उपलब्धि है. मन मनुष्यमें ही अपने सब रंग दिखा सके है क्योंके मन भी राजस है और अपनी योनि भी राजस है. ये अपनो डिसएड्वांटेज् भी है और ये अपनो बहोत बड़ो प्लस्पोइंट् भी है. मन नहीं होतो तो अपन कैसे भगवद्ध्यान धरते! मन नहीं होतो तो अपन कैसे खड्डामें गिरते! यासु मनकी परिभाषा "संकल्प-विकल्पात्मको मनः" दी गयी है. "ये काम मोकु करनो है" "वाको मोकु देखनो है" ऐसो सोचें इतनेमें मन कुछ दूसरो सोचने लग जाये है. मनको ऐसो अद्भुत सामर्थ्य है. "मनो जवं मारुततुल्यवेगम्" मनकी गति असाधारण है.

पुष्टिभक्ति-प्रपत्ति साधनामें प्रतिबन्धः

अध्यास

शरद् गोस्वामी

पुष्टिभक्ति-प्रपत्ति साधनाका सामान्य परिचयः

भगवद्रूपसेवार्थ सृष्ट दैवी पुष्टिजीवोंके उद्धारार्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणों द्वारा प्रवर्तित पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय उनको परब्रह्म श्रीकृष्णकी यथाधिकार प्रपत्ति और भक्ति का मार्ग दिखलाता है. श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तन-स्मरणके द्वारा उनके प्रति शरणभावनाके दृढ हो जानेपर भी श्रीकृष्णका आभ्यन्तर भजन कर पानेयोग्य दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनके भावोंका प्राकट्य न हुवा हो और/अथवा श्रीकृष्णका पादसेवन-अर्चन-वन्दनरूप बाह्यभजन कर पानेका आनुकूल्य सम्पादित न हुवा हो तो पुष्टिमार्गीको- वैसा भाव और आनुकूल्य भगवान जब तक सम्पादित न करा दें तब तक "**तथैव तस्य लीलेति ..., भक्त्यभावे ... अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः**" सिद्धान्तको स्वीकार कर -शरणमार्गमें सन्निष्ठ रहना चाहिये. स्मर्तव्य है कि भगवद्रूपसेवार्थ सृष्ट पुष्टिजीवकी गति कभी भी लौकिक-वैदिक हो ही नहीं सकती. उनकी तो गति हो नियति हो चाहे फल, वह तो गुण-स्वरूपके भेदसे स्वयं श्रीकृष्ण ही होते हैं. ऐसे निजफलकी प्राप्तिसे पुष्टिसृष्टि वञ्चित न रह जाये तदर्थ उनको पुष्टिभक्तिका मार्ग दिखलाना ही आचार्यचरणोंके प्राकट्यका प्रमुख प्रयोजन है. अतएव शरणागत पुष्टिजीवको भगवान् आज नहीं तो कल, कभी-न-कभी अपनी भक्ति कर पानेका सौभाग्य अवश्य देंगे ही.

भगवान जिन पुष्टिजीवोंसे अपने स्वरूपका बाह्यभजन करवाना चाहते हैं वे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेकर-आत्मनिवेदित होकर अपने तनु-वित्तका विनियोग स्वगृहमें विराजते प्रभुकी सेवामें करते हुवे असमर्पित भोगके त्याग पूर्वक सेवा-स्मरणमय जीवन जीनेमें समर्थ हो जाते हैं.

जिन पुष्टिजीवोंको भगवान् आत्मनिवेदन-दास्य-सख्य आदि भावोंका

दान करके तो समृद्ध कर देते हैं तथापि वे जीव उनका पादसेवन-अर्चन-वन्दनरूप बाह्यभजन कर पायें ऐसा आनुकूल्य जब तक भगवान् सम्पादित नहीं करते तब तक उनकेलिये हृदयमें बिराजते भावात्मक प्रभुके श्रवण-कीर्तन-स्मरणरूप आन्तरभजनद्वारा भक्तिमार्गमें टिके रहना ही एक उपाय रह जाता है. पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें इसीको 'कथापक्ष' 'कथासाधना' या 'गुणगानसाधना' कहा जाता है.

साधनावस्थाके विचारसे साधककी स्थिति कुल मिलाकर यह बनती है: स्वगृहमें गुणगान सहित भगवत्सेवा परायण पुष्टिमार्गीकी भक्ति आचार्यचरणोंकी दृष्टिमें सर्वाङ्गपूर्ण-साधनसम्पन्न है. केवल भगवत्सेवा अथवा केवल भगवत्कथा परायण पुष्टिमार्गीकी भक्ति आचार्यचरणोंकी दृष्टिमें विकलाङ्ग है. और पुष्टिमार्गके अन्तर्गत जो शरणमार्गमें है वह तो निस्साधन है.

प्रतिबन्धके प्रकार :

प्रस्तुत लेखका विचार्य विषय पुष्टिमार्गीय साधनामें प्रतिबन्धक अध्यासका निरूपण करना है. अतः सर्वप्रथम प्रतिबन्धके स्वरूपको समझ लेना चाहिये.

प्रतिबन्ध अनन्तविध होते हैं : अश्रद्धा, संशय, अपवित्रता, पाप, अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, असत्य, चोरी, अधर्माचरण, विधर्माचरण, परधर्माचरण, दुःख, उद्वेग, चिन्ता, अविवेक, अधैर्य, दुराग्रह, हठ, अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास, स्वरूपविस्मृति इत्यादि.

प्रतिबन्धका नाम चाहे कुछ भी हो, उसका प्रभाव मुख्यतया गत्यवरोध, विचलन, अधोगति, विनाश जैसे रूपोंमें प्रकट होता है.

प्रतिबन्धोंका वर्गीकरण भी अनेक तरहसे उपलब्ध होता है. यथा: सर्वसाधारण-मार्गीय, सादि-अनादि, भगवत्कृत-साधारण, आन्तर-बाह्य, आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक, स्वाभाविक-औपाधिक-आगन्तुक

निवार्य-अनिवार्य, वस्तुकृत-कल्पित, स्वकृत-परकृत आदि.

अध्यास:

अध्यास सर्वसाधारण जीवोंको सृष्टिकालमें होता है. भगवच्छक्तिरूपा अविद्योपाधिक होनेसे औपाधिक-परकृत होता है. जीवकृत साधनोंसे अंशतः निवर्तनीय और पूर्णतः तो भगवच्छरणागति-भक्तिसे ही निवर्तनीय होता है. अन्तःकरणसे लेकर देह पर्यन्त और अहन्ताप्रसूत ममताके कारण देहादिसे भी आगे बढ़कर सकल आत्मीय पदार्थोंमें व्याप्त होनेसे उसके आन्तर-बाह्य दोनों स्वरूप स्वीकारे जा सकते हैं. त्रिविध अविद्याके कारण इसके भी त्रिविध स्वरूप होते हैं. आत्मा-अविद्या-अन्तःकरणेन्द्रियादिके ब्रह्मात्मक-सत्य होनेपर भी 'अध्यास' स्वयं कल्पित होते हैं.

अध्यासके सम्बन्धमें संक्षेपमें किये गये उल्लिखित निरूपणका यथाप्रसङ्ग विस्तार आगे किया जायेगा.

श्रेयांसि बहु विघ्नानि :

महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि जिस तरह भगवानने क्रीडाकेलिये जगत् प्रकट किया है उसी तरह जागतिक जीव उनको प्राप्त कर सकें तदर्थ भगवानने भक्तिमार्ग पृथक् प्रकट किया है. भगवत्प्रकटित, भगवत्कृपैकलभ्य और भगवत्प्रापक होनेसे भक्तिमार्ग 'भगवन्मार्ग' कहलाता है. विचार्य यह है कि प्रतिबन्ध क्या भगवन्मार्गमें भी आ सकते हैं?

भगवान् और भक्तों के चरित्रका अवलोकन और शास्त्रवचनोंका भी अनुसन्धान करनेपर उक्त जिज्ञासाका समाधान अपेक्षाकृत अस्पष्टसा प्राप्त होता है. यथा,

> "पुष्टिः कालादिबाधिका" "यानास्थाय ... न स्खलेन् न पतेद् इह" "अभयं सर्वभूतेभ्यः" "समस्तदुरितक्षयो भवति" "हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिश्यति" "न करिष्यति लौकिकिं च गतिम्" "नान्यथातु करिष्यति" "कालोऽयं कठिनोपि श्रीकृष्णभक्तान् न बाधते" "हरिस्त्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे"

—इत्यादि वचनोंका यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि भगवन्मार्गमें

प्रतिबन्धको कोई अवकाश ही नहीं है, गन्धमात्र भी नहीं है. तो दूसरी ओर

''क्लिष्टो भवति सर्वथा'' ''तस्मात् स्थानाच्च नश्यति'' ''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्'' ''लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति'' ''कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत्'' ''आपद्गत्यादिकार्येषु'' ''त्रिदुःख सहनम् ... आमृतेः सर्वतः सदा'' ''दुःख-हानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ...''

—इत्यादि शास्त्र और सम्प्रदाय ग्रन्थोंमें निरूपित भक्तिमार्गीय अधिकांश उपदेशों और स्तुतिमें से एक ही ध्वनि निकलती है ''इससे बचो'' ''उससे डरो'' ''इसको छोड़ो'' ''यहांसे भागो'' ''मुझे बचाओ'' ''त्राण करो'' ''उद्धार करो'' ''कल्याण करो'' ''निर्भय करो'' ... डग-डगपर बाधा ही बाधा, प्रतिबन्ध ही प्रतिबन्ध, भय ही भय दिखलाई देते हैं. जिसको पकड़ो वह कब बाधक बन जाता है यह पता नहीं चलता है. जिसे छोड़ दिया हो वह कब अत्यावश्यक बन जाता है इसका निश्चय नहीं हो पाता है.

तथैव तस्य लीलेति :

प्रथम विचारमें स्थिति सचमुचमें अस्पष्ट ही लगती है. इसका प्रमुख कारण है, प्रतिबन्धका विचार सृष्टिके घटक अन्य पक्षोंकी उपेक्षा करके केवल जीवात्माके पक्षसे किया जाना. जगत्कर्ता-जगद्रूप-जगत्क्रीडाकर्ता परमात्मा और उनकी जगत्क्रीडा के पक्षसे प्रतिबन्धका विचार करनेपर स्थिति अस्पष्ट सर्वथा नहीं है. ''एष उ ह्येवैनं ...'' ''सुखं दुःखं भवो भावो ...'' ''मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च'' ''कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः'' ''यस्यानुग्रहमिच्छामि'' ''विनोद्वेगं विधायापि'' ''लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे'' इत्यादि शास्त्रीय और साम्प्रदायिक वचनोंका विचार करनेपर जीवोंको प्रतीत होते प्रतिबन्ध भगवत्कर्तृक और भगवत्क्रीडासे अधिक और कुछ भी नहीं होते हैं. अतएव भक्तहृदयसे इस समग्र सृष्टिको देखनेवाले आचार्यचरण इसको ''तथैव तस्य लीलेति'' कहते हैं.

सृष्टिका प्राकट्य और स्थिति जैसे एक भगवल्लीला है उसी तरह सृष्टिका संहार भी प्रभुकी एक लीला ही है. मुक्ति जैसे एक लीला है उसी तरह बन्धन भी एक लीला ही है.

जीवविचारसे प्रतिबन्ध :

शौकीन पर्वतारोहकोंकेलिये पर्वतारोहणका श्रम करना क्रीडा मात्र होता है. परन्तु उनका सामान ढोनेवाले मजदूरोंकेलिये तो वह पीड़ा ही होती है यदि वे स्वयं भी उसके शौकीन न हों तो. इसी तरह जीवात्माकी बद्धावस्था परमात्माकेलिये तो क्रीडा है किन्तु संसारमुक्तिकामी जीवात्माको वही पीडादायक लगती है.

आद्यप्रतिबन्ध : पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्

सृष्टिक्रमकी दृष्टिसे प्रतिबन्धका विचार करनेपर, अंशी परमात्मामेंसे व्युच्चरित सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मांशमेंसे पारमात्मिक आनन्दांशके भगवदिच्छासे तिरोधानको भावी प्रतिबन्धोंकी शृंखलाका आद्य जनक कहा जा सकता है. आनन्दांशके प्रकट रहते प्रतिबन्ध अकिञ्चित्कर होते हैं. उसके तिरोधानसे ही चिदंशमें प्रतिबन्धयोग्यता प्रकट होती है. इसीका निरूपण ''**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्ध-विपर्ययौ**'' ''**देहयोगाद्वा सोपि**'' (ब्रह्मसू.३।२।५-६) इन सूत्रोंमें व्यासचरणोंने किया है.

ततो ह्यस्य बन्ध-विपर्ययौ :

आनन्दांशके तिरोधानके अनन्तर ''**एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते, बन्धोऽस्याविद्ययानादिः...**'' (भाग.पुरा.११।११।४) वचनानुसार अविद्या भगवदंश ऐसे केवल जीवको अपने बन्धनसे बांधती है. जीवात्माको होनेवाला यह प्रथम-आदि बन्धन है. इस वचनमें ध्यातव्य यह है कि ब्रह्मके चिदंशभूत जीवको छोडकर ब्रह्मके अन्य अंश, सदंश-जगत् और आनन्दांश-अन्तर्यामी, पर अविद्या अपना प्रभाव नहीं डालती है.

अविद्या क्या है ?

''**श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया,**
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्''

(भाग.पुरा.१०।३९।५५)

''**विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्,**
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते''

(भाग.पुरा.११।११।३)

''विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं स ह,
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते''

(ईशोप. ११)

उपर्युक्त शास्त्रवचनोंका स्वारस्य समझाते हुवे आचार्यचरण निबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें लिखते हैं: ''मायाके अधीन रहनेवाली विद्या और अविद्या दोनों भगवान्‌की शक्ती हैं''.

त्रिविधमाया :

माया पुनः तीन प्रकारकी होती हैं: आधिभौतिकी, आध्यात्मिकी और आधिदैविकी. जीवोंको मोहित करनेवाली माया आधिभौतिकी, कामदेवकी पत्नी मायावती आध्यात्मिकी और साक्षात् भगवान् जिसके पति हैं वह आधिदैविकी माया कहलाती है. अतएव ''मम माया'' और ''मायया मे विनिर्मिते (विद्याविद्ये)'' सदृश वचनोंके कारण प्रतीत होते विरोधका समाधान हो जाता है.[1]

अविद्याका जीवपर प्रभाव :

''न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव, नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति'' (ऋग्वेद१०।८२।७)[2], **''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत आत्मनि''** (भाग.पुरा.२।९।३३) वचनानुसार माया जीवपर दो तरहसे अपना प्रभाव प्रकट करती है : **बन्धन/अज्ञान/आच्छादन और विपर्यय/अन्यथाज्ञान/अन्यथाप्रतीति.**

धर्म-धर्मीके भेदसे कभी तो माया धर्मकी अप्रतीति कराती है तो कभी धर्मीकी तो कभी दोनोंकी भी. इसी तरह माया कभी धर्मीकी तो कभी धर्मकी अन्यथाप्रतीति कराती है ते कभी दोनोंकी भी. तदनुसार जीवद्वारा ब्रह्मरूप सृष्टि— काल कर्म स्वभाव प्रकृति पुरुष महद् अहङ्कार ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय तन्मात्रा महाभूत आदि —को अब्रह्मरूप समझना और ब्रह्मके दिव्य धर्मोंके स्थानपर सृष्टिको प्राकृत धर्मोंवाली समझना अन्तरायभूत अविद्याका ही प्रभाव है.

'सिद्धान्तमुक्तावली' की कारिका ''आत्मनि ब्रह्मरूपे...''की

प्रभुचरणकृत विवृति और उसपर श्रीपुरुषोत्तमचरणोंद्वारा विरचित प्रकाशमें इसका निरूपण इन शब्दोंमें किया गया है:

ब्रह्मांश जीव वस्तुतः अक्षरब्रह्मात्क होते हैं तथापि अविद्याके अन्तरायवश वे अपनी अक्षरब्रह्मताका अनुभव नहीं कर पाते हैं. इसीके कारण उनको अहन्ता-ममतात्मक संसार प्राप्त होता है. संसारकी प्रयोजिका होना ही अविद्याकी उपाधिरूपता है. ... अविद्याके कारण ही अक्षरात्मक जीवको अपनेमें असङ्गत्वादि ब्रह्मधर्मोंके स्थानपर क्षुद्रत्व-दुःखित्व-अत्यन्तभिन्नत्व आदि अब्रह्मधर्मोंकी प्रतीति होती है.(सि.मु.वि.प्रकाश१२)[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि अविद्याका दूसरा कार्य विपर्यय/अन्यथाज्ञान/अन्यथाप्रतीति भी होता है. जीवात्माको अपने अक्षरात्मक स्वरूपका अज्ञान कराकर ही अविद्या शान्त नहीं हो जाती है. जीवात्मा जब प्राकृत अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रि और देह के सम्पर्कमें आती है तब अविद्या-मायाके प्रभावसे जीवात्मा अनात्मभूत अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय और देह को भ्रमवश अपना स्वरूप मानने लगती है. अतएव कहा गया है : **''नैवात्मनो न देहस्य संसृतिः सुविविक्तयोः, अविवेकस्तयोर्योंसाविह तस्यैव संसृतिः''** (भाग.पुरा.११।२८।१०). अर्थात्, आत्मा और देह के शुद्ध स्वरूपसे परिचित ऐसे सुविविक्तोंको संसारसम्बन्ध नहीं रह जाता है. क्योंकि आत्माका जो देहेन्द्रियादिकोंके साथ अज्ञानमूलक अभेदाभिमान है वही संसार है. अतः यही अध्यास, अहन्ता या संसार है.

सृष्टि आध्यासिक नहीं है :

श्रीशङ्कराचार्यके 'अध्यासभाष्य'-'अध्यासवाद' के कारण 'अध्यास' शब्दमें भी जनसामान्यको केवलाद्वैतका अध्यास होने लगता है. यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैसे श्रीशङ्कराचार्य समूची जड-जीवात्मिका सृष्टिको अध्यासजन्य होनेसे मिथ्या मानते हैं ऐसा वाल्लभ वेदान्तमें मान्य नहीं है. एतद्विषयक सिद्धान्तका निरूपण करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण लिखते हैं :

श्रुति तो यह निरूपण करती है कि रमणकेलिये ब्रह्म स्वयं

सृष्टिरूपेण आविर्भूत हुवा है. वैचित्र्यके विना क्योंकि रमण हो नहीं पाता है अतः भगवान्‌की अविद्या शक्तिसे जीवको संसार होनेकी बात कही गयी है. ''असत्‌की कभी सत्ता नहीं होती है'' इस सिद्धान्तसे संसार वस्तुतः उत्पन्न होता ही नहीं है. क्योंकि संसार तो अभिमत्यात्मक काल्पनिक होता है. अतः उसकी गणना भी असद्रूप पदार्थके रूपमें की गयी है. आशय यह है कि शास्त्रमें जहां भी 'अज्ञान' 'भ्रम' 'असत्' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग किया जाता है वह जीवकल्पित अहन्ता-ममतात्मक संसारकेलिये ही किया जाता है, जगत्-प्रपञ्चकेलिये नहीं. प्रपञ्च तो ब्रह्मात्मक होनेसे सत्य है.

इसका फलितार्थ यह है कि भगवान् क्रीडाकेलिये ही प्रपञ्चके रूपमें आविर्भूत होते हैं अतः जगतमें रहे हुवे जीव, जीवोंके द्वारा किये जाते साधन और जीवकृत साधनोंसे प्राप्त होते फल के रूपमें भी स्वयं भगवान् ही सर्वत्र क्रीडा कर रहे होते हैं. जब यह स्थिति है तब जीवात्माका ''मैं इस कर्मका कर्ता हूं'' ''इस कर्मसे उत्पन्न हुवा फल मेरा है'' ''इस फलका भोक्ता मैं हूं'' ऐसा समझना यह सब उसका केवल भ्रम ही सिद्ध होता है. क्योंकि ऐसी समझमें वह अपनेको, स्वकृत साधनको और तज्जनित फलको अब्रह्मरूप मान रहा है. ऐसा सब उसको अहन्ता-ममतात्मक अविद्याके कारण ही होता है. तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर उसका यह अज्ञान निवृत्त हो जाता है और सबकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान उसको होने लगता है. संसारके निवृत्त हो जानेपर भी जगत्‌के रह जानेसे यह सिद्ध होता है कि अविद्याजन्य संसार असत् है और ब्रह्मात्मक सत् जगत् उससे भिन्न ही पदार्थ है.[४]

जीवके प्रकार और अवस्था भेदसे अध्यास :

पूर्वोदाहृत **''एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते, बन्धोस्याविद्ययानादिः...''** (भाग.पुरा.११।११।४) वचनके आधारपर आचार्यचरणोंने अविद्याको 'जीवगाः' कहा है. अर्थात् अविद्या केवल जीवको ही प्रभावित करती है, अन्य भगवदंशोंको नहीं. यह विचारणीय है.

''त्रयः प्राजापत्याः ... देवा मनुष्या असुरा'' (बृहदा.उप.५।२।१) **''त्रयो ह वै प्राजापत्याः'' ''त्रिविधा जीवसंघास्तु देव-मानुष-दानवाः''** इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनोंमें जीवोंकी गणना करते समय देव, दानव और मानव परिगणित हैं. जिज्ञास्य यह है कि अध्यास जीवमात्रको होता है कि उनमें कोई अपवाद होते हैं.

एक अन्य प्रकारसे जीवोंका वर्गीकरण नित्यमुक्त और जीवन्मुक्त इस तरह भी किया जाता है. 'जीवगाः' अविद्याका इन जीवोंपर प्रभाव कैसा रहता है यह भी जिज्ञास्य बनता है.

प्रथम जिज्ञासाका समाधान संक्षेपमें यह है कि ब्रह्मादिदेवोंको मायाकृत अविद्या, अध्यास अथवा संसार नहीं होता है. तत्त्वार्थदीपनिबन्धके भागवतार्थप्रकरणमें इस जिज्ञासाका सविस्तर समाधान देते हुवे आचार्यचरण लिखते हैं:

ब्रह्मादि देवोंको स्थूल देह होता है ऐसा समझमें आता है. अतः स्थूलदेहके कारणभूत लिङ्गदेहका अध्यास भी उनको होता है ऐसा कहनेमें क्या आपत्ति है? यह शङ्का उचित नहीं है. क्योंकि अन्य जीवोंके देहेन्द्रियादि जैसे आहङ्कारिक होते हैं वैसे ब्रह्मादि देवोंके नहीं होते हैं. उनकी इन्द्रियां ज्ञान-योगमय होती हैं. और ''इस जीवके द्वारा मैं इस कर्यको करूंगा'' ऐसी भगवदिच्छासे उनका सब कुछ भगवनके अधीन होता है, माथाके नहीं. अतः उनको मायाके कार्यरूप देहादिके अध्यास भी नहीं होते हैं.[५]

प्रसङ्गवश यह भी स्मर्तव्य है कि ब्रह्माद्वारा वत्सहरणके निरूपक अध्यायोंको आचार्यचरणोंने भागवतमें प्रक्षिप्ताध्याय माने हैं. ऐसा स्वीकारनेमें एक कारण यह भी है कि ब्रह्माजीको मोह नहीं होनेका वर **''भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्''** (भाग.पुरा.२।९।३६) भगवान् द्वारा प्रदत्त होने पर भी इन अध्यायोंमें ब्रह्माजीके मोहित होनेका वर्णन किया गया है जो कि भागवतके ही वचनसे विपरीत है.

द्वितीय जिज्ञासाका समाधान यह है कि नित्यमुक्त जीवोंमें यद्यपि

धर्मीभूत आनन्दांशका तो तिरोधन अवश्य होता है किन्तु धर्मभूत आनन्द तो उनमें अतिरोहित ही रहता होनेसे ऐसे जीव अविद्यासे अप्रभावित ही रहते हैं. इसी तरह जीवन्मुक्ति भी अविद्याका अभिभव होनेपर ही प्राप्त होती होनेसे ऐसे जीव भी अविद्यासे प्रायः अप्रभावित रहते हैं. निष्कर्षतः इनको छोड़कर शेष जीवोंको अविद्या प्रभावित करती है.

अध्यास होनेका क्रम :

''स्वरूपाज्ञानमेकं हि पर्व देहेन्द्रियासवः,
अन्तःकरणमेषां हि चतुर्थोऽध्यास उच्यते,
पञ्चपर्वा त्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम्''

(शा.प्र.३२-३३)

अविद्याको पञ्चपर्वा, अर्थात् पांच गोंठोवाली कहा गया है. जीवात्माको अपने अक्षरात्मक स्वरूपका विस्मरण हो जाना यह अविद्याका प्रथम पर्व है. देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास और अन्तःकरणाध्यास ये अविद्याके शेष चार पर्व होते हैं. पञ्चपर्वा अविद्यासे बद्ध जीव जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होता है.

जीवको देहादिका सम्बन्ध दो तरहसे होता है : १.आध्यासिक और २.भगवत्कृत. देहादिका आध्यासिक सम्बन्ध तो विद्यासे दूर हो जाता है किन्तु भगवत्कृत सम्बन्ध तो भगवान् दूर करते हैं तब ही मिटता है.[१]

अनुभवकी दृष्टिसे सोचनेपर स्थूलदेहका प्रत्यक्ष स्पष्ट-सरलतया होता है. शेष इन्द्रिय-प्राणान्तःकरण परोक्ष होते हैं. अतः अध्यास भी हमें देहमें ही प्रबल प्रतीत होता है. परन्तु सृष्टि क्योंकि सूक्ष्मसे स्थूलके क्रमसे होती है, पुनःश्च आत्माके सन्निकट भी अन्तःकरणादि ही होते हैं अतः आत्माको अध्यास देहेन्द्रिय-प्राणान्तःकरणके क्रमसे न होकर अन्तःकरण-प्राणेन्द्रिय-देहके क्रमसे होते हैं. श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने निबन्धावरणभङ्गमें इसका निरूपण इस तरहसे किया है:

> भगवान्की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा प्रकृति-मायासे प्रथम महत्-चित्त उत्पन्न होता है. महत्से चिदचिद्ग्रन्थिरूप

> अहङ्कारकी उत्पत्ति होती है. ये दो अन्तःकरणरूप होते हैं. सर्वप्रथम, अतः, आत्माको अन्तःकरणाध्यास होता है.
>
> अहङ्कारका रूपान्तर इन्द्रियोंको शक्ति प्रदान करनेवाला प्राण होता है. अतः द्वितीय क्रममें आत्माको प्राणाध्यास होता है.
>
> तैजस अहङ्कारसे क्रिया-ज्ञानकी करणरूपा इन्द्रियां प्रकट होती हैं. अतः तृतीय क्रममें आत्माको इन्द्रियाध्यास होता है. प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण मिलकर सूक्ष्मदेह बनता है.
>
> तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्राएं प्रकट होती हैं जिनका स्थूल रूप पञ्चमहाभूत होते हैं. स्थूल देह पाञ्चभौतिक होता है. जीवात्माका स्थूलदेहमें प्रवेश सूक्ष्मदेहके साथ होता है. तब जीवात्माको देहाध्यास होता.
>
> इस तरह चारों अध्यासोंसे अध्यस्त हो जानेपर अन्ततः जीवात्माको अपने स्वरूपका पूर्णरूपेण विस्मरण हो जाता है.[२]

'अध्यास'का सामान्यतया अर्थ अविद्याके कारण जीवात्माको होता भ्रम, अन्यथाज्ञान या विपर्यय होता है. तदनुसार चतुर्विध अध्यासका अर्थ ऐसा होता है :

अन्तःकरणाध्यास : अनात्मभूत अन्तःकरण और उसके धर्मोंको आत्माद्वारा अपना स्वरूप और अपने धर्म समझना 'अन्तःकरणाध्यास' कहलाता है.[३]

प्राणाध्यास : अनात्मभूत प्राण और उसके धर्मोंको आत्माका अपना स्वरूप और अपने धर्म समझना 'प्राणाध्यास' कहलाता है.

इन्द्रियाध्यास : अनात्मभूत इन्द्रिय और उसके धर्मोंको आत्माद्वारा अपना स्वरूप और अपने धर्म समझना 'इन्द्रियाध्यास' कहलाता है.

देहाध्यास: आत्माका पाञ्चभौतिक देह और उसके धर्मोंको अपना स्वरूप और अपने धर्म समझना 'देहाध्यास' कहलाता है.

अहन्ता-ममता और संसार :

अध्यासके स्वरूपको समझनेके पश्चात्त अध्यासके प्रभावका भी समझ लेना चाहिये. अहन्ता-ममता और तज्जन्य संसार अध्यासका फल है. अनात्मभूत देहादिमें आत्मबुद्धि 'अहन्ता' कहलाती है. जड-चेतन विषयोंमें

आत्मसम्बन्धी बुद्धि 'ममता' कहलाती है. इन्ही दोके सहारे आत्मा अपना काल्पनिक संसार रचती है और उसमें फंसती चली जाती है.[९]

अध्यासका स्थूल प्रभाव :

अविद्याकृत अध्यासके सामान्य प्रभावका निरूपण किया गया कि उससे जीवात्माको अनात्मभूत देहादिमें आत्मबुद्धि हो जाती है और इसके कारण वह अहन्ता-ममतात्मक संसार और जन्म-मरण के चक्रमें फंसती है. अब यहां तत्तदध्यासके स्थूल प्रभावोंका निरूपण प्रासङ्गिक बनता है.

अन्तःकरणाध्यास :

सुख-दुःख: जैसा कि प्रसिद्ध है **"अशरीरं वा व सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"** (छान्दो.उप.८।१२।१) प्रिय-अप्रिय/सुख-दुःख से आत्मा अस्पृश्य होती है. कर्मस्वरूप भगवान् जीवकृत विहित-निषिद्ध कर्मोंके फलतया सुख-दुःखरूपेण अन्तःकरणमें प्रकट होते हैं, न कि आत्मामें. अतः सुख-दुःखादि अन्तःकरणके ही धर्म होते हैं, न कि आत्माके.[१०] फिर भी, अध्यासवश, अन्तःकरणके मन-बुद्धि-अहंकाररूप घटकोंमें अनुभूत होनेवाले सुख, इच्छा, काम, दुःख, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, मद, मात्सर्य, राग, भय, ह्री, निश्चय, धृति, अधृति, यत्न आदिको आत्मा अपने सुखादि मान लेती है. फलतः वह अपनेको सुखी, दुःखी आदि मानने लगती है.[११]

कर्तृत्व : ब्रह्मके सभी धर्म नित्य ही होते हैं तथापि सर्वव्यापकत्व, जगत्कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व आदि धर्मोंका स्फुटतया बोध जब जगत्की उत्पत्ति हो जाती है तब ही हो पाता है उसी तरह— **"कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः"** **"परात्तु तच्छ्रुतेः"** **"कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्"** (ब्रह्मसूत्र २।३।४२, ४१, ३३) सूत्रोंसे यह सिद्ध होता है कि बद्ध जीवात्माकी मुक्तिकेलिये परमात्माने उसे शास्त्रीय विधि-निषेधोंका ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकेलिये कर्तृत्व भी प्रदान किया होने पर भी —अन्तःकरणादिके अध्यासके बिना जीवात्माके कर्तृत्वका बोध भी स्फुटतया हो नहीं पाता है.

भागवतार्थ निबन्धके चतुर्थस्कन्धनिरूपक कारिकामें आचार्यचरणोंने

इसका निरूपण अधोलिखित प्रकारसे किया है:

कारीगरको हाथ न होनेपर वह जैसे हथीयारोंको पकड़ नहीं पाता है उसी तरह अहङ्कारादि करणोंके न होनेपर आत्मा अकेले कुछ कर नहीं पाती है. अहङ्कारादिके उपलब्ध होने जानेपर भी उनके साथ यदि उसका सम्बन्ध नहीं हुवा हो तब भी वह, निरध्यस्त जीवन्मुक्तोंकी तरह, उपलब्ध करणोंसे न तो कुछ करवा पाती है और न उन करणोंसे होते सदसत्कर्मोंके फलोंको भोग पाती है. अध्यास ही लिङ्गदेह और आत्मा को परस्पर जोड़ता है. अध्यासके कारण आत्माका कर्तृत्व स्फुट होता है और लिङ्गदेहका करणत्व.[१२]

तात्पर्य यह है कि जीवात्मा अन्तःकरणादिके अभावमें स्वतः कुछ भी कर पानेमें समर्थ नहीं होती है. साथ ही साथ अन्तःकरणादिको जब तक वह अपना नहीं मानती तब तक वे उसके साधन भी बन नहीं पाते हैं. अन्तःकरणाध्याससे यह सम्भव हो जाता है.

अध्यस्त आत्मा लिङ्गशरीरको अपना करण तो बना लेती है परन्तु प्राकृत विषयों और प्राकृत लिङ्गशरीर के साजात्यवश उनमें प्रकट होते पारस्परिक आकर्षणके कारण बेलगाम उद्दंड घोड़े जिस तरह रथीकी इच्छाको तिरस्कृत कर अपनी निरङ्कुश इच्छासे अपनी मनोवाञ्छित जगह ले जाते हैं उसी तरह आत्माके करण आत्माकी इच्छाको दबाकर अपनी ही इच्छाके अनुसार स्वच्छन्द आचरण करने लगते हैं. यह ही जीवात्माकी अधोगतिका मुख्य कारण है.[१३]

अध्यस्त जीवात्माका संसाराभिनिवेश, विनाशक विषयोंकी प्राप्ति, देहकी विभिन्न अवस्था, जन्म-मरण, सुख-दुःखादिका अनुभव आदिसे लेकर विद्याप्राप्ति और भगवच्छरणागतिसे अविद्यासे मुक्त होनेका बड़ा रोचक वर्णन श्रीभागवत चतुर्थस्कन्धके (अध्याय २५-२९) पुरञ्जनोपाख्यानमें वर्णित हुवा है.

प्राणाध्यास :

प्राण राजस अहंकारका कार्य होता है. क्रियाशक्तिवाला होनेसे प्राण

सकल इन्द्रियोंको बल प्रदान करता है. वायुके रूपमें यह दशविध होता है: प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय. ओज (इन्द्रियकी शक्ति), सह (मनकी शक्ति) और बल (शरीरकी शक्ति) भी इसीके कार्य होते हैं.[१४]

प्राणाध्यासके कारण जीवात्मा प्राणके कार्य और धर्मों को अपना कार्य और धर्म मान लेती है. फलतः श्वासोच्छ्वास, वायुनिःसरण, अन्नपाचन, अन्नादिको ऊपर लाना, अन्न-रसादिको नाडियोंमें पहुंचाना, उद्गार, नेत्रोंके निमेष-उन्मेष, छींक, उबासी, शरीरको फुलाना आदि क्रियाओंका कर्तृत्व भी आत्मा अपनेमें समझती है. प्राणोंके प्रबल होने पर वह स्वयंको बलिष्ठ-ओजस्वी आदि समझती है और निर्बल होने पर शक्तिहीन, क्षुधा आदि भी प्राणोंके कारण प्रतीत होते हैं.

इन्द्रियाध्यास :

राजस अहङ्कारसे ही पांच ज्ञान और पांच कर्म के भेदसे दश इन्द्रियां प्रकट होती हैं. "**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि**" "**इन्द्रियाणि दशैकञ्च**" से इन्द्रियोंमें मन भी परिगणित है ही. किन्तु उसकी उत्पत्ति सात्त्विक अहंकारसे होती होनेसे और उसका समावेश अन्तःकरणमें होता होनेसे यहां उसकी विवेचना नहीं की गयी है. अनात्मभूत ज्ञान-कर्मेन्द्रियोंका अध्यास आत्माको होनेपर इन्द्रियोंके कार्य-अवस्था आदिको आत्मा अपने कार्य-अवस्था आदि मानने लगती है. फलतः "मैं मूक हूं" "मैं बधिर हूं" "सुलोचन हूं" आदि प्रतीति आत्माको होने लगती है.

देहाध्यास :

स्थूल शरीरको 'देह' कहा जाता है. वह पाञ्चभौतिक होता है. पशु-पक्षी-मनुष्यादि योनि, स्त्री-पुरुषादि लिङ्ग, वर्ण-जाति आदि, बाल-किशोरादि अवस्था, कृष-पुष्टादि, रोगी-निरोगी, सुन्दर-असुन्दर आदि सभी शास्त्रीय-लौकिक व्यवहार स्थूल देहके ही सम्बन्धमें किये जाते हैं. देहाध्यासके कारण आत्मा अनात्मभूत स्थूलदेह और उसके पश्वादि प्रकार-अवस्थादिको अपना स्वरूप-अवस्थादि मान लेती है. इसीके कारण परिवार, समाज, राष्ट्र आदि विषयक लौकिक और वर्ण-आश्रमादि विषयक शास्त्रीय

विधि-निषेध भी उसको प्रसक्त होते हैं.

अध्यासकी प्रतिबन्धकता :

यहां तक किये गये अध्यास विषयक निरूपणके आधारपर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जीवात्माके उद्धारमें अवरोध पैदा करनेवाले पाप, अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, असत्य, चोरी, अधर्माचरण, विधर्माचरण, परधर्माचरण, दुःख, उद्वेग, चिन्ता, अविवेक, अधैर्य, दुराग्रह, हठ, अश्रद्धा, संशय, अपवित्रता आदि प्रतिबन्ध साक्षात् अथवा परम्परया अविद्याकृत अध्यासमूलक होते हैं.

अध्यास सर्वत्र प्रतिबन्धक :

अध्यास क्योंकि ज्ञान, कर्म, उपासना और स्वतन्त्र भक्ति रूप सभी उद्धारक मार्गोंमें सामान्य-विशेष रूपसे प्रतिबन्धक होते ही हैं अतः तत्तन्मार्गीय दृष्टिसे उनकी प्रतिबन्धकता और उनके निवारणके तत्तन्मार्गीय उपायोंका भी विचार पृथक्-पृथक् किया जा सकता है. प्रस्तुत प्रबन्धमें, किन्तु, अन्यमार्गीय दृष्टिसे प्रतिबन्ध और उसके निवारणके उपायोंका निरूपण प्रसङ्गोचित न होनेसे केवल पुष्टि भक्ति और प्रपत्ति मार्गके सन्दर्भमें ही उसका निरूपण किया गया है.

वर्तमान सन्दर्भ :

वैसे तो सृष्टिके प्राकट्यकालमें ही सृष्ट सभी जीवोंको अविद्याजन्य अध्यास सर्वसामान्यरूपसे होता होनेसे वर्तमानमें अध्यासके मूलभूत स्वरूपमें तो कोई वैशिष्ट्य आता नहीं है. तथापि शास्त्रोंमें उपलब्ध होते कलिवर्ज्यप्रकरण, कलिकी करालताके वर्णन तथा "प्रायेणाल्पयुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनः, मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः" (भाग.पुरा.१।१।१०)[१५] "**कलौ च खलधर्मिणि पाषण्डप्रचुरे लोके**" "**अधुना ह्याधिकारास्तु सर्वएव गताः कलौ**" "**अधुना तु कलौ सर्वे ... ते दुर्लभतरा कलौ**" सदृश शास्त्र एवं आचार्य वचनोंके तात्पर्यका विचार करनेपर कलिकालमें आत्माके अध्यास अन्य प्रतिबन्धोंकी ही तरह अधिक प्रबल हो जाते हैं इतना तो वैशिष्ट्य कलिकालका स्वीकारना ही पड़ता है.

दूसरी दृष्टिसे विचार किया जाये तो जीवात्मा जितने लंबे समय तक

बद्धावस्थामें रहती है उतने अधिक कर्मोंमें वह फंसती है. जितने अधिक कर्म वह करती है उतने अधिक कर्मफल सञ्चित होते हैं. कर्मफलोंको भोगनेकेलिये उतने अधिक समय तक उसको जन्म लेना पड़ता है. इस क्रममें उसका अध्यास भी अधिक बढ़ता जाता है.

भक्ति-प्रपत्तिमें अध्यासकी प्रतिबन्धकता :

भक्तिमार्गका एक मात्र लक्ष्य भगवान् होते हैं. जिन जीवोंको भगवानने भक्तिमार्गका अनुसरण करनेकेलिये चुना है उनसे भगवान् अपनी अनन्य शरणागति पूर्वक सर्वेहमयी सर्वस्वसमर्पणात्मिका सेवाकी अपेक्षा रखते हैं. जब, परन्तु, अन्तःकरणादिके अध्यासके कारण जीवको भगवदंशरूप अपने स्वरूपकी पूर्णतया विस्मृति हो जाती है, अनात्मभूत देहादिको ही जब वह अपना स्वरूप मानने लगता है और अनन्तविध जागतिक विषयोंके सम्पर्कमें आकर जब वह उनमें आसक्त हो जाता है तब उसका सीधा परिणाम भगवद्वैमुख्य के रूपमें प्रकट होता है. चेतन होनेपर भी वह अचेतन-प्राकृत देहादिके अधीन हो जाता है "**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः**" "**काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः, मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः**" न्यायेन विषयकाम उसमेंसे भगवत्कामको दूर हटा देता है. दूसरी ओर "**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते**" (भग.गीता३।२७) न्यायेन कर्तृत्वाभिमान उसको भगवान्‌को अपने अनन्य शरणतया स्वीकारनेसे रोक देता है. ऐसे संसारासक्त बहिर्मुख जीवोंको ही लक्षित कर "**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी.... प्रसक्ताः कामभोगेषु**" (भग.गीता१६।१०) "**लोकार्थी चेद् भजेत्...**" "**विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः**" "**विवेक-धैर्य-भक्त्यादि रहितस्य विशेषतः, पापासक्तस्य दीनस्य**" आदि वचन प्रसक्त होते हैं.

भक्तिमार्गमें अध्यासकी प्रतिबन्धकता दो स्तरपर देखी जा सकती है: १.भक्तिमार्गमें प्रवेशके पूर्व और २.भक्तिमार्गके अन्तर्गत/भक्तिमार्गमें प्रवेश हो जाने पर. प्रथम स्तरकी प्रतिबन्धकता मनुष्यकी भक्तिमार्गमें रुचि उत्पन्न होने नहीं देती है. द्वितीय स्तरीय अध्यासकृत प्रतिबन्धकता भक्तिमार्गपर चलनेवालेको रोक देना (**तदा भगवान् फलं न दास्यति**), गतिको मन्द कर

देना (**क्लिष्टो भवति सर्वथा**), पीछे धकेल देना (**हीनेषु जायते**), दूसरे रास्तेपर चढ़ा देना (**तस्मात् स्थानाच्च नश्यति**) इत्यादि रूपमें हो सकती है.

सम्प्रदायग्रन्थोंमें भक्ति और प्रपत्ति साधनामें आते प्रतिबन्धोंका निरूपण उन साधनाओंके विभिन्न पक्षोंको लक्ष्यमे रखकर अनेक रूपोंमें उपलब्ध होता है. यथा: काम-क्रोधादि, अविवेक, अधैर्य, अन्याश्रय, वृथालापक्रियाध्यान, भोग, प्रार्थना, विक्षेप, अशक्ति, प्रतिबन्ध, अत्याग्रह, परपीडा, अधर्माचरण, वेदनिन्दा, संग इत्यादि. यह पूर्वमें कहा जा चुका है कि अविद्याकृत अध्यास जीवात्माको जगत्सृष्टिकालमें ही लग जाते हैं. अतः खास करके भगवत्कृत और सामान्यतया देश-काल-वस्तु और अन्यजीव कृत प्रतिबन्धोंको छोडकर अन्य सभी देह-इन्द्रिय-मनोजन्य होते हैं.

प्रतिबन्धोंके मूल चतुर्विध अध्यासोंके भीतर खोजे जा सकते हैं. अधोनिर्दिष्ट टेबलमें प्रतिबन्धोंको उनसे सम्बद्ध अध्यासके नीचे रखा गया है.

भगवान् आज्ञा करते हैं :

"**शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ... पञ्चैते तस्य हेतवः,**
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्,
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्"

मनुष्य कायिक-वाचिक-मानसिक जो भी कर्म करता है उसमें गौण-मुख्य प्रकारसे देह, जीव, अन्तर्बाह्य करण, विविधचेष्टा-वृत्तियां और अन्तर्यामी ये पांचो सम्मिलित रहते हैं. अतः अन्तःकरणाध्यास जन्य काम-क्रोधादिकी किसी न किसी रूपमें बाह्य (ऐन्द्रिक-दैहिक) प्रतिक्रिया होती ही है. इसी तरह अत्यन्त बाह्य प्रतीत होनेवाले वार्धक्यादिके भी कोई न कोई आन्तर रूप होते ही हैं. यथा :

"**सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति,**
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते,
गांडीवं संस्रते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते,
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः".

ऐसा होनेपर भी टेबलमें प्रतिबन्धोंको "**प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति**" न्यायेन वर्गीकृत किया गया है अतः सभी आन्तरके बाह्य और

बाह्यके आन्तर स्वरूप-प्रकार लिखे नहीं गये हैं. स्पष्टरूपमें जिनका उल्लेख साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें उपलब्ध हुवा है उनको ही तत्तदध्यासोमें वर्गीकृत किया गया है.

अन्तःकरणाध्यास	प्राणेन्द्रियाध्यास	देहाध्यास
अविवेक		
प्रार्थनावृत्ति-काम-लोभ	प्रार्थना-वाचिक	
हठ-आग्रह-अत्याग्रह		
अज्ञान-मोह		
अभिमान-मद-अहन्ता		
वृथाध्यान	वृथालाप	वृथाक्रिया
असहन-मानसिक	असहन-ऐन्द्रिक	असहन-कायिक
मानसिक अन्याश्रय	अन्याश्रय-वाचिक	अन्याश्रय-कायिक
संगवृत्ति	संग-ऐन्द्रिक	संग-दैहिक
विक्षेप	विक्षेप ऐन्द्रिक	विक्षेप दैहिक
भोगवृत्ति	भोग ऐन्द्रिक	भोग दैहिक
परपीडा-मानसिक	परपीडा ऐन्द्रिक	परपीडा दैहिक
	अशक्ति ऐन्द्रिक	अशक्ति दैहिक

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मनकी गणना छठी/ग्यारहवीं इन्द्रियतया भी की जाती है. इस दृष्टिसे मनके विकारोंकी गणना इन्द्रियाध्यासके अन्तर्गत भी की जाती है. चार अन्तःकरणोंमें मनकी गणना एक करणके रूपमें भी की जाती है. इस दृष्टिसे मनके विकारोंको अन्तःकरणाध्यासके अन्तर्गत भी रखा जा सकता है.

भक्तचरित्रसन्दर्भ :

उल्लिखत टेबलमें तत्तदध्यासजन्य प्रतिबन्ध-दोषोंके जिन दृष्टान्तोंको भक्तचरित्रोंमेंसे खोजकर परिचर्चामें भाग लेनेवालोंने अपने-अपने पत्रोंमें प्रस्तुत किये हैं वे सभी के सभी, प्रायः यथावत्, तत्तदध्यासजन्य प्रतिबन्धके दृष्टान्त बन ही सकते हैं. तथापि संक्षेपमें कुछ दृष्टान्त एक विशेष दृष्टिसे इस तरह सोचे जा सकते हैं.

१. अन्तःकरणाध्यास :

भक्तिमार्गमें प्रवेशसे पूर्व :

राणाव्यास : अहंकार.

बूलामिश्र : अन्यान्य पुरुषार्थोंमें आसक्ति.

रामानन्द पंडित : अहङ्कारसे आचार्यचरणोंके साथ वाद करना.

विष्णुदास छीपा : वैराग्य आ जानेके भयसे थानके रुपये लौटाना.

भगवानदास सांचोरा : यशःकामना.

नरहरदास : पिताके तिरस्कारसे खेद.

नरहर सन्यासी:स्त्रीमें आसक्ति.

भक्तिमार्गमें/मार्गप्रवेशके अनन्तर :

दामोदरदास : आधी गादी दाबकर बैठना.

रघुनाथदास : ईर्ष्यावश माताकी सेवा छुडवानेकेलिये अलग होना.

माधवदास : वेश्यामें आसक्ति.

गोविंददास भल्ला : अहङ्कार.

नारायणदास ब्रह्मचारी : तातीखीर; गुरुके दर्शनार्थ भगवत्स्मृतिकी विस्मृति.

जगन्नाथ जोषी : क्रोधित होकर फूलमालाका फेंकना.

राणाव्यास : देसायनिमें आसक्त होना.

गोविंद दूबे : मन व्यग्रह रहना. सेवामें चित्तका न लगना.

रामानन्द पंडित : लोभ वश स्त्रीसे छाना बीन लेनेको कहना.
आचार्यजीद्वारा त्याग किये जानेपर आचारभ्रष्ट होना.

कृष्णदास : गंगाबाईमें आसक्ति, श्रीगुसांईजीके प्रति मात्सर्य.

२-३. प्राणेन्द्रियाध्यास:

भक्तिमार्गमें प्रवेशसे पूर्व :

जीवनदास क्षत्री : राग-संगका इश्क.

राणाव्यास : इन्द्रजीत होनेका अहंकार.

वासुदेवदास : बलिष्ठ होनेका गर्व.

भक्तिमार्गमें/मार्गप्रवेशके अनन्तर :

कृष्णदास मेघन : मुखरतादोष.

पारखती : हाथ-पांवमें कोढ निकलनेपर सेवामें ग्लानी.

४. देहाध्यास :

भक्तिमार्गमें प्रवेशसे पूर्व :

राणाव्यास : दैहिक कष्टोंको सह न पानेके कारण तीर्थयात्राका त्याग.

भगवानदास : टका दक्षिणा मिलने पर अपने ब्राह्मणत्वको धिक्कारना.

अच्युतदास सारस्वत : परिजनोंकी मृत्युसे दुःखी होना.

भक्तिमार्गमें/मार्गप्रवेशके अनन्तर :

संभलवारे : गरमीमें चौबारेमें सोने जाना.

संभलवारेकी स्त्री : पिताके मना करने पर जल भरने न जाना.

गोपालदास : पिताको वृद्ध हुवे जानकर सेवामें प्रवृत्त होनेका विचार आना.

जगन्नाथ जोषी : बागा धरके अरोगनेसे भोगके छू जानेकी शङ्का.

अध्यासका निवारण :

अविद्या क्योंकि भगवच्छक्तिरूपा मायाके अधीन होती है अतः अविद्याकृत अध्यासकी पूर्णतया निवृत्ति तो तभी हो सकती है कि जब भगवान् स्वयं मायाको आदेश देकर जीवकी अविद्याको दूर करें. भगवान् जब तक ऐसा नहीं करते हैं तब तक, प्रभुकी शरणागति और भक्ति के मार्गपर जिन्होंने चलना शुरु कर दिया है ऐसे भक्ति-प्रपत्तिमार्गी जीवोंको भी अध्यास और तज्जन्य प्रतिबन्धों का सामना तो करना ही पड़ता है. यह स्थिति कुछ वैसी ही होती है कि जैसे रोगनिवारक औषधिका सेवन आरम्भ कर देनेपर भी शरीरस्थ रोगोंके कारणोंका पूर्णतया नाश जब तक हो नहीं जाता तब तक, औषधिका सेवन करते होने पर भी, ज्वर-खांसी-शरीरदर्द आदि सहन करने ही पड़ते हैं. अधीर रोगी और उसे भी अधिक अधीर रोगीके अभिभावक चिकित्ससे आक्षेपगर्भित प्रश्न करते सुने जाते हैं : "दवाई नियमित लेनेपर भी बुखार क्यों चढ़ता रहता है?" चिकित्सक उसपर भरोसा रखने और धीरज धरने की सलाह देते हुवे कहता है : "रोगके जन्तुओंका जब तक पूरा सफाया नहीं होगा तब तक कष्ट झेलना ही पड़ेगा". इसी तरहके प्रश्न तब खडे होते हैं कि जब कोई भक्तिमार्गी काम-क्रोधादि दुर्मनोवृत्तिवाला, अधर्माचरण करनेवाला देखा जाता है. कभी-कभी खुद भक्तिमार्गीओंको भी स्वयं अपने बारेमें इसी तरहके प्रश्न होते हैं. समाधन इन प्रश्नोंका वही है जो एक चिकित्सक

चिकित्सार्थीको देता है : "भरोसा रखो, धीरज रखो, औषधिका सेवन निर्देशानुसार करते रहो, पथ्यका पालन करो, रोगके कारणोंका पूर्णतया नाश होने पर सब अच्छा हो जायेगा".

प्रमेयबलसे अध्यासका निवारण :

भक्तोंके प्रतिबन्धोंका निवारण भगवान् प्रमेयबल और प्रमाणबल ऐसे दो तरहसे करते हैं. प्रमेयबलसे जब भगवान् प्रतिबन्धोंका निवारण करते हैं तब भक्तके अधिकार और भक्तकृत साधनों को भगवान् लक्ष्यमें नहीं लेते हैं. विशेषकर अवतारकालमें भगवान् भक्तोंके चित्तका अपनेमें निरोध करनेकेलिये ऐसा करते हैं.

अविद्यापूतना नष्टा :

पूतनाद्वारा धारण किये गये मोहक रूपसे माताएं और श्रीकृष्णकी रक्षाकेलिये नियुक्त किये गये गोप मोहित हो कर अपना 'स्वरूप भूल गये. पुरुषत्वाभिमान अर्थात् 'देहाध्यास के कारण रक्षक गोप पूतनाके स्त्रीरूपसे मोहित हुवे और उन्होंने पूतनाको अंदर जानेसे रोका नहीं. 'इन्द्रियाध्यासके कारण पूतनाके शृंगार-सुगन्धी द्रव्योंके लेप आदिने उनके मनको हर लिया. पूतनाके गिरनेसे भयभीत हुवे गोप अपने प्राणोंकी रक्षाकेलिये भूमिपर गिर पड़े. 'प्राणाध्यासके कारण उनको भगवान्के हिताहितकी चिन्ता उस समय न हुई. गोपिओंको तो पूताना साक्षात् लक्ष्मीका रूप ही प्रतीत हुई. यह उनके 'अन्तःकरणाध्यासके कारण हुवा.

पूतनाका वध होनेसे सबकी अविद्या निवृत्त होते ही माता-गोप-गोपीको अपने स्वरूपका ज्ञान हुवा. श्रीकृष्णकी रक्षामें असावध रहनेके कारण ऐसा संकट आया यह उनको बोध हुवा.

तामसप्रमेयप्रकरण अर्थात् भागवत दशमस्कन्धके १२वें अध्यायके उपक्रममें लिखित सुबोधिनी कारिका और उसपर लिखित टिप्पणी-प्रकाश-योजना-कारिकार्थमें व्रजभक्तोंकी पञ्चपर्वा अविद्याका निवारण करके उनके चित्तको किस तरह भगवानने अपनेमें निरुद्ध किया उसका निरूपण किया गया है. तदनुसार :

देहाध्यासो हि धेनुकः

देहाध्यास मनुष्यको देहसम्बन्धि कर्मोंमें उलझाकर प्रभुसेवा-स्मरणादिमें विघ्न उपस्थित करता है. धेनुकासुर भी इसी तरह गोपबालकोंद्वारा कीजाती भगवत्सेवामें विघ्न उपस्थित करता था. धेनुकका वध होनेपर गोपबालकोंका देहाध्यास निवृत्त हुवा.

कालीय इन्द्रियाण्याहुः विषवांस्तद्विषं मतम्

कालियनाग इन्द्रियरूप था. और उसका विष विषयरूप. विषसे जैसे मृत्यु होती है उसी तरह विषयोंमें लिप्त इन्द्रियोंसे भी मरण होता है. कालियका विषयरूप विष यमुनाके विषाक्त जलके पानसे गोपबलकोंमें प्रविष्ट हुवा. उसके कारण वे सब निष्प्राण हो गये. भगवानने उनको पुनर्जीवित कर न केवल नूतन देह प्राप्त करवाया अपितु इन्द्रियरूप कालियके शिरोंका मर्दन कर उनको नाथ भी लिया. इस तरह गोपबालकोंका इन्द्रियाध्यास निवृत्त हुवा.

इन्द्रियप्राणयोर्दोषो निवार्यस्तु सहैव हि

क्षुधा प्राणधर्म होती है. कालियनागका दमन होनेके पश्चात श्रमित व्रजवासी भूखे-प्यासे कालिन्दीके तटपर ही सो गये. उसी समय वनमें प्रकटे दावाग्निने सबको घेर लिया. दावाग्नि व्रजवासियोंका प्राणाध्यास था. दावाग्निका पान करके भगवानने व्रजवासियोंके प्राणाध्यासकी निवृत्ति की. प्राण इन्द्रियोंको बल देता है अतः इन्द्रिय और प्राण दोनोंके दोष भगवानने साथ-साथ दूर किये.

प्रलम्बस्य वधो महान् ...अन्तःकरणदोषः...निवर्त्यते

गोपोंको भगावान्में परम प्रेम था. तथापि अन्तःकरणके दोषके कारण खेलमें भगावान्के ऊपर कभी सवारी कर लेनेमें उनको सङ्कोच नहीं होता था. भगवानने बलरामजीमें आविष्ट होकर प्रलम्बासुरका वध करके गोपोंके अन्तःकरणाध्यासकी निवृत्ति की.

अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दावाग्निः तन्निवारणम्

अपने और भगवान् के स्वरूपका अज्ञान 'स्वरूपविस्मृति' कहा जाता है. भगवान्के प्रति सख्यभाव होनेके कारण गोपबालक "हम प्रभुके दास हैं"

ऐसा अपना स्वरूप भूल गये थे. स्वरूपविस्मृतिरूप दावाग्नि सब कुछ राख करदेनेवाला होता है. दावानलसे भयभीत गोपोंको भगवान्की शरण ग्रहण करनेके अतिरिक्त ओर कुछ नहीं सूझा. भगवानने दावानलका पान कर गोपोंके स्वरूपाज्ञानका निवारण किया.

इस तरह हम देख सकते हैं कि जिन जीवोंको प्रपञ्चका विस्मरण कराकर उनको अपनेमें आसक्त बनानेकी भगवानने ठानली थी उनके आध्यासिक दोषोंका निवारण भी स्वयं भगवानने ही कर दिया था.

अनवतारकालमें अध्यासका निवारण :

महाप्रभुकी प्रसिद्ध उक्ति है: "वर्षाकालमें जल सर्वत्र सुलभ होता है इससे नदि-कूप-तालाब आदि निरुपयोगी नहीं बन जाते हैं". तात्पर्य यह है कि वर्षाकाल सर्वदा रहता नहीं है अतः अन्य ऋतुओंमें तो नदि-कूपादिमें संग्रहीत हुवा वर्षाजल ही जीवनका आधार बनता है. भगवान्का अवतारचरित्र वर्षाकालकी तरह होता है. वह परन्तु सर्वदा रहता नहीं है. अतः अनवतारकाल में मनुष्य अपना उद्धार, नदि-कूप-तालाब आदिमें संग्रहीत वर्षाजलके उपयोगकी तरह, अवतारचरित्र और शास्त्र द्वारा उपलब्ध कराये गये साधनोंसे करें ऐसा भगवान चाहते हैं. अवतारकालको अल्पकालीन रखना और अनवतारकालमें भी उद्धारयोग्य जीवोंका शेष रह जाना इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करता है.

विद्यासे अविद्याका अभिभव :

अविद्या अज्ञान है तो विद्या ज्ञान है. अज्ञानका निवारण ज्ञानसे होता है. अतः **"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय"** (श्वेता.उप.३।८) श्रुत्युक्तरीत्या अविद्याका निवारण भी भगवत्स्वरूपके ही यथार्थ ज्ञानसे सम्भव है. अतः महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि

"पञ्चात्मकः स भगवान् ... सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा,
तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यम् अविद्याविनिवृत्तितः" (निब.शा.४३-४४)[६]

ऐसे अनन्त दिव्य धर्मोंवाले ब्रह्मके ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है.

पञ्चपर्वा विद्या :

अविद्या जैसे पञ्चपर्वा होती है उसी तरह विद्याके भी पांच पर्व होते

हैं : वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भक्ति.

वैराग्यः विषयोंमें विराग.
सांख्यः नित्य-अनित्यके विवेक पूर्वक गृहादि वस्तुमात्रका परित्याग.
योगः एकान्तवास करके अष्टाङ्ग योगकी साधना.
तपः विचार पूर्वक मनन, एकाग्रता पूर्वक स्थिति.
भक्तिः निरन्तर भावना करनेसे भगवान्में होता प्रेम.

दैवीसृष्टिके जीव विध्युपजीवी बनकर उक्त विद्याको मुख्य-गौण प्रकारसे यदि साधते हैं तो भगवत्कृपाके होनेपर उनकी अविद्या निवृत्त होती है. तब उनको यथाधिकार कैवल्यादिरूप मोक्ष प्राप्त होता है.

मोक्षमार्गी और भक्तिमार्गी विद्यामें भेद :

अविद्याके निवारणोपायरूप विद्याकी उपर्युक्त व्याख्याको देखनेपर स्पष्टतया समझा जा सकता है कि यह व्याख्या मुक्तिमार्गीओंको लक्ष्यमें रखकर दी गयी है न कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गीओंको.

भगवान् आज्ञा करते हैं : **"तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह"** (भाग.पुरा.११।२०।३१). भगवद्भक्तोंको ज्ञान-वैराग्यादि साधन श्रेयस्कर सिद्ध नहीं होते हैं. अतः भगवद्भक्तिके सामने स्वर्गापवर्गनर्कको तुल्य माननेवाले और जिन गृह-देह-धनादिको मोक्षमार्गमें सर्वथा हेय-त्याज्य माना जाता है ऐसे घरमें रहकर देह-धनादिसे भगवत्सेवा करनेका अवसर यदि प्राप्त होता हो तो उस स्थितिको ब्रह्मभावप्राप्तिसे भी उत्कृष्टतम माननेवाले भक्तिमार्गीओंको अविद्यानिवृत्तिके उपर्युक्त उपाय, उसी रूपमें, उनकी रुचि स्वभाव और लक्ष्य को देखते हुवे, न तो रुचिकर लगेंगे और न उनके अभीष्ट लक्ष्यको प्राप्त करानेमें सहायक ही बन पायेंगे.

निष्कर्षतः अध्यासके निवारणके उपाय खोजना अपरिहार्य है. सांख्य-योगादि उपाय यदि उपर्युक्त अर्थमें भक्तिमार्गके अथवा भक्तोंको अनुकूल प्रतीत न होते हों तो दूसरे कोई उपाय, उन रूपोंमें नहीं तो किसी दूसरे रूपमें,

खोजने पड़ेंगे. आवश्यक केवल इतना है कि जो भी साधन खोजे जायें वो भक्तिमय हों, अन्यथा भक्तिमार्गसे अविरुद्ध तो हों ही.

प्रसङ्गवश यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रत्यक्षसे बाधित होनेसे, भक्तिमार्गीओंको अध्यास होते ही नहीं हैं अतः उसके निवारणके उपायकी भक्तिमार्गमें कोई आवश्यकता नहीं है ऐसा तो कोई कह नहीं सकता है. इसी तरह भक्तीमार्गीको अध्यास होते हों तब भी उनके निवारणका उपाय उसे करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका तो सब कुछ भगवान् ही करेंगे ऐसा भी कहा नहीं जा सकता है. क्योंकि ऐसा कहनेपर भगवान् एवं आचार्यों द्वारा भक्तिमार्गीओंको उपदिष्ट सब साधनोंकी व्यर्थता होगी. और यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि अनवतारकालमें भगवान् जीवोंका अङ्गीकार ससाधन करना चाहते हैं. अतः भक्तद्वारा किया जाता भक्तिमार्गीय साधनाचरण न तो प्रमेयबलकी अस्वीकृति है और न कृपाके सिद्धान्तका तिरस्कार ही.

एक ही रोगका निवारण आयुर्वेदिक, योग, प्राकृतिक चिकित्सा, युनानी, एलोपेथि, होमियोपेथि जैसी अनेक देशी-विदेशी पद्धतिसे किया जा सकता है यह प्रसिद्ध है. अतएव भगवन्मार्गमें अविद्याका निवारण भगवान्की अनन्य शरणागति और ऐकान्तिक भक्तिसे हो जाता है:

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया,
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"
(भग.गीता.७।१४)

"यत् कर्मभिः यत् तपसा ज्ञान-वैराग्यतश्च यत्,
योगेन दान-धर्मेण श्रेयोभिः इतरैरपि,
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा,
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति"
(भाग.पुरा.११।२०।३२-३३).

"केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः,
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः"
(भाग.पुरा.६।१।१५)

प्रपत्ति और भक्ति जब प्रौढ़ हो जाती हैं तब तो अन्य सहायक उपायोंसे निरपेक्ष होकर खुद ही सभी बाधाओंको पार कर जाती हैं. ऐसा न होनेपर प्रपत्ति और भक्ति को यदि तन्मार्गीय ज्ञान-वैराग्यादिरूप साधनोंका सहारा मिल जावे तो फलप्राप्ति अल्पावधिमें हो सकती है. इसी विचारसे आचार्यचरणोंने पञ्चविध विद्याका भक्तिमार्गके अनुकूल स्वरूप दिखलाया है:

विद्याका भक्तिमार्गीय स्वरूप :

वैराग्य : लौकिक विषयोंमें आसक्तिके रहनेपर अन्तःकरणमें भगवदावेश हो नहीं पाता है. तब भगवत्सेवा भी मनोयोग पूर्वक हो नहीं पाती है अतः अभगवदीय व्यक्ति-वस्तुमें वैराग्य होना आवश्यक है.

ज्ञान : ज्ञान न होनेपर मनुष्यको किसी विषयका निश्चय नहीं हो पाता है. और निश्चय कर न पानेपर कार्यमें प्रवृत्ति नहीं हो पाती है. अतः ज्ञान सर्वथा आवश्यक होता है. भक्तिमार्गीय सन्दर्भमें 'ज्ञान'से तात्पर्य सृष्टिकी लीलात्मकता आदिका और भजनीयके यथार्थ स्वरूपका शास्त्रीय ज्ञान, अर्थात् माहात्म्यज्ञान.

योग : चञ्चल मन प्रभुसेवामें भी विघ्न करता है. अतः चित्तवृत्तिके निरोधरूप योग भी भक्तिमें सहायक होता है.

प्रेम : प्रभुमें प्रेमके न होनेपर सेवामें रसाकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है. ऐसी स्थितिमें भगवत्सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा नहीं हो पायेगी. अतः सेवामें प्रेम अत्यावश्यक है.

तप : तपश्चर्यासे देहेन्द्रिय परिपक्व होते हैं. अपरिपक्व देहेन्द्रियसे भगवत्सेवा सम्भव नहीं होती. अतः तप भी भगवत्सेवामें उपकारक है.[१७]

भगवान् कहते हैं कि श्रेयसाधक उपाय तो कर्म-ज्ञान-भक्ति ये तीन ही होते हैं. इनसे अतिरिक्त अन्य तप ध्यान तीर्थ योग मन्त्र आदि कोई भी उपाय स्वतन्त्रतया श्रेयसाधक बन नहीं पाते हैं. इसी तरह कर्म-ज्ञान-भक्ति मार्गोंका विचार करनेपर तत्तन्मार्गोंमें भी कुछ उपाय अङ्गीभूत मुख्य होते हैं तो कुछ अङ्गभूत सहायक होते हैं. तदनुसार भक्तिमार्गमें भगवद्भक्ति मुख्य साधन है. अन्य ज्ञान कर्म तप तीर्थ आदि साधन अङ्गभूत माने जाते हैं. साम्प्रदायिक प्रकरणग्रन्थोंका अवलोकन करनेपर पुष्टिमार्गीय साधनामें कहीं भी विद्याके उपर्युक्त पर्वोंका उपायतया कण्ठोक्त वर्णन उपलब्ध नहीं होता है. इसके कारण

विद्याके उक्त पर्वोंका पुष्टिमार्गीय साधनामें कोई स्थान है या नहीं ऐसा संशय हो सकता है. नीचे दिये गये टेबलका अवलोकन करनेपर उपर्युक्त ज्ञान-वैराग्यादिको पुष्टिमार्गीय साधनाके सहायक उपायतया महाप्रभुने किस रूपमें ग्रहण किया है यह अथवा पुष्टिमार्गीय साधनामें उनका समावेश किस तरह हो जाता है यह जाना जासकता है.

वैराग्य	अभगवदीय वस्तु-व्यक्ति-कार्यमें, असत्संग-अन्याश्रय-असमर्पितका त्याग (योगाङ्ग 'यम-नियम'का अन्तर्भाव यथायोग्य वैराग्य-तपमेंमें समझ लेना चाहिये)
ज्ञान	भजनीय-परिकर-भगवल्लीला-भक्ति-भक्त आदिका ज्ञान, विवेक आदि
योग	आसन = गृहस्थिति-तदीयसंग, जप-पाठ-कीर्तनादिकेलिये बैठना प्राणायाम = भगवदर्थ प्राणादिको धारण करना प्रत्याहार = भगवत्कार्येतर कार्योंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकना, इन्द्रियनिग्रह ध्यान = सेव्यस्वरूपके दर्शन, जप-स्तोत्रपाठके समय धारणा = अनवसरमें निवेदन-स्वरूप-लीलादिका चिन्तन समाधि = मानसी-व्यसन-निरोध
प्रेम	सेवा-स्मरण
तप	वृथालाप-क्रिया-ध्यानका त्याग, वैष्णवव्रत, त्रिदुःखसहनरूप धैर्यादि

उल्लिखित निरूपणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्याके पांचों पर्वोंका प्रकारान्तरसे समावेश पुष्टिमार्गीय साधनामें हो जाता है.

अधिकारीभेदसे अध्यासका निवारण :

महाप्रभुने विभिन्न अधिकारवाले पुष्टिमार्गीओंको उनके अधिकार-कक्षानुसार भक्ति-प्रपत्ति साधनाके विविध प्रकार सुझाये हैं. अतः अब पुष्टिमार्गीय साधनाके मुख्य-गौण प्रकारोंका अनुसरण करनेवाले पुष्टिमार्गीओंके अध्यासोंके निवारणके सम्बन्धमें विचार प्रासङ्गिक बनता है.

भक्तिबीजकी दृढता-अदृढता और भक्तिमार्गोंकी व्यावृत्त-अव्यावृत्त

को दृष्टिमें रखकर पुष्टिमार्गीय साधनाके मुख्य प्रकार इस तरह हैं :

१. माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक सनेहसे सर्वस्वसमर्पण और अव्यावृत्ति पूर्वक स्वगृहमें प्रभुसेवा-स्मरण परायण रहना यह पुष्टिमार्गीय साधनाका सर्वोत्कृष्ट प्रकार है.

२. दृढबीजभाववाले, परन्तु, स्वगृहमें भगवत्सेवा नहीं कर सकनेवाले पुष्टि-मार्गीको विरहानुभवार्थ गृहत्याग पूर्वक श्रवणादिपरायण रहनेकी अनुज्ञा है. अदृढबीजभाववाले भक्तिमार्गी व्यावृत्त और अव्यावृत्त दोनों तरहके हो सकते हैं.

३. अव्यावृत्त भक्तिमार्गी तो सर्वस्वसमर्पण पूर्वक स्वगृहमें गुणगान सहित भगवत्सेवा कर ही सकता है. अतः उसको भक्तिसाधनाका यही प्रकार उपदिष्ट हुवा है.

४. व्यावृत्त भक्तिमार्गीसे सेवा और गुणगान दोनों सम्भव न हो पायें तो उससे जो भी सम्भव हो उसीको दृढतासे करे.[९]

५. और जिससे भक्तिके इन प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारका अनुसरण हो न पाये वह अपनेमें निःसाधनताकी भावना करता हुवा भगवान्‌के शरणमें रहे.[१०]

१-२. इन पञ्चविध भक्तिमार्गीओंमेंसे प्रथम दो तो जीवन्मुक्त तुल्य होते हैं, मानसी अथवा व्यसन अवस्थाकी प्राप्तिरूप भक्तिका बीजभाव दृढ हो गया होनेसे, भक्तिमार्गीय मुख्य फलकी प्राप्ति जब तक प्राप्त हो नहीं जाती है और प्रारब्धवश देहादिकी स्थिति जब तक बनी रहती है तब तक इनको संसारावेश पुनः हो न जाये तदर्थ वैराग्यादिका पूर्ववत् अनुष्ठान करना होगा. ये अनुष्ठान अविद्याके निवारणार्थ न होकर अध्यास उनको पुनः जकड़ न लें उस दृष्टिसे होता है. अतः "**उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात् तु बाधकम् ... बाधकानाम् परित्यागः**" "**भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः**" "**तादृशस्यापि सततं ...**" आदि उपदेश इसी सन्दर्भमें समझने चाहिये.

३. अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें भगवत्सेवा-स्मरण कर सकनेके सौभाग्यवाले भक्तिमार्गीका बीजभाव जब तक सुदृढ नहीं हो जाता है तब तक अविद्या निवारणके वैराग्यादि उपाय उसको सन्निष्ठ होकर करने पड़ेंगे. भक्तिके

अदृढ होनेके कारण अध्यास प्रबल हो जाते हैं अथवा अध्यासोंकी प्रबलताके कारण भक्ति दृढ नहीं हो पाती है ऐसा भी कहा जा सकता है. ऐसी स्थितिमें साधक उपायोंको करते हुवे बाधकोंका परित्याग भी आवश्यक बन जाता है.

४. एक ओर अदृढ भक्ति, दूसरी ओर व्यावृत्ति और इतना होनेपर भी साधक उपायोंका आधा-अधूरा आचरण. साधनाका ऐसा प्रकार कष्ट, विलम्ब और बाधाओंसे भरपूर है. परन्तु जिसके पास जो उपलब्ध होगा उसीको तो वे साधन बना पावेगा अतः ऐसी अवस्थावाला भक्तिमार्गी यदि उसको उपलब्ध साधनाको दृढतासे पकड़े रहता है तो महाप्रभु उसको अभय प्रदान करते हैं : "**यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम**".

प्रपत्तिमार्गमें अध्यासकी निवृत्ति :

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि अविद्याका निवारण विद्याके वैराग्यादि पांचों पर्वोंसे युक्त होकर भगवद्भजन करनेपर शीघ्रतासे होता है. यह मुख्य कल्प है. ऐसा सम्भव न होने पर चार, तीन, दो या फिर किसी एक पर्वको भी दृढतासे साधते हुवे भगवद्भजन किया जाता है तब भी भगवान्‌की कृपा होने पर भजन सिद्ध हो जाता है.[११]

पुष्टिमार्गके अन्तर्गत प्रपत्ति भक्तिमार्गका आरम्भिक सोपान भी है और पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाको अनुसरनेका सन्निष्ठ प्रयास करनेपर भी उसमें सफलता न मिलनेपर प्राप्त होती निस्साधनताकी स्थिति भी है. किसी भी स्थितिमें यह स्पष्ट है कि क्रियाशक्ति और इन्द्रियोंका भगवद्विनियोग प्रपत्तिमार्गमें हो नहीं पाता है, ज्ञानमार्गीकी तरह. प्रपत्तिमार्गी अधिकसे अधिक निवृत्तिरूप उपायोंका कर पाता है. ऐसी स्थितिमें अर्थात् प्रवृत्तिरूप-साधक उपायोंके अभावमें साधनबलसे तो उसके अध्यासोंका निवारण हो पाना दुष्कर लगता है. तथापि "**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**" (भग.गीता७।१९) "**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा ... मद्भक्तिं लभते पराम्**" (भग.गीता१८।५४) "**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**" (तत्रैव१२।४) इत्यादि भगवद्वचनोंके अनुसार, ज्ञानीको भगवान् जब अपनी भक्ति प्रदान करते हैं तब जाकर उसको भक्तिद्वारा निर्गुणमुक्ति प्राप्त होती है उसी तरह प्रपत्तिमार्गीको भी जब तक भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है तब तक उसको

भक्तिमार्गीय उत्तम फलकी प्राप्ति नहीं होती है. फलतः यह कहा जा सकता है कि प्रपन्न जीवात्माकी अविद्या दीर्घकालमें निवृत्त होती है. अतएव प्रपन्न जीवको निबन्धोक्त "एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात्" कल्पमें रखा जा सकता है.

यों तो प्रपत्तिमें विवेक, धैर्य और आश्रय इस तरह तीन साधन हों ऐसा प्रतीत होता है किन्तु सूक्ष्मतासे देखा जाये तो आश्रयभावन ही वैराग्य-योगकी तरह फलोपकारी उपाय है, धैर्य और विवेक तो यथाक्रम ज्ञान-तपकी तरह स्वरूपोपकारक और प्रेमकी तरह स्वरूपोत्कर्षाधायक ही होते हैं.

अध्यासकी साधक-बाधकता :

जीवात्मा उसको प्राप्त अन्तःकरणादिके अभावमें स्वतः कुछ भी कर पानेमें समर्थ नहीं होती है. साथ ही साथ अन्तःकरणादिको जब तक वह अपना नहीं मानती है तब तक वे उसके साधन भी बन नहीं पाते हैं. अविद्याके कारण पनपी अहन्तासे यह कार्य होता है. इतना हो जानेपर यदि जीवात्मा उसको बन्धनरूपेण प्राप्त अन्तःकरणादिको अपने उद्धारका साधन बनाती है तो वे उसकेलिये उपकारक बन जाते हैं. पर यदि वो उनका उपयोग संसाभिनिवेशको बढानेमें करती है तो वे ही उसकी अधोगतिका कारण भी बन जाते हैं. इससे सिद्ध होता है कि जिसे बाधक अथवा त्याज्य माना जाता है उसका सर्वांशमें सभी रूपोंमें बाधक या त्याज्य होना आवश्यक नहीं है.

उदाहरणतया अज्ञान और अन्यथाज्ञान को ही लिया जाय तो उनकी बाधकता कौन नहीं स्वीकारेगा परन्तु आचार्यचरण आज्ञा करते हैं : "**अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम्**" (भाग.निब.१०।४३) अवतारलीलामें भगवानने पूतनादि दैत्योंके वधको निमित्त बनाकर व्रजभक्तोंकी अविद्या और तत्कृत अध्यासोंका निवारण तो किया परन्तु फिर भी प्रभुने व्रजभक्तोंके प्रभुस्वरूप विषयक अज्ञान और प्रभुको प्राकृत बालकवत् माननेरूप अन्यथाज्ञान को निवृत्त नहीं किया. भगवानने ऐसा इसलिये किया क्योंकि उस तरहका अज्ञान और अन्यथाज्ञान भक्तिमें सहायक होता है.

इसी तरह, शरीरको आत्मा माननेके कारण जीवात्माका शरीरप्रवेश

होता है. संसारी जीव मोहवश शरीरमें आत्माभिमानका अरोप करते हैं इसलिये उनका शरीरको आत्मा मानना 'अध्यास' कहलाता है. मुक्त पुरुष, परन्तु, "**प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्नेव वाग् भवति**" (मुक्त पुरुष श्वास लेता हुवा भी श्वासरूप है, बोलता हुवा भी वाणीरूप है) श्रुतिके अनुसार सर्वस्वरूप हो जाता है इसलिये उनका शरीरको आत्मा मानना वास्तविक है.

भक्त्युपयोगी अध्यासका निवारण अपेक्षित नहीं :

मोक्षमार्गोंमें अध्यासको जीवात्माकी मुक्तिमें सबसे बड़ी बाधा माना गया है. अतएव वहां अध्यास बढ़ानेवाले विषयोंका परित्याग, तदर्थ सर्वत्र दोषदर्शन, देहादिमें अनात्मभाव, तदर्थ देहादिका दमन, अहन्ता-ममताका नाश आदि पर भार दिया गया है.

भक्तिमार्गमें अध्यास एक दृष्टिसे बाधक है तो दूसरी दृष्टिसे साधक भी माने गये हैं. भगवद्विमुखता और लौकिकासक्ति के जनक अध्यासको तो भक्तिमार्गमें भी बाधक माना गया है. परन्तु भगवद्भक्ति क्योंकि 'दासोऽहम्' और 'श्रीकृष्णः शरणं मम' रूप आधिदैविकी अहन्ता-ममताके बिना सम्भव हो नहीं पाती है अतः आचार्यचरण भी आज्ञा करते हैं "**करणपक्षेतु ममता कार्यार्थ इति न त्यागः**" (भाग.सुबो.१०।१७।३९). श्रीपुरुषोत्तमजी इसे स्पष्ट करते हुवे लिखते हैं : "**भक्तानां भगवति ममतादर्शनेन तस्याश्च अहन्तां विना असम्भवेन ममतादृद्वारा तस्या निरोधकरणत्वेन उपकारित्वाद्**". अतः बाधक अध्यासोंसे बचते हुवे, उपर्युक्त मोक्षमार्गके विपरीत, प्राप्त देहादि और तत्सम्बन्धि पदार्थोंका भगदिवनियोग, तदर्थ उनका रक्षण, सर्वत्र भगल्लीलाका भावन, देहादिमें भगद्दासत्वका अनुसन्धान, तदर्थ उनका भगवदीय पदार्थोंसे पोषण आदि पर भक्तिमार्गमें भार अधिक दिया गया है.

तात्पर्य यह है कि लौकिक 'अहं'के करते ब्राह्मिक 'सोऽहम्' मोक्षकेलिये अच्छा होता है. परन्तु भक्तिकेलिये तो उससे भी श्रेष्ठ भगवदीय "दासोऽहम्" ही होता है. इसी तरह, लौकिक 'मम' के करते ज्ञान-वैराग्यरूप "न मम" अच्छा होता है. परन्तु भक्तिमार्गीकी दृष्टिमें "ममेदं कृष्णाय" उत्कृष्टतर है.

ऐसा सोचनेके पीछे मुख्य मुख्य भावना यह छिपी हुयी है कि किसी वस्तुकी दोषयुक्तता उसके भगवत्सम्बन्धसे रहित होनेके कारण ही होती है. "**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्**" जो प्रभुके साथ जुड जुड जाता है वह सभी दोषोंसे मुक्त हो जाता है. अतः जीवात्माको देह-हेन्द्रिय-प्राणान्तःकरण, परिवार, घर-सम्पत्ति आदि जो कुछ भी भगवदिच्छासे प्राप्त हुवा है उनका यदि कोई भगवदुपयोग खोजा जा सकता हो तो वह श्रेष्ठतम बात होगी. अतएव आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि "व्यर्थ त्याग करनेके बजाये प्रभुको समर्पित करना या हो जाना उत्तम होता है". "गृह-धनका त्याग कर नहीं सकेवालोंको उनको प्रभुसेवामें लगाना चाहिये". यही कारण है कि आत्मनिवेदनकी साम्प्रदायिक दीक्षामें भी आत्मा और आत्मीय सकल वस्तुको दास्य भावनासे प्रभुको समर्पित कर दिया जाता है.

वर्तमानसन्दर्भमें अध्यासकी निवृत्ति और उपसंहार :

जैसा कि पहले निरूपित हो चुका है, कलिकालमें अध्यास अन्य सभी दोष-प्रतिबन्धोंकी तरह तीव्रतर हो जाते हैं. तथापि उनके निवारणकेलिये उपर्युक्त उपायोंसे अतिरिक्त अन्य कोई नवीन उपायोंको खोजनेकी आवश्यकता नहीं है. रोगके बढ़ने पर जैसे रोगनिवारक औषधिकी मात्रा बढ़ायी जाती है उसी तरह कालबलसे तीव्र हुवे भगवद्वैमुख्यापादक अध्यासोंके निवारणकेलिये भगवच्छरणागति और भगवत्सेवा में अपनी मति-रति-कृतिको सुदृढतम बनाना चाहिये. आचार्यचरण भागवतार्थ निबन्धमें आज्ञा करते हैं:

"अध्यास अविद्या रूप होते हैं. 'एक मेरी ही शरणमें आनेपर मायाको पार किया जा सकता है' ऐसी भगवान्की आज्ञा होनेसे अविद्याका निवारण केवल कृष्ण ही कर सकते हैं. अतः कृष्णकी ही सेवा करनी चाहिये".: "तन्निवृत्तिः कृष्णसाध्या तेन सेव्यः सएव हि".[१]

नृषु तव मायया भ्रममयीष्वगात्म भृशं त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्
कथमनुवर्तितां भवभयं तव यदभ्रकुटिः सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भवम्

परिशिष्ट :

१. माया तु त्रिविधा प्रोक्ता शक्तिर्वै वासुदेवगा, अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि

मायाबली तु कामस्य द्वितीया विनिरूपिता, दैविकी त्रिगुणमाख्याता पतिस्तस्याः स्वयं हरिः.
(भाग.निब.४३६-३८)

२. न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव,
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति. (ऋग्वेद१०।८२।७)

श्रीपुरुषोत्तमचरणकृतविवेचन : "श्रुतौ अज्ञानजनकतया 'अन्तर'शब्देन उक्तत्वाद् अन्तराय-भूतया स्वात्मानं ब्रह्मात्मकं न विदन्ति, तेन संसारम् 'अहं-मम' इति अभिमानरूपम् आपद्यन्ते.

सायणभाष्य : हे नराः तं विश्वकर्माणं न विदाथ, न जानीथ य इमा इमानि भूतानि जजान उत्पादितवान्, ... नीहारेण प्रावृताः सूर्य नीहारसदृशेन अज्ञानेन आच्छन्नाः. अतो न जानीथ. ... न केवलं प्रावृतत्वं किन्तु लज्प्या च, देवोऽहं मनुष्योऽहम् इत्याद्यनृतजल्पनेन प्रावृताः.

३. "अत्रमविषये उच्यते इति शेषः. जीव हि अणवो अक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वम् अविद्यान्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारम् आपद्यन्ते. इदमेव उपाधिरूपत्वं तस्याः, नतु तत्कृतं जीवत्वम्. ..." (सिद्धा.मुक्ता.विवृति१२)

४. प्राप्तव्यो भगवत्कार्यः तद्रूपो मायया ऽभवत्, तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते.

प्रकाश : वस्तुतः "स वै नैव रेमे" (बृहदा.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुतिभ्यो रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेण आविर्भावात्, तदन्तःपातिपुरुषरूपेण, तत्कृतसाधनरूपेण आविर्भूय तत्फलरूपेण च आविर्भावन् क्रीडति भगवान्. एवं सति "अहम् एतत्कर्मकर्ता, एतज्जनितं फलं च मम, अहम् एतस्य भोक्ता" इत्यादिज्ञानानि स्वस्य, स्वक्रियायाः, तत्फलस्य च अब्रह्मत्वेन ज्ञानाद् भ्रमरूपाणि इति मन्तव्यम्. स च अहन्ता-ममतात्मको अविद्यया क्रियते. तत्त्वज्ञाने सति, उक्तरूपत्वज्ञानात् निवर्तते, नतु प्रपञ्चः, ब्रह्मात्मकत्वात्. (सुप्रकाश निब.शा.२३)

५. ब्रह्मादीनामपि स्थूलदेहत्वात् तद्धेतुः बुद्धि-प्राणेन्द्रियगणाध्यासो अवश्यं वाच्यः.

ज्ञानयोगमयास्तेषाम् इच्छामात्रप्रकाशिनः, मायात्वसिद्धौ शङ्का तु प्रार्थनाऽन्यस्य सम्भवात्. ...तथा च ज्ञानादिरूपत्वेन अहङ्काराजन्यत्वाद् इच्छानात्राधीनत्वेन मायानधीनत्वात् तत्कार्यविद्यापर्वाणामपि देहाद्यध्यासानाम् अभावः इति भावः. (तत्त्वार्थ.निब.भाग.१८२)

६. "अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्" (ब्रह्म.सू.२।३।४८)

भाष्य : सम्बन्धश्च आध्यासिको भगवत्कृतश्च. आध्यासिको हि ज्ञानात् निवर्तते. द्वितीयो भगवतैव, जीवन्मुक्तानामपि व्यवहारदर्शनात्.

७. "मायातश्च महतः उत्पत्तिः. ततो अहम्, तौ च अन्तःकरणरूपाविति पूर्वं तदध्यासः. अहमएव रूपान्तरं प्राण इति ततस्तदध्यासः. ततो भूतानीति देहाध्यासः, देहस्य भौतिकत्वाद् इति. एवम् अध्यासे पूर्णं स्वरूपविस्मरणम् इति बोधयितुं मूलप्रतिलोम्येन व्याख्यातम्"
(आ.भं.३२)

"लिङ्गेन सहितो जीवः स्थूलदेहे सुखी भवेत्, अतो गर्भप्रवेशादिष पूर्वं कृष्णविनिर्मिते,

बुद्धिप्राणेन्द्रियगणे तदभ्यासोऽनुवर्ण्यते'' (निब.भाग.१७६-७७)

८. अविद्यया कृतः कर्तृत्वाद्यभिमानजनको जीवनिष्ठो अन्तःकरणाभेदभ्रत्ययो अन्तःकरणाध्यासः.(आ.भं.)

९. ''यथाहम्ममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु''(भाग.पुरा.१०।२०।३९) सुबोः अहङ्कारो ... तत्र आत्मबुद्धिरेव इति. प्रका.: ''स्वमतम् आहुः 'अहङ्कारः...' इत्यादि. तत्र आत्मबुद्धिः इति गौणी शरीरादिषु आत्मबुद्धिः''. लेखः ''अहङ्कारस्य पदार्थान्तरत्वाभावेन आत्मत्वेन ज्ञानमेव अहङ्कारः इति वयं ब्रह्मवादिनो वदन्ति इति अर्थः''.

''ममतास्वरूपन्तु सर्वत्र आत्मसम्बन्धिबुद्धित्यमेव इति बोध्यम्''. (तत्रैव प्रकाश)

१०. अग्रपश्चाद्भावतश्च कर्मणा स्फुरितो हरिः, अग्रोद्गमानुदग्रमैः सुख-दुःखे तनोति हि

प्रकाशः ननु एते आत्मधर्माः कुतो न भवन्ति? अन्तःकरणधर्मत्वे वा किं प्रमाणम्? तत्र आह 'अग्रपश्चाद्भावतश्च' इति. कर्मस्वरूपो भगवान् अन्तःकरणएव प्रकटो भवति, न आत्मनि. अतः सुखदुःखादयो अन्तःकरणस्यैव धर्मा इति उच्यते. स च कर्मात्मा विधि-निषेधप्रकारेण स्फुरितः पूर्वोक्तन्यायेन सुखदुःखे तनोति. (तत्त्व.दी.नि.सर्वनि.२९४)

११. एते सर्वे विशेषेण जीवसन्निधिमाश्रतः, स्फुरन्त्यन्यस्याभिमानाज् जीवो दुःखी निगद्यते.

(तत्त्व.दी.नि.सर्वनि.२९३)

१२. ''करणाध्यासरहित्ये सर्वमेवाऽन्यथा भवेत्''

प्रकाशः अध्यासनिरूपणं विना आत्मनः कर्तृत्वं लिङ्गस्य करणत्वं च न निरूपयितुं शक्यम्, कारुबत्कराद्यभावेन तद्ग्रहणाद्यसम्भवात्. न च चेतनसंयोगमात्रेण व्यापारः सम्भवति जडे, लोके तथानुपलब्धेः. तथा च लिङ्गात्मनोः सम्बन्धाभावे तत्कृतपुण्य-पापैः आत्मनः सम्बन्धाभावे प्रवृत्तिमार्गो निवृत्तिमार्गश्च व्यर्थः स्याद् अतो अध्यासनिरूपणेन तत्सम्बन्धे (तत्सम्बन्धिनि) निरूपिते सर्वम् उपपद्यतइति अध्यासनिरूपणं कृतम् इति अर्थः.(तत्त्वा.निब.भाग.४।२२५)

१३. इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्, आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्युक्तेन मनसा सदा, तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः

(कठोप.३।३)

१४. प्राण ओजः सहो बलम्, तैजसानु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दशाभवन्,
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ, श्रोत्रं त्वग्घ्राण-दृग्-जिह्वा वाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रि-पायवः'' (भाग.पुरा.२।५।२६, ३१).

१५. सुबोधिनी: ''मन्दाः अलसाः. आलस्यं चित्तजाड्यम्. सुष्ठु मन्दाः मतिः येषाम् इति ज्ञानेन्द्रियदोषः. मन्दभाग्याः इति अदृष्टस्य कर्मेन्द्रियसाध्यत्वात् तद्दोषः. उपद्रुताः रोगादिभिः इति शरीरदोषः.''(भाग.पुरा.सोबो.१।१।१०)

१६. पञ्चात्मकः स भगवान् द्विषडात्मकोऽभूत् पञ्चद्वयीशतसहस्रपरामितश्च,
एकः समोप्यखिलदोषसुनिर्झतोऽपि सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि बहूपगोऽभूत्,
निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः,
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः, सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा,

तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यम् अविद्याविनिवृत्तितः. (निब.शा.४३-४४)

१७. ...निरूपितस्य भक्त्युपयोगम् आहः

वैराग्य-ज्ञान-योगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा, एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिम् अवाप्नुयात्.

निब.प्रकाशः पञ्चाङ्गयुक्तः पुरुषो भगवन्तं भजेत्. तत्र प्रथमं वैराग्यम् अङ्गम्, तदभावे भगवदावेशाभावात् न भजनसिद्धिः. द्वितीयं ज्ञानम् सर्वपदार्थानां याथार्थ्यरूपं भगवतश्च, तदभावे निश्चयाभावान् न प्रवृत्तिः. योगः अपि अङ्गम्, मनसश्चाञ्चल्ये भजनानुपपत्तेः. तथा प्रेम अपि अङ्गम्, तदभावे भजनं स्वतःपुरुषार्थरूपं न भवेत्, रसाभिव्यक्ताभावात्. तपः अपि अङ्गम्, तदभावे देहादेः आत्मत्वात् न भजनं सिद्ध्यति, तपसा च देहेन्द्रियादीनां पाकः. पञ्चानां समुदायो दुर्लभइति गौणपक्षम् आह 'एकेनापि' इति.(निब.शा.९५)

१८. द्रष्टव्य भक्तिवर्धिनी.

१९. द्रष्टव्य 'विवेकधैर्याश्रय', 'कृष्णाश्रय' और निबन्ध सर्वनिर्णयप्रकरणान्तर्गत 'साधनप्रकरण'का उपसंहार.

२०. वैराग्य-ज्ञान-योगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा, एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिम् अवाप्नुयात्

(निब.शा.९५)

२१. ''तन्निवृत्तिः कृष्णसाध्या तेन सेव्यः सदैव हि''

प्रकाशः ...तस्य अविद्यारूपत्वेन तन्निवर्तकश्च भगवानेवेति तद्भजनम् उक्तवान्. ''मामेव ये प्रपद्यन्ते'' इत्यादुपपत्तिः 'हि'शब्देन उच्यते''(तत्त्वा.निब.भाग.४।२२५)

चर्चा

पुष्टिभक्ति–प्रपत्ति साधनामें प्रतिबन्ध: अध्यास

श्रीशरद् गोस्वामी

असित शाह : "माया पुनः तीन प्रकारकी होती हैं : आधिभौतिकी, आध्यात्मिकी और आधिदैविकी. जीवोंको मोहित करनेवाली माया आधिभौतिकी, कामदेवकी पत्नी मायावती आध्यात्मिकी और साक्षात् भगवान् जिसके पति हैं वह आधिदैविकी माया कहलाती है." वे श्रीमहाप्रभुजीके अभिप्रायसुं थोड़ो अलग पड़ रह्यो है ऐसो मोकुं लगे है. मेरी समझ ऐसी है के आधिभौतिकी माया सर्वभवनसामर्थ्यरूपा है, सदंशके ऊपर जाको प्रभाव है. जाकुं श्रीमहाप्रभुजी कहे हैं "**प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपो माययाऽभवत्**". आध्यात्मिकी माया वो है के जो चिदंशकुं प्रभावित करे है, जाकुं व्यामोहिका कह्यो है. श्रीमहाप्रभुजी जाकु कहे हैं "**महेन्द्रजालवत् सर्वं कदाचिन् माययाऽभवत्**". और आधिदैविकी माया योगमाया है जाको जन्मप्रकरणमें वर्णन आवे है. वाकी उपयोगिता आनन्दांशकी सृष्टिमें है. आपने जो क्लासिफिकेशन् कियो है वो वासुं डायवर्ट् हो गयो है.

गो. शरद् : मायाके सम्बन्धमें मैने जो निरूपण कियो है वो श्रीमहाप्रभुजीके अभिप्रायसुं अलग पड़ रह्यो है ये आक्षेप मोकु स्वीकार्य नहीं है. क्योंके मायाके त्रिविध प्रकार मैने अपनी कल्पनासुं नहीं लिखे हैं. श्रीमहाप्रभुजीके भागवतार्थनिबन्धके वचनको लिटरल् अनुवाद मैने पेपरमें दियो है जो वचन परिशिष्टमें मैने दियो है : "**माया तु त्रिविधा प्रोक्ता शक्तिर्वै वासुदेवगा, अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि, मायावती तु कामस्य द्वितीया विनिरूपिता, दैविकी त्वियमाख्याता पतिस्तस्याः स्वयं हरिः**". असित मायाके जो त्रिविध प्रकार सजेस्ट कर रह्यो है वो भी श्रीमहाप्रभुजीके वचनके आधारपे कर रह्यो है और मैने जो लिख्यो है वो भी श्रीमहाप्रभुजीके ही वचन हैं. वासु निरूपणकी प्रामाणिकता

और अप्रामाणिकता को विचार अप्रासङ्गिक है.

अब विचारनो केवल इतनो ही है के उन वचनन्की गति कहां और कैसे है. त्रिविध मायाको निरूपण मोकु या लिये करनो पड्यो क्योंके अविद्याकुं एक ओर तो भगवच्छक्तिरूपा कह रहे हैं और दूसरी ओर "**माययैव विनिर्मिते विद्याविद्ये**" में अविद्या भगवान्की माया द्वारा विनिर्मित मायाकी शक्ति है ऐसो बताके वाकुं भगवान्सुं थोड़ी पृथक् भी बता रहे हैं. याकुं कैसे उपपन्न करनो ये मुख्य समस्या है!

दूसरी समस्या ये है के भगवान् एक ओर ये कह रहे हैं के "**मम माया दुरत्यया, मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**" मेरी माया दुरत्यया है. यासुं मेरी प्रपत्ति ही मायासुं पार उतार सके है. श्रीमहाप्रभुजी भी आज्ञा करे हैं के "**निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा सान्यसेवया, ज्ञानेऽपि सात्त्विकी मुक्तिः जीवन्मुक्तिरथापिवा**" निर्गुणा मुक्ति तो भक्तिसुं जब कृष्णसायुज्य होवे तब ही प्राप्त होवे है. और "**सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्**" ज्ञान सत्वगुणको कार्य है यासुं ज्ञानमार्ग सगुण है. वासुं प्राप्त होती मुक्ति भी सगुण है. विद्या और अविद्या पाछी परस्परोपमर्दक होवे हैं ये आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं "**जागृत्स्वप्नवदुद्भवः**", याको समाधान कहांसुं लानो? या लिये श्रीमहाप्रभुजी ये बता रहे हैं के भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाकी विद्या और अविद्या दोनों शक्तियां हैं. मुक्ति वा व्यामोहिका मायाकुं तरनेपे ही हो पायेगी के जो भगवच्छरणागतिसुं ही सम्भव है. यासुं विद्या और अविद्या जा आधिभौतिकी मायाकी शक्तियां हैं वाकुं समझानेकेलिये आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं के "**अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि**", याकु आधिभौतिकी कहनेका कारण ये है के ये माया सृष्ट्यन्तःपाती है, सृष्टिमें प्रकट जीवनकुं वो व्यामुग्ध कर रही है. और कामदेवकी पत्नी मायावती क्योंके देव कक्षाकी माया है यासुं वाकु आध्यात्मिकी कह रहे हैं. और जो माया भगवान्की पत्नी है वाकु आधिदैविकी कही है. ये वाको सन्दर्भ है.

असित शाह : यहां जो प्रक्रिया अपन समझनो चाह रहे हैं के अपने यहां मायाके कारण विद्या और अविद्या की उत्पत्ति कैसे है. वामें कामदेवकी पत्नीको निरूपण उतनो उपयुक्त नहीं है. 'आधिभौतिक'

शब्दको अपन विचार करें तो अधिभूतसु जो सम्बन्धित होवे वो आधिभौतिक कह्यो जाय है. व्यामोहिका मायाको सदंशके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होवे है. वाको प्रभाव चिदंशरूप जीव है वापे है. या लिये मोकुं लग्यो के आपने जो तीन बताये वो या सन्दर्भमें ज्यादा उपयुक्त हैं. वैसे मेरो या विषयपे इतनो आग्रह नहीं है. क्योंके माया वस्तु ही ऐसी है के जाके बारेमें कुछ कह्यो नहीं जा सके है के वो क्या है और क्या नहीं है.

गो. शरद् : मेरे सामने समस्या दो वचननकी संगति बैठाके वाकी प्रक्रिया स्फुट करनेकी हती. वचन दो हैं : **''मम माया दुरत्यया''** और **''मायया मे विनिर्मिते विद्याविद्ये''**. अविद्या माया और व्यामोहिका मांया यदि एक हैं तो एक वचनमें व्यामोहिका मायाकुं भगवान्‌की शक्ति कह रहे हैं और दूसरेमें विद्या और अविद्या कुं मायाके अधीन कह रहे हैं. याकुं उपपन्न कैसे करनो? मोकुं याकी उपपत्ति भागवतार्थ निबन्धके वचनसुं समझमें आयी यासुं मैने वो निरूपण कियो है.

गो. श्या. म. : वैसे मायाकुं लालूभट्टजीने तीन तरहसुं समझायो है पर श्रुति-पुराण आदिमें सर्वत्र अपन यदि सन्दर्भ देखें तो माया अनेक बतायी हैं. मायाको स्वरूप 'माति' और 'याति' ऐसो भी बतायो है. यासुं आप कह रहे हो वो भी हो सके है और असित कह रह्यो है वो भी हो सके है यामें सन्देकुं कोई अवकाश नहीं है. पर मायाके जो भिन्न-भिन्न स्वरूप बताये हैं उनमें अपन होच्-पोच् न करें तो अच्छो. यासुं असितने जो कही के आधिभौतिकी माया सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया लेनी वो मोकु ठीक नहीं लग रह्यो है. क्योंके अधिभूत वासुं पैदा भये हैं, वो अधिभूतसुं पैदा नहीं भयी है. पिताकी तरह पुत्र होवे है, पुत्रकी तरह तो पिता नहीं हो सके है न! यासुं सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाकुं अपन कभी भी आधिभौतिकी कह नहीं सकेंगे. वो तो भगवान्‌की बड़ी दिव्य शक्ति है. वो भौतिकी शक्ति नहीं है. पर उपनिषद् और पुराणन् में भी देखें तो वहां त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकुं भी माया कही है. यासुं आधिभौतिकी माया के जो सर्वमें व्याप्त है ये त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपी आधिभौतिकी माया है. वो यहां लेनी चहिये. और व्यामोहिका मायाके बारेमें

श्रीमहाप्रभुजीने स्पष्ट खुलासा कर रख्यो है के वो चिदंशकी शक्ति है. कामदेव कोई तरहको देव है, देव होनेके अर्थमें भी और भगवान्‌को पुत्र होनेके अर्थमें भी. वो पाछो व्यूह भी है. तो व्यामोहिका माया आध्यात्मिकी तो हो सके है पर आधिदैविकी नहीं है. अब रही बात कामदेवकी पत्नी मायावतीकी के वो अपने भीतर व्यामोहन करे है के नहीं. ये बहोत ही अछूतो पहलू है जो एक आखो पेपर मांगले इतनो विस्तार याको सम्भव है. और यदि श्रीमहाप्रभुजीकी प्रक्रिया देखो तो प्रत्येक भौतिकको कोई आध्यात्मिक पहलू है. प्रत्येक आध्यात्मिकको कोई आधिदैविक पहलू है. ऐसे ही व्यामोहिका मायाकी अधिष्ठाता कामदेव और रति हो सके हैं. और 'कामदेव' और 'रति' अपने यहांके बहोत ही खूबसूरत शब्द हैं. एक काम है और एक रति है. उन दोनोंन्में दाम्पत्य है. मूलमें काम भोक्तृभाव-पुंभाव है और रति भोग्यभाव-स्त्रीभाव है. वो अपने भीतर रहे भये सारे कामात्मकभाव और रमणात्मकभाव के दोनों अधिष्ठाता हैं. और भागवतमें कौनसी कामना होवे तो कौनको पूजन करनो वाको निरूपण देखोगे तो वाको खुलासा मिल जायेगो. तो ये अपने अधिष्ठाता हैं जैसे बाहुको अधिष्ठाता इन्द्र है, नेत्रको चन्द्रमा है ऐसे. ऐसे अपने भीतर जो व्यामोहके कारण काम पैदा हो रहे हैं वो आध्यात्मिकी मायासुं हो रहे हैं.

आचार्यचरणने वहां ये भी खुलासा कियो है के प्रभुकी विद्या-अविद्या शक्ति हैं वो तो द्वादश शक्तिमें परिगणित है. वो प्रभुकी आधिदैविकी शक्तियां है. वो अपनेपे काम कर रही हैं पर अपनेमें हैं नहीं. विद्या और अविद्या एक तरहकी केपिटल् लोन् है जासुं अपने संसारको सारो ज्ञानात्मक-अज्ञानात्मक धंधा चल रह्यो है. यासुं वो तो अपनी पैतृक सम्पत्ति है. इनके अधिष्ठाता वो बन जाये हैं इनकु इन्टिगेट् करनेकेलिये. क्योंके अपने यहां सब काम थ्रिटावर् सिस्टम्में बतायो जाय है. जो भूतमें होवे है वाके कोरोस्पोन्डिंग् कुछ अध्यात्ममें हो रह्यो है, वाके कोरोस्पोन्डिंग् कुछ अधिदेवमें भी हो रह्यो है. विद्या-अविद्या अधिदेवसुं जुड़ी भयी हैं. क्योंके जहां ये द्वादश शक्तिकी गणना है वहां **''मायया च निषेवितम्''** कह्यो है. यासुं वो तो वाके पास हाजिर रही भयी

आधिदैविकी शक्तियें हैं. वो पाछी या पहलूकी नियामिका हैं. जैसे मूर्तिमति गङ्गा तीर्थरूपाकी नियामिका है, तीर्थरूपा गङ्गा पाछी भौतिकी गङ्गामें प्रकट होवे है. ऐसे दैविकी मायाएं अपनेमें कहीं-कहीं प्रकट होवे हैं. यामें देखनेकी बात ये है के रति अपनेमें प्रभुके आनन्दांशको आतो भयो धर्म है "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति" या "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि, अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादिर्यत्कृते प्रियः", तो रति तो वहांसुं आ रही है. पर वाकु डायवर्ट करनेवाली व्यामोहिका माया है. वो (कामदेवकी पत्नी) रतिमें भी रति यहां(आनन्दांश)सुं आ रही है. यदि कामदेवकुं रति चाहती होवे तो वो या लिये के वाके भीतर भी ब्रह्मकी आत्मरति काम कर रही है. यदि ब्रह्मकी आत्मरति काम नहीं करती होती तो "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति. आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति." नहीं होतो. कामदेव जल गयो तो रति कह देती के मैं कोई दूसरो खोज लूंगी. पर वाने विलाप कियो. यासुं रतिमें भी ब्राह्मिकी रति काम कर रही है. वो तो सर्वत्र काम कर रही है. मगर अपनेपे जब रति प्रकट हो रही है, वाकी इंचार्ज् ऑफिसर् कामदेववाली रति है. और नोर्मली अपन ये कह सके हैं के वो अधिष्ठातृ देवता ...श्रीमहाप्रभुजीने वाकेलिये सुन्दर सूत्रसो दियो है के इन्द्रियनिग्रह करनेसुं इन्द्रियाधिष्ठातृ सब देवताएं नाराज़ हो जावे हैं और वो सीधे अपने साथ कन्फ्रन्टेशन्में आवें हैं. ये तो एक उपलक्षण है. रतिनिग्रह करनेसुं रति भी कन्फ्रन्टेशन्में आयेगी. क्योंके उनकी एक्टिविटिमें अपन विघ्न पैदा कर रहे हैं. इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता अपने कन्फ्रन्टेशन्में नहीं आवें वाकेलिये क्या उपाय करनो? देवाधिदेवकुं पकड़ोगे तब तो डरके मारे वो कन्फ्रन्टेशन्में नहीं आयेंगे. यासुं जब निग्रह अपन भगवद्विनियोगकेलिये करें हैं तब तो वो कन्फ्रन्टेशन्में नहीं आयेंगे. तब वो हाथ बांधके खड़े रहे हैं "**भीषास्माद् वातः पवते. भीषोदेति सूर्यः. भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च. मृत्युर्धावति पञ्चम इति. सैषानन्दस्य मीमांसा भवति**". तो आनन्दमें विनियोग भयो तब तो ये कन्फ्रन्टेशन्में नहीं आयेंगे. क्योंके इनको काम ये ही है. और वाको खुलासा श्रीमहाप्रभुजीने "**इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि**

नान्यथा, यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णो फलं भवेत्" अन्धकारमें यदि आंखनकुं डाली तो आंख बहोत रिवोल्ट् करेगी. ऐसी जगह बैठ जाओ के जहां कुछ भी अवाज नहीं आती होवे तो कान खुद शब्द सुनने लग जावे है. अपनी इन्द्रियनमें ऐसी वृत्ति निहित है के वाके विषयसुं वाकु जैसे वञ्चित करो वैसे ही वे अपने विषयके सपना देखने लग जाये हैं. जितने भूत-प्रेत-पिशाच दीखे हैं वो अंधेरामें ही क्यों दीखे हैं वाको मूल कारण ये है के जब कछु दीखे नहीं तो आंख कहे है के तब लाओ भूत-प्रेत-पिशाच. कुछ तो देखुं! ये देवतानको डाय्नामिक् फंक्शन्को एक तरहको विद्रोह है. ये मायाको स्वरूप है.

और जो माया भगवान्की पत्नी है वो तो लक्ष्मीजी हैं. वो माति और याति है. वाने वाकु जान्यो के ये परम है. और भगवानने उनकु मान्यो करके सब देवताएं हाथ धोते रह गये. उपनिषद्में मायाको अर्थ प्रज्ञा भी बतायो है. पर ये माया लक्ष्मी है. या मायाकुं श्रीमहाप्रभुजीने आक्षरानन्दरूपा मानी है. तो माया कई तरहकी हो सके हैं. वाकु या पर्स्पेक्टिव्में देखेंगे तो दोनोंको समाधान हो जायेगो.

गो. शरद् : यहां वचन ऐसो है : "**अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि**" ...

गो. श्या. म. : ...प्रकृतिको क्यों वाको कारण श्रीमहाप्रभुजीने बतायो है और पुराणन्में भी बतायो है.

गो. शरद् : गीतामें जो परा-अपरा प्रकृति भगवान् बता रहे हैं वाको सन्दर्भ है? "**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां, जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**".

गो. श्या. म. : एक्झेक्ट् वो ही. प्रकृतिकु क्यों ऐसो बतायो वाको एक कारण अपन ये समझ सके हैं के जो सर्वभवनसामर्थ्यरूपा भगवान्की आधिदैविकी माया है वाको प्रकृति एक आधिभौतिक मोडल् है. वाकी प्रतिनिधि है. वे श्वेताश्वतरोपनिषत्में बतायो है "**अजामेकां लोहितं शुक्लकृष्णां बह्वी प्रजां सृजमाना स्वरूपाम्**" तो जैसे वो आधिदैविकी सर्वभवनसामर्थ्य है वो "बह्वी प्रजां सृजमाना स्वरूपाम्" है. ऐसे ही ये प्रकृति भी "बह्वी प्रजां सृजमाना स्वरूपाम्" है. कई लोगनने याको कन्फ्युजन् कियो है. एक अपने

श्रीमहाप्रभुजी हैं के जिनने याको खुलासा कियो के प्रकृति और सर्वभवनसामर्थ्य कुं अलग समझो. ये एक फिनोमिना नहीं है. शाङ्करवेदान्तके शुरुआतके ग्रन्थमें भी या बारेमें कन्फ्युज़न् है के प्रकृति माया है के माया प्रकृति है. प्रक्रिया ग्रन्थ जब लिखे गये तब उनने याको खुलासा कियो के ये तोनों अलग हैं. अपने श्रीमहाप्रभुजीने तो याको स्पष्ट खुलासा कियो है के प्रकृति और माया एक फिनोमिना नहीं है. पर आजकी तारीखमें भी बहोतसे वेदान्तके चिन्तक भगवान्की जगत् सर्जिका माया और त्रिगुणात्मिका प्रकृति मायाकुं एक-दूसरेकी सिनोनिम् मानके कन्फ्युज़न् पैदा करें हैं. जो मैने शुरुमें कही हती के पदार्थविभाजन जाननो बहोत जरूरी है वो या अर्थमें के सर्वभवनसामर्थ्य अलग पदार्थ है. वो आधिदैविक पदार्थ है. और प्रकृति अलग पदार्थ है. ये आधिभौतिक तो नहीं है पर आधिभौतिकताको यापे उपचार होवे है. आधिभौतिक याकु या लिये नहीं कह्यो जाय है क्योंके सारो अधिभूत यामें पैदा भयो है. जैसे सृष्टिको पालन सत्त्वगुणको कार्य है. पालन करनेके कारण विष्णुकुं सात्त्विक कह्यो जाय है. उत्पत्ति रजोगुणको कार्य है. वा कार्यकु करते होनेके कारण ब्रह्माकुं राजस कह्यो जाय है : **''सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्ते युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते''**. गुणके नियामक होनेके अर्थमें उनकुं सात्त्विक-राजस कह्यो है. वा ढंगसुं सोचेंगे तो सारो कन्फ्युज़न् दुर हो जायेगो.

गो. शरद् : या स्थितिमें मेरे लेखनमें संशोधनीय क्या है ये स्पष्ट नहीं भयो. क्योंके वचनमें आधिभौतिकी मायाकु जीवनकुं व्यामोहमें डालनेवाली कही है.

गो. श्या. म. : प्रकृति व्यामोहन करे है. इतने सारे विविध रूप प्रकट कर देवे है वा अर्थमें प्रकृति व्यामोहन करे है. पर ये व्यामोहन ऑब्जेक्टिव् है. और व्यामोहिका माया ऑब्जेक्टिव् व्यामोहन नहीं करके सब्जेक्टिव् व्यामोहन करे है. प्रकृति व्यामोहनकुं ऑब्जेक्टिव् ग्राउंड् प्रोवाईड् करे है. क्योंके ''अजा प्रजा सृजमाना स्वरूपां'' है. व्यामोहिका माया अपनकुं एटेंड् करती करे है. ऐसे वो सब्जेक्टिव् व्यामोहन करे है. करके जो चिदंशव्यामोहिका है. चिदंश पहले यामें आकृष्ट हो जावे है व्यमोहिका मायासुं. यासुं व्यमुग्ध होनेके कारण यामें भी व्यामुग्ध हो

जावे है. ये वाकु ऑब्जेक्टिव् ग्राउंड् प्रोवाईड् करे है. ये एक्ज़ेक्ट प्लेस् है के जहांसुं श्रीमहाप्रभुजीने शाङ्कर वेदान्तसुं अपनो डिपार्चर् बता दियो है के हर व्यामोहको जैसे एक सब्जेक्टिव् रीज़न् है ऐसे एक ऑब्जेक्टिव् रीज़न् अलग है. यासुं जगत् तुम्हारी कल्पना नहीं है. उनके यहां व्यामोहनके कारण वाकुं सीधेसीधो कह दियो के व्यामोहन है, व्यामुग्ध है, भ्रम है. पर श्रीमहाप्रभुजी कहे हैं के भ्रम तो है पर भ्रमको भी **''विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया स्यात्''** विषयता पैदा करनेवालो ऑब्जेक्टिव् ग्राउंड् भी है.

गो. योगेश : पञ्चपर्वा विद्यामें भक्ति एक पर्व बतायो है. मेरी समझसुं भक्ति मुक्तिदायिनी है, मतलब मर्यादाभक्ति. अपन ये कहे हैं के विद्या-अविद्या एक-दूसरेको उपमर्दन करे है. आत्यन्तिक मुक्ति नहीं मिले है. तो फिर भक्तिकुं कैसे मुक्तिदायिनी मानेंगे?

गो. शरद् : याकी व्यवस्था तो श्रीमहाप्रभुजीने बताई है गीतामें भगवानने जो आज्ञा करी है वाके आधारपे के अध्यास निवृत्त हो जायेंगे पर फिर भी जीवन्मुक्तिकी स्थितिमें भी अन्तःकरणाध्यास बच जावे है. वो नहीं होवे वाकेलिये वाको अभिभव बतायो. और जब ''बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'' या न्यायसुं ज्ञानी ज्ञाननिष्ठा छोड़के जब प्रपन्न होयगो तब वाकु निर्गुणा मुक्ति प्राप्त होयगी. अन्यथा सगुण मुक्ति तो वाकु प्राप्त होयगी ही.

गो. योगेश : विद्याके पर्वमें जो भक्ति है यो कौनसी भक्ति है?

गो. शरद् : श्रीमहाप्रभुजीने शास्त्रार्थप्रकरणमें विद्याके पांच पर्वको निरूपण दो तरहसुं कियो है. पहले तो मोक्षमार्गीय प्रकारसुं विद्याको निरूपण कियो है. वाके अन्तर्गत जो भक्ति है वो मर्यादाभक्ति है. और वाके बादमें विद्याके पर्वनको निरूपण शुद्धभक्तिमार्गीय दृष्टिसुं कियो है. वाके अन्तर्गत भक्ति प्रेमाख्या पुष्टिमार्गीया है.

गो. योगेश : मर्यादाभक्तिसुं मुक्ति नहीं मिलेगी?

गो. शरद् : मुक्ति तो मिलेगी ही. श्रीमहाप्रभुजीने मुक्तिके सगुण और निर्गुण भेद बताये हैं. इतनो अन्तर पड़ जायेगो.

गो. योगेश : तो अविद्या वापिस हावी हो सके है?

गो. शरद् : हां, जीवन्मुक्तके अंदर हो सके है. यासुं ही पंक्ति भी है के **''अतएव ज्ञानिनो भीताः संसाराद् विरक्ता भवन्ति''**. ज्ञानीनकुं

डर लगे है के फिरसुं कहीं उनके ज्ञानको अभिभव नहीं हो जाये.

गो. श्या. म. : यामें एक रहस्य जानके रखोगे तो कभी तकलीफ नहीं होयगी. श्रीमहाप्रभुजीने एक बहोत मज़ेदार बात शायद कोईने नहीं कही होय ऐसी कही है. आप कहे हैं के ब्रह्मज्ञान होवे वा बखत अन्य सब विषयके ज्ञान होते बंद हो जायें हैं, केवल ब्रह्मको ज्ञान होवे है. तो जब ब्रह्मज्ञान होवे है तब कुछ अज्ञान भी तो हो रह्यो है! वहां प्रश्न ये उठायो है श्रीमहाप्रभुजीने के फिर ब्रह्मज्ञान ज्ञान है के अज्ञान! याके समाधानमें आप ये समझावें हैं के ब्रह्मेतर विषयको अज्ञान क्योंके ब्रह्मज्ञानको अङ्गभूत होनेके कारण ज्ञानाङ्ग अज्ञान है. यासुं बो अज्ञान भी ज्ञानरूप है. पर ज्ञान भी जहां अज्ञानाङ्ग होके आवे तो वाकु अज्ञान समझेनो चहिये. वाही न्यायसुं पञ्चपर्वा विद्यामें जब भक्ति वाको अङ्ग बनके आ रही है तो वो विद्या ही है, भक्ति नहीं है. और पञ्चपर्वा विद्या भी जब भक्तिको पर्व बन जावे तो वो भक्ति ही है, विद्या नहीं है. जैसे श्रीगुसांईजी भी आज्ञा करे हैं के आजीविकाको अङ्ग भक्ति बनी तो वो भक्ति नहीं है धंधा ही है. और आप कहे हैं के **''निषिद्धाचरणात् पापमपि. शौचार्थिगङ्गास्पर्शवच्च''**. छीवे धोनेकेलिये गङ्गाजल वापरोगे तो वामें गङ्गाजलकी पावकता थोड़ी आयेगी! वो तो पाप ही है. वासुं **''मलनिवृत्यतिरक्तं फलं न सिद्ध्यति''**. ऐसे आजीविकाकेलिये भक्ति करी तो वो भक्ति है ही नहीं, संसार ही है. बल्कि पाप और है. और श्रीमहाप्रभुजी याके रिवर्समें आज्ञा करे हैं के आपने संसार भी यदि भक्तिकेलिये कियो तो वो भक्ति ही है संसार नहीं है. ऐसे अङ्गाङ्गीभाव वालो रिलेशन् बता रहे हैं. ऐसे ज्ञान भी जब भक्तिकेलिये कियो तो वो वैसे ज्ञान है पर वैसे भक्ति है. ऐसे ही कर्मको भी है. जैसे ''प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति'' है ऐसे ''अङ्गिनः व्यपदेशाः भवन्ति'' ईडियम् अपन बना सके हैं. व्यपदेश अङ्गीको होवे है. कैसी फनी बात है! वैसे ये 'महाराष्ट्र' है, पर है राष्ट्रको प्रान्त.

गो. योगेश : एक कन्फ्युज़न है. अध्याससुं अज्ञान होवे है के अज्ञानसुं अध्यास होवे है?

गो. श्या. म. : अन्योन्याश्रित है, बीजाङ्कुरवत्. हर अध्यास एक अज्ञानकुं पैदा करे है. ऐसे ही हर अज्ञान एक अध्यास पैदा करे है.

गो. शरद् : आदि परम्पराकु देखें तो बाकी सब अध्यास स्वरूपाज्ञानमूलक हैं.

गो. श्या. म. : पञ्चपर्वामें भी स्वरूपाज्ञानमूलक चार अध्यास हैं और चार अध्यासमूलक स्वरूपविस्मृति है. वो पीछेसुं आती बात है. स्वरूपविस्मृति पहले नहीं होवे है. वो चार अध्यासके कारण होवे है. और चार अध्यास स्वरूपाज्ञानके कारण होवे हैं. स्वरूपाज्ञान और स्वरूपविस्मृति में अन्तर केवल इतनो ही है के वामें पहलेकी बात भूल गये हैं और यामें कुछ नयी शुरुआत हो रही है. बाकी दोनों एक चीज़ हैं.

धर्मेन्द्रसिंह झाला : देह इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरणाध्यास को आपने रिवर्स् कर दियो है. वाको कारण क्या है ?

गो. शरद् : पेपरमें ही वाकी स्पष्टता है. श्रीपुरुषोत्तमजी कहे हैं के श्रीमहाप्रभुजीने अध्यासन्की गणना देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण क्रमसुं करी है परन्तु जब अध्यास होवे है तब अन्तःकरण-प्राण-इन्द्रिय-देहके क्रमसुं होवे है.

धर्मेन्द्रसिंह झाला : वाके बाद आपने प्राण और इन्द्रिय कुं क्लब् कियो है वाको क्या कारण है.

गो. शरद् : प्राणको मुख्य कार्य इन्द्रियनकु बल प्रदान करनो है. और एक सच बात ये है के क्षुधाकुं छोड़के प्राणके स्वतन्त्र धर्म कहीं देखनेमें नहीं आये...

गो. श्या. म. : पांचों प्राणन्के पांच अलग फंक्शन् हैं.

गो. शरद् : वो तो मैने दिये हैं. पर वो वायु और

गो. श्या. म. : एक बात बताउं के प्राण और इन्द्रिय कुं छुट्टो करनो ये बादकी सोच है. पुराने उपनिषद्में इन्द्रियनकुं प्राण कह्यो गयो है. और प्राणकी इन्द्रियमें गणना भयी है. ये तो टेक्निकल् टर्मके तहत प्राण और इन्द्रिय कुं अपनने छुट्टे कर दिये हैं. बाकी प्राण और इन्द्रिय एक ही हैं. छुट्टे क्यों किये वाको कारण समझो के प्राणको इन्द्रियात्मक फंक्शन् नहीं मिल्यो और अनिन्द्रियात्मक फंक्शन् मिल्यो करके प्राणकुं इन्द्रिय और प्राण कुं अलग कियो गयो है. बाकी ओरिजिनलि इन्द्रिय और प्राण कुं एक ही मान्यो गयो है. 'इन्द्रिय' शब्द उतनो प्राचीन नहीं है जितनो 'प्राण' शब्द प्राचीन है.

तृतीय दिवसीय उपक्रम

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी

कल अपनने काम-क्रोध-लोभादि प्रतिबन्ध, शिक्षापत्रके सन्दर्भमें प्रतिबन्ध, आसुरावेश और अध्यास इन चार आलेखपत्रनकुं अपनने सुन्यो और कुछ विचार भी वापे कियो.

काम-क्रोध-लोभादि प्रतिबन्धनको सीधो सम्बन्ध ह्युमन् साय्कोलोजीके साथ ज्यादा है. वा आलेखमें भी अपनने देख्यो के कैसे सुखसुं इच्छा, इच्छासुं काम आदि गुणधर्म प्रकट होवे हैं. मैने एक बात आपकु बताई हती के वैसे प्रतिबन्ध भी हो सके हैं और अपराध भी हो सके हैं. वो अपनी विवेचनाकुं अपन पकड़के चलें तो काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य प्रतिबन्ध हैं के अपराध हैं ये प्रश्न है. मैने कल जो बात आपकुं बताई के अपराध तब होवे है के जब प्रतिबन्धनमें अपनो कर्तृत्व आवे है. यदि अपनो कर्तृत्व नहीं है तो वो अपराध नहीं है. ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तीनों मिलके कर्तृत्व बने है. इनमेंसुं कोई एक नहीं है तो कर्तृत्व खण्डित हो जावे है. एक बात और यामें मैं अपने दृष्टिकोणसुं, माने श्रुति-सूत्र-स्मृति-भागवतकी श्रीमहाप्रभुजीने जा तरहसुं व्याख्या की है वा दृष्टिकोणसुं, बतानो चाहुं हूं के फेस् वेल्युपे ये सब छे दुर्गुण अपराधरूप ही लगे हैं. इनकुं षड्रिपु कह्यो गयो है. इनके साथ मोरालिटिके कॉन्सेप्ट् जुड़े भये हैं यासुं ये नैतिक प्रतिबन्ध लगे हैं, धार्मिक प्रतिबन्धसुं भी पहले पैदा होते भये. क्योंके धर्म तो बादमें आनेवाली कथा है. वासुं पहले पैदा होती नैतिकता यामें जुड़ी भयी है. आदम और ईव की कथा आपकुं मैने या सन्दर्भमें बताई हती. यदि ये काम-क्रोधादि सचमुचमें अपने संकल्पसुं पैदा होते तो इतने प्रबल नहीं होते जितने कि ये प्रबल हैं. यामें तानाबानाकी तरह अपनो स्वभाव और संकल्प एक-दूसरेसुं बुना गये हैं. और अपन निश्चित नहीं कर पावें हैं के कौनसो काम, कौनसो क्रोध आदि स्वभाववश पैदा भयो है और कौनसो अपने संकल्पवश. फिरसुं याद रखो के यदि स्वभाववश पैदा भयो है तो अपराध नहीं है. कर्तृतावश पैदा भये होवें तो अपराध है. तो ये स्वभाववश पैदा हो रहे हैं के अपनी कर्तृताके कारण ये प्रश्न जटिल हो जावे है. जब धोबीकी तरह इनकी धुलाई करनी होवे तब प्रत्येक धार्मिक प्रवचनमें इनकी अच्छी धुलाई होवे है पर इनपे थोड़ो ध्यान

ह्युमन् साय्कोलोजीकी दृष्टिसुं दो के इन छे रिपुनमें अपने स्वभावको कितने प्रतिशत हिस्सा है और कितने प्रतिशत अपनी कर्तृताको है. मैने तो कई बखत अपनेपे याकुं सोच्यो तो एक्युरेट् परसेंट् याके मिलें नहीं हैं. आप लोग भी सोचियो. कोई बखत अचानक ही अपनेमें ये फूट पड़े हैं. अपन निश्चित नहीं कर पावें हैं के ये अपन करनो चाह रहे हैं के हो जा रह्यो है. पर फिर भी इनकुं अपनी श्वासोच्छ्वासकी प्रक्रियाकी मोडलिटिपे इनकुं समझ्यो जा सके है के जो स्वभावसुं भी चल रही है और जाकु संकल्पसुं भी चलायी जा सके है. बहोत बड़े योगिनमें ऐसी सिद्धि आ सके है के वो रक्तको अभिसञ्चरण या हृदयकी धड़कन् भी अपने संकल्पसुं चला सकें. ऐसी सिद्धि शायद अपनकुं नहीं होवे पर फिर भी प्राणायामादिके तहत अपन भी छोटे-मोटे, स्केलपे श्वासोच्छ्वासुं अपने संकल्पसुं चला सके हैं. ऐसो ही काम-क्रोधादिके विषयमें भी है. अपन अपने संकल्पसुं इनमें दखल कर सके हैं, प्राणायामकी तरह. जैसे ही आपने संकल्प छोड्यो या अपने सामर्थ्यसुं अधिक संकल्प कियो सो ही स्वभाव हावी हो जायेगो. असितने जैसे अपने पेपरमें बतायो के आसुरावेशको साय्कल् चले है वापे ध्यान दो के कैसे अपने संकल्प और स्वभाव को यामें भी साय्कल् चले है. थोड़ो भी आपने संकल्पकुं कमजोर बनायो तो स्वभाव उनकुं अपनी रिधम्में चलायेगो. और जैसे ही स्वभावसुं जो चल रह्यो है याकुं फिरसुं संकल्पसुं वशमें लानो है तो लायो जा सके है. प्राणायामके सन्दर्भमें देखें तो जिनने योगकी साधना करी होवे है वो तीन-तीन दिन तक समाधी लगा सके हैं. ये बहोत बड़ी बात है. ऐसे योगिनके जमाना तो गये. पर हाय्बर्नेशनमें जानेवाले सब्ह्युमन् स्पीसिस्-प्राणियें तो छे-छे महीना दो-दो साल तक को प्राणायाम कर सके हैं. मेंढक या बरसातमें समाधी लगायेगो सो आवते बरस वो समाधिमेंसुं जागेगो. सम्भव है के अपनने योग इन प्राणिनसुं सीख्यो होवे! तो स्वभावसिद्ध और संकल्पजन्य में कोई तरहको साय्कल चल रह्यो है. जब स्वभावको साय्कल् चलतो होवे तो अपन आत्मग्लानीकी स्थितिमें नहीं होवे हैं. अपने कारण जाकु हानि भयी होवे वो अपनकुं दोष देवे वो बात अलग है. पर जब अपन संकल्पसुं कोई दुराचरण कर रहे हैं तब अपने भीतर आत्मग्लानि बोलती होवे है के ये काम गलत है पर करनेकी इच्छा हो गयी है करके करनो है. ये बात ध्यानसुं समझो के यामें कैसे प्रतिबन्ध और अपराधिता के नेचर् रहे भये हैं. यासुं भगवान्ने भी कह्यो है के "**संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः**". संकल्पप्रभव काम अपने भीतर अपराधकी तरह प्रकट

होवे हैं, केवल शुद्ध प्रतिबन्धकी तरह नहीं.

यासुं भी मझेदार पहलूं यामें एक ये भी है के कर्तृताके नियामक तीन फेक्टर् : ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इनके बारेमें भगवान्ने ये ओर कह दियो है के **"मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च" "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"**. तो प्रयत्न, ज्ञान, इच्छा सब वामें गये. जब ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न सब वाको ही है तो फिर अपनो क्या बच्यो? पुष्टिमार्गको प्रसिद्ध जोक् है : लालबावामें ठाकुरजीकुं पेड़ा भोग आने वाले हते. भोग आनेसुं पहले मुखिया-भीतरिया-दुधघरियामें झघड़ा भयो के तेरे कितने पेड़ा, मेरे कितने पेड़ा. महाराजश्री पीछेसुं सुन रहे हते जो बोले के इनमेंसुं ठाकुरजीको एकाध पेड़ा है के नहीं? ऐसे अपन अपनी कर्तृताके नामपे जो-जो बातें गिना रहे हैं वो सब तो ठाकुरजीने अपने हाथसुं पहले ही खोंस लिये हैं! फिर अपनी कर्तृता कैसी! ये भी एक विचारणीय पहलू है जाकुं श्रीमहाप्रभुजीकी फ्रेम्वर्कके तहत अपनकुं समझनो चहिये.

वाकुं समझनेकेलिये अपन कोई इलेक्ट्रोनिक् साधनकुं ले सके हैं के जो ऑटोमेटिक् चले है. वाकु जब बनायो जाय है तब वाके हर पार्टकुं अपन वामें डाल रहे हैं. जब सब पार्ट् वामें डाल दिये फिर वो अपने आप चले है. ऐसे ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न अपनेमें भगावन्ने डाले हैं पर डाल देनेके बाद जीव वाकुं चलावे है. मशीनमें ऑटोमेशन् है, यहां अपनी कर्तृता है. ये फिनोमिना कोईकु अपराध तो कोईकुं प्रतिबन्ध बनावे है. नहिं तो अपराध और प्रतिबन्धकी विभाजक रेखा पाछी धुंधली हो जायेगी यदि या फेक्टरकुं अच्छी तरह नहीं समझोगे. अपन अपने शुद्धाद्वैतके आधारपे दम-खमसुं कह सके हैं के अंश अपने यहां मिथ्या या विवर्त नहीं है लिहाजा वामें प्लान्टेड् मेकेनिजम् भी मिथ्या-मायिक-प्रतिभास नहीं है, सत्य है. तो जब वामें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की मेकेनिज़म् डाली है और वो तीनों कोओर्डिनेट् होके जब वर्किंग् ओर्डरमें आयी वो अपनी है, प्रभुकी नहीं है. वहां जाके अपनो कर्तृत्व आ रह्यो है. और अपनो कर्तृत्व आ रह्यो है वाको मतलब ऐसो नहीं है के ये भगवान्के द्वारा ये मेकेनिज़म् प्लान्टेड् नहीं है. डेफिनेट्ली प्लान्टेड् है. गीतामें भगवान् जो दावा कर रहे हैं वो भी खोटो नहीं है. एट् ध सेम टाईम् अपनने प्रतिबन्ध और अपराध को जो डिविज़न् कियो है वो भी शुद्धाद्वैतकी प्रक्रियाके आधारपे ही कियो है. अंश और अंशी दोनों परमार्थ हैं. परमार्थ होते भये भी द्वैत नहीं है. अद्वैत होते भये भी अंशांशीभावको विलोपन नहीं है. दोनों परमार्थ हैं करके

अंश स्वतन्त्र भी नहीं है, अंशीके अधीन है. या तरहसुं सारी प्रक्रिया चल रही है. ये बात काम-क्रोध-लोभादिके आलेख पत्रके सम्बन्धमें ध्यानमें रखनी चहिये.

गो. शरद् : भगवान् आज्ञा करे हैं **"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधं, विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्, शरीर-वाङ्-मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः, न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः"**. वामें भगवानने शरीर-वाङ्-मनसुं होते न्याय्य और अन्याय्य सभी तरहके कर्ममें अधिष्ठान, कर्ता, पृथग्विध करण और विविध चेष्टा के साथ-साथ दैवकी भी हेतुता बताई है. ऐसी स्थितिमें आपने जो अभी निरूपण किया वाकुं या वचनमें कैसे एकोमोडेट् कर पायेंगे?

गो. श्या. म. : मैं ये नहीं समझ पायो के ये आपको प्रश्न है के आक्षेप. पहले आप ये स्पष्ट करो.

गो. शरद् : आपने ये कह्यो के भगवानने अपनकुं ज्ञानेच्छाप्रयत्नसुं सम्पन्न करके कार्यरत कर दिये हैं. या स्थितिमें अपन जो कर्म करे हैं वाको उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सके हैं. या स्थितिमें यदि अपन अपने कर्तृत्वसुं काम-क्रोधादि कर रहे हैं तो वो प्रतिबन्ध होनेके साथ-साथ अपराध भी है. और जब अपन **"यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते, हत्वाऽपि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते"** या न्यायसुं निरहंकृत भावसुं कोई कर्म कर रहे हैं, अर्थात् स्वभावसुं कर रहे हैं, तब वो प्रतिबन्धरूप तो हो सके है पर वाको अपराधरूप होनो आवश्यक नहीं है. ये आपको आशय है. अब भगवान्ने जो आज्ञा करी है वामें भगवानने जो पांच हेतु बताये हैं वामें एक दैवकुं भी हेतु मान्यो है. वासुं ऐसो लगे है के भगवानने अपनकुं सृष्टिकालमें बिलकुल स्वतन्त्र कर दिये होवें ऐसो नहीं लगे है. दैवके रूपमें, फिर चाहे अपन अन्तर्यामी स्वरूपसुं प्रेरकतया कहें, भगवान् भी अपने सदसद् सभी कर्ममें हेतु रूपसुं साथ जुड़े भये हैं. यासुं ही भाष्यमें भी ये ही निर्णय दियो गयो है के जीवमें रह्यो भयो कर्तृत्व भी वाको खुदको नहीं होके भगवत्प्रेरित कर्तृत्व है. तत्त्वदृष्ट्या देखें तो सभी जगह भगवान् ही कर्तकि रूपमें प्राप्त होवे हैं. वासुं ही **"बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः, सुखं**

दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च, अहिंसा समता तुष्टिः तपो दानं यशोऽयशः, भवन्ति भावा भूतानां मत्तएव पृथग्विधाः'' भगवान् कह रहे हैं. मतलब भगवान् जब आत्मसृष्टिके विचारसुं सोचें तो उनकुं ऐसो नहीं लगेगो के मेरे अतिरिक्त कोई ओर सुखी या दुःखी हो रह्यो है. ''**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च**'' भी भगवान् सम्भवतः वा ही सेन्समें कहते होंगे. फिर भी सृष्टिकालमें भी भगवानने अपने कर्तृत्वकुं कुछ कम कियो होवे ऐसो ''**दैवं चैवात्र पञ्चमम्**'' वचनसुं नहीं लगे है.

गो. श्या. म. : अब मैं समझ गयो. मैं आपकी बातकुं प्रश्नके बजाये आक्षेपके रूपमें लेके चलूंगो. या आक्षेपको प्रतिबन्दी बतानो चाहूंगो के भगवान्को ये वचन ''**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधं, विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ... तत्रैवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलन्तु यः, पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः**''. या वचनमें भगवान् अपने एकाकी कर्तृत्वकी निन्दा कर रहे हैं के नहीं? ये तो प्रतिबन्दी उत्तर है, सदुत्तर नहीं है ये मैं अच्छी तरह जान रह्या हूं. प्रक्रियाके तौरपे दूसरी बात बता रह्यो हूं के जब भगवान् अपने कर्तृत्वको दावा कर रहे हैं तब अंशिताके कर्तृत्वको दावा कर रहे हैं. और खास या वचनमें जो कर्तृत्वको निरूपण कियो है वामें जो दैव है वो भी अंश है वाकुं मत भूलियो. क्योंके सदंशसुं जड़ भये, चिदंशसुं जीव भये और आनन्दांशसुं अन्तर्यामी उत्पन्न भये हैं. यासुं अपने भीतर जो अन्तर्यामी है वो भी अंश है. वो अंश है वाके कारण अपनने समष्टि अन्तर्यामीकुं पृथक् कियो. क्योंके अपने कर्तृत्वमें वाको रोल आंशिक ही है, सम्पूर्ण रोल् नहीं है. और जहां अपनी नहीं चल रही है, जैसे जगत्की उत्पत्तिके क्रियाकलाप, उनमें वाको समष्टि अन्तर्यामित्व मानके दो तरहको अन्तर्यामी माननो लोजिकलि फैलसी कही जा सके है, केटेगरिको मल्टिप्लिकेशन्. पर अपन वा फैलेसीकुं या लिये बलाये ताक रखे हैं क्योंके ''**यः आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो यमयति, यस्य आत्मा शरीरं, यम् आत्मा न वेद, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः**''. और ''**यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो, यं सर्वाणि भूतानि न विदुः, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतानि**

अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः'' ऐसे दानों तरहके वचन श्रुतिमें मिले हैं करके अपन माने हैं के अन्तर्यामी दो तरहके होंगे. जा तरहसुं श्रुतिमें मिल रहे हैं वा तरहसुं अपन केटेगरिको निरूपण कर रहे हैं. प्रमाणसिद्ध केटेगरिमें कल्पनाको गौरव-लाघव नहीं विचारनो. उत्प्रेक्षामूलक चिन्तनमें कल्पनाको गौरव-लाघव अपन भी दोष माने हैं. धर्मकीर्ति भी कहे है के ''यदिदं स्वयम् अर्थानां रोचते तत्र के वयम्!''. तो यहां अंशत्वकी बात है. वहां भगवान्को भी आंशिक कर्तृत्व है. और या आंशिक कर्तृत्वमें यदि भगवान् भी ऐसो दावा करें ... ऐसे कहां अपने भाग्य पर समझो के अन्तर्यामी बाहर प्रकट हो के कहे के ''या सबको कर्ता मैं हूं'' तो मैं कहूंगो के कृपानाथ याद करो ''**तत्रैवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलन्तु यः, पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति**''. आपने ही कही हती के अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा भी कर्ता हैं. समष्टि अन्तर्यामी अंशी है पर व्यष्टि अन्तर्यामी अंश है. यासुं ही श्रीमहाप्रभुजीने व्यष्टि अन्तर्यामीको प्रतिपादन करते भये सुबोधिनीमें कह्यो है के अन्तर्यामी बहोत भरोसा करने लायक नहीं है. क्योंके तुम यदि खड्डामें पड़ने जाते होगे तो वो तुमकु ना नहीं पाड़ेगो. क्योंके वो पांचमें एक है. वो जा बखत माईनोरीटीमें आ जावे तो वाको मत नहीं होवे तो भी वो समर्थन कर देवे है. यासुं श्रीमहाप्रभुजी कहे हैं के ''वेदेन पूतश्चेत् न मारयति अन्यथा तु मारयति''. भगवान् रक्षक हैं पर ''वेदेन पूतश्चेत् न मारयति''. अन्यथा पर यदि तुम कह रहे हो के मरनो है तो वो कहे गो के तुम चारों इकठ्ठे हो गये हो तो फिर मैं भी आ जाउंगो. हमारे दादाजीकुं हरिश्चन्द्रजी छेड़ते रहते. दादाजी कहते के ''जा तू नरकमें''. वो कहते ''बड़ी अपूर्व आज्ञा करी. आपकुं भी पधारनो पड़ेगो. नहीं तो वहां मेरो उद्धार कौन करेगो!''.

गो. शरद् : अन्तर्यामीके स्तरपे अपने यहां इतरेतराध्यास स्वीकार्य है?

गो. श्या. म. : वचन तो कोई या आशयके मिलें नहीं हैं और होवें तो मोकुं ध्यानमें नहीं है पर जहां तक मैं समझुं हूं के सिच्युएशन् ऐसी होनी चहिये के अन्तर्यामीकुं इतरेतराध्यास नहीं है, केवल स्वत्वाध्यास है. पर अपनकुं तो इतरेतराध्यास है. क्योंके अन्तर्यामीमें आनन्दको

प्राकट्य है वासुं ऐश्वर्य-वीर्यादि सब धर्म वामें प्रकट हैं. वासुं वाकुं तो अध्यास होनो सम्भव नहीं है. और अपने चिदंशमेंसुं आनन्दांश तिरोहित भयो है करके अन्तर्यामी जो प्रेरणा करे है वो अपनकुं अन्तर्यामीकी प्रेरणा नहीं लगके अपनी इच्छा लगे है. स्पिनोज़ाने बहोत सुन्दर बात कही है के पहाड़की चोटीपेसुं लुढ़कतो पथ्थर यदि चेतन होतो लो ऑफ् ग्रेवीटेशनकुं कभी कबूल नहीं करतो. वो कहेतो के मोकुं नीचे जानो है या लिये नीचे जा रह्यो हूं. ये तो अपन जान रहे हैं के गुरुत्वाकर्षणके कारण वो नीचे जा रह्यो है. इन सारे प्रश्न पे स्पिनोज़ाको श्रीमहाप्रभुजीके जैसो ही अभिप्राय है. तो लगभग वो स्थिति अपनी आत्माकी है.

दूसरे दो आलेख आसुरावेश और शिक्षापत्र के विषयमें हते. आसुरावेशमें असितने शिक्षाश्लोककी चर्चा करी है. इन दोनों पत्रनकी उल्लेखनीय बात मोकुं ये लगी के बहोत सारे प्रतिबन्धनको विचार जब अपन षोडशग्रन्थके या साधनप्रकरण के सन्दर्भमें करें हैं. पर शिक्षाश्लोक और शिक्षापत्र को रोल् प्रतिबन्धके स्वरूपकुं समझनेमें बहोत अहम है जो छूट जाते यदि इनकी चर्चा नहीं होती. शिक्षाश्लोकमें प्रमुख तीन प्रतिबन्ध वर्णित भये हैं. बहिर्मुखता जाको जबरदस्त व्याख्यान शिक्षापत्रमें भयो है के वाको निराकरण कैसे करनो. प्रभुमें लौकिकभाव नहीं रखनो और प्रभुकुं अपनो सर्वस्व मानके व्रजकी भावनासुं प्रभुकी सेवा करनी ये बात श्रीमहाप्रभुजीनें शिक्षाश्लोकमें समझायी है. इनको विस्तार अपनकुं यत्र-तत्र शिक्षापत्रमें मिले है. इनमेंसुं अनेकविध प्रतिबन्ध और उनके निवारणके उपाय भी अपन खोज सके हैं.

एक बात और, भागवतमें अधर्मकी विवेचनामें एक सुंदर श्लोक आवे है : **"विधर्मः परधर्मश्च आभासः उपमा छलम्, अधर्मशाखा पञ्चेमा धर्मज्ञो अधर्मवत् त्यजेत्, धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोन्यचोदितः, उपधर्मस्तु पाखण्डो, दम्भो वा शब्दभिच्छलम्"**. ध्यानसुं देखो के धर्मके साथ "तत्सादृश्यम् अभावश्च तनन्यत्वं तदल्पता, अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्था षट् प्रकीर्तिता" वाले छेओं अर्थनमें अधर्म छे तरहके हैं. "अधर्मशाखा पञ्चेमा" कहके कुल छे अधर्म बताये हैं. इन पांच शाखानको भी

अधर्मवत् त्याग करो. यहां ये सारे प्रतिबन्धकी तरह नहीं गिनाये हैं, अपराधकी तरह गिनाये गये हैं ये मत भूलियो.

गीतामें भगवानने कही के **"संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः"** वाके सामने भागवत कहे है **"असंकल्पात् जयेत् कामम्"**. काम स्वभावप्राप्त होनेसुं प्रतिबन्धरूप है. पर वाकु प्रतिबन्धतया चलने देनो के नहीं वो संकल्पसुं सम्भव है. जाकु अपन गत्यवरोध कहें. संकल्पसुं काममें गत्यवरोध पैदा कियो जा सके है. ऐसे ही जैसे असितने आसुरावेश और भगवदावेश के साथ्कल्की बात कही. सड़कपे गत्यवरोध स्पीड्कुं खतम करनेकेलिये नहीं होवे हैं पर बेफाम दौड़ती गाड़ी दूसरेकुं कुचल न दे वाकेलिये होवे हैं. अपन दौड़ती गाडीकुं सडन्ली रोक भले न सकें पर वाकी स्पीड् तो कम कर सकें उतनो तो कर ही सके हैं. भागवत वाकी प्रोसेस् बतावे है : **"क्रोधं कामविवर्जनात्"**. क्रोध भी स्वभावसुं प्राप्त है. पर जापे क्रोध आवे है वाकी कामनापे काबू पाओ. कामना नहीं करोगे तो अपने आप गुस्सा कम हो जायेगो.

लोभके बारेमें भागवत कहे है के जाको लोभ होवे वो अर्थरूप है के अनर्थरूप वाको ईक्षण करो : **"अर्थानर्थेक्षया"**. ईक्षणसुं लोभ कम होयगो.

भयसुं बहोत सारे घोटालाएं होते होवे हैं. वो गोस्वामी हमारे एरियामें ब्रह्मसम्बन्ध दे गये तो भय होवे, हमारे वैष्णवकुं यात्रामें ले गये तो भय...निरन्तर भयमें अपन जीये हैं. भयपे काबू पानेको उपाय भागवत बतावे है : **"तत्त्वावमर्शनात्"**. तत्त्वके विमर्शसुं आधो भय खतम हो सके है. डरो मत. जासुं भय पैदा हो रह्यो है वाके नेचरकुं बराबर समझो. सांपको स्पेश्यलिस्ट कहे है के हिन्दुस्तानमें सांप काटनेसुं मरनेवालेमें आधे लोग सांपके जहरसुं नहीं मरे हैं पर सांप काट्यो वाके भयसुं मर जावे हैं. तत्त्वावमर्शन नहीं करनेके कारण भय होवे है और भयके कारण लोगनकुं विधर्म, परधर्म, उपधर्म, धर्माभास की शरण लेनी पड़े है.

"आन्वीक्षिक्या शोक-मोहौ". आन्वीक्षिकीसुं शोक-मोहको निरसन हो सके है. पदार्थको स्ट्रक्चर् यदि समझ जाओ के

वो किन केटेगरिसुं बन्यो भयो है तो भी बहोत सारे शोक-मोह नष्ट हो सके हैं. जो दिखलाई दे रह्यो है वो ईक्षण है. 'अन्वीक्षा' मतलब जो दिखलाई दे रह्यो है वामें फिरसुं देखनो. अन्वीक्षणसुं जब पदार्थको स्ट्रक्चरल् केरेक्टर् समझमें आवे तो अपन अपने बहोत सारे शोक-मोहपे काबु पा सके हैं. जैसे हाथके कोई भागमें कैंसर् भयो, आदमी कैंसरको नाम सुनते ही सोच लेवे के अब तो मरे. पर थोड़ी धीरजसुं वो अन्वीक्षण करे के हाथ शरीरको अंग है. हाथके कटनेसुं आदमी मर नहीं सके है. यासुं कैंसरवालो भाग यदि कटवा दियो जाये तो वो बच सके है. **''सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः, अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः''**. ये इन्साईट् अन्वीक्षणके बिना नहीं आ सके है. तो अन्वीक्षणसुं मृत्युकी आशंकासुं होते शोक-मोहसुं बच्यो जा सके है.

दम्भके बारेमें भागवत समझावे है के **''दम्भं महदुपासया''** अदाम्भिक महान् लोगनकी संगति नहीं होनेके कारण अपन दम्भ करें हैं. उनकी यदि सङ्गति करें तो अपनकुं भी भरोसा आयेगो के वो जब दम्भके बिना जी सक रहे हैं तो मैं क्यों नहीं जी सकुं!

''कृपया भूतजं दुःखम्'' दूसरे प्राणी यदि अपनकुं दुःख दे रहे हैं तो उनपे कृपाको भाव रखो के वो उनके वैसे स्वभावके कारण दुःख दे रहे हैं तो अपने आप काबू आ जायेगो.

''योगान्तरायान् मौनेन'' योगमें आते अन्तरायनकुं मौनसुं काबुमें लाओ.

''हिंसां कायाः''. कायाकी ईहापे कंट्रोल् लानेसुं दूसरेकुं मारनेकी वृत्ति स्वतः कम हो जायेगी.

''आत्मजं योगवीर्येण'' और आत्मज दुःख, तुम्हारेसुं तुम्हारेमें पैदा होते दुःख काम-क्रोधादि कुं ये योगवीर्यसुं काबु कर पाओगे.

''निद्रां सत्त्वनिषेवया'' सात्त्विक जीवनसुं निद्रापे काबु पायो जा सके है.

यद्यपि ये सब स्वभावसुं आते भये प्रतिबन्ध हैं फिर भी इनपे या प्रक्रियासुं काबु पा सके हैं. जब काबु नहीं पावे हैं या वैसो

उपक्रम नहीं करें हैं तब वो अपराधमें कल्मिनेट् होवे है.

अन्तिम पत्र अध्यासको हतो. अध्यासके कुछ पोज़िटिव् पहलू भी हैं जिनको आलेखमें निरूपण ''अध्यासकी भक्तिमें उपयोगिता''के रूपमें भयो है. वाके सपोर्टमें मैं अर्थर्ववेदके कुछ पेसेज् आपके सामने प्रस्तुत करनो चाहूंगो. वेदमें अध्यासके विषयमें एक आखो सूक्त है. **''गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविषन्''**. ब्रह्मवादके ग्रन्थनमें निरन्तर उद्धृत होतो वचन है : **''तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविष्य सच्चत्यच्चाभवत्, निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च, निलयनञ्चानिलयनञ्च, विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च, सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्''** ये श्रुतिको पेसेज् मेटाफिज़िकल् ज्यादा लगे है. नहीं है ऐसी बात नहीं है पर यामें वाके अलावा थियोलोजी और एन्थ्रोपोलोजिकल् पहलू भी हैं जो या पेसेजमें वर्णित नहीं हैं पर दूसरे पेसेजमें किये गये हैं. वो हैं : **''पुरश्चक्रे त्रिपद पुरश्चक्रे चतुष्पद, पुरः स पक्षी भूत्वा, पुरः पुरुषमाविषत्''**. 'तत्सृष्ट्वा' व्याख्या करते भये श्रुति कहे है के परमात्माने कई पुरनके निर्माण किये हैं. त्रिपद, चतुष्पद, पक्षीरूप पुरनको निर्माण बाने कियो है. और पुरुषरूप पुरमें आके वो रहने लग गयो. ये केवल मेटाफिज़िकल् बात नहीं है. बायोलोजीसुं लेके और एन्थ्रोपोलोजिकल् तक बात पहोंच गयी है. अपनकुं लगे के क्या स्वरूप है. भागवतमें याको सुन्दर खुलासा है : **''सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजात्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् अगतं स मत्स्यान्, तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमापदेव''**. अज वाने आत्मशक्तिसुं कई पुरनके निर्माण किये. वृक्ष, सरीसृप, पशुं, खग, मत्स्य के. पर वाकुं सबसु अच्छो घर मनुष्यको लग्यो. इन सबमें रहनो छोड़के नहीं पर अन्तमें अपने रहनेकेलिये मोस्ट बीफिटिंग् घर वाकुं मनुष्यको शरीर लग्यो. मनुष्यकी दूसरे करते लायकात क्या है वाको उपनिषद् वर्णन करे है के दूसरे घर एकल, द्विकल या चतुष्कल हैं पर पुरुषको पुर षोडशकल है. सोलह गुना सुविधासम्पन्न है. जैसे मैने बतायो हतो के ''एंड् गोड् क्रियेटेड् एडम् आफ्टर् हिज़् ऑन् इमेज्''. पर अपने यहां अपन रिवर्स् बात कह रहे हैं के ''एंड् गोड् क्रियेटेड् हिम्सेल्फ आफ्टर् ह्युमन् इमेज्''. **''मत्स्याश्व-**

कच्छप-नृसिंह-वाराह-हंस-राजन्य-विप्र-विबुधेषु'' मत्स्य बन्यो, कच्छप बन्यो सब बन्यो, पर सोलहकलापूर्ण अवतार तब भयो के जब राम-कृष्णके रूपमें प्रकटे. यासुं राम-कृष्णकुं सोलहकलापूर्ण अवतार कहे जाय हैं. लोग 'कला' को अर्थ सोच-सोचके लार टपकाते रहे हैं. पर सोलह कलाको मतलब है वाको मनुष्याकृतिमें प्रकट होनो. ओर कोई सोलह कलाकी बात यहां नहीं है. तो जा देहाध्यासकी अपन निन्दा करे हैं वा देहकुं भगवान् सबसुं कम्फर्टेबल् रेसिडेन्स् माने हैं ये वाको प्लस् पोइन्ट है. उपनिषद् वाको व्याख्यान करे है ''इहैव शरीरे स पुरुष यस्मिन् एता षोडशकलः प्रभवन्ति''. दो ऋषिन्में सवाद है. एकने पूछी के षोडशकल पुरुष कहां है? उत्तर नहीं मिल्यो तो दोनों ब्रह्माजीके पास गये. ब्रह्माजीने गोत्रप्रवर्तक भारद्वाज ऋषिकुं कही के तेरे भीतर षोडशकल पुरुष है. उनने पूछी के मेरेमें कला कौनसी है? ब्रह्माजीने कला गिनायीं हैं : यामें प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज-ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम ये सोलह कला या शरीरमें हैं. इनके कारण भगवान्कुं यामें रहनो सुविधाजनक लगे है. ''**इमाः षोडशकला पुरुषायनाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति विद्यते चासां नामरूपे 'पुरुष' इत्येव प्रोच्यते. सएष सकलः अमृतो भवति**'' यों उपनिषद् कहे है. ये सब कलाएं भिन्न-भिन्न हैं पर पुरुषमें ये सारी कलाएं नदी सब जैसे समुद्रमें मिले हैं ऐसे मिल जावे हैं. पुरुषमें इनकी सञ्ज्ञा एक है. वैसे अलग हैं. ये उपनिषद् और पुराणको सन्दर्भ है. याकी लाईट्में अथर्ववेदके पेसेज्कुं देखें.

''**गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविषन्**'' या मरणशील घरकुं उनने घर मान्यो. और सब देव यामें आके रहने लग गये. या शरीरमें सुविधा क्या है? वेदने सोलहसुं ज्यादा सुविधाएं बतायीं हैं. स्वप्न, तन्द्रा, निर्रति, पाप, जरा, टाल-पालित्यं, सफेदी, स्तेय-चोरी, दुष्कृत, वृजिनं, सत्यं, यज्ञो, यश, बल, क्षत्रं, ओजम्, भूति-ऐश्वर्य, अभूति-दरिद्रता, राति, अराति, क्षुधा-भूख, प्यास, निन्दा, अनिन्दा, हत्या, शान्ति, श्रद्धा, दक्षिणा, अदक्षिणा, विद्या, अविद्या जो तुम उपदेश दे सको वो सब या पुरमें मौजूद है के जामें देवताएं रहनेकुं तरस रहे हैं. ''**ब्रह्म प्राविषत् साम अथो यज आनन्दा मोदा**

प्रमोदा अभिमोदा मुदश्च हसः नरिष्टा नृत्तानि'' नाच-गाना-संगीत ''**आलापाश्च प्रलापाश्च अभिलापाश्च अपलापाश्च**'' क्या मौजूद नहीं है यहां! ''**शरीरे सर्वे प्राविषन् आयुज, प्रयुजः युजः प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रम् अक्षिति क्षिति यान् उदान् वाङ् मन आशिष प्रशिष संशिष शरीरमनुप्राविषन्. आस्तै वास्तै कृपणा गुहा शुक्रा स्थूना अपस्ता बीभत्सा अस्थीकृत्वा समिधं तदष्टापो असाधयन्. रेतः कृत्वा आज्यं देवापुरुष आविषन्**''. कितनो ग्लोरिफिकेशन् कियो है ये देखो. ''**य आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मण शरीरं ब्रह्म प्राविशत् शरीरेधि प्रजापतिः**''. या शरीरमें ब्रह्म प्रविष्ट भयो है. यामें प्रजापति प्रविष्ट भयो है. ''**सूर्यश्चक्षुः वातः प्राणं पुरुष विभेजिरे अथास्येतरमात्मानं देवता प्रायच्छन् अग्नये तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति**'' इतनी सब चीजें यामें मौजूद हैं जैसे कि ये साक्षात् परब्रह्म होवे. यासुं शरीरकुं ब्रह्म समझो. अध्यासको ये पोज़िटिव् पहलू है. यामें घबड़ानेकी जरूर नहीं है ''पतझड़से वो डरे जिसमें नवयौवनका उन्माद न हो''. या घरमें इतनी अच्छी-अच्छी चीजें मौजूद है. पर मिस्यूज़ करोगे तो निश्चित डरनेकी बात है. पर यदि तुमकुं प्रोपर् उपयोग करनो आयो तो यहां सब शस्त्रास्त्र हैं. सब मसाला हाजिर हैं. जो खानो होवे सो खाओ. सोफा, पलंग, टेबल सब हैं. ''इसीमें कौनसा आलम नहीं है'' यासुं शरीरकुं ऋग्वेदने साक्षात् ब्रह्म कह दियो है.

अपन कल अन्तःकरणकी बात कर रहे हते. अपने यहांकी केटेगरिके हिसाबसुं मन राजस है जो जनयिता है. बुद्धि सात्त्विक है जो पालयिता है. और अहंकार तामस है जो रुद्र है. ऐसे स्पष्ट कह्यो है. तो ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र अपने भीतर मन-बुद्धि-अहंकारके रूपमें काम कर रहे हैं. कर्मकुं पैदा करनेवाले, वाको पालन करनेवाले और वाको संहार करनेवालो अहंकार भी यामें है. याको मिस्यूज़ करनेपे गाली भी दी जा सके है और प्रोपर यूज़ करनेपे याकी प्रशंसा भी की जा सके है ''यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्यः'' कौनसो अंग कहां वापरनो वाकी समझ होनी चहिये.

एक अमेरिकन् पुष्टिमार्ग सीख गयो. वाकुं समझावो गयो के

भोजन पोतना किये बिना नहीं करनो. जब वो अमेरिका गयो तो वहां घरमें सब जगह कार्पेट् बिछि भयी हती. वाकुं बड़ी चिन्ता भयी के पोतना कहां करनो! एक बाथरूम वाकुं ऐसी जगह मिलि के जहां कार्पेट् नहीं हती. वाने बाथरूममें पोतना करके भोजन कियो. वाकी मां वर्ल्ड हिस्ट्रीकी प्रोफेसर् हती. वो ये देखके चिल्लाई के बोट् सोर्ट् ऑफ् रिलिजन् डु यु फोलो धेट् आस्क् यू टु ईट् इन् टॉयलेट्! टॉयलेट्में खानो ना समझी है जो दुःखद है. बाकि या शरीरमें सब कछु मौजूद है. यदि उनको भक्तिमें उपयोग कर सकें तो अध्यासकुं साधक बनायो जा सके है.

Obstructions in Seva.
A scientific perspective

Ankita P Shah

According to Shri Mahaprabhuji, one should quit Seva in the following five cases:

विक्षेपादथवाशक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित् ।
अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे ।
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा।।

The reason to do so is to protect the core 'Bhakti' and suspend or postpone the active role of Seva so that it won't over-burden or kill Bhakti. Please refer to my last year's paper, where as an extreme case of dedication, the cell prefers to take the route of self destruction to avoid any harm to its whole: the Body. Now let's look at each of the five facets of obstructions individually.

1.Vikshep (विक्षेप) :

According to Shri Mahaprabhuji, this facet is some what self-created obstruction by an individual. It is a psychological issue that bothers the jeev, causing vikshep in Seva such as: Chinta. In such a scenario where one's mind can't be focused on Seva to a point that it becomes just a 'kriya', it is advisable to quit Seva. The reason, once again, to do so is to protect the Bij-bhaav of bhakti.

Science's Perspective: Individuals living in the developing nations face various means of pollution during the course of their life. Polluted water usually leads to growth of various species of worms in their abdomen. In order to fight the worms, humans have evolved to generate specific fighting molecules. These molecules are made from the immunoglobulin gene called IgE. With globalization, the society is mov-

ing towards becoming cleaner and lesser polluted (such as in U.S.A, U.K., Japan, etc). With cleaner and better purifying systems, the people there have no exposure to any polluted water. Hence, there are no worms for their IgE to kill. The change is happening in such a short time that the evolution had no net effect on it yet to stop producing the IgEs from the system. The bodies' normal immune system, specifically the IgE, have a vikshep in its function right now. However, since they do not know how to cope up with such a scenario, they cause trouble in the body. Since they have nothing specific to bind to, they start binding normal, non-harmful foreign object(s) in the body. Any binding of any of the IgE would normally cause a chain reaction leading to some action from the immune system of our body. The action in this case normally results in a range of symptoms commonly known as: Allergies. With evolution, eventually the body would adapt and be able to overcome allergies (not yet seen though!).

Figure 1

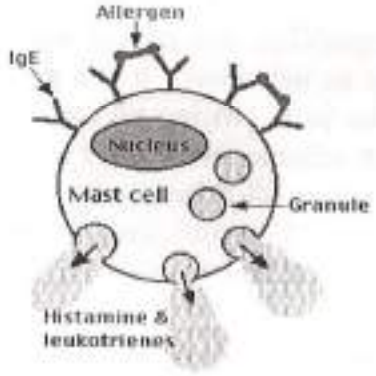

2.Ashakti (अशक्ति) :

This is a physical facet that can be thought upon in terms of inability to perform Seva due to the physical barriers of one's health or state. It is kind of like 'asamrthya'. In this scenario, if one does have the state of mind to keep the bhakti bhaav intact than the active-physical role of Seva can be or should be left upon.

Science's Perspective : There are few examples in science where inability to perform the needed function leads to abandonment by or from the active role.

Just like us, the cells also undergo aging. With each new cycle of replication, the cells' ability to perform it successfully without any mistakes drops significantly. At a certain point in a cells' life, It no longer divides (there are few reasons to this, for example, the body is not in a need of more cells. One of the other reasons could be the cells' age and ability). At this point, the body either leaves the cell in a non-active state or just recycles it, depending on its function. The mechanism is needed to keep the whole well and functional. If this mechanism malfunctions, it can result in harming the whole. One such, non-extreme, example is the islet- cells of the pancreas. In normal case, these cells produce insulin that helps break the sugar from the food and convert them into the form that can easily be used as energy by our body. When these cells undergo some changes due to various reasons, they are then unable to perform the mentioned job resulting in a medical condition commonly known as diabetes. Diabetes, as most of us know, is a host welcoming several degenerative diseases to the whole over a long period of time. In summary, it is better to suspend the active function if that can result in the survival of the core. In this case, lose the malfunctioning cell to avoid the harm to the body. Similarly, if inability by the body is preventing Seva, leave the Seva to rescue the Bhakti.

3.Pratibandh (प्रतिबन्ध) :

This is a term which implies to very broad range of things. However, according to Shri Mahaprabhuji, this facet majorly relies upon the obstructions that are closer to the individual. These are usually categorized by social and parivarik obstructions. Inappropriate social environment can cause tremendous burden on an individual. Very unfavorable family situations too can be an obstructive measure to perform Seva. Once again, in this case, Shri Vallabhacharyaji recommends one to quit Seva for the survival of Bhakti.

Science's perspective : Since there are two types of obstructions under this facet, we will look both of them separately.

Family obstructions : We would consider the closest and similar atmosphere near/around an organism as family. For example, some amoeba as well as most flagellum containing bacteria, undergo quiescent under certain situations. These situations could vary from starvation, excess heat, or even harmful/poisonous substances near by. In these situations, the organism that first encounters the problem releases chemical signals to warn its nearby 'relatives'. These signals then trigger the others to undergo changes resulting in the quiescent (in-active) state. When the environment returns to normal, so do the bacteria. The organisms that failed to respond to such chemical cues would put themselves in harm's way and pay for the consequences by either dying or damaging themselves. Once again, modification was done here to become self-inactive in order to survive in a longer run. Another such things happen with most viruses as well. They are active and replicating in only a healthy host. They quit or undergo quiescence otherwise. Adaptation to surroundings goes long way in all the living species. This brings us to the second point.

Social obstructions : Just like us, our cells also live in a society. The organs of the body and their cells make up the surroundings for an individual cell. Similarly, we as humans, live as organisms holding specific niche (place) in the universe. It is inevitable for us to deny our surrounding/environment. Therefore, we must also listen to the cues around us for our well-being. We will see why this is important in three different perspectives.

i.Cell-Body context : As each city can only accommodate certain number of people, overpopulation can burden its sys-

tem to the point that it would collapse. Similarly, each body is also restricted to certain number of cells. Various means allow the body to grow in specific dimensions and sizes. In order to achieve the needed mass and size, the cells are under strict growth conditions in our body. Over producing cells normally result in tumors or cancer, destroying the entire body. Once such measure to keep things under control is to suspend the function of an enzyme called telomerase. Telomerase normally adds tails to the chromosome-ends called telomeres. After each successful reproduction, the small segment of the telomere is cut off by the cell. In the growing years of an individual, the body is growing with lots of cells dividing and growing. During such time, the role of telomerase is active adding the tails to the telomere after each replication to allow it to divide. The cells, after certain age or size, that do not need to replicate, the function of telomerase is SHUT-OFF permanently (until a cancer cell comes along to change that) preventing over-production.
Figure 2

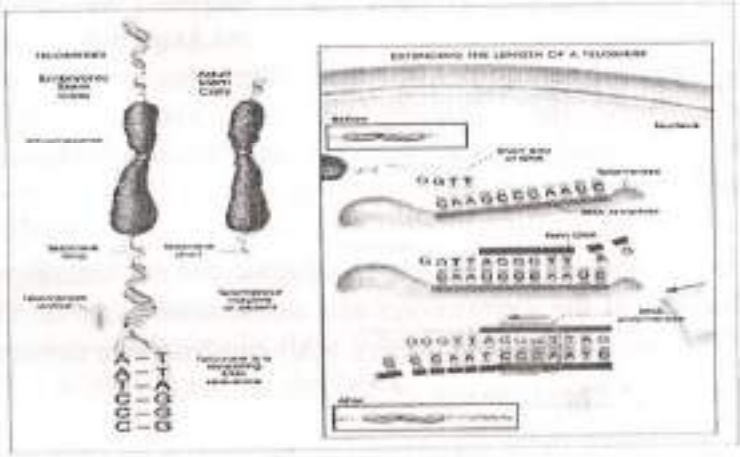

Shown in the above figure, is how telomerase adds tails (telomere) to the end of the chromosome in the growing (stem) cells in the normal stage.

ii.Adaptation at species level : We are all very familiar with the example of the most well-known extinct species: the Dinosaurs. Though the exact cause of their extinction is still not very clear, most scientists agree that certain in-adaptations lead to their extinction. Different skeletons of the dinosaurs suggest that they were not able to adapt to the quick changing environment on the earth. Another example of this is the Whale.

Figure 3

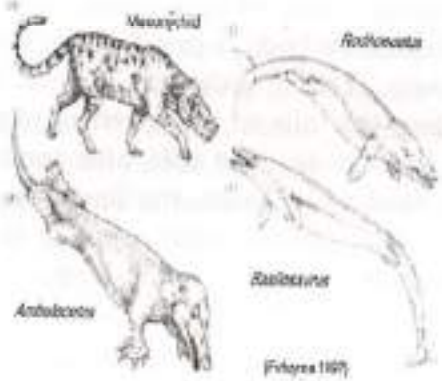

It is very well believed that the Whale used to live on land but changing atmosphere made them change their homes from land to water. With the changing surroundings, they adapted the bodies and lungs that are suitable in their new homes (for more information on the evolution of the Whales, please visit : .http://www.explorebiodiversity.com/Hawaii/Biodiversity Forgotten/Wildlife/cetaceans/evolution.htm).

Both of these examples suggest that not listening to the cues of the surroundings and adjustments based on that (by suspension of some active role) can lead to a devastating danger.

iii.Modifications at the micro-levels: We all have heard and learned about Evolution. We also know the world famous law of Natural Selection by Charles Darwin. However, we are just starting to learn the effects of Natural Selection on our selves. For example, with the changing

world, we all adapted something to survive. The rate of adaptation can be slow or fast driven by the circumstances and the change can also vary based upon the need. These caused minor changes over time in our DNA that became heritable over generations. Some of those changes caused complete modification in the genomes leading to inactivation of old genes (still retained as pseudo-genes in our body) and generated new functional genes. Some other genes got little modified over time with changing needs.

Figure 4

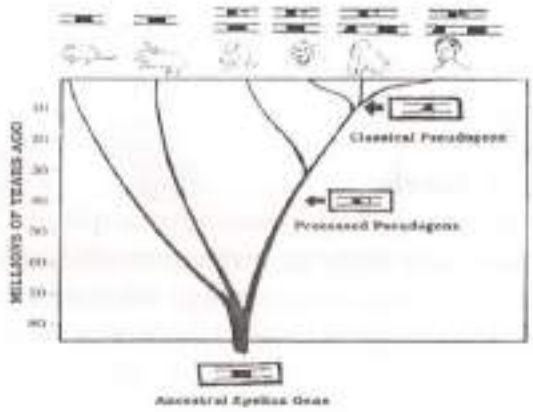

As shown in the above diagram, one gene from the common ancestor can modify over millions of years on its own needed course retaining or losing certain characteristics and still be present in various forms in different species. The actual gene, if modified too much to over shadow its original function would most likely still be found in the nearby location as a pseudogene on the DNA.

In conclusion, all of the above examples suggest adapting to the changing environment. It also suggests that the change was needed to favor the survival of an organism and not doing so led to extinction! Things not needed by the body became inactive overtime, just like the appendix of

our digestive system.

4. Atyagrah;ravesh(अत्याग्रहप्रवेश):Ahankarik Obsession

This obstruction too, is a self-created one. There is some problem involved that obstructs one's ability to perform Seva. However, due to the egoistic obsession by one's self, it prevents oneself to choose the correct duty. Hence, the stubbornness can cause problems to the individual and others around him/her.

Scientific perspective : there are ample of examples around and within us in the nature that leads to harmful results when needed change is not accomplished due to adamant nature.

O_2 content in blood:

People living in the planes have ample of O_2 in their blood to help their body to perform needed tasks on the land. However, when these people relocate to places at higher altitude, the demand for O_2 increases by their body. As the air gets thinner, one's body must make needed changes to overcome the shortness of O_2. The side effects, while working on these changes, can be nausea, shortness of breath, etc. At this point, if the cells in the body decide to stay adamant and not change to incorporate the changing needs, the body as well as the individual can' t tolerate the stress. As a result, they can undergo an anaphylactic shock and can even die!

WBCs and Cancer:

The normal duty of the White blood cell (WBC) is its involvement in the defense system of our body. WBCs recognize any and all foreign elements in the body, attack, and kill it, and therefore, protect the body. However, in a case of atyagrah pravesh, those WBCs become overactive. As a result, now they start killing RBCs (red blood cells) of

the circulatory system. This is commonly known as blood cancer or lymphoma.

Figure 5

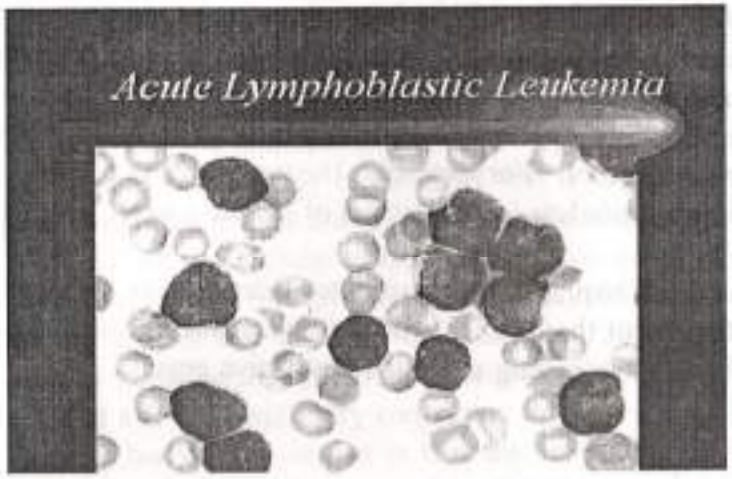

The diagram above, shows WBCs eating up part of our own circulatory system: the RBCs (the engulfed RBCs by the WBCs (that are now acting as mast cells) looks like the big, dark purple globules here. They are the ones that would eventually get classified as the cancer cells).

5.Parpida (परपीडा): This is somewhat an extension of atyagrah pravesh. However, instead of it being ahankarik obsession, this facet falls under the category of mamakarik obsession. Shri Mahaprabhuji is instructing the jeev to leave Seva when it becomes a hurdle or bothersome to people around him/her.

Scientific Perspective: once again, there are a few examples in nature exemplifying parpida and its effect on the organism.

Body-organ context :

In few different scenarios, sometimes different organs

of the body become poisonous or destructive. For example, a small infection to any wound in a highly diabetic person can cause gangrene to that organ or limb. In such a case, the organ near by as well as the entire body is affected. The individual is suffering from a lot of pain and the near by organs face the threat of infection themselves. It is obviously safer and best to remove that organ and protect the individual. Similar instances arise under early stages of various organ cancers. For example, Hysterectomy is a common known procedure in early stages of uterine cancer.

It requires no examples to understand or guess what happens to the body if it doesn't overcome the mamakarik obsession by getting rid of the obstructive organ!

Conclusion:

After looking at all the five different facets of Pratibandh and their parallelism with Science, I am now trying to conclude the paper by showing that the underlying concept for the parallel facets are also in the same lines.

The reason Shri Mahaprabhuji instructs one to quit Seva is for the protection of Bhakti under inappropriate situations. The core here is: survival of Bhakti. Please refer to the paper by Shri ShyamManoharji, Krshna ev tatparyam. The underlying concept here too is the same: Krshna ev tatparyam. Seva is one mean to nurture and realize Bhakti by jeev. If the mean itself causes a problem at a point where it can threaten the existence of Bhakti, Mahapraphuji suggests that it is better to let go of the mean: Seva. In a bigger picture, this action is a positive action for a longer run.

Similarly, under various scientific conditions, the cells or the body is forced to do something that eventually is

done to protect the body or a whole. In the instances here genes or organs are lost or modified over the course of decades/centuries, it is done for adaptation to the changing environment for the survival of the species. Any infected or damaged cell or organ is removed from the body to prevent the harm to the entire body. Nature had created means within itself to overcome troubles that threatens its own existence. One such example is the HLA-G gene. The immune system of our body is so smart that it recognizes a host of foreign particles and protects us. In pregnancy, if you think from the immune systems' perspective, one half of the growing fetus is foreign (because it contains 50% genes from the mother that are 'self' and the other 50% of the genes are from the father that are 'foreign'). Still it doesn't attack and kill each and every conception that takes place in a female's body. The reason is that the fetus too has its own defense system. It is created by the placenta to protect the fetus from mom's immune system. Such fighters are called the HLAs, and are created by the HLA-genes. One of these HLAs, HLA-G has a job to 'fool' mom's immune system so that it can't see dad's 50% foreign things in the fetus and therefore, can't attack it. This is nature's way to have natural selection work in favor of the HLA-G over regular immune system for the survival and existence of the species. In conclusion, nature too understands and acts upon the challenging situations around it. Sometimes, it has to kill one of its own to overcome the situation but ultimately the goal is for a safer and better survival in a longer run. Finally, to sum up everything said in the paper, I want to quote the poem of Shri Harivanshray Bacchan, that Shri Shyam Manoharji often refers to:

इन चिकने ताजे हरे नये पत्तोंके सायेमें
ये प्यार मानो फिर नया हो सकता है...
हर दन्त समयका निकलता है मानो विषदन्त नहीं होता

पतझड़ आने से जीवनका अन्त नहीं होता है.
आहें उठती हैं सपने पीले पड़ते हैं पर
जीवनमें पतझड़ आनेसे जीवनका अन्त नहीं होता...
इन चिकने हरे नये पत्तोंके सायेमें
मानो फिर प्यार नया हो सकता है.

Acknowledgements :

1. The most and heartful thanks goes to Shri ShyamManoharji for the inspiration and guidance throughout the paper. I should admit honestly that if it were not for him, I would have been clueless on how to approach the subject and draw the parallelisms.
2. I also want to thank Shri Sharadbavashri who had always allowed me to submit the guest paper. I also want to thank him further for repeatedly allowing my late submissions too!
3. I must also thank my father Mr. Mukesh Nanavaty whose generous help in handling all my duties(!) allowed me the time to finally put the thoughts and process in this form.
4. To my colleague, Jennifer Elwell, and GOOGLE for confirming few facts about science and the examples I used here (specifically the ones related to Bacteria and pregnancy).
5. Figure 1: http://users.rcn.com/jkimball.ma.ultranet/BiologyPages/M/MastCell.gif
6. Figure 2: http://stemcells.nih.gov/StaticResources/info/scireport/images/figurec2.jpg
7. Figure 3: http://www.explorebiodiversity.com/Hawaii/Biodiversity Forgotten/Wildlife/cetaceans/evolution.htm
8. Figure 4: http://www.ncseweb.org/resources/articles/images/cej19_11.jpg
9. Figure 5: www.pathology.vcu.edu

चर्चा

Obstructions in Seva.
A scientific perspective

श्रीमती अंकिता शाह

गो. श्या. म. : अपनो शुद्धाद्वैतको मोडल् कार और मेकेनिकल् पार्टस् को मोडल् नहीं है, न शुक्ति-रजतको मोडल् है और न दूधसुं दही बने ऐसो विकृत परिणामको मोडल् है. अपनो मोडल् **"एकोऽहं बहुस्याम्"**, **"स आत्मानं द्वेधाऽपातयत्"** की तरह सेल् स्प्लिट् होके रिप्लिकेट् होवे है वो है. वाके कारण अपनो शुद्धाद्वैतको मोडल् आधुनिक बायोलोजि जा मोडलकुं प्रपोज़ करे है, कार्य-कारणभाव तरीके, वाकुं ही प्रिसपोज़ करके अपने यहां सारी बात बतायी गयी है के "एकोऽहं बहु स्याम्" एक जब बहोत होवे है...अपनने शरद्बावाके पेपरमें देख्यो के एकके अनेक होनेपे जो अनेक भये हैं उनमें अपनी-अपनी अहन्ता अंशमें आवे है. पर अंशीकी अहन्ता सब अंशकुं कवर् करके आवे है. **"मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च"**. अंशीकी अहन्ता सबकुं कवर् करे है और अंशकी अपनी छोटी-छोटी अहन्ता सेलके जैसी ओर हैं. बॉडी और सेल् के मोडलकी. वैसे ब्रह्म बायोलोजिकल् प्रिन्सिपल्सुं बियोंड् है पर जैसे शंकराचार्य शुक्ति-रजत और रज्जु-सर्प को उदाहरण देवे हैं. या जैसे अपन सुवर्ण-कुंडलको उदाहरण देवे हैं ऐसे आजकी बायोलोजि बिलकुल वो ही सिद्धान्तकुं पकड़के चल रही है, प्रोसेसमें रिप्लिकेशन्-मल्टिप्लिकेशन्के जो अपने यहां "एकोऽहं बहु स्याम्"में कह्यो है. यासुं मेरो आग्रह हर बखत रहे है के यदि बायोलोजिकुं अच्छी तरहसुं समझ जावें तो शुद्धाद्वैतकुं समझनेमें सरलता होयगी.

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધનાપ્રણાલીમાં પ્રતિબન્ધનો વિચાર

(અશક્તિના સન્દર્ભમાં)

હિતેન્દ્ર શાહ

ઉપક્રમ :

સામાન્ય રીતે આધ્યાત્મિક સાધના જીવનના ઉત્કર્ષ, આત્મકલ્યાણ કે ઉદ્ધારાર્થે હોય છે જેના કોર્સ ઓફ એક્શન્માં કોઈ એક સાધન તત્ તત્ શાસ્ત્ર કે ગુરુ ઉપદેશાનુસાર કરવાનું હોય છે અને તેને અનુસરીને પામવાનું કોઈ એક ગન્તવ્ય કે ફલ હોય છે. જ્યારે શ્રીમદાચાર્યચરણોપદિષ્ટ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધનાપ્રણાલી તેની સર્વાંગીણતામાં ફક્ત સાધના જ નહીં પણ જીવનપ્રણાલી છે. ચાહે તે સાધનાનો મુખ્યકલ્પ સેવા અને કથા હોય ફક્ત સેવા કે ફક્ત કથા નો હોય કે પછી પૃથક્શરણમાર્ગનો કેમ ન હોય! જીવન અને સાધના એકબીજામાં તાણાવાણાની જેમ ગૂંથાયેલ હોવાથી સાધના જીવન પર્યન્તની છે. હવે જીવનમાં આવતા ફલક્યુએશન્સ, ચઢાવ-ઉતાર, મર્યાદાઓ, અવસ્થાઓ ચાહે શારીરિક, માનસિક, આર્થિક, સામાજીક, પારિવારિક, દેશકાલિક કે પ્રારબ્ધજન્ય વગેરે નો પ્રભાવ સાધક યા બાધકતયા આપણી સાધનાપ્રણાલી પર જરૂર પડે છે. અર્થાત્ તેના વિકાસના અઙ્ગ તરીકે - અનુકૂલતામાં કે પ્રતિબન્ધનારૂપે -પ્રતિકૂલતામાં જેનો વિચાર અને ઉપદેશ ભગવત્સ્વરૂપ અને આર્ષદ્રષ્ટાસમ આચાર્યચરણોદ્વારા પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધકોમાટે વરદાનરૂપ છે. અન્યથા પ્રતિબન્ધના સ્વરૂપને અનુરૂપ અપેક્ષિત સાધનાચરણના નિર્વાહ, વિકાસમાં અવરોધ કે કોઈ આત્યન્તિક પરિસ્થિતિમાં અધવચ્ચેથી તેને છોડવાની કે ત્યાગવાની ભીતિ પેદા થાય છે. જોકે જેમ આગળ કહ્યું તેમ સાધનામય જીવન અને જીવનરૂપ સાધના ની આપણી પ્રક્રિયા હોવાથી જેમ જીવનમાં આવતાં ફલક્યુએશન્સ્ અનુસાર ઉપાયો વિચારીને જીવન જીવવામાં આવે છે તે રીતે પ્રતિબન્ધરૂપ પરિસ્થિતિમાં તેને દૂર કરવાના ઉપાય કે સાધનાના ઉપદેશાયેલ અન્ય કલ્પ, એ સ્થિતિમાં શું કર્તવ્ય કે અકર્તવ્ય વગેરેનો વિચાર આજની આધુનિ જીવનશૈલીમાં પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધનાને જીવવામાં અત્યન્ત આવશ્યકજ નહીં બલ્કે આ સેમિનાર અન્તર્ગત તેના તારણ કે નિચોડરૂપ ઉપાયો આશીર્વાદસમ હશે. જેમાં સાધનાનું સ્વરૂપ ખંડિત ન થતું હોય-શ્રીમદ્વાક્પતિની વાણી અનુસાર.

પ્રતિબન્ધનું સ્વરૂપ અને ઉપાય :

સેવાફલ ગ્રન્થના આધારે સાધનાવસ્થામાં ભગવત્સેવાના નિર્વહન કે આવશ્યક કર્તવ્યરૂપ અનુષ્ઠાનમાં મુખ્યરૂપે ત્રણ બાધક છે. (૧)ઉદ્વેગ (૨) પ્રતિબન્ધ (૩)ભોગ. **"सेवायां प्रतिबन्धक त्रयम्"** મનમાં જો ઉદ્વેગ રહે તો સેવામાં ચિત્ત રહે નહીં અને **"चेतस्तत् प्रवणं सेवा"** આ સેવાનું સ્વરૂપ સિદ્ધ ન થાય. ઉદ્વેગ થકી પ્રતિબન્ધકતા, ઉદ્વેગના અનેકરૂપનો વિચાર નવરત્ન તથા વિવેકધૈર્યાશ્રય ગ્રન્થ માં કરવામાં આવ્યો છે. ત્યાં આશ્રયભાવની દ્રઢતામાટે અષ્ટાક્ષરનું ઉચ્ચારણ તથા લીલાભાવનાની વાત સમજાવવામાં આવી છે. 'પ્રતિબન્ધ' એ બીજો બાધક છે. જે બે પ્રકારના હોય છે. સાધારણ અને ભગવત્કૃત. સાધારણ પ્રતિબન્ધનું નિવારણ ચતુરાઈપૂર્વક કરવું જોઈએ પરન્તુ ભગવત્કૃત પ્રતિબન્ધનું નિરાકરણ કરવું જીવના સામર્થ્યની બહાર છે. ત્રીજો પ્રતિબન્ધ 'ભોગ' છે. લૌકિકભોગમાં જો આસક્તિ હોય તો એકાગ્રતાપૂર્વક સેવા થઈ શકતી નથી. તેથી ઉદ્વેગ, સાધારણ પ્રતિબન્ધ અને લૌકિકભોગ ત્રણેનો ત્યાગ કરવાની સેવાફલ વિવરણમાં આજ્ઞા છે. "त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः" તેથી ત્રણે પ્રતિબન્ધોની ઉત્પત્તિના કારણોનો ત્યાગ કરવો. હવે જો લૌકિક કે વૈદિક કાર્ય આવી પડે અને તેનો ત્યાગ જો સમ્ભવ ન હોય અને સેવાના સમયમાં આવી પડે તો પ્રતિબન્ધક થાય છે. જોકે તે સાધારણ પ્રતિબન્ધરૂપે હોય છે. આના સમાધાનમાં વિવરણમાં લૌકિકભોગ તો છોડી દેવાની આજ્ઞા છે અને જે સાધારણ પ્રતિબન્ધ છે તેને તો બુદ્ધિ કે ચતુરાઈપૂર્વક છોડવા અર્થાત્ લૌકિક-વૈદિક કાર્યરૂપ સાધારણ પ્રતિબન્ધ આવે તો સેવાના અનવસરમાં કરવાનો નિશ્ચય કરવો અથવા પ્રથમથી જ બુદ્ધિપૂર્વક પ્લાનીંગ્ કરીને સેવામાં પ્રતિબન્ધક ન થાય એ રીતે આયોજવા અને જો આવશ્યક લૌકિક-વૈદિક કાર્ય આવીજ પડે તો શરીરાદ્યિી કાર્ય કરવું. પરન્તુ બુદ્ધિ તો ભગવત્સેવામાં જ રાખવી નહીં કે કાર્યમાં. આમ ઉપાય બતાવી રહ્યા છે. પ્રતિબન્ધ કઈ રીતે આવે છે અને તેને દૂર કરવામાં શું કર્તવ્ય કે શું અકર્તવ્ય એ સમજ્યા પછી પ્રતિબન્ધની સીધી અસર આપણી સાધનાપ્રણાલીપર પડતી હોવાથી મુખ્યતયા આપણી સાધનાપ્રણાલી શું છે તે વિચારી લઈએ.

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધનાપ્રણાલીનું સ્વરૂપ :

શરણ, ભગવત્સેવા, તથા ભગવત્કથારૂપી ભક્તિસાધનામાં ભક્તિના બે અઙ્ગ માનવામાં આવ્યા. (૧)બાધઅઙ્ગ માહાત્મ્યજ્ઞાન અને

(૨)આન્તરઙ્ગ સુદ્રઢ સર્વતોધિક સ્નેહ. આ આંતર અને બાહ્ય બન્ને અઙ્ગોને નિભાવવામાટે સાધનાનો મુખ્યકલ્પ છે : કૃષ્ણસેવા અને સેવાના અનવસરમાં કથા કે ભગવત્ગુણગાન દ્વારા પ્રભુના નામ, ગુણો, લીલા, કર્મો કે ભગવદીયોના ચરિત્રોનું અવગાહન. હવે જો સેવા અને કથા બન્નેમાં પ્રવૃત્ત થવું અને રહેવું શક્ય ન હોય તો અનુકલ્પ તરીકે ફક્ત સેવા કે ફક્ત કથાપક્ષરૂપ સાધના પણ અપનાવી શકાય છે. વળી જેનાથી આ કથાત્મિકા ભક્તિપણ ન નભતી હોય તેનામાટે વિવેકધૈર્યાશ્રય અને કૃષ્ણાશ્રય માં નિરૂપિત અને માહાત્મ્યજ્ઞાન તથા નિઃસાધનતાના ભાવપર અવલમ્બિત શરણાગતિ-આશ્રય-પ્રપત્તિમાર્ગનો ઉપાય પણ અપનાવી શકે છે. મૂલમાં ઉપદિષ્ટસાધનાનું મુખ્ય પ્રયોજન છે કે પુષ્ટિજીવ યથા યોગ્યતા કે અધિકારીતા, કોઈ પણ પ્રકારે શરણાગત સમર્પિત અને કૃષ્ણાભજનાભિમુખ - હો. તેના જીવનના સઘળા ક્રિયાકલાપો **"કૃષ્ણ એવ તાત્પર્યમ્"** માં પર્યવસિત થનારા હોય અને અન્તે તેનું પૂર્ણ માનસ જ 'કૃષ્ણૈકમાનસ' થઈ જાય. હવે જ્યારે એમ કહેવાયું છે : **"ભગવત્રૂપ સેવાર્થં તત્સૃષ્ટિનાન્યથા ભવેત્"** ત્યારે કૃષ્ણસેવા પુષ્ટિમાર્ગીય જીવોનું સનાતન કર્તવ્ય હોવાથી તે કાય-વાક્-મનસા અભિલષિત છે અને તે જ કૃષ્ણની માનસીસેવાના રૂપમાં પરિણમી શકે છે. અર્થાત્ કાયાથી-સેવાના ક્રિયાત્મક સ્વરૂપનો નિભાવ, મનથી-સેવાના ભાવાત્મક સ્વરૂપનો નિર્વાહ અને વાણી અને અન્તઃકરણથી-સેવાના લીલાત્મક સ્વરૂપનો નિર્વાહ જ સેવાનું પૂર્ણસ્વરૂપ છે. ટૂંકમાં સ્વયં પોતાના તન અને ધન ને જોડીને પોતાના ગૃહમાં જ કરાતી ભગવત્સેવાનું સ્વરૂપ સમજ્યા પછી આ આલેખનો જે વિચાર્ય વિષય છે 'પ્રતિબન્ધ-અશક્તિના સન્દર્ભમાં' તે જોશું.

ભગવત્સેવામાં અશક્તિરૂપી પ્રતિબન્ધનો વિચાર અને ઉપાય :

શ્રીમહાપ્રભુજી સર્વનિર્ણયમાં લખે છે **"ગૃહસ્થાનામપિ પૂજાયાં પઞ્ચદોષ સમ્ભવે પર્યટનમેવ શ્રેષ્ઠં"** આગળ કારિકામાં આપશ્રી કહે છે :

વિક્ષેપાદથવા શક્ત્યા પ્રતિબન્ધાદપિ ક્વચિત્।।
અત્યાગ્રહપ્રવેશે વા પરપીડાદિ સમ્ભવે।।
તીર્થપર્યટનં શ્રેષ્ઠં સર્વેષાં વર્ષિનાં તથા।।૨૪૭।।

ગૃહસ્થને સેવામાં પાંચ દોષની સમ્ભાવના છે અર્થાત્ જે સેવામાં પ્રતિબન્ધરૂપે ગણાવ્યા છે. જેમાં :

(૧) **વિક્ષેપ** જે આંન્તરિક છે.
(૨) **અશક્તિ** રૂપી પ્રતિબન્ધને શારીરિક ગણનામાં લીધો છે.
(૩) **પ્રતિબન્ધ** જે પારિવારિક છે.
(૪) **અત્યાગ્રહ** ને આહંકારિક મનાય છે.
(૫) **પરપીડા** એટલે મામકારિક પ્રતિબન્ધ

અશક્તિના સ્વરૂપલક્ષણમાં શ્રીઆચાર્યચરણ કારિકાના પ્રકાશમાં કહી રહ્યા છે **"જરયા વ્યાધિભિં વા યદા શક્ત્યભાવઃ...તત્ર પૂજા ત્યક્તવ્યા"** અશક્તિ એટલે કોઈ પણ જાતની માંદગી કે અતિવાર્ધક્યને કારણે થતો પ્રતિબન્ધ જેનાથી ભજન દુષ્કર થઈ જાય છે. મૂલ ગ્રન્થ-કારિકા અને ટીકાના સન્દર્ભમાં અશક્તિનું જે સ્વરૂપ સમજાય છે તે શારીરિક છે. (૧) અઙ્ગં ગલિતં પલિતં મુંડં... જેવું અતિવાર્ધક્યનું છે. (૨)અથવા કોઈ અસાધ્ય રોગાદિનું છે જેમાં ભગવત્સેવાનું ક્રિયાત્મક સ્વરૂપ અને કૃશ કે રોગીદેહને કારણે ઐન્દ્રિક અશક્તિ થકી માનસ પણ અસ્વસ્થ થઈ જતાં સેવાના ભાવાત્મક સ્વરૂપના પણ નિર્વાહની અસમ્ભાવનામાં **"તત્ર પૂજા ત્યક્તવ્યા"** ની આજ્ઞા છે. આ આજ્ઞા કોઈ આત્યન્તિક શારીરિક અશક્ત અવસ્થાને દ્યોતિત કરે છે કે જેમાં પ્રભુનું સુખ સચવાવું મુશ્કેલ નહીં બલ્કે અસમ્ભવ હોય. આથી અશક્તિના સ્વરૂપનો વિવેક કરવો વ્યક્તિએ અત્યન્ત આવશ્યક છે. મારી સમજ પ્રમાણે મૂલગ્રન્થ અને ટીકાની આનાથી વિસ્તૃત વિવેચનાની અનુપલબ્ધિમાં વર્તમાન સ્થિતિમાં અશક્તિનું શું સ્વરૂપ હોઈ શકે? તે પ્રતિબન્ધાત્મક છે કે નહીં તેનો નિર્ણય શક્ય અને શ્રેષ્ઠ નિવારણના ઉપાયોનો વિચાર જેમાં ભગવત્સેવાનું સ્વરૂપ ખંડિત ન થતું હોય તે જરૂરી છે.

વર્તમાન સ્થિતિમાં અશક્તિનો વિચાર :

અશક્તિની બે અવસ્થા (સ્ટેટસ્) વિચારી શકાય છે. (૧) તત્કાલીન કે અલ્પકાલિન (૨)દીર્ઘકાલીન.

(૧) **તત્કાલીન :** જે રોગ કે વ્યાધિ ના આધુનિક વિજ્ઞાન અને તબીબી શાસ્ત્રની મદદથી પૂર્ણ ઉપચાર કે સાજા થવાની સમ્ભાવના છે તે તત્કાલીન અશક્તિ હોઈ શકે છે અને જે કોઈ પ્રતિબન્ધ આવે છે તે તત્પૂરતા સમયનો છે. આ પ્રકારના પ્રતિબન્ધોમાં પરિવારના અન્યજનો સેવાનો થોડો

સૂક્ષ્મ ક્રમ કરીને (નેગ-ભોગ-શૃંગારના સન્દર્ભમાં) પણ સેવા નિભાવી શકે છે. સેવાના નિભાવનો જો નિર્ધાર પારિવારિકતયા મક્કમ હોય તો દર્દીની પરિચર્યામાટે નોકર, નર્સ કે આધુનિક હોસ્પીટલનો સહારો લઈ શકાય છે. પરન્તુ આવા તત્કાલિન સાધારણ પ્રતિબન્ધરૂપ સમયમાં સેવાકર્તાએ જે ત્યારે રુગ્ણ છે તેને પ્રસાદ,અપરસ કે વર્ણાશ્રમધર્મના અત્યાગ્રહને છોડી દેવા જોઈએ, એ ભાવ, વિચાર કે દ્રઢતાથી કે પરિવારજનોનો મારી પાછળ જરૂર કરતાં વધુ સમય ન બગડતા સેવા નભી શકે. કારણકે કુટુમ્બમાં કોઈ એકની માંદગીથી અંન્ય પરિવારજનોપર દર્દીના ઉપચાર, સમ્ભાળ તથા ભગવત્સેવામાં પણ અધિક જવાબદારી આવી જતી હોય છે. ભગવત્સેવા જ પુષ્ટિજીવોનું મુખ્યલક્ષ્ય હોવાથી જે કોઈ ઉપચાર ચાહે એલોપથી, આયુર્વેદિક, હોમીયોપથી, નેચરોપથી, મેગ્નેટીક થેરાપી, એક્યુપ્રેશર વગેરે જે પણ કોઈ ઉપલબ્ધ પથી કે થેરાપી આપણને રોગાદિથી સ્વસ્થ કરી શકતા હોય અને આપણને વૃદ્ધાવસ્થામાં પણ ફિટ રાખી શકતા હોય તે અવશ્ય કરવા જોઈએ- આપણી ભક્તિ કે સેવાના અઙ્ગતયા અને શાણાજનને તો "પ્રીવેન્ટીવ ઈઝ્ ધ બેસ્ટ મેડીસીન્" એ ન્યાયે પહેલેથી જ રામદેવજીને સાથી લેવા જોઈએ અર્થાત્ યોગાસન, પ્રાણાયામ, કસરત, આહારનિયમન વગેરેને પોતાના જીવનમાં આવશ્યક અઙ્ગભૂત બનાવી દેતાં તે ઉક્ત અશક્તિ કે સાધારણ પ્રતિબન્ધના નિવારણનો બુદ્ધિપૂર્વકનો અભિગમ થઈ શકે છે અને ભક્તિસાધના કે કૃષ્ણભક્તના જીવનનો વિધેયાત્મક દ્રષ્ટિકોણ. મૂલ કહેવાની વાત એ છે કે આત્મધર્મમૂલક ભક્તિ કે સેવા હોવા છતાં દેહધર્મ તેનો ઉપકારક અઙ્ગ હોવાથી તેના માટે બેદરકાર નહીં રહી શકાય. સર્જરી, ફ્રેક્ચર, કમળો વગેરે પ્રકારના વ્યાધિ આ પ્રકારમાં ગણી શકાય.

(૨) દીર્ઘકાલિન અશક્તિ : આત્યન્તિક વાર્ધક્ય કે જેમાં ફક્ત શ્વાસોને આધારે જીવન હોય, સર્વઈન્દ્રિયો નિષ્ક્રિય થઈ ગઈ હોય, ચેતાતન્ત્ર પણ મન્દ થઈ ગયું હોય આ પરિસ્થિતિમાં તો 'તત્ર પૂજા ત્યક્તવ્યા"ની આજ્ઞા શીરોધાર્ય છે. જ્યાં સુધી વ્યાધિનો પ્રશ્ન છે તેમાં જ્યારે ડૉક્ટર કે ચિકિત્સક જ નિરાશ થઈને આશા છોડી દે અને બધા ઉપાયો પછી પણ રોગ સારો ન થાય તેવા અસાધ્ય કે મહારોગની સ્થિતિમાં દીર્ઘકાલિન કે દેહપાત સુધીની અશક્તિની સમ્ભાવના હોવાથી 'સેવાત્યક્તવ્યા'નો જ પર્યાય બાકી રહે છે. કારણકે આ પ્રકારની સ્થિતિમાં સેવાનું સ્વરૂપ નિભવું સર્વથા અશક્ય હોય છે. પ્રભુનો

સ્વભાવ કોમલાતીત કોમલ હોવાથી ભગવદ્ અસુખ થાય છે. છતાં આશ્રય/શરણાગતિની ભાવના દ્રઢ કરીને શક્ય હોય ત્યાં સુધી પ્રભુનું માનસિક રીતે ભાવાત્મક કે લીલાત્મક અનુસન્ધાન કે ભગવદ્ ગુણગાનરૂપી કીર્તન કરવું ઈચ્છનીય/અપેક્ષિત છે. વધ્યા કેન્સર, અર્થાઈટીસનો લકવો, પાર્કિન્સન્સ ડીસીઝ, અલ્ઝાઈમર્ (યાદશક્તિ ગુમાવી દેવી) જેવા રોગો કહી શકાય.

આ સિવાય અશક્તિના પ્રકારમાં 'માનસિક' અને પારિવારિક અશક્તિને ગણવી જોઈએ. આધુનિક ફાસ્ટ લાઈફમાં જ્યારે વ્યક્તિ કે સાધક પોતાના વ્યક્તિગત, પારિવારિક, વ્યાવસાયિક, સામાજીક કે સાધનામય જીવનમાં સપ્રમાણ બેલેન્સ નથી કરી શકતો ત્યારે તેની પર્સનાલાટીમાં સ્પ્લીટ્ થાય છે અને સમ્ભાવ્ય આત્મસ્વરૂપવિભાજનથી માનસિક ડિપ્રેશનમાં જવાની સમ્ભાવના રહેલી છે આ અવસ્થામાં પણ સેવાનું ક્રિયાત્મક, ભાવાત્મક કે લીલાત્મક સ્વરૂપ નિભાવવું કઠિન હોય છે કારણકે તે નિરાશાના નિષેધાત્મક વમળોથી ઘેરાયેલો હોય છે. વધ્યપિ આજના સાઈકિયાટ્રિસ્ટ કે સાઈકોલોજીસ્ટ પાસે આનો ઈલાજ હોવાથી આને પણ તત્કાલિન અશક્તિરૂપ પ્રતિબન્ધ સમજીને બધાજ ઉપાયોથી નિવૃત્ત કરીને ફરીથી સેવામાં પ્રવૃત્ત થઈ શકાય છે. પારિવારિક અશક્તિમાં કોઈ પરિવારજનને જ્યારે દીર્ઘકાલિન કે અસાધ્ય બિમારી આવી પડે છે ત્યારે તેની પરિચર્યા, દેખભાળ અને તેની સ્થિતિ જોઈ ઉદ્વેગ થકી પણ સેવામાં પ્રતિબન્ધ આવી શકે છે. અથવા પરિવારના મુખ્ય કમાનાર પુરુષ વ્યક્તિના અવસાનથી સ્ત્રીપર બેવડી જવાબદારી આવી પડે છે. આજીવિકા તથા પરિવારને સમ્ભાળીને ભગવત્સેવાના નિર્વાહની. જે કાંઈ થઈ રહ્યું છે તે લીલાના જ્ઞાનની સાથે સ્વીકારવામાં જ સાચો વિવેક રહેલો છે. તેથી આવી વિષમ પરિસ્થિતિમાં પણ શ્રીમહાપ્રભુજીના શરણ થકી જે પણ કોઈ યથાશક્ત્યા, યથોપલબ્ધ ક્રમ/પ્રકાર નભાવવાનો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ. અથવા તે જો શક્ય ન હોય તો ગુરુવાણીને શરણે જઈ ભગવદ્લીલાના અવગાહનથી અર્થાત્ ગુણગાન પક્ષે કે એની પણ અસમ્ભાવનામાં શરણાગતિ-આશ્રયમાર્ગે પુષ્ટિભક્તિસાધનામાં સ્થિત રહી ભવિષ્યમાં ભગવત્કૃપાથી સાનુકૂળતામાં વધુ સારીરીતે સેવામાં પ્રવૃત્ત થઈ શકાય છે.

વાર્તા-સાહિત્યમાં મળતા અશક્તિરૂપ પ્રતિબન્ધના ઉદાહરણો :

૮૪-વૈષ્ણવોની વાર્તા અન્તર્ગત શેઠ શ્રીપુરુષોત્તમદાસની બેટી

રઠમણીજી (૬/૫) ખૂબ જ સેવાપરાયણ હતા. એમનો ઉત્કટ સેવાભાવ અને ઠાકોરજીને છોડીને અન્ય કોઈ કામના ન રહેતાં સ્વયમ્ શ્રીગુસાંઈજીએ તેમના માટે કહ્યું કે "રઠમણી ઠાકોરજી તારા અજ્ઞાણી કદી પણ નહીં થાય." આવા રઠમણીનો દેહ અશક્ત થયો, સેવા યોગ્ય ન રહ્યો. ત્યારે તેમણે વિચાર્યું જે દેહથી મારા સ્વામીની સેવા ન થઈ શકે તે દેહ મારે શા કામના? દેહ છૂટે તો સારું. અને તેમનો દેહ છૂટી ગયો. અશક્તિને કારણે સેવા નિભાવવી અશક્ય લાગતાં દેહની પણ કામના છોડી દીધી **"ભગવદ્ રુચ સેવાર્થં તત્સૃષ્ટિઃ નાન્યથા ભવેત્".**

નારાયણદાસ બ્રહ્મચારી (મહાવનના વાર્તા ૧૪/૫) નો પણ અન્તે દેહ થાક્યો ત્યારે ઠાકોરજીએ કાંઈક માંગવા કહ્યું. તેમણે માગ્યું "આપશ્રી શ્રીગુસાંઈજીને ઘરે પધારી સેવા કરાવજો" આ રીતે નારાયણદાસે શ્રીઠાકોરજીના સુખનો વિચાર કર્યો. પછી ઠાકોરજીનું સુખ અને સેવા સચવાતાં આશ્વસ્ત થઈ ગયા અને ત્રીજા દિવસે દેહ છોડી દીધો.

વિષ્ણુદાસ છિપાએ (આગ્રાના) પણ પછી ગોકુલ આવી શ્રીગુસાંઈજીને પોતાની વૃદ્ધાવસ્થાની અને અશક્તિની બધી વાત કહી સંભળાવી અને પોતાને શરણે લઈ કયાંક ટહેલમાં રાખી દેવા કહ્યું. શ્રીગુસાંઈજીએ કહ્યું "તમે તો શ્રીઆચાર્યજીના કૃપાપાત્ર સેવક છો તેથી તમે કહો ત્યાં તમને રાખું". વિષ્ણુદાસે વિચાર્યું કે હવે હું વૃદ્ધ થયો હોવાથી બીજી કોઈ સેવાનો નિભાવ જીવન પર્યન્ત થશે નહીં તેથી શ્રીગુસાંઈજીની ડેલી પર રહું. (ગુરુશરણનો દ્રઢભાવ)

નરહરદાસે (બંગાલના ગોડીયા બ્રાહ્મણ -વાર્તા-૭૧) શ્રીમદનમોહનજીની સેવા ઘણા વર્ષો સુધી કરી . પછી વૃદ્ધ થયા તેમનું શરીર થાક્યું. તેથી સેવા થઈ શકતી નહોતી. તેથી મદનમોહનજીને પધરાવીને ગોકુલ આવ્યા અને શ્રીગુસાંઈજીને દંડવત્ કરી આપશ્રીને ઘરે પધરાવ્યા. પછી વ્રજમાં જન્મ તાય તેની ભાવના સાથે માનસીસેવાનો નિર્વાહ કરતાં હતા.

સંતદાસ ચોપડા ક્ષત્રી (આગ્રાના-વાર્તા-૭૬)ની વાર્તામાં આવે છે કે તેમનો દેહ બહુ અશક્ત થઈ ગયો ત્યારે વૈષ્ણવો તે સમયે રેણુકાતીર્થ કે મથુરા

ક્ષેત્રમાં લઈ જવાનું કહે છે ત્યારે સન્તદાસે કહ્યું "રેણુકા, મથુરા મને શું કૃતાર્થ કરશે"? મેં તો જન્મથી જ આચાર્યશ્રીનો આશ્રય કર્યો છે. હવે આ સમયે તીર્થને આશ્રયે જઈને શું કરું? ત્યાં શું મારી રાખ ઉડાડું? સંતદાસજીએ અશક્તિમાં પણ આચાર્યશ્રીના દ્રઢ આશ્રયથી લીલામાં પ્રવેશ કર્યો. ધ્યાતવ્ય છે કે દેહની કોઈ વિશાત ન રાખી આશ્રયજ સર્વોપરી હોવાથી અશક્તાવસ્થામાં પ્રભુ અને શ્રીઆચાર્ય ના ચરણકમલોના આશ્રયરૂપી ઉપાયથી પોતાની ભક્તિ અને ભાવ ટકાવી રાખ્યો.

ઉપસંહાર :

જ્યારે વ્યક્તિ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગનો પથિક બને છે ત્યારે તે જ જીવનપ્રણાલી સુખપ્રદ થાય છે જેમાં કૃષ્ણસેવામાં સદૈવ આકર્ષણ રહે અને તત્પરતા વધતી જાય તથા જીવન પર્યન્ત ટકી રહે. અને જેમ જીજીવિષા હોય ત્યાં સુધી મનુષ્ય જીવનને સઘળા દુઃખો સામે ટકાવવા કે નિભાવવાનો સંઘર્ષ કરતો હોય છે. તે રીતે પુષ્ટિભક્તિ સાધના અને ભગવત્સેવા આજીવન, કેવલ જ કર્તવ્ય હોવાથી શારીરિક, માનસિક કે પારિવારિક અશક્તિ/દુઃખોરૂપ જે પણ કોઈ પ્રતિબન્ધ આવે છે અને ભગવત્સેવામાં બાધક થનારો લાગતો હોય ત્યારે અશક્તિના /ભૌતિકદુઃખના સ્વરૂપનો વિવેક કરી અર્થાત્ આજ્ઞા કહ્યા મુજબ આવી પડેલ રોગાદિ કાયિક દુઃખો અલ્પકાલીન છે કે દીર્ઘકાલીન અથવા વૃદ્ધાવસ્થામાં સેવા કરવા પૂરતી ફીટનેસ્ પ્રાપ્ત થઈ શકતી હોય તો તે પ્રકારના ઉપલબ્ધ સઘળા ઉપાયો ધૈર્યને ધારણ કરી ભગવત્સેવાના નિર્વાહમાટે કરવા જોઈએ. **"ત્રિદુઃખ સહનમામૃતે સર્વતઃ સદા"** (વિ.ધૈ.આ) કારણકે મૂલમાં તો કાયા સમ્બન્ધી દુઃખો કે અશક્તિ હોવાથી તે ભૌતિકદુઃખ છે એમ આશ્વસ્ત રહેવું અને વિધેયાત્મક અભિગમથી તેના કારણોનું નિરાકરણ કરવું, પોતાની ભક્તિસાધનાના અઙ્ગતયા. **"પ્રતિકારો યદચ્છાતો સિદ્ધશ્ચેન્નાગ્રહી ભવેત્"** અર્થાત્ દુઃખ દૂર કરવાના ઉપાય મળી આવે તો દુઃખ ભોગવવાનો આગ્રહ રાખવો નહીં જેથી તે વકરીને પ્રતિબન્ધાત્મક થઈ જાય! કૃષ્ણનું બહિર્ભજન અને સેવા પારિવારિક હોવાથી બીજા અનુકૂલ પરિવારજનો પણ સેવા કરી શકે છે. જે વ્યક્તિ પરન્તુ વૃદ્ધાવસ્થા કે રોગાદિ થી બિમાર છે તે તો સેવાનું ભાવાત્મક અને લીલાત્મકરૂપ આન્તરભજન કરીને પણ ભગવત્ચરણારવિન્દોમાં આશ્રિત રહી શકે છે. જીવનમાં આવતી અનેક વિષમ પરિસ્થિતિ કે આવતા આધિભૌતિક, આધ્યાત્મિક કે આધિદૈવિક કષ્ટો

ઉદ્વેગજનક સ્થિતિ વગેરેથી આપણું મન વિચલિત થઈ જાય છે ત્યારે આવી અશક્ત કે હતોત્સાહિત મનોદશામાં જો મન અને વાણીમાં શરણભાવના સ્થાપિત કરવામાં સફળ થઈ શકીએ તો આશ્રય દૃઢ થઈ શકે છે. "**तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं ममः**" સેવા ન નિભાવાય ત્યારે પણ જેણે આત્મનિવેદન કર્યું હોય તેવા ભગવદીયોના સત્સङ્गદ્વારા આત્મનિવેદન કર્યાનું સ્મરણ સતત રાખ્યા કરવું અત્યન્ત આવશ્યક છે. "निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैः जनैः" "હું કૃષ્ણનો છું - કૃષ્ણનો દાસ છું" અન્યથા આત્મનિવેદનમાં સન્સ્મરણની વિસ્મૃતિથી આસુરાવેશ આવી જવાની સમ્ભાવના પ્રબળ થઈ જાય છે. વળી આત્મનિવેદનના ભાવને ભૂલીને તો સેવા પણ કરણીય નથી રહી જતી અને આત્મનિવેદનનો ભાવ કાયમ રહ્યો તો કદાચ સેવા છૂટી જાય તો પણ ભગવદનુસન્ધાન કાયમ રહે છે એ મહાપ્રભુજીનો દૃઢતરભાવ છે.

અન્તમાં પુષ્ટિભક્તિ સાધનાના માર્ગે ચાલતાં ચાલતાં થાકી જઈએ કે અશક્ત થઈ જઈએ અને સેવા છોડવી પડે તો જેમ થાકેલો માણસ બેસી જાય તેમ ભગવાન્‌ના ચરણોમાં બેસીને ચાલ્યા વગર પણ ધ્યેય અથવા ગન્તવ્ય સુધી પહોંચી શકાય છે. કારણકે ભગવાન્‌ના ચરણ આ શરણ ખુદ પોતાનામાં માર્ગ પણ છે અને ગન્તવ્ય પણ છે. "**एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्...**"

'बुद्धिप्रेरकभगवतस्य' पादपद्मं प्रसीदतु'

चर्चा

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધનાપ્રણાલીમાં પ્રતિબન્ધનો વિચાર
(અશક્તિના સન્દર્ભમાં)

શ્રીહિતેન્દ્ર શાહ

गो. श्या. म. : सेवा अपनी भक्तिको अनुभाव है. सेवा जैसे पती-पत्नी, माता-पिता, मालिक-जानवर, नौकर-मालिक एक-दूसरेकी कर सके हैं. वो सेवाएं सेवा होते भये भी भक्तिरूपा नहीं हैं. सेवाकुं भक्तिरूपा बनानेकेलिये जो बातें आवश्यक हैं उनमेंसुं एक बात माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहसुं करनो. जब वा तरहसुं सेवा करनी है तब इन दोनोंको पोषण करनेवाले ही कुछ अंग शास्त्रने भी बताये हैं. जैसे नवधा भक्ति : "**श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम्, अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्**". वामेंसुं श्रवण-कीर्तन-स्मरण स्वरूप-लीला-सेवा सम्बन्धि महात्म्यज्ञान-वर्धक अंग हैं. और पादसेवन-अर्चन-वन्दनमें दोके बीचमें आयो अर्चन पूजा है. कुछ पूजात्मक उपचार प्रभुके करने चहिये के जासुं अपन कोई आश्रितकी सेवा कर रहे हैं ऐसो लौकिक अहंकार अपनेमें पनप न जाये. अलौकिक भाव प्रभुके प्रति प्रकट होवे वाकेलिये नवधाभक्तिके अङ्गतया अर्चनकुं जोड्यो है. वो अर्चन मर्यादामार्गमें सेवात्मक होवे के न होवे पर क्रियात्मक होवे है. वाकुं अपने यहां सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेहको अङ्ग बनाके कह्यो है के अर्चनमें भी वा बातकी सावधानी रखनी के जामें भगवत्स्वरूपके प्रति अपने स्नेहको अनुभाव प्रकट होवे. अपन प्रभुके प्रति स्नेहको अनुभाव प्रकट करेंगे तो फिर कुछ सम्भावना है के प्रभु अपनो सानुभाव अपने प्रति पकट करेगो. अपन वो प्रकट नहीं करेंगे तो स्वरूपमें भी जड़ता प्रकट रहेगी. अपन अनुभाव प्रकट करेंगे तो वामें अपनो आनन्द प्रकट हो रह्यो है मूर्तिके प्रति तो मूर्ति भी लीलात्मक-स्वरूपात्मक आनन्दानुभाव अपने प्रति प्रकट करेगी. यासुं वहां अर्चन खास कह्यो

है जाकुं श्रीमहाप्रभुजी पूजा तरीके रिफर् कर रहे हैं. वो पूजा तब छोड़ देनी चहिये जब विक्षेप, अशक्ति, परपीडा, अत्याग्रह आदि प्रतिबन्ध आ रहे हैं. अपनकुं स्नेहात्मक अनुभाव प्रकट करने हैं और स्नेहकुं कैंसल् करनेवाले ये सब प्रतिबन्ध हैं. इन प्रतिबन्धनुकुं अपन जितनो कम करेंगे उतनो अंकिताने कह्यो वा तरहसुं अभी हालमें मर नहीं जायेगो पर कथञ्चित् ज़िंदो रहके बादमें स्वस्थ हो पायेगो. ये श्रीमहाप्रभुजीके उद्देश्य हतो. यहां उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें सेवा है. सेवाङ्ग पूजाको विधान है यासुं यहां भी सेवा ही समझनी है.

असित शाह : ''जरया व्याधिभिर् वा शक्त्यभाव'' वाके सन्दर्भमें वार्तामें ऐसी व्याधिके दृष्टान्त मिले हैं के जामें शरीरिक अशक्ति नहीं आवे है पर आत्मग्लानि होवे. वाके कारण अपनकुं लगे के अपनो देह सेवा लायक नहीं है. जैसे पार्वतीके हाथ-पांव सफेद भये तो उनकु सेवामें प्रवृत्त होनेमें ग्लानी भयी. श्रीगुसांईजीने आज्ञा करी के ऐसेमें सेवा छोड़नी नहीं चहिये. यासुं ऐसो ध्वनित होवे है के जो श्रीगोपीनाथजी आज्ञा करे हैं के ''**व्यङ्गाङ्गीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते**'' सेव्यस्वरूप व्यङ्ग होवे पर यदि अपने भावको बाध नहीं होतो होवे तो व्यङ्ग स्वरूपकी भी सेवा कर सके हैं. ऐसे ही अपनेमें भी यदि कोई ऐसो शरीरिक विकार आ गयो होवे पर अपने भावको बाध यदि नहीं होतो होवे तो सेवा कर सके हैं. याके अलावा अन्ध-विकलाङ्गके भी उदाहरण मिले हैं के जिनने सेवा करी है. जैसे गट्टुलालजी अन्ध हते फिर भी सब सेवा करते हते. प्रभु भी ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'' आज्ञा करे हैं. यासुं भक्त यदि कोई साय्कोफिज़िकल् रोगसुं पीड़ित होते भये भी सेवा करे है तो प्रभु वाकी भी सेवा स्वीकारे हैं.

गो. श्या. म. : ''**जरया व्याधिभिर् वा**'' में 'वा' शब्द है वाके समुच्चय, विकल्प और अनादर भी अर्थ होवे है. अनादर अर्थ लेवें तो बताये जाते कल्पनमें आदर नहीं है के स्पेसिफिक् ये ही कल्प. पर या तरहके कोई भी कल्प. ये अर्थमें 'वा' लेवें तो हितेन्द्रने अशक्तिके निरूपणमें जितनी बातें कही है वो सब आ जायेंगी. विकल्पार्थक लेंगे तो जरा अथवा व्याधि ऐसे दो ही कल्प निकलेंगे.

और जैसे साय्कोफिज़िकल् रोगकी बात असितने करी तो

मैं सीहोर गयो हतो वहां एक ८७-८८ वर्षकी वृद्धा चल नहीं पाती हती, बच्चाकी तरह चार पांवसुं चल पाती फिर भी सेवाको सारो क्रम खुद अकेली पहोंचती हती. मोकु बाने पूछी के कृपानाथ! कांई त्रुटि होवे तो आज्ञा करो. मेरी रुह कांप गई. तेरी सेवामें त्रुटि खोजनेकी सामर्थ्य पुरुषोत्तम परमात्माकी नहीं होवगी, मैं कौनसे खेतकी मूली! *''अल्लाह तो सबकी सुनता है जुर्रत है अपनी-अपनी हालीने ज़बांसें उफ् भी न की खैयाम शिकायत कर बैठे''*. वाने मरते दम तक ऐसे ही सेवा करी.

असित शाह : श्रीमहाप्रभुजी ये भी बतावे हैं के गृहस्थके अलावा ब्रह्मचारी आदि भी सेवक-साधन सम्पत्ति होवे तो सेवा कर सके है. तो वा टाईपकी अशक्ति होवे तो भी सेवा छोड़नी नहीं चहिये.

गोपालदास : ''**त्रिदुःखसहनं धैर्यम्**'' कह्यो है. विक्षेपादि प्रतिबन्ध आवें तो सहनम् के सेवा त्यक्तव्यम्? ''पञ्चदोषसम्भवे''में आन्तरिक कुछ ओर भी अर्थ है के त्रिदुःख ऐसो के जो सहन कर पाते हो तब तक तो सहन करके भी सेवा करनी ही. जब सहन नहीं कर पावे, खुदके भाव दूषित होते हों, क्रिया दूषित होती होवे या प्रभुको अपराध होतो होवे तो बात अलग है. पर यदि विक्षेपादिकुं सहन कर पा रह्यो है तो छोटो विक्षेप भयो. और जब दोषात्मक बन रह्यो है, खुदके देहकी या मनकी क्रिया में वा ठाकुरजीमें स्नेहवर्धनकी क्रियामें विघातक हो रह्यो है या ठाकुरजीकुं परिश्रम करा रह्यो है ऐसो लगे है या श्रीमहाप्रभुजीकी मार्गमर्यादाको उल्लंघन हो रह्यो है तो फिर ''त्रिदुःखसहनं धैर्यम्'' की भी कक्षा पार कर दी. ऐसेमें सेवा छोड़े तब तो ठीक बात है. नहींतो तो ''त्रिदुःखसहनं धैर्यम्''कुं पकड़के सेवा निभानी ही चहिये.

गो. श्या. म. : भल्लाजीकी वार्तामें ये बात ही तो समझायी है! वो तो कितने धैर्यसुं सेवा कर रहे हते. पर उनके धैर्यसुं ठाकुरजीकुं परिश्रम होतो हतो करके श्रीमहाप्रभुजीने उनकुं सेवा छोड़नेकी कही. भल्लाजीको धैर्य वो नहीं हतो के जो श्रीमहाप्रभुजी ''त्रिदुःखसहनं धैर्यम्''में आज्ञा कर रहे हैं. और तू कह रह्यो है वो बात सच है के यदि कोईसुं सहन होतो होवे तो सहन करके सेवा करते रहनो चहिये. जैसे मैने डोकरीकी बात बताई, जैसे किशोरीबाईने सेवा करी हती वामें कोई

समस्या नहीं है.

गो. शरद् : ''विक्षेपादध्वाशक्त्या'' या वचनकुं वाको भार सेवात्यागमें है ऐसे नहीं सोचके गोपालभाई जो धैर्यकी बात कह रहे हैं वाकुं बीचमें रखके सोचें तो अधिक उपयुक्त है.

गो. श्या. म. : बिल्कुल ठीक बात है.

गोपालदास : विवेक-धैर्य सेवाके अङ्गभूत और आश्रयके अङ्गभूत अलग-अलग रहे हैं. आश्रयके अङ्गभूत विवेक-धैर्य 'विवेकधैर्याश्रय'में बताये और सेवाके अङ्गभूततया 'नवरत्न' आयो. तो सेवामें जब प्रतिबन्ध आवें तब सेवाके पण्डितसुं पूछ लेनो चहिये, खुदसुं पूछ लेनो चहिये, श्रीमहाप्रभुजीसुं पूछ लेनो चहिये.

गो. श्या. म. : *''पहले तो अपनी दिलकी रज़ा जान जाईये, फिर जो निगाहे यार कहे मान जाईये''.*

गोपालदास : ''त्रिदुःखसहनं धैर्यम्''कुं भूलके सेवा करतो रहेगो वो भी नहीं चलेगो और वाकुं याद करके छोड़ देगो वो भी नहीं चलेगो.

हितेन्द्र शाह : मैं पूरे पेपरसुं ये ही कहनो चाह रह्यो हूं के जितने हो सके उतने उपायनसुं कष्ट सहन करके सेवाकुं निभाते रहनो चहिये.

गो. श्या. म. : असितने जो टच्स्टोन् बतायो के ''व्याङ्गाङ्गी अपि सेवेत यदि भावो न बाधते''. वो बहोत बड़ो टच्स्टोन् है. सेवाके जो भी अङ्ग हैं यदि उनमेंसुं कोई अङ्ग अपनेमें टूट गयो है पर भाव अपनो बाधित नहीं हो रह्यो है तो सेवा करी जा सके है. और अपनो खुदको भाव बाधित होतो होवे तो सेवा निरर्थक हो जावे है.

गोपालदास : यामें शब्द आ रह्यो है ''पञ्चदोषसम्भवे''. अपनो धैर्य प्रभुसेवा बखत दोषरूप हो रह्यो है तो धैर्य भी छोड़नो चहिये. यासुं 'दोष' शब्दपे भार है ऐसो लगे है.

गो. श्या. म. : धैर्य वा बखत शायद अहंकारको रूप ले रह्यो है. आश्रयको अङ्ग बनके सेवारूपी मार्गको अङ्ग नहीं बन पायेगो. यासुं वा बखत विवेक रखनो चहिये. यासुं सेवामार्गको विवेक पाछो अलग हो जायेगो, ऐसो लगे है.

गो. श्या. म. : लगे है नहीं, ऐसो ही है. बास इतनीसी है *''यह प्रेमको पन्थ कराल महा तलवारकी धारपे धावनो है, अति छीन मृणालके तारहु ते तिहिं ऊपर पांव दै धावनो है''*. य बात तो बड़ी सूक्ष्म है. वो अति

छीन भी है और कराल भी है. वो ही वाकी मिठास भी है.

गो. शरद् : हितेन्द्रभाईने पेपरमें यद्यपि लिख्यो नहीं है पर जा तरहसुं आधुनिक समयमें सेवाके विकृत प्रकार हवेली-मन्दिरनमें ट्रस्टी और महाराजन् के द्वारा चलाये जा हे हैं उनकी सैद्धान्तिक स्थितिको विचार करें तो श्रीमहाप्रभुजीकी दृष्टिमें सबसुं पहले सेवाको त्याग इन ट्रस्टीनकुं और गोस्वामीनकुं करनो चहिये. जो भक्तिभाववाले लोग अपने घरमें ठाकुरजीकुं पधराके सेवा कर रहे हैं वो तो प्रतिबन्धनके पहाड़ सामने खड़े हो जायेंगे तब भी सेवाकुं नहीं छोड़ेंगे. वो सच्चे भक्तिमार्गी हैं. और जो लोग आरतीकी खबर है तो 'पहोंचो', शृंगारकी खबर है तो 'पहोंचो' यों पहोंचो-पहोंचो कर रहे हैं उनकुं सबसुं पहले सेवा छोड़नी चहिये. जब स्वयं अशक्त हो सेवा करनेमें तो जो आदमी अपने घरमें ठाकुरजीकुं पधराके उनकी प्रेमसुं सेवा करनो चाहे वाकुं क्यों अपने ठाकुरजी नहीं पधरा दो हो! ऐसेनकी सेवा सचमुचमें या आज्ञासुं छुड़वा देनी चहिये के जासुं कमसुं कम ऐसी भाड़ूती सेवाके त्राससुं ठाकुरजी तो बच जायें! या तो कोई सच्चे सेवाकर्ताकुं ठाकुरजी पधरा दो ...

गो. श्या. म. : या तुमही पहोंचो.

भक्तिकी विभिन्न अवस्थान्में आते प्रतिबन्ध अरु प्रतिबन्धनिवृत्तिके उपाय

धर्मेन्द्रसिंह झाला

यन्मायया रुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन् सांसारिके पथि चरन् तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणित लोकं युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥
(भाग.पुरा.३।३१।१५)

दुरन्तं दुःखाब्धिं हसितसुधया शोषयति यो यदास्येन्दुर्गोपीनयननलिनानन्दकरणम् ।
अनङ्गः साङ्गत्वं व्रजति मम तस्मिन् मुरिपौ रतिः प्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥
(परिवृढाष्टक.८)

१.भक्तिको स्वरूप :

'भक्ति'शब्द 'महात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढ स्नेह' में रूढ है. योगविचारसूं " 'भज्'सेवायाम् " (पाणि.धा.पा.१०२३) धातुको भावमें 'क्तिन्'प्रत्यय लगायवेसूं 'भक्ति'शब्द बने है. प्रेमरूपा मानसी सेवा यह योगरूढसूं फलितार्थ है. श्रवणादिनवधामें भक्ति पारिभाषिक है. तृतीयस्कन्धमें कहे अनुसार अनन्यमनवारे पुरुषके इन्द्रियन्की स्वाभाविकी सत्वोपाधि भगवानमें वृत्ति=निष्ठा होनी भक्ति को स्वरूपलक्षण है. पञ्चपर्वात्मअविद्याकोशजरण कार्यलक्षण है. एकादशस्कन्धके द्वादशाध्यायमें "**केवलेन हि भावेन**" या श्लोकमें या भक्तिको परामर्श कीयो गयो है.

श्रीमदाचार्यचरणकों तो भगवदाज्ञासूं एकादशस्कन्धमें भगवदुक्त जो सुगोप्य सत्सङ्गलभ्य भाव है वह भक्तितया अभिप्रेत है. यासूं ही सिद्धान्तमुक्तावलीमें "**चेतस्तत्प्रवणं सेवा**" कह्यो है. वाके विवरणमें प्रभुचरणन्नें द्वादशाध्यायोक्त "**ता नाविदन्**" श्लोकको उद्धरण दियो है. (भ.व.१.श्रीपुरु.टि)

भागवत निर्गुणभक्तियोग' कहे है :

सर्वगुहाशय ऐसे भगवान्में प्रतिबन्धरहित अविच्छिन्न जो मनकी

गतिः होय जैसे पर्वतादिनकू हु भेदिके गङ्गाको जल समुद्रकी ओर अविरत बहे है वैसे लौकिकवैदिकप्रतिबन्धनुकुं दूरी करीके भगवान्में मनकी गतिः बहे यह निर्गुणभक्तियोग को लक्षण=ज्ञापक है. यहां मन तो उपलक्षण है जैसे गोपीजनन्की कायिक गतिः हु भक्ति है. आत्यन्तिकभक्तिको लक्षण कह रहे है अहैतुकी, पुरुषोत्तममें न कि पुरुषन्में या अवतारन्में भक्ति होय वा भक्तिको आत्यन्ति कही जाय है. कालसुं या कर्मसुं जहां सेवामें व्यवधान न होय, न तो निद्राभोजनादिसुं क्यो वह तो सेवाहेतुरूप है. वह भक्ति ही आत्यन्तिक है जो स्वतः रसभावरूपा होइ के अन्यफलकी प्राप्ति न करावे. मत्सेवनम् कहिके सेवा ही आनन्दरूपा बने है यह समासद्वारा जनायो. क्यो जो करिवेवारे जन=सेवक है. या सेवाकी भगवान के समान फलसाधकतः कहि जो त्रिगुणताको उल्लंघन करिके भगवत्व के योग्य होवे है.(सुबो.३।९।११-१२)

भक्ति मूलमें तो आत्मरति :

भगवान्ने ब्रह्माजीकों कह्यो है :

"अहं आत्मात्मना धातः प्रेष्ठसन् प्रेयसामपि,
अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादियत् कृते प्रियः"

(भाग.पुरा.३।९।३४).

सुबोधिनी : 'सर्व आत्मान्की हु मैं आत्मा हुं यासूं प्रीतिको विषय होयवेसुं मोमें रति करो... में तो सर्वदा प्रिय ही हुं परन्तु स्वभावके कारण मेरो ग्रहण नहीं हो रह्यो है करके अप्रिय हुं ऐसो लगे है. जैसे कोई स्वयम्पें नाराज होय. वाको निवृत्त करवेके काज रति करो ऐसे कह्यो है मूलमें तो यहां नित्यप्रीतिकों उजागर करवे की कही है.

प्रह्लादजीनेहु कह्यो है' "हे असुरात्मजो अच्युतकों स्नेह करिवेमें बहोत प्रयतन नहीं करनो पडे है क्यो जो वे तो सर्वके आत्मा हैं अरु यहां सर्वतः सिद्ध हु है यासूं सर्वदा साथमें ही रहे है."

पुष्टिभक्तिकी प्रकीया समुझाते भये श्रीपुरुषोत्तमजी लिखे हैं :

"भक्ति को कारण तो अनुग्रहनामक भगवद्धर्मविशेष हि है यह बात भक्तिहेतुनिर्णयमें कही है. यह पुष्टिभक्ति क्वचित् सहसा अभिव्यक्त होवे है क्वचित् सत्सङ्गश्रवणादिद्वारा. वामें जो

शुद्धपुष्टिमें अङ्गीकृत है उनमें सहसा हि अभिव्यक्यत होवे है जैसे गोकुलस्थभक्तन्में. मिश्रपुष्टिमें जिनको अङ्गीकार है उनमें तो साधनद्वारा अभिव्यक्त होवे है उनमें प्रतिबन्ध अरु वाकी निवृत्ति: देखि जा सके है''.

श्रीलालूभट्टजी कहे हैं ''पुष्टिविशेष तो केवल भगवत्स्वरूप जाको फल है ऐसी भक्तिकों सिद्ध करे है यासूं पुष्टिविशेषजनित भक्ति: 'पुष्टिभक्ति:' कही जाय है... पुष्टिभक्तिको लक्षण तो ''**भगवत्स्वरूपा-तिरिक्तफलाकाक्षां रहितत्वे सति भगवत्स्वरूपात्मक फलाकांक्षावत्वम्**'' (पु.भक्ति.वि.).

२.भक्तिकी विभिन्न अवस्थायें :

जैसे एक बीजकी वृक्षके रूपमें वृद्धि एक सतत चलती प्रक्रिया है तोहु वामें अङ्कुरण कन्दलन शाखावृद्धि आदि विभिन्न अवस्थायें देखि जा शके है. वैसे भावरूपा भक्तिकी वृद्धिमें हु मुख्यतया १.साधनावस्था=अदृढबीजभाव अरु २.सिद्धावस्था=दृढबीजभाव ये अवस्थायें है. वामें **१.दृढबीजभावमें** क.रुचि ख.प्रेम घ.आसक्ति अवस्थायें बताई है. अरु **२.अदृढबीजभावमें** च.व्यसनावस्था छ.व्यसनोत्तर सर्वात्मभाव की अवस्था बताई गई है.

श्रीकल्याणरायजी : स्वविषयमें स्वत: प्रवृत्ति करायवेवारो भाव प्रेमशब्दसूं कह्यो जाय है. भगवत्सेवा या श्रवणादिसुं चित्तासङ्गावस्थावत् प्रेम पनपें है. प्रेम भये पाछे स्वविषयमें विविधमनोरथजनक जो भाव होय है वाको आसक्ति कही जाय है. जो सङ्कल्पावस्थावत् होवे है. वा पाछे जब स्वविषयके बिना जा भावके कारण रह्यो न जा शके वा भावकों व्यसन कह्यो जाय है. प्रभुमें व्यसन भये ,पाछे प्रत्येक सर्व इन्द्रियन्की हु प्रभुमें अहमहमीकया वृत्ति होनी 'सर्वात्मभाव' कह्यो जाय है.

श्रीगोपेश्वरजी :

स प्रेम य: संविदधाति भाव: स्वतप्रवृत्तिं विषये स्वकीये।
यश्चाभिलाषान् जनयेद् अनेकान् भाव: स आसक्तिरिति प्रसिद्ध:।।

स्थातुमेव न शक्नोति विषयव्यतिरेकत:।
येन भावेन तं भावान् आहु: व्यसनसंज्ञकम्।।

स्नेहके कारण भगवदितर विषयन्में रागविनाश होय है. आसक्तिके कारण भगवदनुपयोगि गृहमें अरुचि पनपें है अरु गृहस्थितन्की बाधकता अरु अनात्मता लगे है. कृष्णमें व्यसन होई तबही भक्तिमार्गीय जीव कृतार्थ होय है अन्यथा नहिं (भ.व.४-५).

श्रीहरिरायजी : ने या वर्णनको व्यतिरेकमुखसूं दिये जाये अवस्थान्के लक्षण कहे है. सेवात्मिका भक्तिकी दो अवस्था बताई है १.साधनावस्था=तनुवित्तजासेवा २.फलावस्था=मानसीसेवा.

३.प्रतिबन्धस्वरूप :

श्रीआचार्यजी भाष्यमें समुझावे है :

''ईश्वरेच्छासुं चिदंश जीवके भगवद्धर्मन्को तिरोभाव होवे है. जीवमें १.ऐश्वर्यके तिरोभावसूं दीनत्व पराधीनत्व आवे है. २.वीर्यके तिरोभावसूं सर्वदु:खसहन करनो पडे है. ३.यशके तिरोभावसूं सर्वहीनता आवे है. ४.श्रीके तिरोभावसूं जन्मादिसर्वआपदान्को भागी बने है. ५.ज्ञानके तिरोभावसूं देहादिमें अहंबुद्धि पनपें है अरु सारो विपरीतज्ञान होवे है. ६.वैराग्यके तिरोभावसूं विषयासक्ति उत्पन्न होवे है. पहले चारके तिरोभावसूं बन्धन होवे है अरु ज्ञानवैराग्यके तिरोभावसूं अन्यथाज्ञान होवे है''.

भगवद्धर्मन्को तिरोभाव ही सारे प्रतिबन्धन्को मूल है. भगवद्धर्म जामें तिरोहित भये एसो जीवपें जब व्यामोहिका मायाको प्रभाव पडे है तब वह भगवान्कों भूलीके संसारासक्त होई के जन्मजन्मान्तरमें संसारचक्रमें भ्रमत है.

शुद्धपुष्टिमें प्रतिबन्ध :

प्रभुके प्रकटिवेके पश्चात् बहुत सारी बाधायें उत्पस्थित भई. जैसे पुतना राक्षसी आई. तृणावर्त-बकासुर आदि असुर आये. श्रीमहाप्रभुजीने उनकों अविद्या, मोह, दम्भ, अहंकार आदि बताये है.

मिश्रपुष्टिभक्तिमें प्रतिबन्ध :

प्राथमिक अवस्थामें दृढसंसारासक्तिके कारण रुचि को अभाव, प्रमाद, विषयासक्ति इत्यादि प्रतिबन्ध होवे है. प्रेमावस्थामें बहिर्मुखता, अन्याश्रव, असमर्पितभोग, असदालाप, असत्सङ्ग, प्रभुमें लौकिकबुद्धि आदि तथा आसक्तिमें दुःसङ्ग, असमर्पितभोगादि प्रतिबन्ध होवे है.

षोडशग्रन्थादिमें प्रतिबन्धविचार :

श्रीआचार्यजीने अरु श्रीप्रभुचरणनें निषेधात्मक उपदेश जा ठोरपे दियो है वहां प्रतिबन्धकता दोषरूपता देखिवेमें आवे है. षोडशग्रन्थादिकन्में मुख्यतया साधनावस्थाके प्रतिबन्धन् को निरूपण है. व्यसनावस्थामें तो भगवद्गतचित्तता ही भक्तिमें आते प्रतिबन्धन्को सम्हाल ले है. **"शास्त्राणाम् उपदेशो यावत् मन्दरसः नरः रतिचक्र प्रवृत्ते तु न च शास्त्र न च क्रमः."**

उदाहरणतया :

बालबोधः धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् त्रिवर्ग साधकानीति न तन्निर्णय उच्यते. प्रतिबन्ध-(भ्रम). जीवास्वभावतो दुष्टा (स्वाभाविकदोष). स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै अन्यथा भारद्वैगुण्यम् (अधर्म).

सिद्धान्तमुक्तावलीः श्रीप्रभुचरण-स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकृति स्वसिद्धान्तो न तु अन्यशेषत्वेन (अन्यशेषता). वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तपदम् (तनुवित्तजास्वरूपखंडन). श्रीआचार्यजी-लोकार्थी चेद् भजेद् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा (लोकार्थीतया भजन). भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः...स्थानात् च नश्यति (भक्तिके अभावमें सेवाकृति).

सिद्धान्तरहस्यः असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत् (असमर्पित-वस्तूपभोग). न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् (सामिभुक्तसमर्पण).

नवरत्नः चिन्ता कापि न कार्या (चिन्ता).

अन्तःकरणप्रबोधः आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहो अन्यथा भवेत् (आज्ञानुसारी नहि बरतनो). लौकिकप्रभुवत् कृष्णो न दृष्टव्यः कदाचन (कृष्णमें लौकिकबुद्धि). प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहात् न प्रेष्यते वरे तथा देहे न

कर्तव्यम् (देहादिको अविनियोग).

विवेकधैर्याश्रयः प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् (प्रार्थना). अभिमानश्च सत्त्याज्यः (अभिमान). आपद्गत्यादिकार्येषु हठः त्याज्यश्च सर्वथा (हठ). स्वयम् इन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् (इन्द्रियकार्याणि). अन्यस्य भजनं तत्र...सर्वथा बाधकस्तु सः (अन्याश्रय, अविश्वास).

कृष्णाश्रयः (लोकाश्रय, वेदाश्रय).

चतुःश्लोकीः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् (भजनत्याग).

भक्तिवर्धिनीः तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् (कथाव्यसनवारेकी सतत गृहस्थिति). त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथा अन्नतः (दुःसंसर्ग, दुष्टान्न).

जलभेदः क्षेत्रप्रविष्टाः ते चापि संसारोत्पत्ति हेतवः, वेश्यादिसहितामत्ता गायकाः गर्त संज्ञिताः, जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः (सत्सङ्गके नामपे दुष्टसंग).

संन्यासनिर्णयः श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यः चेत् स नेष्यते... पाषण्डी स्यात् तु कालतः (भक्तिकीसाधनास्थामें त्याग). विषयाक्रान्त देहानां नावेशः सर्वदा हरेः (विषयाक्रान्तता).

निरोधलक्षणः संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणाम् हिताय (संसारावेश). अमत्सरैः अलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणा (मात्सर्य, लोभ). यस्य वा भगवत्कार्य यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः (अनिग्रह).

सेवाफलः उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात् तु बाधकम् (उद्वेग, प्रतिबन्ध, भोग). नतु आद्ये दातृता नास्ति (भगवत्कृत प्रतिबन्ध). तृतीये बाधकं गृहम् (भगवदविनियुक्तगृहस्थिति). सर्वम् अन्यत्र मनोभ्रमः... कुसृष्टि वा काचित् उत्पद्येत स वै भ्रमः (भ्रमः).

साधनप्रकरणः अधुनातु कलौ... तत्र धर्मः कथं भवेत्, वर्णाश्रमवतां धर्मे...त्यक्त्वा मार्गे (भक्त्येतरधर्मन्की साधकता माननी). अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा...जायते (वेदनिन्दा, अधर्म) अत्यन्ताभिनिवेशः चेत् संसारे न भवेत् तदा (संसाराभिनिवेश). विरुद्धकरणं नास्ति...कल्पितैरेव बाधः स्याद् (मायावाद). प्रतिकूले गृहं त्यजेत् (भक्तिप्रतिकूलगृह) वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत् (अवैराग्य, अपरितोष), सर्वापेक्षां परित्यज्य (अपेक्षा) वृथालापक्रियाध्यानं

सर्वथैव परित्यजेत् (सर्वथाप्रतिबन्धक:वृथालाप, वृथाक्रिया, वृथाध्यान) एतद्-विरोधि यत् किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत् (स्वधर्माचरणविरोधि, विधर्माचरणनिवर्तन्विरोधि, इन्द्रियाश्वविनिग्रहविरोधि). सर्वथा तद्गुणालाप...निर्भयो निस्पृहस्ततः (भय, स्पृहा). पठनीयं प्रयतवेन निर्हेतुकम् अदम्भतः (भागवतको सहेतुक या दम्भपूर्वकपाठ). पठनीयं प्रयतवेन सर्वहेतुविवर्जितम् वृत्यर्थम् नैव पुञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत् (आत्यन्तिक प्रतिबन्ध:भागवतको सहेतुक या वृत्यर्थक पाठ).

श्रीगोपीनाथजी आज्ञा करे हैं **"अशून्या दिवसा यामाः मुहूर्त-धटिका-लवाः भगवद्भजनैः कार्या संसारासक्तिः अन्यथा"** (सा.दी.४६).

४.प्रतिबन्धकी निवृत्तिः प्रभुसूं/भक्तिसूं

भक्तिमार्गमें आते प्रतिबन्धन्की निवृत्ति भक्तिभावभावित प्रभुसूं या भगवद्दत्त निरूपाधिक भक्तिसूं ही होवे है. भगवान् सर्वभक्तसम्बन्धि सर्वलीला करते भये सदा बिराजे है. न तो वे या उनकी लीला कालमें बंधि भई होवे है. सर्वक्रिडायुक्त हरिको सर्वलोकदर्शनके काज बहिः (समुदाय) प्रकट होनो अवतारसमयमें जन्म कह्यो जाय है. वा प्रभुमें आसक्तिके कारण भक्तन्को प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक निरोधात्मक उद्धार प्रभु करे है. वैसे ही अनवतारसमयमें हु जा भक्तको निरोधात्मक उद्धार करिवो प्रभु इच्छे है वाके हृदयमे वाहिके दर्शनार्थ सर्वक्रीडायुक्तप्रभुको प्रकट होनो (समुदाय) जन्म कह्यो जाय है. श्रीमहाप्रभुजी समुझावे हैं :

> "बाहर प्रकट भये स्वात्मारूप प्रभु जब बहिन की नांई भीतर प्रवेश करे है तभी सारे बन्ध नष्ट होवे है अन्यथा नहिं." (सं.नि.११)
>
> जहां ताई जीव प्रभुके अभयरूप चरणन्को वरण नाहीं करे है तहां ताई बाके द्रव्य, देह अरु सुहृद् के निमित्तसुं होते शोक, स्पृहा, परिभव अरु विपूललोभ अरु सारी आर्तिन्को मूल अहं-ममभाव निवृत्त नाहीं होवे है.

तहां ताईं रागादि चोर लूटेरे लटते रहे है, तहां ताईं यह गृह कारागृह जैसो है, तहां ताईं मोह चरणमें पडी बेडी है जहां ताईं हे कृष्ण जीव आपको नहिं होय जाव है.

जिनकूं आप अन्य(पृथक्) मानो हो वे स्वयं को विमुक्तमानवे पर हु उनको आपमें भाव अस्त होइ जायवेके कारण अविशुद्धबुद्धिवारे बहुत कष्टसूं परं पदको प्राप्त करे है तोहु आपके चरणकमलकों अनादर करिके अधःपात के भागी बने है.

परन्तु हे माधव जो आपके जन=सेवक है उनकों कबहुं अपने मार्गसुं भ्रंश नहिं होवे है क्यो जो आपसुं उनको स्नेह बन्ध्यो भयो है. ऐसे उनकि आप रक्षा करो हो करिके (वा कारण) वे विघ्नकर्ता(प्रतिबन्धादिकन्)की सेनान् के सेनापतिंन्के हु मस्तक पर निर्भय होई के विचरण करे है.(भाग.पुरा.१०।३।३२)

सुबो. : जीवन्ने आपके चरणारविन्दसूं स्नेहकी डोरसूं अपने आपको बांध रखे है उनको कबहुं भ्रंश नही होवे है. जो यह शंका होय जो दूसरे कालादि केसे उनको नाश नहि करे है वापें कह्यो जो आपके द्वारा रक्षित होई विचरण करे है. जो दूसरेन्के लिये त्यागके या भयके स्थान होवे है वेही इनके परिभ्रमण करिवेके स्थान होवे है यह कहे रहे है विनायकानिकपमूर्धसुद्वारा. विघ्नकरीवेवारेनकी सेनाके अधिपतिन्के मस्तकपर भगवद्भक्तें चरण राखिके फिरे है. अधःपात करिवे अक्षम एसे वे ही भक्तन्की प्रतिष्ठाके हेतु बने है. हे प्रभो यह आपहीको सामर्थ्य है.

आपके मङ्गल्य नाम अरु रूप को श्रवण करिके, गाई के, स्मरण करिके अरु क्रियासुं आपके चरणकमलमें जिनकों चित्त आविष्ट भयो है ऐसे भक्त तो संसारार्थ नहिं होवे है[१२].

गृहपरिवारकी संसारासक्तिमें फंसे रहेनो हु मुक्तिमें अत्यन्त अन्तरायरूप मान्यो गयो है. तो हु अपनो सर्वस्व भगवान्को निवेदित करिके अपने घरमें भगवत्सेवा-कथा निभावेवारेके गृह-परिवार हु भगवदुपयोगी होय जाय है. या प्रकार बाधक हु साधक बनी जाते होईवेसूं भक्तिको उत्कर्ष अनितरसाधारण होवे ही है.

शुद्धपुष्टिभक्तिमें प्रतिबन्ध अरु उनके उपायन्को विचार:

दशमतामसप्रकरणके अवान्तर चार प्रकरणन्को निरूपण करते भये श्रीआचार्यचरण कहे हैं :

सर्वतस्तु अधिक स्नेहः पूर्वत्र विनिरूपितः।
आसक्तिस्तु द्वितीये हि तृतीये व्यसनं मतम्।
फलप्राप्तिः चतुर्थे हि सिद्धो रोधः चतुर्विधः।।

अपने निःसाधनजीवन् के उद्धारार्थ उनके बीच कृष्ण प्रकट होवे है अरु उनके स्वभावानुसारी एसी लीलाए करे है जासुं वे प्रपञ्चको भूलीके संपूर्णतया कृष्णासक्त होइ जाय है. परि या भगवन्मार्गमें बहुत बाधाए=प्रतिबन्ध आवे है परि वाको स्वयं कृष्ण ही दूर करिके भक्तन्के हृदयमें क्रमशः प्रेम आसक्ति व्यसन अरु सर्वात्मभाव प्रकट करीके स्वयंमें पूर्णनिरुद्धता प्रकट करे है. या कारण ही प्रेमादि अवान्तरप्रकरणके अध्यायन्की व्याख्या श्रीमहाप्रभुजी ऐश्वर्यादिषड् धर्म अरु सातवे धर्मि के रूपमें करे है.

> कृष्ण स्वयं सर्वपुरुषार्थरूप है तोहु दोषन्के वश अन्य उनकों ग्रहण नहिं कर शके है वातें कृष्ण दोषन्कों दूर करिके भक्तन्को श्रेयधारण करे है.
>
> प्रभुचरणनें यहां शंका उठाई है जो स्वयं भगवान् जहां बिराजमान है वहां दोषन्की प्रतिबन्धकरूपता ही संभव नहिं है. तब तो उन दोषन्को दूरकरवेवारे भगवान् है ऐसो कैसे कहे शके? या शङ्काको समाधान दे है जो लीलामें निरोधसिद्धिके काज हमारें प्रभुने लोकरीतिकों स्वीकार कियो है यासूं स्वरूप हु वैसो धारण कियो है "बभूव प्राकृतः शिशुः". लोकमें हुं जैसे जैसे प्रतिबन्ध बहोत होय वैसे वैसे दुर्लभता जानीके वा फलमें अधिकाधिक आसक्ति होवे है यह देखिवेमें आवे है. वैसे ही नन्दादीक व्रजजननकी आसक्ति सिद्ध करिवेके काज स्वेच्छासूं ही प्रभुने पुतनादीकको प्रतिबन्धकतया भावन करिके उनके निराकरणद्वारा स्वयम् ही व्रजभक्तन्के श्रेयरूप फलित भये.[१४]

यामेंसू तामसप्रमाणप्रकरणकों 'प्रेमप्रकरण' हु कह सके है वामें

निरूपित २-४लीलान् को विहंगावलोकन् करे तो :

अध्याय १ में जन्ममहोत्सव ऐश्वर्यलीला है. प्रभुनें व्रजमें ही वैकुण्ठ प्रकट कीयो. ऐश्वर्यतिरोधानसूं आतो दीनत्व पराधीनत्व दूर किये.

अध्याय २ में पुतनामारणलीला है. वह वीर्यलीला है. प्रभुने पुतनाको नाश कीयो "अविद्या पुतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता. अतः परं निरोधस्तु गोकुले सुगमो भवेत्." विर्यतिरोधानसूं आते आन्तर-बाह्य दुःख निवर्तन किये.

अध्याय ३ में शकटभङ्गतृणावर्तवध यह यशलीला है. यशतिरोधानसूं आती सर्वहीनता(बहिर्मुखता) को निवर्तन किये.

अध्याय ४ में नामकरण भयो वह श्रीलीला है. श्रीतिरोभावसूं आते जन्मादि सर्व आपदान्कों निवर्तन किये. इत्यादि.

मिश्रपुष्टिमें प्रतिबन्ध अरु उनके उपायन्को विचार

यामें मुख्यतया रुचि, प्रेम, आसक्ति, व्यसन अवस्थान्में आते प्रतिबन्ध अरु आधुनिक परिप्रेक्ष्यमें प्रतिबन्धको विचार कियो है.

रुचिमें प्रतिबन्धको विचार:

पुष्टिभक्तिमार्गमें अरुचि(रुचिको अभाव): सुबोधिनीमें भागवतके अधिकारीके वर्णनमें कह्यो है जो "बुद्धि आयु और दोषन्को अभाव जिन्में है वे ही भागवतश्रवणके अधिकारी है."[१५]

> श्रीआचार्यजी सर्वनिर्णयमें आज्ञा करे हैं
>
> **बुद्धिमान् आदरः तस्मिन् छलेसाध्येऽपि दुःखतः।**
> **त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्।।**
> **सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।**
> **तस्य सर्वं अशक्यं स्यात् मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि।।**
> **कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्धयेत् कारणम् उच्यते।**
>
> (त.दी.नि..२२४...२२६)

प्रकाश : **बुद्धिमान् इति. परमादरो बहुषु न सम्भवति. अतएव एकस्मिन् कर्तव्यः... परमत्र न सर्वेषां फलमुख्याधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते.**

आचार्यजीने यहां मात्र 'रुचि' पदको प्रयोग नाहि कियो है परि मार्गरुचि पदकोप्रयोग कियो है. मार्गरुचि मे सर्वप्रथम मार्गप्रवर्तकाचार्यमें श्रद्धा होनी जरुरी है वह व्यक्तिके रूपमें नहिं पर मार्गोपदेशक आचार्य के रूपमें. "आचार्यचरणमें "आचार्यचरण के साधनोपदेशमें "आचार्यचरणके प्रयोजनमें इन तीनोन्में जब श्रद्धा है तो ही वह मार्गप्रवर्तकाचार्यमें श्रद्धा कही जायेगी. वैसे ही मार्ग तो प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलके चतुष्टयसूं बने है यदि वामेंसू एकमें हु अरुचि होय तो वह मार्गरुचि केसे कही जायेगी? अज्ञानके कारण रही भई अरुचि महत्सङ्ग माहात्म्यज्ञान आदिसूं निवृत्त हो शके है. मार्गरुचि पनप सके.'

प्रह्लादजी कहे हैं :

> गृहही जिनकों व्रत है ऐसे संसारासक्त अरु वासूं ही अशान्त इन्द्रियन्के सङ्ग संसारमें पतित लोगन्की बुद्धि स्वतः या परतः कृष्णमें नहिं लगे है वे तो चर्वित को ही चर्वण करते रहे है. वे बाह्येन्द्रियविषयन्को ही प्रिय मानी के अन्धेन्के पीछे चलते अन्धेन्की नाईं चलते रहे है वेदवाणीसूं बन्धेभये वे काम्यकर्मन्के बन्धनमें बन्धे भये है. स्वयं के स्वार्थ अरु परमार्थरूप विष्णुकुं जाने नहि है. जिनने निष्किञ्चन् भगवत्प्रेमी भागवदीयन्के चरणकी रजमें स्नान नहिं कियो उनकी बुद्धि प्रभुके चरणन्कों स्पर्शहु कर नहीं पावे है.[१०]

तृतीयस्कन्धसुबोधिनीमें महाप्रभुजी आज्ञा करे है जो "स्वाभाविक (लौकिक)कथान्के निरन्तरश्रवणसूं वा संस्काराभिनिविष्ट हृदय अरु कर्ण होई जात है वासूं भगवत्कथाको ग्रहण नही करे है. जैसे हिमालयस्थित प्राणि धूप सहन नही कर शके है वैसे." पर सत्पुरुषन् के प्रकृष्ट सङ्ग के कारण भगवानके पराक्रमज्ञापिका कथा होवे है वासूं भक्ति प्रकटे है. भागवत जहां कामादिप्रतिबन्धनके जयकी बात कहे है जो **"असङ्कल्पात् जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्..."** वहीं सारे प्रतिबन्धनिवृत्तिको एक सरल उपाय हु बतावे है **"एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो हि अञ्जसा जयेत्"** (भाग.पुरा.७।१५।२२-२५) श्रीआचार्यजी हु आज्ञा करे है **"महतां कृपया यावत् भगवान् दययिष्यति"** (नि.ल.५).

प्रेमावस्थामें प्रतिबन्धको विचार :

१.अन्यशेषता: यह रुचिमें बहोत बडो प्रतिबन्ध है. जो रुचिको मार्गरुचि बनवे नहि दे है. भक्तिमें इतरपुरुषार्थन्की भक्त्यङ्गता कही है जेसे **"धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विष्वकसेन कथासु यः न उत्पादयेत् रतिं श्रमएव हि केवलम्"** (भाग.पुरा.१।२।८).

पूर्वमें किये गये भगवद्गुणगान अन्यशेषतया हते यासूं हि व्यासजी की खिन्नता न गई. तब नारदजीने उपदेश दीयो जो "भागवतधर्म तो स्वतन्त्र है वे यदि अन्यशेषतया निरूपित किये गये तब तो न निरूपित ही है. यद्यपि आपने महाभारतमें भगवद्यशको प्रतिपादिन कियो है वामें गीतामें विशेषतया कियो है तथापि इतरशेषतासूं प्रतिपादन कियो है." (सुबो.१।५।८). वा इतरशेषताके कारण महाभारतादिकि अन्तःकरणशोधकता नहिं है."[११] या कारण अनन्यशेषतया भगवद्गुणवर्णनके काज भागवतको प्राकट्य भयो.

सिद्धान्तमुक्तावलीविवृत्तिमें श्रीप्रभुचरण आज्ञा करे है:**"फलात्मक-नामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो न तु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते."**

२.बहिर्मुखता: पुष्टिभक्तिमार्गमें बहिर्मुखता सबतें बडो प्रतिबन्ध है. भगवद्विमुख पुष्टिजीवन्के काज कालकर्मस्वभावादि बाधक बनत है.

> "अव्यक्त अक्षरब्रह्म से व्यक्त परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तक भक्तिके प्रवाहमें तैर कर पहुंचा जा सकता है. परन्तु कालके प्रवाहमें बहनेवाले हमारे सभी प्रियतम लौकिक विषय व्यक्तसे अव्यक्त अर्थात् अस्तित्वसे विनाश की ओर सरक रहे हैं. भक्तिके प्रवाहमें माहात्म्यज्ञान से सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहकी ओर आगे बढा जा सकता है. किन्तु कालके प्रवाहमें उभरते सारे विषयानन्दोंके आवर्त अन्तमें हमें शोक-मोहके गर्तमें डुबो देते हैं...भक्तिके प्रवाहमें तैरनेवाले भगवदभिमुख भक्तके देहेन्द्रियादि सभी कुछ उसकी आत्मा के रक्षक बन जाते है. उसे भजनानन्दके दानके द्वारा अव्यक्तब्रह्मानन्दमें लीन होने से बचा लेते है. किन्तु काल के प्रवाहमें बहते लौकिकविषयोमें आसक्त भगवद्विमुख

व्यक्ति के देहेन्द्रियादि ही उस बहिर्मुख की आत्मा के भक्षक बन जाते है. उसे शोक-मोह के गर्तमें डुबो देते है.''
(गो.श्रीश्याममनोहरजी)

श्रीद्वारिकेशजीके अनुसार बहिर्मुखताके चार कारण मुख्य है १.अन्याश्रय २.असमर्पितभोग ३.असदालाप ४.असत्सङ्ग.

३.असत्सङ्ग-अन्याश्रय-असदालाप: वेदस्तुती सुबोधिनीमें आचार्यजी समुझावे है ''जब सेव्यप्रभु अरु सेवासाधन हु अनुकूल है तोहु जो सेवा न करे है वामें कारण असत्सङ्ग है. असत्की उपासनाके कारण नही भजे है. 'उपासना'पदसुं बाह्यदेवता हु कहे गये है. उनको अल्प सङ्ग होइवे पर भगवद्भजन नष्ट होवे है. अथवा असत् इन्द्रियकी उपासना के कारण नहिं भजे है.

असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः।
देहे ह्यनुगुणे कृष्णे न इन्द्रियाणां प्रियम् चरेत्।।

४.असर्पितभोग: श्रीहरिरायजी कहे हैं :

सर्वथा सर्वदैवापि न चाद्याद् असमर्पितम्।
तद्भक्षणे भवेदेव अब्रह्मसम्बन्धिवस्तुतः।।
सर्वत्र ब्रह्मसम्बन्धभावना नाशएव हि।

(श.स.से.नि.)

५.कृष्णमें लौकिकबुद्धि: **''लौकिकप्रभुवत् कृष्णो न दृष्टव्यः कदाचन्''** (अन्तः.प्र.७) **''न लौकिकः प्रभु कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्''** (शिक्षा.२).

कृष्ण फलात्मा प्रभु है. सर्वकरणसमर्थ है. वह कबहुं लौकिक नहि होय है. यासूं लौकिक बाहिर्मुख्यसुं कि गइ सेवा हु स्वीकार नहिं करे है. न तो उनको बहिर्मुखजनकी सेवा की अपेक्षा हु है.

आसक्तिमें प्रतिबन्ध:

कथासक्तिके लिये कह्यो जो:

भगवद्गतचित्तेन ये श्रुता भगवद्गुणाः।

ये वा संकीर्तिता नित्यं यावत् ते रसतां ययुः।
तावत् त्यक्तैः तदियैश्च बाधा भवति सर्वथा।।
विविधा अपि ते तापाः सोढव्या तापसत्वतः।

व्यसनमें प्रतिबन्ध:

व्यसनमें बीजभावदृढ होइवेसुं दुःसङ्गादिसुं प्रतिबन्धक नहि बने है तोहु चतुःश्लोकी मे श्रीमहाप्रभुजीने आज्ञा करी है जो **''स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यं इति मे मतिः''** कथापक्षवारे व्यसनवान् के लिये आप भक्तिवर्धिनीमें आज्ञा करे है **''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्''**.

रुचिसुं लेकर प्रेम-आसक्ति-व्यसन अरु व्यसनोत्तर सर्वोत्तमभावको यह पद्य अनतारकालमें जीव एकही जन्ममें ब्रह्मसम्बन्धके कारण तय करी शके ऐसो हु नाहिं. जन्मान्तरसहस्रमें तपोध्यानसमाधिआदिसुं जिनके पापक्षीण होय तब कृष्णमें भक्ति होवे है या प्रकार शास्त्रमें कह्यो होइवेसुं परमभाग्यसुं हि प्रीति प्रकटे है.

श्रीमहाप्रभुजी दोष दूर करिवेके क्लेशरहित दो साधन बतावे है १.प्रभुप्रत्यक्षमें चरणसेवा २.परोक्षमें कथामृताब्धिको अवगाहन.

''यच्चरित्रं शृण्वतः पुरुषस्य भगवच्चरित्रविषयिणी या अरतिः सा अपैति, माहात्म्ये स्वोपकारे च ज्ञाते तथात्वम्, विशेषेण संसारविषयिणी तृष्णा च अपैति, संसारस्य बाधकत्वे ज्ञाते... सत्वम् अन्तःकरणं शुद्ध्यति कामक्रोधादिवासनारहितं भवति, ज्ञानात्मनः संसारातीत चरित्रे श्रुते. भक्ति हरौ (भवति) यथा उलूखलबन्धे, तत्पुरुषे भगवत्सेवके सख्यं यथा यमलार्जुनभञ्जने चकारात् तत्सेवकसेवकेपि.'' (सुबो.१०।७।२).

श्रीआचार्यजीने अल्पबर्हिमुखतादिमें हु उपायतया भागवत बतायो है. क्योंजो रुच्यादिसुं पनप्यो भयो प्रेम दोषदर्शनसूं निवर्तित होवे है. दोष शास्त्रके अभावमें लोकदृष्टिसूं होवे है. यासूं श्रीभागवत ही सर्वशास्त्रार्थनिर्धारक सर्वमाहात्म्यज्ञापक अरु प्रेमोत्पादक है. भागवतके हृदयरूप दशमस्कन्धीय

निरोधलीला जामें वर्णित है ऐसी त्रिविधनामावली के जप-चिन्तन करवेको कह्यो है जो:

बाललीलानाम पाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते।
आसक्तिः प्रौढलीलाया नामपाठात् भविष्यति।।
व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानतः।
तस्मात् नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीच्छुभिः सदा।।

श्रीप्रभुचरणने श्रीसर्वोत्तमको विनियोग भक्तिमें आते प्रतिबन्धन् की निवृत्तिमें बतायो है. श्रीपुरुषोत्तमजी समुझावे है जो श्रीयमुनाष्टकादि हू भागवतके सहकारी है. श्रीपुरुषोत्तमजी आज्ञा करे है:

"सतां द्वारंभूतगुरोः वा सङ्गेन शिक्षया वा श्रीमदाचार्यचरणेषु भगवदभेदबुद्धिः सर्वोत्तमादिभिः तद्भजनम्. ततः एतन्मार्गीयसङ्गे पूर्वोक्तरीत्या भगवद्भजनं, ग्रन्थावलो-कन-श्रवणादिना च तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्तौ दोषनिवृत्तिः, सेवोपयोगि-गुणोपचयः च".

आधुनिकपरिस्थितिमें प्रतिबन्धको विचार :

श्रीहरिरायजी यमुनाष्टकटीकाके मङ्गलाचरणमें कहे है:

एवं षोडशभिः ग्रन्थैः पुरुषोत्तमसेवनम्
प्रतिपाद्य फलत्वेन सर्वे जीवोद्धृतिं विभुः।।२१।।
अवतारद्वयावां तु उद्धृती रूपदर्शनात्।
इह तापत्रयैः ग्रस्ताः स्वदासाश्च सदोद्धृतिः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दैवैः कर्तव्यमेव हि।
सेवनं श्रीव्रजेशस्य तद्ग्रन्थानां च पाठनम्।

इतनो कहिके आधुनीक बहिर्मुखताको कारण अरु वाकी निवृत्तिको उपाय हू बतावे है :

इति सिद्धं तथापि इह लोके जीवा बहिर्मुखाः।
कृता भगवदाज्ञप्तैः रुद्रांशैः ब्राह्मणैः ततः।
तेषां सामुख्यसिद्ध्यर्थम् अर्थज्ञानम् अपेक्षितम्।
तदर्थं ग्रन्थटीकास्तु प्रभुप्रभृतिभिः कृताः।।२५।।

"यहां जानने लायक बात यह है कि यद्यपि तत्वदृष्टिसे जीवात्माकी रति तो कहीं भी हो पर उसकी रति तो भगवद्रति ही होती है. किसी लीलादृष्टिसे अन्याश्रयका त्याग और अन्यरतिका त्याग भगवत्प्राप्ति और भगवद्भक्ति में अतिशय अपेक्षित होता है, दोनोंके सुदृढ होनेके लिये और स्नेहके सर्वतो अधिक होनेके लिये. अन्यथा तो भक्ति अपने लक्षणके अनुरूप ही हो नहीं पायेगी. इनमें अन्याश्रय भक्तिके पूर्वांगभूत माहात्म्यज्ञानके प्रतिकूल मन वाणी या कर्म की प्रवृत्ति है. इसी तरह अन्यरति भी भक्तिके उत्तरांगभूत सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके प्रतिकूल मन वाणी या कर्म की प्रवृत्ति है. अतः उन्हें भलीभांति संयत करनेपर ही भगवदनुग्रहसे जन्य भक्ति अपना स्वरूप निभा पाती है. अतः भगवदनुग्रहरूप प्रमुख साधनके ये अनन्याश्रय और अनन्यासक्ति अवान्तरव्यापाररूप हैं. सारे उपनिषदोंकी सारभूत श्रीभगवद्गीता और उसके विस्ताररूप श्रीभागवतपुराण के निष्कृष्ट तात्पर्यका अज्ञान ऐसी प्रतिकूल प्रवृत्तिका हेतु बन जाता है. यह सारे शास्त्रोंके निर्गलितार्थके उपदेशक निजाचार्यके वचन परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और उनके भजनकी रीति के उपदेशक षोडशग्रन्थोंमें मिलते हैं. उनके अवगाहन करनेपर सारे प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति हो सकती है, ऐसा अपना अभिप्राय प्रभुचरण कह रहे है."

(पु.प्र.प्र.वि.श्रीश्याममनोहरजी.पृ.१८२)

सदा सर्वात्मना कृष्णः सेव्यः कालादिदोषनुत्।
तद्भक्तेषु च निर्दोषभावेन स्थेयम् आदरात्।।
भगवत्येव सततं स्थापनीयं मनः स्वयम्।
कालोऽयं कठिनोऽपि श्रीकृष्णभक्तान् न बाधते।।

(श.स.से.नि.)

परिशिष्ट :

(१).स्वयं श्रीमदाचार्यचरणानुसारी षोडशग्रन्थकी प्रतिबन्धनिवारकता

१.यमुना : तवाष्टकम् इदं मुदा पठति सूरसूते सदा समस्त-दुरित-क्षयो...स्वभावविजयो भवेद् वदति वल्लभ श्रीहरेः।

२.बाल : न एतत् ज्ञाने भ्रमः पुनः.

३.सि.मु : एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्. एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्व-

भावः प्रेम शब्देन उच्यते. प्रेमानन्तरं पूर्वोक्तादेव सङ्कल्पावस्थावद् आसक्तिः भवति. स्वविषये विविधमनोरथजनको भावः आसक्तिः. व्यसनं स्वविषयं विना स्थातुम् अशक्तिजनको भावः.(श्रीकल्याणरायजी)

७."पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" (ब्र.सू.३।२।५) भाष्य : ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः ऐश्वर्यतिरोभावाद् दीनत्वं पराधीनत्वम्, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनम्, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनम्, यशः तिरोभावात् सर्वहीनत्वम्, श्रीतिरोभावात् जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम्, ज्ञानतिरोभावाद् देहादिषु अहंबुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं च...वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्तिः बन्धचतुर्णां कार्यः विपर्ययो द्वयोः तिरोभावादेव एवम्, नान्यथा. युक्तो अयम् अर्थः. एकस्य एकांशप्राकट्येपि तथा भावात्. आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितः येन जीवभावः. (अणुभाष्य)

८.दोषार्थमेव स्वरूपाज्ञानार्थमेव गृहीता गुणा यया. इयमेव स्वशक्तिद्वारा जीवान् व्यामोहयति. तेषामपि निद्रालस्यादिरूपेण व्यामोहिका वर्तते.(वेदस्तुती.सुबो).

९. बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा जन्तिवत् प्रविशेद् यदि। तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।। (सं.नि.११)

१०.तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिम् अभयं प्रवृणीत लोकः।।
(भाग.पुरा.३।९।६)

११.तावद्रागादयस्तेन तावत्कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्णः न ते जनाः।।

१२.वेऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानीनः त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो।।
(भाग.पुरा.१०।३।३२)

१३.श्रृण्वन्गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु युष्मत् चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तो न भवाय कल्पते।

१४.लौकिकेषु भावेषु यत्रैव हरिवेशनम्। निवर्तते तदेवात्र बह्नेः दारुमये यथा।।
(सुबो.१०।५।का.५)

यथा काष्ठस्थितो वह्निः न तद् दहति ततः उद्गतः तु पुनः तत्र प्रविशन् तद् दहति एवं लौकिकेषु तत्त्वकालादिषु यतः उद्गत्य यत्रैव हरिप्रवेशनं तदेव स्वपूर्वरूपाद् निवर्तते भगवद्रूपं भवति. भगवत्कार्यमेव करोति इति अयं प्रकारः (पुरु.प्रकाश)

१५.स्वयं सर्वपुरुषार्थरूपोपि दोषवशाद् गृहीतुम् अन्यैः न शक्यते इति दोषदूरीकरणद्वारा श्रेयोधारकत्वम्.(सुबो.१०।८।१७) यद्यपि भगवति विद्यमाने दोषाणां प्रतिबन्धकत्वमेव न सम्भवति कथं निवर्तकत्वेन उपचारः. तथापि लीलायां निरोधसिद्धयर्थम् अस्मत् प्रभुणाः लोकरीतिरेव स्वीकृता यतः तदर्थं स्वरूपमपि तथा प्रदर्शितवान्. तदुपपादितं "बभूव प्राकृतः शिशुः" इत्यत्र. लोके च यथा यथा प्रतिबन्धबाहुल्यं तन्निवृत्त्या पुनः फलानुभवः तथा तथा दुरापत्वज्ञानेन फलेपि आसक्तिः अधिकतरा भवति इति दृश्यते. अतो

नन्दादीनाम् आसक्तिसिद्ध्यर्थं स्वेच्छयैव दोषकरान् पूतनादीन् प्रतिबन्धकत्वेन उद्भाव्य तन्निराकरणद्वारा स्वदमेव तच्छ्रेयोरूपः फलति इति मनसि अभिसंधाय साधूक्तं स्वयम् इत्यादि तात्पर्यतः.''

१६.बुद्धिश्च आयुश्च दोषाणाम् अभावः कारणं यतः यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नास्ति अधिकारिता''.

१७.मतिः न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिः विशतां तमिस्रं पुनः पुनः चर्वित चर्वणानाम्।।
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैः उपनीयमानाः वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः।।
नैषां मतिस्तावद् उरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किंचनानां न वृणीत यावत्।।

(भाग.पुरा.७।५।३०-३२)

१८.न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थम् उशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः।।

सुबो : हंसा इति उच्यन्ते क्षीरनीरविवेकिनश्च सहजसिद्धमपि संश्लेषं त्यजन्ति न तु संश्लेशजनके रमन्ते... ततश्च युक्तितो दृष्टान्तात् च न भारतादेः अन्तःकरणशोधकत्वम्.''

चर्चा

भक्तिकी विभिन्न अवस्थान्में आते प्रतिबन्ध अरु प्रतिबन्धनिवृत्तिके उपाय

श्रीधर्मेन्द्रसिंह झाला

असित शाह : विविध अवस्थान्के बारेमें खुलासा करनो चाहूंगो के पेपेरमें भक्तिकी अवस्था तो अच्छी तरहसुं बताई है. पर यदि अपन व्रजलीला और वार्ता को सन्दर्भ लेवें तो एक ओर दिशामें सोचनो अपनकुं जरूरी है. वहां भक्तिकी दो अवस्था बतायी गयी है. एक भक्तिकी निरुद्ध अवस्था होवे है और दूसरी अनिरुद्ध अवस्था होवे है. व्रजभक्तन्की भक्तिकी निरुद्ध अवस्था है. उनकुं वो अवस्था प्रमासक्तिव्यसनके क्रमसुं मिली है. उनकुं वो पता होवे के नहीं पर प्रभुने उनके बारेमें मान रख्यो है के मैं इनमें निरुद्ध हूं और ये मेरेमें निरुद्ध होंगे. प्रभु जब मानके चल रहे हैं तब उनकी हर कृति के जहां वो प्रभुसुं दुर हो रहे हैं प्रभु वाकुं प्रतिबन्ध मानके उनकुं प्रतिबन्धसुं छुड़ा रहे हैं. फिर वो ज्ञातिभोजन करते होवें या साधनप्रकरणमें आवे है, व्रत तीर्थयात्रा याग करते होवें. प्रभुकुं लग्यो के ये इनके लायक नहीं है तो प्रभु जाके बामें प्रतिबन्ध करे हैं. और वार्तामें भी देखें तो बहोत बातें ऐसी होवे हैं के जो निरुद्धावस्थामें प्रतिबन्धरूप हो जावे हैं. जैसे गज्जन धावनको प्रसङ्ग देखें तो प्रभुसेवार्थ उनकुं बजारमें पान लेने जानो भी प्रतिबन्धक हो गयो ऐसी उनकी अवस्था हती. और वाइसेवर्सा ऐसी भी कृतियां भी हैं के जो अनिरुद्धावस्थामें प्रतिबन्धक हो सके है पर निरुद्धावस्थामें वो प्रतिबन्धक नहीं रह जावे हैं. जैसे असमर्पितको उपभोग अनिरुद्धावस्थामें निश्चित प्रतिबन्धक है पर निरुद्धावस्थामें वो प्रतिबन्धक नहीं रहे है. या सम्बन्धमें आसकरणदासजी, गोविन्दस्वामी के प्रसङ्ग मिलें हैं. उनने असमर्पित उपभोग कियो है फिर भी उनकी भक्तिमें वो प्रतिबन्धक नहीं होवे है. ये केवल सिद्ध भगवदीयके बारेमें होवे ऐसी ही बात नहीं है. जैसे

तानसेनके बारेमें आवे है के वो नशा करके अच्छो कीर्तन कर सकते हते. तो नशा करनो भी उनकुं प्रतिबन्ध नहीं कर रह्यो है, सेवामें सहायक बन रह्यो है. चतुर्भुजदासजीने दूसरो ब्याह कियो वो भी प्रतिबन्धक नहीं भयो. यासुं ये डिमार्केशन् समझनो जरूरी है के प्रतिबन्ध बड़ो लचीलो है. निरुद्धावस्थामें प्रतिबन्धरूप कुछ ओर है, अनिरुद्धावस्थामें कुछ ओर है.

दूसरी बात ये है के प्रतिबन्धमें औचित्य-अनौचित्यके कारण प्रतिबन्धकता होवे है. जैसे गोविन्दरायजी सुरतवालेनके वचनामृत हैं के कोई वैष्णवने उनकुं पूछी के षोडशग्रन्थके पाठ सेवामें कब करने चहिये. तो उनने कही के कृष्णाश्रय तो सेवाके अवसरमें प्रभुके सन्मुखमें कर सके हैं पर बाकीके पाठ अनवसरमें करने चहिये. फिर वैष्णवने पूछी के कोई व्यक्ति सारे पाठ प्रभुके सन्मुख करे तो? तो उनने कही के ऐसे करे तो असदालाप हो जाये. उनको आशय षोडशग्रन्थसुं वैष्णवकुं विमुख करनेको नहीं है. न उनकुं षोडशग्रन्थके प्रति अनादर है. पर उनकुं ये लग रह्यो है के सेवा एक ऐसो अवसर है के जा बखत षोडशग्रन्थके पाठ करनो उचित नहीं है. वा समय अपनकुं समयानुसार कीर्तनको गान करनो चहिये. यासुं सेवा-कथा-शरणको विघातक जो बनतो होवे वो प्रतिबन्धात्मक है. चाहे वो पाठादिक करनो ऐसी अच्छी कृति भी क्यों न होवे. और कुछ कृति ऐसी भी होवे जैसे कह्यो के प्रभुकुं कीर्तनमें गाली देनो, पर वो सेवामें विघातक नहीं होवे है, प्रभुकुं भी वासुं सुख ही मिल रह्यो है वा कारणसुं वो प्रतिबन्धात्मक नहीं बने है. यासुं रुचि-प्रेम-आसक्ति-व्यसन आदिमें बेज़िकलि अपनकुं ये देखनो चहिये के जो उनके स्वरूपको विघात करतो होवे तो वो प्रतिबन्ध है, अन्यथा नहीं है.

गो. श्या. म. : एक बात मोकुं कहनी है. वैसे थोड़ी अतिशयोक्तिसुं भरी भयी है. पर यहां वो मोकुं उपयुक्त लगे है. अपने यहांके सेवाके प्रकारकुं जा तरहसुं कितने ही फूलनसुं गुलदस्ताकी तरह सजायो गयो है वो श्रीमहाप्रभुजीकी ओरिजिनलिटि है. फूल सब व्रजभक्तनके भावनसुं आये हैं पर गुलदस्ता व्रजभक्तनके पास उपलब्ध हतो के नहीं ये एक गम्भीर प्रश्न है. अपनकुं ठाकुरजीकी सेवा करनी है करके

श्रीमहाप्रभुजी सेवामें आते प्रतिबन्धके और वाकुं कैसे ओवरकम् करनो आदि सब इन्स्ट्रक्शन् दे रहे हैं. सचमुचमे यदि व्रजलीलाको अवगाहन करें तो या तरहकी सेवा व्रजभक्तनने करी होवे ऐसो कहीं वर्णन मिले नहीं है. बल्कि सचमें कहें तो बिचारे ठाकुरजी व्रजभक्तनकी सेवा करते दीखे हैं. यासुं लीलामें ठाकुरजी सेवक बने हैं और व्रजभक्त सेव्य लगे हैं. अपनी स्थिति उलटी है. ठाकुरजी सेव्य हैं और अपन सब सेवक हैं. करके रसखानजीने कह दियो के "देख्यो दु... कुंजकुटीरमें बैठ्यो पलोटत राधिका पांयन्". जब ठाकुरजी खुद सेवापरायण हैं तब वहां जो प्रतिबन्ध आ रहे हैं वो उनकी सेवामें प्रतिबन्ध आ रहे हैं, व्रजभक्तनकुं नहीं आ रहे हैं. कभी पूतना आ रही है, शकटासुर-तृणावर्त आ रहे हैं. उन प्रतिबन्धनको मार-मूरके वो निराकरण कर रह्यो हैं. खतम करो ये प्रतिबन्ध. ये मोकुं व्रजभक्तनकी सेवा ही नहीं करने दे रहे हैं. थोड़ी अतिशयोक्ति है पर जो बात कहनो चाह रह्यो हूं वापे ध्यान दोगे तो तथ्य समझमें आ जायेगो.

सेवाफल ग्रन्थोक्त
साधारण प्रतिबंधका व्यावहारिक स्वरूप

मनोज गोस्वामी

श्रीकृष्णं कुलदैवतं तदनु च श्रीवल्लभाख्यान् निजान् ।
आचार्यानथ विट्ठलेश्वरमहं नत्वा प्रभुं सर्वथा ।।

पुष्टिभक्तिमार्गकी महत्ता :

जिन जीवोंने पुष्टिभक्तिमार्गमें आत्मनिवेदन मंत्रकी दीक्षा लेकर परब्रह्म पूर्ण-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको अपने भजनीय या सेवनीयके रूपमें स्वीकारा है उनकी भक्तिकी सिद्धिके लिए श्रीआचार्यचरण एक परम उपाय यह बतलाते हैं कि उन्हें अपने स्वगृह में स्व तनु एवं स्व वित्त द्वारा ही स्व परिवार सह अपने सेव्यप्रभुकी सेवामें संलग्न होना चाहिए. यही भजनानन्दानुभव प्राप्त करनेकी प्रथम सीढी एवं कुंजी है.

यहां यह ध्यातव्य है कि पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवासेवकका धर्म है जो स्वतः पुरुषार्थ रूप है और जीवका प्रमुख कर्तव्य है अर्थात् ऐसा पुरुषार्थ जिसके करने पर चतुर्विध पुरुषार्थोंको अतिरिक्त करनेकी आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है क्योंकि भक्ति स्वयमेव फल रूप है, परम व पंचम पुरुषार्थ है, इसे अन्यशेषतया (धर्म प्रचारार्थ या आजीविकोपार्जनार्थ) करना श्रीमहाप्रभुजीके द्वारा प्रकटित मार्गके स्वरूप से नितांत अनभिज्ञ होना है और सर्वथा अपसिद्धान्त है.

अतएव भगवत्सेवाश्रीआचार्यचरण एवं श्रीविट्ठलनाथजीकी दृष्टिमें ऐसा कर्तव्य है जिसे आत्मनिवेदन दीक्षोत्तर नहीं करने पर जीव प्रत्यवायी बनता है. **''कृष्णसेवा सदा कार्या'', ''भगवद्रूप सेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्''** इत्यादि वचनों में हमें पुष्टिसृष्टिको कृष्ण सेवाकी आवश्यकता जीवित व्यक्तिके लिए श्वासकी आवश्यकता वत् प्रतीत होती है. इस तरह हमने भगवत्सेवाका श्रीआचार्य-चरण द्वारा अभिलषित प्रकार देखा.

सेवाफल ग्रंथका स्थान :

श्रीआचार्यचरण द्वारा प्रकटित षोडश ग्रंथ संप्रदायमें 'वल्लभ-गीता'के नाम से प्रसिद्ध हैं. प्रथम ग्रंथ श्रीयमुनाष्टक से लेकर अंतिम ग्रंथ सेवाफल तक समस्त ग्रंथोंकी एक वाक्यता भगवत्सेवाको पुष्टिभक्तिमार्गमें जीवका प्रधान कर्तव्य माननेमें पर्यवसित होती है. षोडशग्रन्थान्तर्गत एवम् अन्यत्र निबन्ध इत्यादिमें भी आते हुए श्रीमहाप्रभुजीके वचनों से इस बातकी पुष्टि हो जाती है. जैसेकि

''कृष्णसेवा सदा कार्या'' (सि. मु. २) ''समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्'' (बालबोध १८), ''क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा'' (सि. मु. १७), ''प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहान् न प्रेष्यते वरे. तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा'' (अन्तःकरण प्रबोध ८), ''अल्पावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः'' (भक्तिवर्धिनी २), ''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः'' और ''स्मरणं भजनं चाऽपि न त्याज्यम् इति मे मतिः'' (चतुःश्लोकी १/४), ''सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्. यावद् जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम'' (भक्तिवर्धिनी ९) ''श्रीकृष्णं पूज्येद् भक्त्या यथा लब्धोपचारकैः'' (सर्व. नि. २३१), ''एतद् देहावसाने तु कृतार्थः स्यान् न संशयः. इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा'' (सर्व. नि. २३६), ''एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्'' (सर्व. नि. २४०), ''स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्मात् च निवर्तनम्'' (सर्व. नि. २४१).

—इत्यादि वचन श्रीआचार्यचरणके अन्तःकरणमें रही हुई श्रीकृष्णाभिमुखता, अनन्यता एवम् जीवका केवल कृष्ण-भक्ति से ही उद्धार जैसी कृष्ण तात्पर्यात्मक भावनाओंको द्योतित करते हैं. ये सभी ग्रन्थ इसी क्रम से लिखे नहीं गए हैं तथापि श्रीमहाप्रभुजीके हृदयमें भगवत्सेवाको सुव्यवस्थित साधनाप्रणालीके रूपमें प्रकट करनेकी योजना मार्ग प्राकट्यके पूर्व ही जन्म ले चुकी थी. तदनुरूप ही आपश्रीने षोडश ग्रन्थो में, भगवत्सेवाको ही परिलक्षित करके—

१.पुष्टि भक्ति रूपा सेवाके अधिकारीकी,
२.भगवत्सेवाको उद्वेग रहित करनेके लिए चिन्ता त्यागकी,
३.भगवत्सेवामें विघ्नरूप उद्वेग व प्रतिबंधों से बचनेकी,

४.पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्ष समझानेकी,
५.भगवत्सेवा द्वारा जीवमें रहे हुए बीज-भाव से लेकर व्यसनावस्था प्राप्त होने का प्रकार समझानेकी,
६.भगवत्सेवाके अनवसरमें इतर व्यासंगाभावार्थ भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तन का स्वरूप समझानेकी,
७.बीज-भावकी दृढताके पश्चात् साधक द्वारा अभिलषित गृह-त्याग का भक्तिमार्गीय प्रकार समझानेकी और अन्तमें,
८.भगवत्सेवा व्यसनावस्थाके सोपानको प्राप्त करे तदर्थ सहायक कारणोंको समझानेकी दृष्टि से ही, विशद विचार किया है.

अतः वह समझमें आता है कि सिद्धान्त मुक्तावलीमें जिस भगवत्सेवाका साधनात्मक दृष्टिसे उसकी आवश्यकता, फल-लक्षण, स्वरूप लक्षण, साधन-लक्षण और अवान्तर फल-लक्षणको ध्यानमें रखकर जो प्रकार समझाया गया था उसी भगवत्सेवाका फलात्मक दृष्टि से विचार करना ही सेवाफल ग्रन्थका मुख्य प्रयोजन है.

प्रस्तुत लेखका आशय समझने में सुगमता हो तदर्थ हम इस लेखको ५ खंडोमें विभक्त करके समझनेका प्रयास करेंगे. निम्नलिखित प्रकारसे विचारकी दिशा रहेगी :

१.सेवाफल ग्रन्थ संदर्भ,
२.विभिन्न टीकाकारोंके मतोंकी तुलना,
३.वार्ता साहित्यमें प्रतिबंधका स्वरूप,
४.वर्तमान देश-काल के संदर्भमें प्रतिबंधका स्वरूप और
५.समाधान.

१.सेवाफल ग्रन्थ संदर्भ :

श्रीआचार्यचरणने सेवाफल ग्रन्थमे पुष्टिभक्तको भगवत्सेवामें प्राप्त होने वाले फलोंका विवेचन किया है और साथ ही साथ भगवत्सेवामें आने वाले प्रतिबंधकोंकी भी. ग्रन्थमे जिन तीन फलोंका वर्णन किया गया है वे हैं... १.अलौकिक सामर्थ्य, २.सायुज्य और ३.वैकुण्ठादिमें सेवोपयोगी देहादिकी प्राप्ति. एवम् जिन तीन प्रतिबंधोका वर्णन किया गया है वे हैं : १.भोग,

२.उद्वेग और ३.प्रतिबंध.

इनमेंसे हमारे इस लेखका प्रधान वर्ण्य विषय है, प्रतिबंध. श्रीआचार्यचरणके अनुसार प्रतिबंध दो प्रकारके हैं :

१.भगवत्कृत प्रतिबंध और
२.साधारण प्रतिबंध

भगवत्कृत प्रतिबंध :

जिन प्रतिबंधोका प्रतीकार संभव न हो उन्हें भगवत्कृत प्रतिबंध समझना चाहिए. इनमें से जब जिस पुष्टि भक्तको भगवत्सेवामें भगवत्कृत प्रतिबंध उपस्थित होता है, तब भगवानकी उस जीवको फलदान करनेकी इच्छा नहीं है, ऐसा मानना चाहिए. उस स्थितिमें अन्य देवोका आश्रय भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा क्योंकि हमारा सम्बन्ध साधारण देव से नहीं अपितु देवाधिदेवके साथ है, कोई जीव यह सोचे कि अन्य देवोके स्तोत्र-पाठ, जप, धागा-बंधन या ऐसे ही अन्य उपायों द्वारा वह स्वयंके ईष्टकी प्राप्ति कर लेगा तो यह मात्र एक भ्रमणा ही सिद्ध होगी.

ऐसी स्थितिमें "मेरे प्रभु इस जन्ममें मुझे आसुरावेशयुक्त ही रखना चाहते है" ऐसा हृदयमें तत्वनिर्धारण करना चाहिए, प्रभुके कर्तुम्-अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् स्वरूपका भावन करते हुए और वे सब कुछ अपनी निज इच्छा से करेंगे इस प्रकार विवेक धारण करते हुए माहात्म्यज्ञान पर अवलंबित होकर शरणागति या प्रपत्तिमार्गका आश्रय लेना चाहिए. अतः श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि "**तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः**".

भूलना नहीं चाहिए कि यहां विवृतिमें प्रयुक्त 'ज्ञानमार्ग' पद मर्यादामार्गीय ज्ञानका वाचक नहीं परन्तु पुष्टिमार्गीय ज्ञानका ही वाचक है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा भक्ति है और भगवानके गुणोंका संकीर्तन, कथा इत्यादि करना ज्ञान है. भगवत्कथाका समाश्रय करके हृदयमें प्रभुके विप्रयोगात्मकका समाश्रय करके हृदयमें प्रभुके विप्रयोगात्मकका भावन करना भी पुष्टिमार्गीय ज्ञान ही है.

फलतः भगवद्गुणानुवाद से 'शोकभाव' सिद्ध होता है वही पुष्टिमार्गीय विवेक है. इसी तथ्यको समझानेके लिए मूलमें 'विवेक' पद प्रयुक्त हुआ है. अतः भगवत्कृत प्रतिबंधको हटाना श्रीआचार्यचरणकी दृष्टि से जीवको कुंठित सामर्थ्यके कारण असंभव है.

साधारण प्रतिबंध :

जहां तक साधारण प्रतिबंधका प्रश्न है, उसका निवारण बुद्धि बल द्वारा करना चाहिए, श्रीआचार्यचरणानुसार केवल वही उपाय बतलाया गया है. परन्तु साधारण प्रतिबंधका स्वरूप लक्षण, कार्य तथा कारण लक्षण क्या है?

इसकी जिज्ञासा होने पर, यह समझमें आता है कि साधारण प्रतिबंधके लक्षणोंका स्वरूप स्व बुद्धि बल द्वारा स्वयं ही समझना चाहिये इसलिए श्रीआचार्यचरणने इसका विशेष खुलासा नहीं किया है परन्तु भगवत्कृत प्रतिबंधोको ही श्रीआचार्य-चरण द्वारा समझानेका क्या प्रयोजन हो सकता है तो यहां यह स्पष्टीकरण समझना आवश्यक है कि स्वयं भगवानके अतिरिक्त उन प्रतिबंधोका प्रयोजन अन्य साधनों से समझमें आना असंभव है, अतः 'वस्तुतः कृष्णएव' के न्यायसे श्रीआचार्यचरणने जीव हितार्थ उसका अभिप्राय प्रकट किया है. अतः हम केवल साधारण प्रतिबंधके ही स्वरूप आदिका विचार करेंगे.

२.विभिन्न टीकाकारोंके मतोंकी तुलना

सेवाफल ग्रन्थ पर कुल मिलाकर चौदह टीकाएं हैं, परन्तु सभी टीकाकारोंके मतोंका संपूर्ण विचारका अवकाश न होने के कारण और विस्तार भय से यहां हम केवल ७ टीकाकारोंके मतोंका विचार करेंगे.

श्रीकल्याणरायजी/श्रीहरिरायजी: सेवाके समय अन्य लौकिक वैदिक कार्योंमें आसक्ति अथवा बाह्य लोगों द्वारा उपस्थित किया गया प्रतिबंध. वहां यह आशय है कि सेवा करते समय लोक सम्बन्धित या वैदिक विषयोंमें अभिनिवेश होना अर्थात् सेवाके अवसरमें सेवाको प्राधान्यता न देकर चिकीर्षित लौकिक कार्योंमें व्यस्त रहना या वैदिक कर्मोंको ही प्रथमतया संपूर्ण करनेका अभिगम रखना अथवा सेवा छोडकर लौकिक

व्यक्तियों से भाषणादिक करना. दोनों ही टीकाकारोंके मत समान हैं.

चाचा श्रीगोपेशजी : श्रीगोपेशजी आज्ञा करते हैं कि वेदनिन्दा करनेके कारण या म्लेच्छ बलिष्ठ बहिर्मुखके कारण जनित प्रतिबंध, अर्थात् साक्षात् नारायणके वचन स्वयं नारायणके ही स्वरूप होनेके कारण वेदोंकी निन्दा वास्तवमें नारायणकी ही निन्दा है. (श्रीआचार्यचरण भी आज्ञा करते हैं **''अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा, नरके न भेवत् पातः किन्तु हीनेषु जायत''**) अथवा मलिन इच्छावाले जो बलिष्ठ हों वा बहिर्मुख हों उनके द्वारा उत्पन्न किया गया प्रतिबंध.

श्रीवल्लभजी : श्रीवल्लभजी बहोत सुंदर अर्थ करते हैं कि कायाकी अन्यपरता प्रतिबंध रूप है. इससे यह लक्षित होता है कि जिस कायाका हमने भगवत्सेवार्थ भगवानको समर्पण किया है उस कायाका भगवत्सेवामें विनियुज्य न होना प्रतिबंध रूप नहीं तो और क्या है?

श्रीपुरुषोत्तमजी : श्रीपुरुषोत्तमजीने भी एक विशिष्ट अर्थ किया है कि प्रतिबंध माने सेवाके प्रतिकूल लक्षणोंमें बंधना अर्थात् सेवामें रुचि होने पर भी शरीरादिकी सामर्थ्य होते हुए भी सेवाके अवसरमें लौकिक, वैदिक, कायिकादि व्यापार प्रकट होना. इससे यह ध्वनित होता है कि उपर श्रीकल्याणरायजी और श्रीहरिरायजीने जो प्रतिबंधका अर्थ किया उसमें अंतर यही है कि वहां लौकिक, वैदिक कार्यान्तर आसक्ति अनिच्छयाथी और यहां वह आसक्ति इच्छया संचालित होती है, माने जानते बूझते सर्व विध सामर्थ्य होते हुए भी भगवत्सेवामे आलस्य करना अतः पूर्वोक्त अवस्था से वह अवस्था अपकृष्ट है, और जीवकी आत्यान्तिक सांसारिक अभिनिवेशिता एवं प्रमादको सूचित करती है. फलतः प्रतिबंध अवश्यंभावी है.

लालूभट्टजी : लालू भट्टजीके अनुसार प्रतिबंधका स्वरूप सुख या दुःख का अजनक होना है. अर्थात् भगवत्सेवामें सुख-दुःखानुभूतिका प्रकट न होना उदासीनताका द्योतक है क्योंकि स्नेहाभाव दुःखसुखानुभूतिके अभावका मूल है और स्नेहाभाव स्वयंको जडताका सूचक है और जडता सेवा

प्रयोजनका विरोधी भाव है. अतः प्रतिबंध रूप है ही. अथवा प्रतिबंध से उन्हें पापरूप वेदनिन्दाका पक्ष भी स्वीकृत है ही.

मठपति जयगोपालभट्ट : भगवद्विमुख भार्यादि द्वारा उत्पन्न किया गया प्रतिबंध यहां जयगोपालजीको मान्य है.

मठेश श्रीलक्ष्मणभट्ट : श्रीलक्ष्मण भट्ट कहते हैं कि सेवाके समय लौकिक वैदिक कर्मानुरोधिता, यह अर्थ भी पूर्व व्याख्याकारों द्वारा किया गया अर्थ ही है, अतः स्पष्टताकी आवश्यकता नहीं है.

३.वार्ता साहित्य में प्रतिबंधका स्वरूप

पुष्टिमार्गमें वार्ता साहित्यका अमूल्य योगदान है जिसके विषयमें स्वयं श्रीगोकुलेश आज्ञा करते हैं कि ये मात्र कथाएं न होकर कथाका फल है. ये वार्ताएं न केवल पुष्टिमार्गीयको उसके व्यावहारिक जीवनको सेवा-कथा मय बनानेमें सहायक रूप हैं परन्तु साथ ही साथ जीवको पुष्टि पथ पर चलाने में कर्तव्य दिशाका सम्यक् बांध भी कराती है.

इस संदर्भमें यह अनुसंधेय है कि साधारण प्रतिबंधका स्वरूप समझना केवल भगवत्सेवाके छूट जानेके ही परिप्रेक्ष्य में सीमित नहीं होकर 'सेवा' के स्वरूपको अखंडित बनाये रखनेके दृष्टिकोण से और तदर्थ उसके सहायक कारणोंकी मीमांसाकी दृष्टि से भी एवम् प्राचीन भगवदीयोंके अनुभवकी रोशनीमें समझना आवश्यक है, अतः अब हम तदनुसार कुछ वार्ताओंके अवलोकनमें प्रवृत्त होते हैं.

१.सेवामें लोकलाज, कुलकान व अन्यके वचन पे विश्वास, ये अन्याश्रय है

दामोदरदासकी स्त्रीने अपने पिताकी बात सुनकर जल भरनेकी सेवा नहीं की (८४ वैष्णवकी वार्ता-३ दामोदरदास संभलवारे). जो जीव लोकभय से या कुलकी मर्यादा टूट जानेके भय से या अवैष्णवोंके वचनों पर आस्था रखके तदनुकूल व्यवहार करते हैं वे प्रतिबंधको स्वयं आमंत्रित करते हैं.

२.अनधिकार होने पर भी सख्य-भाव वत् प्रभु से व्यवहार करना बाधक

"श्रीआचार्यजीने अब ही दासभावको अधिकार दियो है. और यह हांसी तो सख्य भावको अधिकार भयो होई तब ही बने : ताते तेरो धर्यो भोग नाहीं अंगीकार करंगो, या प्रकार सिक्षा किये" (८४ वैष्णवकी वार्ता-३ दामोदरदास संभलवारे)

जीवका सहज दासत्व होने का कारण आत्मनिवेदन दीक्षाके पश्चात् दासभावानुसार ही करनी चाहिये, व्यर्थ में अनधिकार चेष्टा करना प्रतिबंधको गले पतित करना है.

३.सेवामें अन्याश्रय बाधक

"अन्याश्रय बराबरि दोष दूसरो नाही है. जैसे एक पति छोडिके दूसरो पति करे तब स्त्रीको सगरो धर्म जाई. ताही प्रकार अन्याश्रय रंच करे तो वैष्णवको धर्म नाश होई : श्रीभागवतमें कहे हैं भक्तिको श्रीठाकुरजी बिना और ठौर ममत्व होई सो वस्तुको श्रीठाकुरजी तत्काल नाश करे"(८४ वैष्णवकी वार्ता-३ दामोदरदास संभलवारे)

४.सेवामें अहंकार बाधक

"खडियामें बिना कहे खरची वैष्णवको भर देते. सो श्रीआचार्यजीके आगें बडाई बहोत भई. जो आवे सो (बडाई) करे. तब श्रीआचार्यजीके मनमें यह आई, जो हृदयके भीतरको भाव सुद्ध होई तब काम होई. जो अन्याश्रय न होई." (८४ वैष्णवकी वार्ता-३ दामोदरदास संभलवारे)

"जो-प्रीतिकी लोटी मोकों प्रिय है. अहंकार करि छप्पनभोग प्रिय नाही है" (८४ वैष्णवकी वार्ता-पद्मनाभदासको नाती-रघुनाथदास)

"जो श्रीनाथजीके यहां अहंकार किये तब सहजमें सेवा छूटि गई. सो सेवा छोडि दीनी. वाको आशय यह जो श्रीगोकुलनाथजीकों अहंकार प्रिय नाहीं है : काहेतें अहंकार दास-भाव में विरोधी है. ताते उत्तम कुल मद बाधक दिखाए जो एक दिन अहंकार सों सेवा छूटे. सेवा ठाकुर न करावें. यह सिद्धान्त दिखाए." (८४ वैष्णवकी वार्ता-११ गोविन्ददास भल्ला)

गोपालदासजी द्वारा नरोडामें श्रीगुसांईजीके दर्शनार्थ जाने पर मार्गमें साथ आए वैष्णवोंको बार-बार श्रीगुसांईजी द्वारा नाम सुननेकी इच्छा होने पर भी स्वयंको ही नाम दीक्षा देने के लिये योग्य समझना. इस वार्तिके भावप्रकाशकार श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं : "जैसे श्रीगंगाजीकी धारा सों जल छूटि न्यारो जले रहे, सो सगरे मनुष्यनकों पाप रूप है, ताके छूवे तें दोष लगे, तद्वत् भये. यामें यह जताये, जो-गोपालदासकों स्वामी पद आयेतें जीवनको बिगार भयो. ताते दैन्यता बडो पदार्थ है. सब फलको सिद्ध करे और अहंकार महाबाधक है यह दिखाये." (८४ वैष्णवकी वार्ता-७९ गोपालदास क्षत्री-नरोडाके)

यहां यह ध्यातव्य है कि भगवत्सुख में सुख व भगवदुःख में दुःख मानना ही पुष्टिमार्गमें सेवाका मूल मंत्र माना गया है, अतः अहंकार या अहं भाव प्रतिबंधकी प्रथम सीढी है.

५.असंभावना विपरीत भावना बाधक

"एक दिन जगन्नाथ जोसी श्रीठाकुरजीकों श्रंगार करि बागो पहिरायकें राजभोग धर्यो... तब जगन्नाथ जोसीके मनमें यह आई, जो श्रीठाकुरजी बागो पहरे आरोगत हैं. सो थार छुई जायगो. सो थार लात मारिकें चौकी सों नीचे डारि दिये"

इस प्रकार श्रीठाकुरजीने बार-बार किया. इस वचन पर श्रीहरिरायजी भाव प्रकाशमें आज्ञा करते हैं-"श्रीठाकुरजीकी लीलामें श्रीठाकुरजीके स्वरूपमें दोई भावना करे तब श्रीठाकुरजी अप्रसन्न होई. एक असंभावना, एक विपरीत भावना. असंभावना यह जो श्रीठाकुरजी पराये सो विहार किये. श्रीठाकुरजी हीन जातिके घर कैसे अरोगत होइंगे? श्रीठाकुरजीके छुये तें वह वस्तु छुई जायगी. अहीर ज्ञातिके बिना न्हाये क्यों भोजन किये? श्रीठाकुरजीको फलानो रोग भयो. श्रीठाकुरजी नित्य तो प्रमान अरोगत हैं अन्नकूटमें इतनो सब कैसे अरोगेंगे? और विपरीत भावना यह-जो श्रीठाकुरजीके मुखमें बास आवेतो. ताते वासन दातन करावनो. इतनी गाई हैं सब कैसे दुहत होइंगे? आगे व्रजमें प्रकटे अब व्रजमें कहां है? : श्रीठाकुरजी एक सगरी गोपिकान सों कैसे विहार करत होइंगे? : या प्रकार असंभावना, विपरीत भावना ते श्रीठाकुरजी

अप्रसन्न होई : सो न करनो" (८४ वैष्णवकी वार्ता-जगन्नाथ जोसी)

६.सेवामें निश्चिंतता एवं आलस्य बाधक

एक क्षत्राणी द्वारा आलस्यके कारण १०-१२ दिनकी सामग्री करके निश्चिंत होना. इस प्रसंगके भाव प्रकाश में श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि "जो निश्चिंत रहेगी तो मनको निरोध न होइगो. मन तहां भटकेगो : और क्षत्रानीने छाती याते कूटी जो यह पुष्टिमार्गकी मर्यादा है, जो वैष्णव भोग धरे सो श्रीठाकुरजी अरोगे : मैं अपने हाथ सों धरती, तो मेरे हाथ सों फल होतो. मेरी सेवा गई, सो सेवाके लिये छाती कूटी : और यह वार्तामें यह जताये, जो सामग्री श्रीठाकुरजीके लिये विचारके करिये, तो श्रीठाकुरजी प्रीति सों आरोगें, जो और मनोरथ किये, जो लोगनको समाधान करनो है, हमकों यह वस्तु बहोत भावत है, इत्यादिक भाव होइ, तो दृष्टि सों अंगीकार करें. परन्तु प्रसन्न होईके न अरोगें. ताते श्रीठाकुरजीके भाव सों सामग्री करनी"(८४ वैष्णवकी वार्ता-४३ एक क्षत्राणी, प्रयागमें रहती)

आज परिस्थिति यह है कि भोग प्रभुके लिए न होकर अन्यार्थ रखा जाता है, उदाहरण प्रतिस्पर्धाकी भावना से रखे गए ५६ भोग, कुनबारा इत्यादि.

एक वैष्णवके आलस्यके कारण जली हुई सामग्री श्रीगोवर्धननाथजीको भोग धरना और श्रीगुसांइजी द्वारा सेवा से बाहर किया जाना. (८४ वैष्णवकी वार्ता-५३ भगवानदास सांचोरा ब्राह्मण). इस संदर्भमें यह जान लेना आवश्यक है कि अधुना प्रकटित हवेलियों में 'पहोंचो पहोंचो'की आडमें छिपा हुआ आलस्य एवं मुखिया-भीतरियाओं पर सेवाका भार सोंप कर प्रकट होती निश्चिंतता और श्रीआचार्यचरण द्वारा प्रकटित सिद्धान्तों से स्नान-सूतक का सम्बन्ध नहीं रखने वाले कतिपय वैष्णव समाजका स्वयंके सेव्य प्रभुको उपेक्षित करके स्वधर्म(माने स्वतनुवित्त द्वारा, स्व-परिवार सह स्वसेव्य-प्रभुकी सेवाके) त्याग पूर्वक स्व-कल्पनानुसार आचरण करना शत् प्रतिशत् साक्षात् प्रतिबंधको आमंत्रित करना है.

७.स्व प्रतिष्ठार्थ भगवत्सेवाका नाम लेना बाधक

श्रीआचार्यचरणका नरोडा पधारने पर गोपालदासकी अनुपस्थितिमें

उनके पुत्रका उनके विषयमें पूछने पर लौकिक व्यावृत्यर्थ बाहर जाने पर भी भगवत्सेवार्थ जानेका प्रत्युत्तर देना. इसके भाव प्रकाशमें श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि "पुष्टिमार्गकी यह रीति है जो सेवामें जाई तऊ लौकिकको नाम लेई. भगवद् धर्म प्रकाश न करे, सो भगवदीय आछे जीन न होई सो लौकिकमें हू अपनी बडाई अर्थ सबके आगे भगवद् सेवाको नाम लेई." (८४ वैष्णवकी वार्ता-७९ गोपालदास क्षत्री-नरोडाके).

एक वैष्णव जिसने गुप्त भेंट करी. इसके भावप्रकाशमें श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि : "वैष्णवकों भगवद्धर्मको आचरन गुप्त रीति सो करनो, काहेतें? जो भगवद्धर्म बाहिर प्रगट होई तो हृदयमें तें निकसि जाय. ताते प्रतिष्ठा आदि बाधक कहे." (२५२ वैष्णवकी वार्ता-२२८ एक वैष्णव जाने गुप्त भेंट करी)

आजकी परिस्थितिका विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कहां सेवाका यह उच्चतम मनोभाव कि सेवार्थ जाने पर भी लौकिक कार्यका नाम लेना और कहां अधुना पुष्टि भक्तोंका यह भाव कि भगवत्सेवाके नाम पर लौकिक में स्व-सेव्य प्रभुके लिये भीख मांगनेको भी श्रीआचार्यचरणका सिद्धान्त घोषित करना

८.भक्तिमार्गमें काम बाधक

"सो वो क्षत्राणी नित्य श्रीगोकुल आवती. श्रीगुसांईजीकों देखिके निरखिके अपने घर जाती. परि मनमें वाके विषयभाव भयो : ता पाछे एक दिन श्रीगुसांईजी सों कह्यो जो मेरो मनोरथ पूरन करो. तब श्रीगुसांईजीने नाहीं करी और कह्यो जो या बात में हठ मति करि. नहीं तो तेरो बुरो होइगो.

इस प्रसंगके भाव-प्रकाशमें श्रीहरिरायजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि..."जद्यपि श्रीगुसांईजी आप पूरन पुरुषोत्तम हैं. परि आप आचार्यरूप धारन कियो है. ताते आप सास्त्रनकी मर्यादाको पालन करत हैं, सो सास्त्रनमें परस्त्री गमन निषिद्ध हैं. और दूसरो अभिप्राय यह है जो भक्तिमार्गमें काम बाधक है. काहेतें जो विषय सों आक्रांत जीवनके हृदयमें प्रभुनको आवेस सर्वथा होत नाहीं. ताते श्रीआचार्यचरण 'सन्यासनिर्णय' ग्रन्थमें कहत हैं "विषयाक्रांत देहानां नावेशः सर्वदा हरेः." सो या प्रकार भक्तिमार्गमें कामको बाधक कह्यो है". (२५२ वैष्णवकी वार्ता-६५ गंगाबाई क्षत्रानी)

९.अधर्मका धन बाधक

"सो वह बाट मारतो, रस्ता लूटतो, ऐसो कर्म करतो : सो वह श्रीगुसांईजीके पास आई कहे, जो-महाराज कृपा करि मोहूकों नाम सुनाय सेवक कीजिए, तब श्रीगुसांईजी कहे, तू बाट लूटत है ताते हम तोंको सेवक नाही करेंगे : तब बाने विनती कीनी जो महाराज, आज तें में या कामकों छोरत हूं..."

इसके भाव प्रकाशमें श्रीहरिरायजी आज्ञा करत हैं कि : "जो वैष्णवकों अधर्म करि द्रव्य जोरनो नाहीं. खेती, चाकरी, बानिज्य करि निर्वाह करे तो प्रभु प्रसन्न होंई. और काहूकों कष्ट पहोंचे सो कार्य सर्वथा न करनो" (२५२ वैष्णवकी वार्ता-२०० एक बाई जाको बेटा बाट मारतो)

ऐसे और भी कितने ही प्रसंगो से वार्ता साहित्य भरा हुआ है जिनमें सुखपूर्वक प्रतिबंध रहित भक्तिमार्गको अनुसरनेकी प्रेरणा मिलती है, परन्तु स्थलाभाव व विस्तार भय से केवल वार्ता संख्याका नाम निर्देश मात्र कर रहे हैं, विशेष जिज्ञासार्थ वहीं देखें.

१.गोविन्द स्वामीकी बहन कान्हबाईकी वार्ता-१६९
२.माधुरी दास मालीकी वार्ता-१७३
३.श्रीगुसांईजीके सेवक बलाई स्त्री-पुरुष-२१६
४.स्त्री-पुरुष ब्राह्मन जाकी स्त्रीकों श्रीनाथजी सदेह ले गए-२२५
५.राजा मानसिंह दक्षिणको-१७७
६.एक पुरुष दोई स्त्री, क्षत्री वैष्णव-१८० : आदि.

४.वर्तमान देश-कालके संदर्भमें प्रतिबंधका स्वरूप और ५.समाधान

जैसा कि हम जानते हैं कि पुष्टिभक्तिमार्गके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रकटित भगवत्सेवा जीवके पुरुषोत्तमके साथ सम्बन्ध स्थापित करने, सर्वेन्द्रियों से भगवद् रसकी अनुभूति करने एवं इसी लोकमें दिव्य अलौकिकानुभूति प्राप्त करनेका एक सुव्यवस्थित प्रकार है.

परन्तु श्रीआचार्यचरणकी अमृतवाणीका हृदय एवं बुद्धयया अनुसरण न करनेके कारण सेवामें प्रतिबंधोकी संभावना अत्याधिक प्रबल होती जा रही है, जिसके कारण न केवल संप्रदायकी परन्तु तदनुगामियोंकी छबि भी निश्चित

धूमिल हुई है ही, इसमें लेश मात्र भी संदेह नहीं है.

श्रीआचार्यचरण जिस भगवत्सेवाके प्रबल समर्थक हैं उसी भगवत्सेवाके त्यागका भी विधान वे स्वयं ही करते हैं, जीवको निम्नलिखित प्रतिबंध उपस्थित होते हों तो त्यागका अनुकल्प विधेय है, अन्यथा नहीं. इन प्रतिबंधोका विचार श्रीआचार्यचरणने निबंधान्तर्गत सर्वनिर्णय प्रकरणके साधन प्रकरणमें किया है. यहां हम संक्षेपमें उन्हीं श्लोको पर विचार करेंगे.

''विक्षेपादथवा शक्त्या प्रतिबंधादपि क्वचित् ।
अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसंभवे ।।''

विक्षेप, अशक्ति, प्रतिबंध, अत्याग्रह हो जाने पर और परपीडा होने पर श्रीआचार्यचरण सेवाके त्यागका विधान करते हैं.

प्रतिबंधोका स्वयं श्रीमहाप्रभुजीकी दृष्टि से अभिप्रेत अर्थ :

१.विक्षेपाद् : स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलाद्भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि.

२.अशक्त्या : जरया व्याधिभिर्वा यदा शक्त्यभावो.

३.प्रतिबंधाद् : लोका वा प्रतिबन्धं कुर्वन्ति.

४.अत्याग्रह : स्वस्य वा परम आग्रह उत्पद्यते. येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति.

५.परपीडा : लोकानां वा पीडां कुर्यात्, तत्र पूजा(सेवा) त्यक्तव्या.

१.विक्षेप :

श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि जब इन्द्रियोंकी स्वतः प्रवृत्तिको बलपूर्वक भगवानमें योजित किया जाता है तो इन्द्रियां चित्तमें विक्षेप उत्पन्न करती हैं. यहां 'पूजा' पद से 'सेवा' ही अपेक्षित है.

पतंजतिके अनुसार विघ्नके नो प्रकार हैं जो चित्तकी एकाग्रताको प्रभावित करते हैं, जो इस प्रकार हैं :

१.व्याधि-धातु, रस और करणकी विषमता से उत्पन्न ज्वरादिक.

२.स्त्यान-चित्तकी अकर्मण्यता अर्थात् सेवा करनेकी इच्छा होने पर भी करनेकी सामर्थ्य न होना.

३.संशय-मैं भगवत्सेवा कर सकूंगा या नहीं, करने पर भी सेवा सिद्ध होगी या नहीं इन दो कोटियोंका वैषयिक ज्ञान संशय है.

४.प्रमाद-भगवत्सेवाके साधनोंका अनुष्ठान न करना.

५.आलस्य-सेवामें चित्त अथवा शरीरके भारी होने कारण ध्यान न लगना.

६.अविरति-विषयोंमें तृष्णा बनी रहना और फलतया लौकिकमें वैराग्यका अभाव.

७.भ्रान्तिदर्शन-मिथ्या ज्ञान(भगवत्सेवाके साधनों तथा फलको मिथ्या जानना)

८.अलब्ध भूमिकत्व-भूमिको न पाना अर्थात् सेवाका बीज-भाव या सेवा द्वारा उद्धारका भाव या सेव्यके प्रति श्रद्धाका भाव मनमें न आना.

९.अनवस्थितत्व-प्रभुका अश्रय भाव सिद्ध होने से पूर्व ही छूट जाना,

वैसे तो जीवनमें अस्थायी विक्षेप चलते ही रहते हैं परन्तु विक्षेपके उपरोक्त प्रकार यदि स्थायी रूप धारण कर लें तो चिन्ताका विषय होने से भगवत्सेवाके त्यागका ही पक्ष स्वीकारनेके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं बचता. अतः श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं ''पूजा त्यक्तव्या'.

२.अशक्त्या

वृद्धावस्था अथवा शारीरिक व्याधिके कारण उत्पन्न अस्वस्थता भगवत्सेवाके त्यागका हेतु बन सकती है. अतः श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं 'पूजा त्यक्तव्या'.

३.प्रतिबंध

अपुष्टिमार्गीय स्वामिक गृहमें गृह स्वामी द्वारा अविभक्त स्वत्व वाले स्व-सम्बन्धी पर भगवत्सेवा नहीं करनेका प्रतिबंध उपस्थित करने पर भगवत्सेवाका निर्वाह अशक्य है. अतः श्रीआचार्यचरण आज्ञा करत हैं 'पूजा त्यक्तव्या.'

४.अत्याग्रह

यदि हमें भगवत्सेवामें भगवानको छोडकर तदतिरिक्त वस्तुओंका

परम आग्रह पनप जाये और भगवदाग्रह गौण बन जाये अर्थात् हम भगवानका स्मरण न करके वस्तुओंका स्मरण करने लग जाएं या होने लग जाए तो ये स्थिति भगवत्सेवा करनेके लिए योग्य नहीं है क्योंकि भगवदतिरिक्त वस्तुका आग्रह स्वयं में तामसता की प्रबलताके कारण शनैः शनैः भगवद्विमुखताके द्वार खोलनेमें पर्यवसित होगा. अतः श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं 'पूजा त्यक्तव्या'.

५.परपीडा

यदि हम भगवत्सेवाका निर्वाह कर रहे हैं परन्तु यदि हमारे इस कृत्य से किसी दूसरेको कष्ट पहुंचता है तो ऐसी भगवत्सेवाका जडाग्रह रखना स्वयं अपनी ही भगवत्सेवाके मूलको उच्छेद करना है क्योंकि पर पीडा पर प्रतिकारमें परिवर्तित होगी और पर प्रतिकार भगवत्सेवाके साधनोंको असाधन बनानेमें और अंततो गत्वा सेवाका निर्वाह अशक्य बन जायेगा, अतः श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं 'पूजा त्यक्तव्या'.

श्रीहरिरायजीने भी प्रतिबंधका स्वतंत्र विचार 'शिक्षापत्र' नामक ग्रन्थमें किया है, २७वें शिक्षापत्रमें श्रीहरिरायजीने साधारण प्रतिबंधोका ही सुविशद विचार किया है, ध्यान से देखा जाए तो श्रीआचार्यचरण द्वारा उपरोक्त प्रतिबंधके स्वरूपका ही विस्तार यहां श्रीहरिरायजीने किया है, ऐसा प्रतीत होता है, यहां हम संक्षेपमें उन्हीं प्रतिबंधोका विचार यहां करेंगे. श्रीहरिरायजीने ४० बाधक गिनाये हैं जो कि इस प्रकार हैं :

१.धन : धनमद से जीवकी विवेक शक्ति नष्ट हो जाती है.
२.गृह : मेरा या मेरे पिता द्वारा बनाया गया है, ऐसी ममता बाधक है.
३.गृहासक्ति : अष्टप्रहर गृहादि कार्यो में आसक्ति.
४.लोक-वेद प्रतिष्ठा : लौकिकमें यह करूंगा तो मेरी प्रतिष्ठा बढेगी इत्यादि भाव.
५.कर्मादिमें निष्ठा : संध्या-वंदन, तर्पण, व्रत, नियम इत्यादि में निष्ठा.
६.मनमें स्वर्गादि फलकी आकांक्षा : सेवा द्वारा स्वर्ग लोकमें जाकर नाना प्रकारकी भोगेच्छा.
७.लौकिकमें परम प्रीति : देहसम्बन्धी स्त्रीपुत्रादिमें प्रीति.

८.विरुद्ध विषयेष्णा : भक्ति विरुद्ध लौकिक विषयेच्छा.
९.अविरुद्धमें आसक्ति : भक्ति विरुद्ध लौकिक विषयों में आसक्ति.
१०.विषय भोगार्थ भोजन : भगवत्सेवार्थ भोजनका भाव न रख कर विषयार्थ भोजनका भाव.
११.देहाभिमान : मदांध होना, स्वदेहको देख कर बार-बार मनमें फूलना.
१२.कुलाभिमान : "मैं उच्च कुल में हूं, मेरे समान कोई नहीं" ऐसा भाव.
१३.विद्याभिमान : "मुझे षट्शास्त्रका ज्ञान है, अन्य सभी मूर्ख हैं" इत्यादि भाव दैन्य सिद्धिमें बाधक.
१४.लौकिक-वैदिक कार्योमें दिन व्यतीत करना, भगवत्सेवामें मन नहीं लगना.
१५.देह-पोषण भाव : देह रक्षाका भाव भगवत्सेवाके लिये न होकर लौकिकके लिये होना.
१६.असत्संग : बहिर्मुखोंका संग.
१७.असमर्पित भक्षण.
१८.निवेदनके अनुसंधानका त्याग.
१९.शरण विस्मृति : अष्टाक्षर मंत्रकी विस्मृति.
२०.अन्य देवाश्रय.
२१.अन्य देवों से फलेच्छा हेतु प्रार्थना.
२२.भगवच्चित्तरहित व्यावृत्ति : मनमें असंभावना, विपरीतभावना, मिथ्याध्यान
२३.अष्ट प्रहर लौकिक व्यावृत्ति : लौकिकावेश.
२४.गुरु द्रोह.
२५.स्वाधिक्य विभावन : पुष्टिमार्गीय भगवदीयोंमें स्वयंको अधिक जानना.
२६.देहात्यंत सामर्थ्य : अहंकारके कारण किसीको कुछ नहीं गिनना.
२७.इन्द्रिय पोषण.
२८.गृहादिमें प्रीति.
२९.भार्या पुत्रादिमें मनोगति.
३०.श्रीकृष्णानुभाव रहित देशमें सतत संस्थिति.
३१.सांसारिक दुःख-सुखमें मग्नता.
३२.द्रव्य एवं कुटुम्ब वर्धनकी भावना.
३३.स्वयंके भगवद्दासत्वका विस्मरण.
३४.जीव स्वभाव गत स्वाभाविक दुष्टता.

३५.अधिकारत्व : अधिकारत्वेन अनेक जीवोंके अहितमें प्रवृत्ति.
३६.पापरति.
३७.पक्षपात : असत् मनुष्योंके साथ सहकार.
३८.हृदयक्रूरता : किसीका हित न विचारना, छल रखना.
३९.दीनजनोपेक्षा.
४०.अक्षमा : अकारण क्रोध आना, असहनशील होना.

श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि दोष तो अन्य भी हैं परन्तु ये दोष हरिके विस्मारक होनेके कारण श्रीकृष्णके दासोंको इनसे सावधान रहना चाहिये.

स्वतंत्र विचार

जैसा कि सर्व विदित है कि प्रतिबंधके एक नहीं अनेक प्रकार हैं जिनमें से कुछ प्रतिबंधोके स्वरूपको श्रीहरिरायजीने शिक्षापत्रके अन्तर्गत निरुपित किया. कुल मिलाकर यह प्रतीत होता है कि प्रतिबंधके मुख्यतया निम्नलिखित प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं : प्रतिबंध मुख्यतया तीन प्रकारके हैं : १.पारिवारिक २. सामाजिक और ३.सांसारिक.

१.पारिवारिक प्रतिबंध

पारिवारिक प्रतिबंध तो लगभग ८४ वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत आए हुए सभी वैष्णवोंको आया ही है, जैसा कि हम उपरोक्त प्रसंगोमें देख ही चुके हैं, परन्तु इन उदाहरणोंमें :

"आपुकी कृपा तें मेरे द्रव्य बहोत है. मैं तो काहूसों जलको व्यौहार हू न राखोंगो. आप आज्ञा करोगे तेसें करूंगों." [१]

"अबमें आपको दास भयो अब संसारी जीव सों व्यौहार मेरे नाहीं है : कृपा करिके सरन लीजिये. और यह बहिर्मुख कब कहेगो, जो तु सेवक होउ." [२]

"जो यह माला हमारे सिरके काटे हैं. माथो जाय तो चिंता नाही

परन्तु माला तो न छोडेंगे : तुम्हारो मन होय तो हमारे भेले रहो, चहिये सो और कहो तो तुमको न्यारो घर करिकें देय : तुम कहो तेसे करे. क्लेश मति कर. परन्तु हम माला सर्वथा न छोडेंगे." [३]

"मैं तो तुम्हारो जल न पीउंगो. तुम जाय श्रीआचार्यजीके सेवक ह्वै आवो तो मेरे तुम्हारे बने. नाहीं तो मोकों थोरी सी जगह न्यारी करि देउ. तामें में रहंगो". [४]

"तब श्रीआचार्यजी कहें, तुमहु ब्राह्मन हो, योग्य हो, सेवक कैसे होउगे? तब दोउ जने कहे, महाराज हम ब्राह्मन काहे के हैं, ब्राह्मनको कर्म तो हम जानत नाही, ताते हमपे कृपा करो, सरनि लेउ, जो हमारी बुद्धि कछु उत्तम होई." [५]

"तब माता-पिता ने कही, जो यह सगरी जगह तिहारी है, जहां चेहे तहां रहो. तब दोउ भाई ने कही, जो नाही, न्यारी करि देउ. तिहारी जगहमें हम न आवे. हम रहें तहां तुम मति आवो, तो हम घरमें रहें." [६]

(१.रामदास सारस्वत, २.गदाधरदास, ३.पुरुषोत्तमदास स्त्री-पुरुष, ४.गोपालसाद बांसवाडे, ५.उत्तमदास सांचोरा ब्राहन, ६.आनन्ददास विश्वंभरदास)

यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मनिवेदन दीक्षाके पश्चात् पुष्टिमार्गको अनुसरनेकी जो ललक, निष्ठा एवं आत्मविश्वास उपरोक्त वैष्णवोंकी वार्तामें झलकता है उसका आज भयंकर दारिद्रय ही दिखलाई देता है, यह वास्तवमें खेदका विषय है और विचारणीय भी है क्योंकि श्रीआचार्यचरणने कभी किसीको कहीं भी बल जबरन पुष्टिमार्गीय बनाया हो ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता. सभी स्वयं ही स्वयंकी इच्छा से मार्गमें दीक्षित हुए हैं. अतः उन लोगोंको आए हुए प्रतिबंधोंका निवारण स्वयं उन्होंने ही स्व-बुद्धि से किया.

अधुना ब्रह्मसम्बन्धोत्तर कर्तव्योंका विचार अनावश्यक समझनेके कारण कभी हमें द्रव्यका अहंकार, कभी स्व-जातिका अहंकार अथवा पुष्टिमार्गको प्रवाह मार्ग समझकर केवल समय व्यतीत करनेका भाव या

आचार्य सम्बन्धको मिथ्या माननेका भाव अथवा प्रभु-सम्बन्धको अवास्तविक समझनेका भाव प्रतिबंधक रूप होता है, अतः जब तक जीवके हृदयमें ये भाव विद्यमान हैं तब तक प्रतिबंध रहित मार्गानुसरण असंभव है.

२.सामाजिक प्रतिबंध

सामाजिक प्रतिबंध उपस्थित होने पर भी यदि स्वयं में पूर्ण भगवद्-भाव हो, श्रीआचार्यचरणके प्रति संपूर्ण निष्ठा हो और मार्गके प्रति समर्पणका भाव हो तो सामाजिक प्रतिबंध बडी ही सरलता से दूर किया सकता है जैसा "तब सबनने कही महाराज वह वेस्या अटकावमें हू बहोत बरजे परन्तु मानत नाही सेवा करत है : पाछे श्रीगुसांईजी कहे जो-यह वेस्या करे, सो करन देउ : बाकी देखादेखी और कोई मति करियो. वा पर श्रीठाकुरजी याही भांति प्रसन्न हैं, तुम पर मर्यादा ही सों प्रसन्न होईंगे. "बेनीदास माधवदासकी वार्ताके इस प्रसंग में उल्लेख आया है.

अतः कभी जिस समाज से हम जुडे हुए हैं उस समाजके साथ कटि-बद्ध होकर स्व-धर्मको भूल कर चलनेका भाव जब भी मनमें पनपता है तो निश्चित ही प्रतिबंधोके द्वार खुलनेकी संभावना प्रबल हो जाती है.

३. सांसारिक प्रतिबंध

सांसारिक प्रतिबंध दो प्रकारके हो सकते हैं, १.आहंकारिक, २.मामकारिक.

स्वयंके अहंकार और स्वयंके ममकार प्रभुको समर्पित नहीं करनेके कारण प्रतिबंध रूप हो सकते हैं अन्यथा नहीं क्योंकि अहंकार और ममकार वास्तवमें इतने बंधनकारी नहीं हैं जितना इनको समझा गया है प्रत्युत ये तो प्रभु द्वारा प्रदत्त ऐसी भावनाएं हैं जिनका सर्वथा त्याग भगवदद्त्त अहंकार एवं ममकारके निरुपयोगमें पर्यवसित होगा और सर्वथा भोग दुरूपयोग में, अतः इनका सम्यक् तया प्रभु विनियोग ही प्राप्तका समुपयोग है. आवश्यकता है अपने अहंकारके भावोंमें श्रीकृष्णके दास होनेके अहंकार और स्वयंके ममकारमें सर्वथा कृष्णके हो जानेके ममकारको जोड देने की.

अत्यधिक स्वाहंकार या अत्यधिक स्वममकार निश्चित प्रतिबंधको आमंत्रित करनेमें मुख्य भूमिका निभाता है.

श्रीआचार्यचरण स्व-तन से स्व-वित्त सहित स्व परिवार सहित स्वसेव्य प्रभुकी समर्पणात्मिका सेवाका उपदेश करते हैं, यहां यह समझ लेना जरूरी है कि स्व-तन से अहंकारका और स्व-वित्त से ममताका प्रभु विनियोग श्रीमहाप्रभुको अभीष्ट है. अतः जब भी हम स्व-तनका सेव्य प्रभुके लिये उपयोग न करके पर-सेव्य स्वरूपार्थ करते हैं और स्व-वित्तका विनियोग स्व-सेव्य-प्रभुके लिये न करके पर-सेव्य स्वरूपार्थ करते हैं तो इसे प्रतिबंध रूपी बंध द्वारके तालेको खोलनेकी कुंजी मानना चाहिये क्योंकि यह श्रीआचार्यचरणके दिव्य एवं अलौकिक सिद्धान्तोंको तोडनेका अशुभारंभ है.

सांसारिक प्रतिबंधका उल्लेख भी वार्तामें इस प्रकार आया है कि, "गोविन्ददास भल्ला तामसी हते, सो अहंकार सो करते. स्त्री तो त्याग हू अहंकार सों कर्यो... सरीरको कष्ट पावते. परन्तु सगरे सेवकनकों नीचे करि दिये. जो मो बराबर कौन करेगो. तातें श्रीगोवर्धनधरकों आछो न लगतो." (८४ वैष्णवकी वार्ता-गोविन्ददास भल्ला) (११)

इस प्रकार अहंकार और ममकार, दोनों ही प्रतिबंध रूप हैं यदि हम उनका प्रभु से सम्बन्ध नहीं जोड पाये तो. और भी ऐसे कई वार्ता प्रसंग हैं जिनमें हमें प्रतिबंध विचारकी दिशा मिलती है परन्तु जिनको हम यहां स्थलाभावके कारण संग्रहित नहीं कर पाएं हैं, अतः केवल उन वार्ताओंका उल्लेख मात्र कर देना उचित होगा जिससे विशेष जिज्ञासाकी पूर्ति हो सके.

द्रष्टव्य (२५२-वैष्णवकी वार्ता)

१.एक बाई जाको बेटा बाट मारतो : वार्ता संख्या-२००

२.कान्हबाई : वार्ता संख्या-१६९

३.माधुरीदास माली : वार्ता संख्या-१७३

अंतमें केवल इतना कहना चाहूंगा कि वैसे तो श्रीआचार्यचरणने 'विक्षेपादित्यादि' इत्यादि श्लोकों द्वारा प्रतिबंधका स्वरूप और श्रीहरिरायजीने

उपरोक्त जिन चालीस बाधकोंके विषयमें समझाया है, उनका स्वरूप वही सम्यक् प्रकार से समझ लेने पर समाधान स्वयं ही प्राप्त हो जाता है, अतः विशेष स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी श्रीआचार्यचरणकी अनुकंपा, बडो के आशीर्वाद एवं नित्य प्रातः स्मरणीय गो. १०८ श्रीश्याममनोहरजी काकाजीकी प्रेरणा व आशीर्वाद से जो समझमें आया है वही उनके शब्दों में एवं व्यक्तिगत विचार भी समाधानरूपेण लिखनेका प्रयास मात्र कर रहा हूं.

यह संभव नहीं है कि किसी कार्य वा कर्मके आरंभ होने पर और उसका साधनानुष्ठान करने पर उसमें कोई प्रतिबंध न आये और उद्वेग न हो परन्तु प्रतिबंध चाहे किसी भी प्रकारका क्यों न हो, समाधान तो प्राप्त हो ही सकता है, परन्तु यहां यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि कार्यका विषय क्या है और यदि कार्यका विषय भगवद्सम्बन्धित है, तो फिर वह केवल कार्य न होकर धर्म है, धर्मानुष्ठान है या साधनानुष्ठान है.

कोई भी साधनाप्रणाली चाहे फिर वह ज्ञानमार्गीय हो, कर्ममार्गीय हो या भक्तिमार्गीय हो उसका साफल्य तब ही सिद्ध हो सकता है कि जब वह अपने स्वरूपानुसार साधनानुष्ठानके अंगो सहितकी जाये और उसमें भी एक बात और मुख्य है, वह यह है कि साधनाप्रणालीके द्वारा जिस आराध्यकी अन्वेषणाका प्रयोजन है, उस प्रयोजन से रहित होकर तद्-तद् मार्गीय साधना या आराधना करने पर न केवल कर्ताके दिग्भ्रान्त होनेका संभावना रहती है बल्कि मार्गीय साधनाप्रणाली और मार्गका स्वरूप भी भ्रष्ट होता ही है. अतः अन्वेषणाका साधनाप्रणालीके साथ ठीक वैसा ही सम्बन्ध है जैसा देहके साथ आत्मा का. आत्मा रहित देहका अर्थ मृत शरीर है और देह रहित आत्मा, प्रेतकी स्थिति है. अर्थात् साधनाप्रणाली रहित अन्वेषणा या अन्वेषणा रहित साधनाप्रणाली दोनों ही प्रकार ईष्टतम फल प्राप्त्यर्थ अनुपयोगी हैं.

अतः जब भी कोई दीक्षा-गृहीता आत्मनिवेदन मंत्र-दीक्षा का अभिलाषी हो तब उसे अन्वेषणा किसकी है और दीक्षा दाताको किसकी अन्वेषणा है, यह जान लेना बहोत आवश्यक है क्योंकि निःस्पृह होकर भक्ति वृद्धयर्थ दीया गया दीक्षा दान और भगवत्सम्बन्धकी कामना से लिया गया

दीक्षा दान ही फलदायी सिद्ध होता है, इसमें किञ्चित् भी संदेह नहीं है अन्यथा शिष्येष्णा, वित्तेष्णा और लोकेष्णा सहित दिया गया दीक्षा दान और तैयार दर्शन-प्रसादकी भावना से अभिभूत होकर लिया गया दीक्षा-दान निश्चित ही बंध प्रतिबंधके द्वारोंको खोलेगा और खोलेगा ही यह ध्रुव सत्य है.

भगवन्मार्गमात्रस्थैस्तन्मार्गफलकांक्षिभिः।
विरक्तैरन्यतः कृष्णानुगुणासक्तांतरात्मभिः॥
स्वाचार्यं शरणं यातैस्तदिवरवाससमन्वितैः।
परित्यक्ताखिलैः स्थेयं सदा तद्दर्शनोत्सुकैः॥
इदानीमागतः कालः सर्व बुद्धिविनाशकः।
करे पतति दुःसंगो मीलिताक्षस्य चापि हि॥

चर्चा

सेवाफल ग्रन्थोक्त
साधारण प्रतिबंधका व्यावहारिक स्वरूप

श्रीमनोज गोस्वामी

गो. श्या. म. : श्रीमहाप्रभुजी सर्वनिर्णयनिबन्धमें योगको भक्तिमें विनियोग बतावें हैं. वा दिशामें व्यवस्थित विचार आज तक सम्प्रदायमें नहीं भयो है. या दृष्टिसुं सोचें तो योगमें जो प्रतिबन्ध आवे हैं उनकुं अपन भक्तिमार्गीय विघ्नकी टर्मिनोलोजीमें कैसे समझ सके हैं वो अपनकुं या पत्रसुं पता चले है.

उपनिषद्में कहे है "**एता त्रयस्त्रिंशत् देवता**". देवतान्की गणना तीनसुं शुरु होवे है. फिर बारह गिने हैं. आगे उपनिषत् ये भी कहे है के तैंतीस ही नहीं, हजार भी देवता हो सके हैं. तुमकुं वो नड़ रहे हैं! सच कहें तो देवताएं सबकुं नड़े हैं. क्योंके "**मनुष्याः वै देवपशवः**", "**तदेतत् देवानां न प्रियं यन् मनुष्या विद्युः**". देवतानकुं पसन्द नहीं आवे है के मनुष्य वो रहस्य जान जावे के जाकु जाननेसुं मनुष्य देवत्वकुं प्राप्त होवे. वहां दृष्टान्त दियो है के ऐसो कौन ग्वाला होयगो के जो अपने तबेलाकी गाय-भेंसकुं भागने देगो! व्रजलीलामें भी देवता-मनुष्यके झघड़ाकी बात खुलके वर्णित भयी है. वा झघड़ाकुं व्रजभक्तन्की सेवा करनेमें भगवानने कैसे ओवरकम् कियो वो भी वहां वर्णित भयो है. वो झघड़ा अभी भी कई लेवल्पे है. आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक देवताएं कई तरहके विघ्न उपस्थित करें ही हैं. तुम घरमें सेवा नहीं कर सको हो. सेवा तो हमारी हवेलीमें ही हो सके है. सेवा तो अपरस बिना नहीं हो सके है, हम अपरस नहीं पालें तब भी सेवा कर सके हैं! सेवा नेग-भोग-राग बिना नहीं हो सके है...**तदेतत् देवानां न प्रियं यन् मनुष्या विद्युः**! जाकुं श्रीमहाप्रभुजी सिद्धान्तरहस्य तरीके समझा रहे हैं "**सेवकानां यथा लोके ...सर्वेषां ब्रह्मता ततः**" ये सब सेवाकर्ताको

युनिफायिंग् पोईन्ट है. पर ये देवानां न प्रियम्. आजके देव कहेंगे के तुम्हारे यहां तो पुरुषोत्तम बिराजे ही नहीं है. वो तो हवेलीमें ही बिराजे है. तुम्हारे यहां कोई अल्लल्लटप्पु बिराजतो होयगो. देवानां न प्रियम्. देवता और मनुष्यको निरन्तर संघर्ष है. पर उपनिषत् कहे है के ये संघर्ष एक क्षणमें दूर हो सके है "**एताः सर्वदेवता ब्रह्म इत्येकं भवन्ति**". सब देवताएं ब्रह्म सोचते ही एक हो जाये हैं. ऐसे ही ब्रह्मकी ही ये बात नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीकी निरन्तर हैमरिंग् है के नाम-रूप-कर्मकी विविधता भी ब्रह्म इत्येकं भवति. वैसे ही जितनी भी साधनाएं हैं ...श्रीमहाप्रभुजीकी रेंज् देखो, आप कहे हैं के संसारकुं भी यदि भक्तिको अङ्ग बना रहे हो तो वो भक्ति बन जायेगो. संसार ही भक्ति बनेगो ऐसे नहीं;... ज्ञान, कर्म, संगीत, आयुर्वेद, राजनीति, व्याकरण कोईकुं भी लेलो भक्तिको अङ्ग बनानेपे वो भक्तिस्वरूप बन सके है. एक बाजु श्रीमहाप्रभुजी अन्याश्रयकुं इतनो बड़ो अपराध मान रहे हैं पर यदि वैदिक नित्य-नैमित्तिक कर्मकुं भगवदाज्ञा मानके भक्त्यङ्गतया कर रहे हो तो वामें अन्य देवताकी स्तुति भी अन्याश्रय नहीं मान रहे हैं. क्यों? ब्रह्म इत्येकता भवति. श्रीमहाप्रभुजीके या एप्रोचकुं देखें तो योगको भी भक्तिमें विनियोग करते आनो चहिये. अपन पतञ्जलिके नौकर नहीं है, अपन श्रीमहाप्रभुजीके अनुगामी हैं. पर श्रीमहाप्रभुजीकी मशाल लेके चलें तो भक्ती इत्येकता भवति.

पुष्टिभक्तिमार्गीय साधना प्रणालीमें प्रतिबन्धक : परपीड़ा

अनिल भाटिया – आशिष जोशी

उपक्रम :

श्रीमहाप्रभुजीने अपनी साधनाप्रणालीके आरम्भमें ही भक्तिमार्गपर प्रवृत्त होनेवाले जीवको पहेला उपदेश 'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थमें "**कृष्णसेवा सदा कार्या...तत्सिद्धयै तनुवित्तजा**" बताया है. जिसकी विवृत्ति श्रीप्रभुचरण इस तरहसे कर रहे है. "**आवश्यकार्थण्यत्प्रत्यवान्त कार्यपदोक्त्या...**" इसी सेवारूपी भक्तिके बीजकी दृढता श्रीमहाप्रभुजीने 'भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थमें "**बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु...पूजयाश्रवणादिभिः**" श्लोकद्वारा बताई है. इस तरह सेवारूपी साधना सदा करनेसे भक्ति व्यसनदशाको प्राप्त करती है.

एक ओर तो श्रीमहाप्रभुजी देवदुर्लभ भक्तिसाधनाका उदेश कर रहे हैं तो दूसरी ओर

विक्षेपादथवाशक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित्।।
अत्याग्रह प्रवेशे वा परपीड़ादि सम्भवे।
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा।।

—इस तत्त्वार्थदीपनिबन्धके सर्वनिर्णय प्रकरणके वचनमें उक्त सेवाका परित्याग कर तीर्थ पर्यटन करनेकी या पूजानुकूल देशमें स्थिति करनेकी आज्ञा कर रहे हैं. क्यों ? इस विधानको समजनेसे पहेले 'परपीड़ा' शब्दका अर्थ समझना आवश्यक हो जाता है.

परपीड़ाका अर्थ :

इस समस्तपदका विग्रह हम दो सम्भवित प्रकारसे कर सकते हैं :

१) परैः पीड़ा (तृ.त.पु): अर्थात् दूसरोंकेद्वारा सेवाकर्ताको दी जाती पीड़ा.
२) परेषां पीड़ा (ष.त.पु): अर्थात् सेवाकर्ताद्वारा दूसरोंको दी जाती पीड़ा.

परपीड़ाके पहले प्रकारको तो श्रीमहाप्रभुजीने इसी 'सर्वनिर्णय'की

कारिका "**भार्यादिरनुकूलश्चेत् ... प्रतिकूले गृहं त्यजेत्**"(२३३) में प्रतिपादित किया है. अर्थात् सेवामें जो विरोध करते हों उनका परित्याग करना. क्योंकि विष्णु विमुखका सङ्ग महाबाधक है. अतः उनके त्यागमें कोई दोष नहीं है.

'परपीड़ा'का दूसरा प्रकार 'सर्वनिर्णय' की कारिका २५०-२५१ में निरूपित है. और यही हमारे इस आलेखपत्रका मूल विषय है.

परपीड़ाका स्वरूप–मामकारिक प्रतिबन्ध/समस्या :

अपनी ममताके अतिरेकमें सेवाकर्ता घरमें स्वयं बड़ा होनेके कारण छोटोंको प्रभुमें भाव न होते हुए भी सेवा कराये तब स्वार्थ, संकोच या भय के कारण छोटे परिवार जनोंको सेवामें जुड़ना पड़ता है. ऐसेमें उनके द्वारा की जाती सेवा आन्तरिक पीड़ासे होती है. इससे प्रभुको सुख नहीं होता है. अतः इस तरहकी प्रभुको सुख न देनेवाली सेवा करनेसे तो उचित है सेवा न करना.

परपीड़ाकी परिधिमें कौन ?

अपने निवेदन करनेपर अपनी अहन्ताके साथसाथ हम अपनी ममताको भी प्रभुको समर्पित करते हैं. इस ममतामें हम किसको सम्मिलित करते हैं वो निवेदनकर्ता पर आधारित है. इस समर्पित ममताकी सीमा नहीं बांधी जा सकती. फिर भी क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीने "**निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः**" के नियमसे हमें बांधा है इसलिये हम कभी-कभी हमारे परिवारके सदस्य, नौकर-चाकर, पड़ोसी आदि सभीको हमारी सेवाके कारण पीड़ा देने लग जाते हैं. उदाहरणतया

(१) घरमें आजकलकी पढी-लिखी नयी बहु जिसे मार्ग या सेवा में न रुची है न उसका ज्ञान, उससे जबरन सेवा करवाना.
(२) नेग-भोग, मेंड़-मरजाद, अपरस और वैभव के कारण सेवाका ऐसा विस्तार करदें और फिर ऐसी सेवा स्वयंसे न होने पर नौकर-चाकर आदि रख कर उसे जैसे-तैसे निभानेका प्रयत्न करना.
(३) सुबह-दोपहर-शाम झांझ बजा-बजाकर अपने पास-पड़ौसीकी नीन्द/सुख-शान्ति भङ्ग करना.

क्या इस तरह सेवाद्वारा परपीड़ा दे कर हम अपने सेव्यस्वरूपमें चित्त जोड़ पायेंगे? वास्तवमें तो इस तरहके सेवाप्रकारसे तो स्वयं हमारे सेव्यप्रभु भी पीड़ा ही झेलते होंगे! तो देखो परपीड़ाके दायरेमें स्वयम् अपने सेव्यप्रभु भी आ गये!

वार्ता सन्दर्भ :

(१)कुंभनदासजीको जब श्रीगुसांइजीने पूछा " तिहारे कितने बेटा है?" तब जवाबमें कुंभनदासजीने कही "मेरे डेढ बेटा है, क्यों जो पांच तो लौकिक आसक्त है, जो वे बेटा काहे के? और पूरो बेटा चतुर्भुजदास है, और आधो बेटा कृष्णदास जो गावनकी सेवा करे है." ये सुनके श्रीगुसांइजी प्रसन्न होके कहे "जो साची बात है जो भगवदीय है वो बेटा".

(२)अम्मा क्षत्राणी के दो बेटा जो ठाकुरजीके सङ्ग खेलते. और देखके अम्मा सुख पावती...सो एक एक करकें दोनो बेटा मर गये. तब अम्मा रोवन लागी...जो प्रभुके खिलौना दोउ बेटे हते अब किनसों खेलेगें? सो भावसे अम्मा रोती और ठाकुरजी प्रसन्न होकर बरजते. अम्माको दुःख सहि न सके. और जो पुत्रको ममत्व करकें रोती तो ठाकुरजी न बोलतें.

(३) ...तब दिनकरदास मुकुन्ददास को न्हवाय नाम निवेदन कराय. सो कछुक दिन उहां रहीके मारगकी रीति सब सीखे....तब श्रीआचार्यजी ब्रह्मसम्बन्धकी पत्री लिखी हस्ताक्षर दिये. कहे इनकी सेवा करो...तब दोनो भाइ घर आये. स्त्रीजनकों रसोइ करी भोग धरि न्यारे धरी देय. काहे ते दैवी नाहीं. श्रीआचार्यजीके सेवक होनेको मन नाही...

(४)...पुरुषोत्तमदास स्त्री-पुरुषको नाम-निवेदन करवायो...और कही महाराज ठाकुरजी पधराय दीजिये तो सेवा करें. तब श्रीआचार्यजी कहे तुम्हारे माथे क्लेश आयेगो. ..तब उन दोउनकी माताने उनके गलेमें माला देखी...और कही जो ये वैरागी भये है. सो यह माला उतारो. तब पुरुषोत्तमदासने सगे-सम्बन्धी बुलायके मातासों कही कि माथो कटे पर माला न छोड़ेगें. तुम्हारो मन होय तो भेले रहो नहीं तो तुमको न्यारो घर करीके दे मनुष्य-चाकर रहेगो. जो चहिये सो लेहु...क्लेश मति करो... तब दोउकी माता

कूपमें गिरीके देह छोड़ी...तब श्रीआचार्यजीने कही क्लेश मिट्यो...तब भगवत्सेवा पधराय दीनी.

उपरोक्त सभी वार्ता प्रसङ्गोमें ये बात साफ उभरकर आती है कि प्राचीन भगवदीय वैष्णव अपनी ममताको किस तरह प्रभुकी ओर मोड़ते, जोड़ते, या तिरस्कार भी कर देते थे.

आधुनिक समयमें परपीड़ा :

आजके इस युगमें सामान्य मनुष्य भौतिक सुखको ही अपने जीवनका उद्देश्य मानकर अपने और अपनोंके भरणपोषणमें ही व्यस्त है. क्या ऐसे वातावरणमें अपने परिवारजनोंको सेवा-भक्तिकी ओर मोड़नेका कोई उपाय नहीं करना चाहिये? अवश्य करना चाहिये. जैसे किसी शिशुको आरम्भमें स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता होत तो भी हम उसे समझा-पटाकर, चोकलेट की लालच देकर भी स्कूल भेजतें हैं. पर यह तब तक ही शक्य है जब तक वह बाल्यावस्थामें है. शिशु परन्तु जब समझदार हो जाये तब उसकी रुचि न होने पर कोई भी तरहकी जोर-जबरदस्ती उसे ज्ञानप्राप्तिके मार्गपर चलनेमें प्रवृत्त नहीं कर सकती.

इसी तरह अपने परिवारजनोंको सेवा-भक्तिके मार्गपर चलनेकेलिये कुछ हद तक कोशिश की जा सकती है. पर रुचि न होने पर उनपर सेवा लादना सभीकेलिये अतिकष्टदायक ही सिद्ध होगा.

श्रीमहाप्रभुजी 'नवरत्न' ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं **"सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो ...चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत्"** (३) अपनी सारी आत्मीय वस्तु और सम्बन्धीओं के साथ जीवात्माका समग्रतासे प्रभुके साथ सम्बन्ध हुआ है. इस लिये अपनोंका अन्यविनियोग होता हो तो भी चिन्ता नहीं करनी. तो कैमुतिकन्यायसे हमें उनसे जबरदस्ती सेवा करवानेका प्रश्न ही कहां उठता है?

श्रीमहाप्रभुजी 'सिद्धान्तमुक्तावली'में सेवाका स्वरूप समजाते हैं **"चेतस् तत् प्रवणं सेवा"** - चित्तकी प्रवणता ही सेवा है. क्या फिर अपनोंको पीड़ा दे कर अपना चित्त सेवामें जुड़ पायेगा?

अपने प्रभु कोमल स्वभावके हैं. कृष्णदास मेघनकी वार्तामें श्रीमहाप्रभुजीके वचन "जो श्रीठाकुरजीको धुंवा समान अप्रिय और नाहीं है. ताहुं ते अप्रिय श्रीठाकुरजीकों भक्तको द्वेषी है". भावप्रकाश- "और वैष्णवको क्लेश सो धुंवा" श्रीप्रभुचरण भी श्रीगिरिधरजीको पत्रमें आज्ञा करते हैं **"जलाहरणादि कार्यं सेवकैः कार्यं किन्तु नाति श्रमेण, मत्स्वामिनः कोमल-स्वभावत्वात्"**.

ऐसी क्लेशरूप सेवासे प्रभु अप्रसन्न होते हैं यह सावधानी रखकर **"विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति"** का भाव हृदयमें स्थापन करके सेवा सहजतासे जितनी निभ सके उतनी करनी चहिये.

श्रीहरिरायजी भी 'दुःसङ्ग विज्ञानप्रकार निरुपणम्' में

बाह्याः कुटुम्बरूपा ये ते तु वित्तहराः स्मृताः।
यतस्तद्विनियोगेन वित्तं याति समर्पितम्।। (१२)

व्याख्या - जो कुटुम्बी भगवत्परायण नहीं हैं उनमें भक्तजनोंकी ममताका रहना अपने धनको लुटाना है. क्योंकि भगवत्सम्बन्धरहित कुटुम्बीजनों केलिये भगवान्को अर्पण करा हुआ धन खर्च हो जाता है.

उपसंहार :

शरीरके किसी अङ्गमें गेंगरीन् हो जाये तो उस अङ्गको एम्प्युटेट् करना अङ्गीके हितमें ही है ऐसी डॉक्टरकी सलाह मान लेनी ही उचित है. इसी तरह भक्तिमार्ग पर चलते-चलते सेवामें परपीड़ारूपी प्रतिबन्धके कारण सेवाका त्याग कर तीर्थाटन या प्रपत्तिमार्गमें रहना पड़े तो यह आज्ञा भी अन्ततः तो श्रीमहाप्रभुजीकी ही है, ऐसी श्रद्धा और निष्ठा के साथ उस आज्ञाको शिरोधारण करना चाहिये. क्यों जो श्रीमहाप्रभुजी अपने भक्तको **"कृष्ण एव तात्पर्यम्"** रूपी स्वास्थमय जीवन प्रदान करना चाह रहे हैं.

चतुर्थदिवसीय उपक्रम

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी

अपने वेदान्तिक चिन्तनके पीछे भारतको एक प्रचलित सूत्र रह्यो भयो है. वा सूत्रकुं लोगनने कितनो हॉल्हार्टेड्ली स्वीकार्यो वो बात अलग है पर सारी वेदान्तकी धारणा, उपनिषत्की अन्तरदृष्टिमें वो छायो भयो है. वो सूत्र है : **"यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे"**. गाममें भी जाओगे तो बूढे लोग याकुं बोलते भये मिलेंगे. पर आश्चर्य ये है के वेदान्तके अच्छे पण्डित भी या सूत्रकुं कोईन्की तरह वापरे हैं पर वाके इम्प्लिकेशन्पे ध्यान नहीं दें हैं. श्रीमहाप्रभुजीके विचारन्पे भी ये सूत्र एकदम छायो भयो है. यासुं **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि"** याको दूसरे वेदान्ताचार्यन्ने जो भी अर्थ किये उनको विचार अपन यहां नहीं करेंगे पर श्रीमहाप्रभुजीको अर्थ "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" सूत्रके आधारपे है. "तत्त्वमसि"में न अपन 'तत्'के साथ छेड़-छाड़ कर रहे हैं, न 'त्वम्'के साथ छेड़-छाड़ कर रहे हैं. क्यों त्वम् तत् है वाको सीधोसो उत्तर है : "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे". जब "अहं ब्रह्मास्मि" अपन कह रहे हैं तब या महावाक्यके व्याख्यानकी श्रीमहाप्रभुजीकी प्रक्रिया भी "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" की है. अंशाशिनोः तादात्म्यात् और उपादानोपादेययोः तादात्म्यात्. अंश पिण्ड है अंशी ब्रह्माण्ड है, उपदेय पिण्ड है और उपादान ब्रह्माण्ड है. सो "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" याकुं श्रीमहाप्रभुजीने हर श्रुतिवचनके व्याख्यानमें प्रक्रियाके तहत वापर्यो है. यापे अपनकुं खास ध्यान देनो चहिये. याकुं आपने स्वीकार्यो है वाके कारण **"एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति" "यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मत्तिकेत्येव सत्यम्"** या श्रुतिकी व्याख्या करते भये भी ये ही पॉलिसी एडॉप्ट करी है के "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे". अंशकुं जान लोगे तो अंशी समझमें आ जायेगो. क्योंके जो पिण्डमें है सो ब्रह्माण्डमें है.

कल अपनने जो अथर्ववेदको वचन देख्यो याकुं "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे"के प्रकाशमें देखनेको प्रयास करो. कैसे श्रुति पिण्डमें ब्रह्माण्डके सब एलिमेंट्कुं इन्कोर्पोरेट् करे है. ये ही अर्थववेदको मेसेज् है के ब्रह्माण्डके सब

तत्त्व या पिण्डमें प्रिज़र्वड् है. ये जैसे सेवाकर्ताके शरीरमें है ऐसे सेव्यके श्रीविग्रहमें भी वे ही बात है. या बातपे मैं ध्यान दिलानो चाहूंगो.

वैसे बोलनेमें अपन प्रभुकेलिये पिण्ड-ब्रह्माण्डकी बात नहीं बोले हैं. और बोलें तो इतनो मुखरतादोष भी नहीं है. क्योंके पिण्ड-ब्रह्माण्डको वहां दूसरो मोडल् **"नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा"**के कारण आ जावेगो. पिण्डात्मक स्वरूपप्राकट्य है और ब्रह्माण्डात्मक व्यापकता है. ये मोडल् पुष्टिमार्गके ही सेव्यस्वरूपमें है ऐसो नहीं है. याकी खुबसुरती देखें तो मर्यादाकी प्राणप्रतिष्ठाकी विधिमें "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे"को मोडल् कैसे स्वीकार्यो गयो है वो मैं आपकुं सुनानो चाहूंगो. प्राणप्रतिष्ठाकी विधिमें वे कह्यो गयो है :

"प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रा ऋषयः". ये तीनों देवता प्राणप्रतिष्ठामन्त्रके ऋषि हैं. माने उत्पत्ति-स्थिति-लय तीनों वामें आ गयो. छन्द क्या है? "ऋग्-यजुस्सामानि छन्दांसि". देवता : "क्रियामयवपुः 'प्राणा'ख्या देवता" तुम वा तरहको कर्म वा मूर्तिके साथ कर हे हो तो वो देवता प्रकट होयगो नहीं तो नहीं होयगो. "...ततः ऋष्यादिक्रमेण शिरोमुखगुह्यपादेषु विन्यस्य पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-आकाशात्मने हृदयाय नमः". पञ्चमहा-भूतनुकुं बोलके मूर्तिके हृदयको स्पर्श करो के पञ्चमहाभूत वा मूर्तिमें हैं. "शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मने शिरसे स्वाहा". पञ्चतन्मात्राएं वाकी शिरस्थानी हैं. "श्रोत्रस्त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणात्मने शिखायैः स्वाहा". चोटीमें सारी इन्द्रियां मौजूद हैं. "वाक्पाणि-पाद-पायूपस्थात्मने कवचाय स्वाहा. वचनादान-विहरणोत्सर्गानन्दात्मने नेत्रत्रयाय वौषट्" कर्मेन्द्रियनकी सब क्रियावें वहां हैं. "मनो-बुद्ध्यहंकार-चित्तात्मने अस्त्राय फट्" मन-बुद्धि-चित्त -अहंकार सब वामें हैं. "एवम् आत्मनि देवे च कृत्वा" या तरहसुं ये अङ्गविन्यास प्राणप्रतिष्ठा करनेवालो खुदमें भी करे और देवमूर्तिमें भी करे, रेसिप्रोकेशनकेलिये. तब प्राणप्रतिष्ठाको कर्म प्रारम्भ हो सके है. वाके बाद छेल्ले कहे हैं के "स्वागतं देवदेवेषु मद्भाग्यात् त्वम् इहागतः" मेरे बड़े भाग्यके कारण आप वहां पधारे हो. "प्राकृतं त्वम् अदृष्ट्वा मां बालवत् परिपालय" मैं प्राकृत हूं पर तू अप्राकृत है. मेरी प्राकृतताकुं माने बिना तू मेरो बालकतया परिपालन कर. "धर्मार्थकामसिद्ध्यर्थं स्थिरो भव शुभानन,

सान्निध्यन्तु सदा देव! स्वार्चायां परिकल्पय" हे देव! तुम वा अर्चामें तुम्हारो सान्निध्य परिकल्पित करो. "तावत् त्वयात्र देवेश स्थेयं भक्तानुकम्पया, भगवन् देवदेवश त्वं पिता सर्वदेहिनाम्" सब देहिनको तू पिता है. "येन रूपेण भगवन् त्वया व्याप्तं चराचरं, तेन रूपेण देवेश स्वार्चायां सन्निधौ भव" जा रूपसुं तू चराचरमें व्याप्त है वा रूपसुं तू यहां प्रतिष्ठित हो. देखो, "यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" यहां है के नहीं!

याके बाद मूर्ति विष्णुकी होवे तो विष्णुमन्त्रसुं और शिवकी होवे तो शिवमन्त्रसुं स्तुति बताई है. पर प्रतिष्ठाके पहले मर्यादामार्गके हिसाबसुं ये प्रिरिक्विज़िट् है के सारो ब्रह्माण्ड वा मूर्तिमें लाओ. अपन देवकी मूर्तिकुं पथ्थरतया नहीं पूज रहे हैं, सारे ब्रह्माण्डकुं वहां इन्वोक् कर रहे हैं. ब्रह्माण्डकी सारी समष्टिकुं वा पिण्डमें आहूत कर रहे हैं और वा तरहसुं वाकी प्रतिष्ठा कर रहे हैं.

आज तो जनोईकुं लोगनने सूतको धागा समझ लियो है. बाकि जनोई पहनते बखत भी वाके नो तासनमें ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य, विश्वदेव, ऋग्यजुस्साम की प्रतिष्ठा और वाकी गांठमें अथर्ववेदकी प्रतिष्ठा होवे है. ऐसी जनोई अपन धारण करे हैं.

अपन समझें हैं के ये सब पुष्टिमार्गमें नहीं है. गलत बात है. अपने यहां भी ये ही मोडल् है. श्रीगुसांईजीकी पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाविधि देखो. सबसुं पहले पुरुषसूक्तसुं मार्जन होवे है. क्यों? पुरुषसूक्तमें ये भाव है के सब कछु तू ही है. या भावसुं पहले सेव्यस्वरूपको मार्जन होवे तो वो पुरुषोत्तमको अधिष्ठान हो सके है. जाकी अपन सेवा करनो चाह रहे हैं वामें सकल ब्रह्माण्डकुं बुलाके फिर श्रीकृष्णके जन्मसुं लेके फलप्रकरण पर्यन्तकी लीलाके श्लोकनसुं स्वरूपकी प्रतिष्ठा की जावे है. ध्यानसुं समझो तो श्रीगुसांईजी माहात्म्यज्ञानकेलिये पुरुषसूक्त लावे हैं और सुदृढसर्वतोधिक स्नेहके लिये भागवतोक्त भगवत्प्राकट्यके अलग-अलग श्लोक प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल प्रकरणनके वासुं वाकी प्रतिष्ठा करी है. ये अपनी मेथड् है "यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे"की. जो पिण्डमें है वो ब्रह्माण्डमें है. ब्रह्माण्डकुं समझनो है तो पिण्डकुं समझ जाओ. अपने ठाकुरकुं समझ जाओ तो वामें सब कछु आ गयो.

कोई चीज वामें बाकी नहीं रहे है. और यदि अपने ठाकुरजीकुं ही नहीं समझे तो सारो जगत् समझ लियो फिर भी कुछ भी नहीं समझे. उपनिषत् भी ये ही कहे है के एक मिट्टिको ढेला लो, तुम सारो जगत् समझ जाओगे के मिट्टिको क्या स्वरूप है. ये "यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे"की नीतिकी बात है.

"यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" को अपनो सिद्धान्त बायोलोजी भी कह रही है. एक स्टेम्सेल् लो. वामें सारो ओर्गेनिक् स्ट्रक्चर्को ब्रह्माण्ड मौजूद है. क्लोनिंग्में ये ही प्रक्रिया होवे है. एक पिण्डमें सारो ब्रह्माण्ड मौजूद है. एक स्टेम्सेल् लो, तुम चहिये जाकु क्लोन् कर सको हो. उपनिषत्ने ये बात कह रखी है के "यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" "एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति" पर कोईकी समझमें नहीं आयी. ये अपनो बेज़िक् एप्रोच् है हर चीजकुं देखनेको. बायोलोजि वाकुं समझानेकेलिये बहोत ही मझेदार मोडल् है.

एक बात खास कहनो चाहूंगो के सेवाकर्ता, करण और सेवाके कार्य में अंकिताने विक्षेप, असिक्ति, प्रतिबन्ध, अत्याग्रह, परपीडा आदि पांचो समझाये हैं. वामें करण क्या है? करण कर्ताके द्वारा वापरी जाती कोई शक्ति है. वो कर्ताके भीतर होवे, बाहर होवे चाहे कर्ताके आसपास होवे. जैसे आंख, डंडा, मोटर आदि. करण और कर्ता मिलके अधिकरणमें रहे हैं जाकेलिये सप्तमी विभक्ति वापरी जाय है. सेल्को मेम्ब्रेन् वाको अधिकरण होवे है. न्युक्लियस् कर्ता होवे है. साय्टोप्लाइममें करण जैसे बहोत सारे एलिमेंट्स् रहे हैं जासु न्युक्लियस् सेल्फरिप्लिकेशन्के या डुप्लिकेशन्के या दूसरे काम करे है. यामें एक समस्या ये है के न्युक्लियस् जिनकुं करण तरीके वापरे है उनकी कार्यमें अक्षमताके कारण विक्षेप होवे है के जा कार्यकेलिये करण बन्यो है वाकुं वा कार्यसुं दूसरे कार्यमें वापरनेके कारण विक्षेप हो रह्यो है. पेपरमें जो पेरेललिझम् ड्रो कियो है वामें वहां क्या है और अपने यहां क्या कह्यो जा रह्यो है वामें एम्बिग्युटि है.

स्पष्टताके रूपमें एक बात समझो के श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के "स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जयन्ति विग्रहकर्शितानि". जिन इन्द्रियन्की सेवामें स्वतःप्रवृत्ति नहीं है उनकुं जबरदस्ती सेवामें लगानेसुं करणकी वा कार्यकुं करनेकी अक्षमताके अर्थमें विक्षेप होवे है.

एक मोडल् ये है. दूसरो मोडल् ये है के करण जा कार्यकुं करनेकेलिये बन्यो है ...क्यों? क्योंके "पराञ्चिखानि व्यतृणोत्स्वयम्भू तस्मात् पराक् पश्यति नान्तरात्मन्, कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्त-चक्षुरमृतत्वमिच्छन्" न्यायसुं अपने बाह्य करण बाह्य क्रियाके साथ इंटरेक्ट् करनेकेलिये बने हैं उनकुं बाह्यमें कुछ नहीं मिले वहां लगाओगे तो वो कितनी देर वहां टिक पायेंगी! फिर तो वो विक्षेप करेंगी ही! यों दोनों तरहसुं श्रीमहाप्रभुजीके वचनको व्याख्यान हो सके है. यासुं सेल्पे भी वो मोडल् दोनों तरहसुं लागू हो सकेगो ये बात खास उल्लेखनीय हती.

ब्लड्के व्हाईट् सेल्स् अपनो डिफेन्स् मेकेनिज़ है. जब भी अपने खूनमें कोई हानिकारक तत्त्व प्रवेशे तब वो वाके ऊपर टूट पड़े हैं. वाकु घेरें हैं, चिपक जाय हैं, कुरेदके खा जायें हैं और वाकुं खतम कर देवे हैं. सोचो के ये मेकेनिज़म अत्याग्रहिल भयो. प्रतिकार करनेकी कोई परिस्थिति नहीं है फिर भी यदि ये अत्याग्रहसुं ऐसी एलर्टनेस् वापरें तब खूनमें जब कोई प्रतिकारके लायक दुश्मन नहीं मिले तो वो रक्तकणकुं ही पकड़ लेवे हैं और उनकुं ही खानो शुरु करे हैं. ये अत्याग्रह है. याके कारण ब्लड्कैंसर् होवे है.

श्वेतकण सारे ओर्गेनिक् हॉल्की रक्षाकेलिये हैं. यहां सेवा सेव्यकी रक्षकेलिये, सुखकेलिये है. मर्यादामार्गमें ऐसो नियम है के कोई भी देवकी यदि तीन दिन पूजा नहीं करी तो वाको फ्यूज़ उड जावे है. फिर वो पथ्थरकी मूर्ति हो जावे है. पूजासुं देव है और देवसुं पूजा है. अन्योन्याश्रित है. यदि आपने तीन दिन पूजा नहीं करी तो वा पथ्थर है. अपने यहां अपन ये सैद्धान्तिक तौरपे ये बात नहीं कहे हैं क्योंके आवाहन-प्रतिष्ठा अपने यहां वा नेचरमें नहीं करी गयी है. पर अपन जाने हैं के हवेलीन्में ग्वाल मंडलीको पोप्युलेशन् बढ्यो वाको कारण क्या हतो? वाकु 'ग्वालमंडली' क्यों कही, कृष्णमंडली क्यों नहीं कही? तो एम नहीं पण ओम तो अपन वो ही बात कह रेहे हैं के जब सेवा नहीं हो रही है तो दीख कृष्ण रहे हैं पर है ग्वालमंडली! पुरुषोत्तमजी साफ मना कर रहे हैं के "**उद्वासावाहने न स्तः**" पर ये एक प्रेक्टिकल् समस्या है. जब वाके साथ सेवकोचित व्यवहार करनेवालो कोई सेवक नहीं है तो बिचारो सेव्य कितनी देर बाट देखेगो? बिचारे सेव्य सोचते होंगे के जब कोई सेवा ही नहीं करे है तो मैं कृष्ण कैसो, फिर ग्वाल ही सही! बिचारे मंडलीमें जाके बिराज

जावे हैं. ये सब उपद्रव पुष्टिमार्गमें अत्याग्रहके आभारी है. वैष्णवमें अत्याग्रह पनप्यो के जा तरहकी सेवा मैं कर रह्यो हूं वा अपरसकी वा नेग-भोग-शृंगारकी तरहकी सेवा मेरो बेटा करे तो मैं मेरे ठाकुरजी घरमें रखुं नहीं तो ठाकुरजीकु घरसुं निकालके प्वालमंडलीमें विसर्जित कर दउं. एक बात सोचो के जैसी सेवा बेटाकी मां करती हती वैसी आनेवाली बहु करेगी के नहीं वा अविश्वाससुं कोई मां अपने बेटाकुं अनाथालयमें विसर्जित करे है? कोई पति ये सोचके अपनी पत्नीको विसर्जन करे है के मेरी अनुपस्थितिमें मेरो बेटा वाकी देखभाल मेरे जैसी करेगो के नहीं करेगो. इतनो अत्याग्रह कभी-कभी हत्याग्रह लगे है. या हत्याग्रहको बहोत बड़ो रोल रह्यो है पुष्टिमार्गकुं डुबोनेमें. वैष्णवके पार्टमें और गोस्वामीके पार्टमें भी के या तरहसुं नहीं कर सको तो तुम सेवा करने योग्य नहीं हो, ऐसी सेवा करो तो तुम्हारे ठाकुरजी ठाकुरजी नहीं हैं. ऐसे हत्याग्रहन्के कारण वैष्णवकी सेवा करनेकी हिम्मत, ठाकुरजीमें भावकुं निभानेको साहस खंडित हो जावे है. जैसे अपने शरीरमें श्वेतकणके अत्याग्रहके कारण कैंसर् होवे है ऐसे पुष्टिमार्गमें कैंसर् करानेमें अत्याग्रहको बहोत बड़ो रोल् है. यासुं अत्याग्रहकुं अपनकुं अच्छी तरहसुं समझनो चहिये के ये कितनो बड़ो दोष है.

श्रीमहाप्रभुजी जा अर्थमें अत्याग्रहके कारण सेवा छोड़नेकी आज्ञा कर रहे हैं वो अत्याग्रह और जा तरहके अत्याग्रहके कारण अपनने सेवा त्यागी है उन दोके बीचमें बहोत बड़ी खायी है. अपनो अत्याग्रह पुष्टिमार्गको कैंसर् है ये कहनेमें अतिशयोक्ति नहीं है.

एक उल्लेख आयो हतो के भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ है. यामें तो कोई ननु-नचको प्रश्न ही नहीं है. ये तो श्रीमहाप्रभुजीको प्राणभूत सिद्धान्त है. पर याकी पृष्ठभूमिमें रही भयी प्राग्धारणान्पे ध्यान दो. पुरुषार्थके दो भेद हैं : त्रैवर्गिक और आपवर्गिक. धर्मार्थकाम त्रैवर्गिक हैं और मोक्ष आपवर्गिक पुरुषार्थ है. इन दोको झघड़ा एक-दूसरेकुं काटनेको है. जहां ये है वहां वो नहीं है और जहां वो है वहां ये नहीं है. भरतजी जब रामकुं पाछे लेने पधारे तब रामने भरतजीकुं पूछी है के धर्म-अर्थ-काम इन तीनों पुरुषार्थन्को तु यथाकाल अनुष्ठान कर रह्यो है के नहीं? के आपवर्गिक पुरुषार्थकेलिये भागके जंगलमें आ गयो है? तो अपने यहां पुरुषार्थके साथ कालकी धारणा

हती. सचमुचमें तो वर्णाश्रमकी धारणा पुरुषार्थके साथ जुड़ी भयी हती. ब्राह्मण चारों पुरुषार्थ करे, क्षत्रिय त्रिविध पुरुषार्थ करे, वैश्य द्विविध करे और शूद्र एकविध पुरुषार्थ करे. ऐसे आश्रम और दैनिक जीवनमें भी कालके अनुसार पुरुषार्थके विभाजन होने चहिये. अकालमें कोई भी पुरुषार्थको अनुष्ठान नहीं हो सके है. करके अपने यहां पुरुषार्थके समनुपातमें अनुष्ठान स्वस्तिक-साथिया मान्यो गयो है. बो सु अस्ति, वेल्बीइंग्, वेल्फेर क्यों है? स्वस्तिकके चारों डंडा समनुपाति होने चहिये. वो यदि लंबे-चौड़े या आडे-अवड़े भये तो समझो के अपनो स्वस्ति बिगड्यो. पुराने जमानामें पत्रकी शुरुआत 'स्वस्ति' लिखके होती हती. तुम्हारे धर्म-अर्थ-काम-मोक्षको अनुष्ठान प्रपोशनिट् बन्यो रहे. तो पुरुषार्थन्की समनुपातिता अपनी स्वस्ति हती. ये समनुपातिता वैराग्य या संसारिता की झोंकसुं बिगडी. करके एक ओर पुरुषार्थकी डिमांड् हती. वो पुरुषार्थ भक्ति तरीके आयो के जो त्रिवर्ग और आपवर्ग दोनोंके गुणन्कुं रखते भय उनके अवगुणन्कुं छोड़ सके. भक्ति वा तरहको पुरुषार्थ है. वासुं ही धर्मकेलिये जो अर्थ है, काम है या भक्ति है वो धर्म ही है. ऐसे ही अर्थकेलिये जो धर्म है, काम है, भक्ति है वो आर्थिक आयोजन ही है, धार्मिक या भक्ति नहीं है जो अपनी पुष्टिमार्गकी हवेलियें हैं. ऐसे ही कामार्थ धर्मको अनुष्ठान, अर्थको सम्पादन या भक्तिको अनुष्ठान कामपुरुषार्थ ही है, भक्ति वा धर्म नहीं है. वा ही तरहसुं मोक्षार्थ धर्मार्थकाम-भक्तिको अनुष्ठान मोक्ष ही है. ये बात जगत्कुं मिथ्या माननेवाले शंकराचार्यने भी कही है. श्रीमहाप्रभुजी भी ये आज्ञा करे हैं. वाईसेवर्सा भक्त्यर्थ अनुष्ठित चारों पुरुषार्थ भक्ति ही हैं. ये रहस्य अपनकुं भूलनो नहीं चहिये. भक्त्यर्थ अनुष्ठित धर्म भक्ति ही है, भक्त्यर्थ अनुष्ठित अर्थ भक्ति ही है, भक्त्यर्थ अनुष्ठित काम भक्ति ही है और भक्त्यर्थ अनुष्ठित मोक्ष भी भक्ति ही है. ये बात अपनकुं ''सेवोपयोगीदेहो वैकुण्ठादिषु''सुं समझमें आवे है. तुम मुक्त भी भये तो भक्त्यर्थ हो रहे हो ये बात सेवाफल ग्रन्थमें बतायी है. ये अपनो सेटप् है. यामें जब अत्याग्रह आयो तब कैसे-कैसे घोटाला अपने मार्गमें भये हैं वो देखो. अपनने भक्तिकुं अत्याग्रहवश धर्मार्थ बनादी. भक्तिकुं अत्याग्रहवश अर्थार्थ बनादी. भक्तिकुं अत्याग्रहवश कामार्थ बनादी. मोक्षार्थ बनाते होते तो कोई चिन्ताकी बात ही नहीं हती, कोई कबाड़ा नहीं होते. ये सब उपद्रव अपने यहां भये करके अपनी भक्तिमें महान् प्रतिबन्ध आये हैं.

प्रभुकी लीलामें या बातकी कितनी सावधानी रखी है वापे ध्यान दो. तदर्थताके प्रश्नमें ये बात महत्वपूर्ण रोल् अदा करे है. "न पारयेहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः". सारो झघड़ा या बातपे है के भोग्यार्थ भोक्ता है के भोक्तर्थ भोग्य है. वहांकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट आज्ञा कर रहे हैं के जब रामके अवतारमें सीताजीके खो जानेपे राम रो सके हैं, वृक्ष-वृक्षसुं पूछ सके हैं के सीता कहां गयी तो राधाजी थक जावें और प्रभु उनकुं उठा लेवें वामें प्रभु कौनसे घिस जायेंगे! श्रीमहाप्रभुजीने टकासो जवाब दियो है के बात तो सच है पर कृष्णावतारमें प्रभुको वो मूड नहीं है. अभी भोक्तर्थ भोग्यको मूड है या लिये भगवान् नाराज होके अन्तर्ध्यान भये. "नय मां यत्र ते मनः" क्यों कही! जो जाकेलिये है वाकुं वाकेलिये वापरनेसुं...जैसे कल देख्यो के "देख्यो वा कुञ्जकुटीरमें बेठ्यो पलोठत राधिका पांयन" वा बखत होयगो प्रभुमें भोग्यभाव तो चरणसेवा भी कर सके हैं. आपसीको रेसिप्रोकेशन् मेइन्टेईन् करते आनो चहिये के कहां धर्मार्थ भक्ति है और कहां भक्त्यर्थ धर्म है या कहां भक्त्यर्थ मुक्ति है और कहां मुक्त्यर्थ भक्ति है वाको विभेद नहीं जान पावें तो समस्या होवे है. याको एक बायोलोजिकल् दृष्टान्त अखबारमें छप्यो है के एक जातकी मछली होवे है के जो अपनो लिङ्ग आवश्यकता अनुसार बदले है! याकुं मेटामोर्फेसिस् कहे हैं. वामें मुख्य बात सर्वाइवल्की है, नर-नारी या भोग्य-भोक्ता की बात मुख्य नहीं है. एक-दूसरेपे डिपेंडेंट होके एक-दूसरेकुं निभानेको सम्बन्ध मुख्य है. ठाकुरजी राधासुं तिरोहित हो गये तो अपने जैसेनकी क्या बिसात! वहां भी प्रश्न अत्याग्रहको ही हतो. यदि सब मछलियें अत्याग्रह पकड़के बैठ जायें के हमतो नर ही रहेंगी तो सर्वाईवल् नहीं हो पायेगो. ऐसे ही सब नारी बने रहनेको अत्याग्रह रखेंगी तब भी सर्वाइवल् कैंसल् हो जायेगो. "एकोऽहं बहुस्याम्" बहुभवनको आखो प्रोजेक्ट फ्लोप् हो जायेगो. बहुभवनता कायम रखनेकेलिये कोई नर होवे है तो कोई नारी होवे है, कोई भोग्यभावापन्न होवे है तो कोई भोक्तृभावापन्न होवे है. ये आखो बायोलोजिकल् मोडल् है, रसात्मक मोडल् है, भक्त्यात्मक मोडल् है, लीलात्मक मोडल् है. याकु कभी भूलनी नहीं चहिये.

वाके बाद अशक्तिको पत्र हतो. अशक्ति कायमें? सेवामें अशक्ति. दूसरी कोर्स अशक्तिको विचार यहां नहीं है. सेवा साधनरूपा भी है और फलरूपा भी है ये मछलीकी तरह. जब सेवाकुं साधनरूपा कह रहे हैं तब वामें

धर्मता आवे है. या पहलूमें अशक्तिको विचार है. गोपालने कही हती के धैर्यको आश्रय अलग है और भक्तिको आश्रय अलग आश्रय है. वो कौनसे एक्स्टेंट तक के साधनावस्थाको आश्रय, फलानुभूतिको आश्रय, लीलानुभूतिको आश्रय यों सब जगह आश्रयके रूप भिन्न-भिन्न होंगे. उनमेंसुं जा बखत जा तरहको आश्रय अपेक्षित है वा तरके आश्रयकेलिये अपने भीतर प्लास्टिसिटि होनी चहिये, अत्याग्रह नहीं होनो चहिये. अशक्तमें अत्याग्रह शक्तिको दम्भ है. वा दम्भसुं यहां कुछ भी होने जानो नहीं है. अशक्त अपनी अशक्तिकुं स्वीकारे और इनेक्टिव् हो जावे तो बात निभ जायेगी. और यदि दम्भ करेगो तो कुछ होयगो नहीं. क्योंके कोई भी धर्मकी धर्मताको निकष शास्त्रमें ये मान्यो गयो है के वो 'विहित होनो चहिये, 'शक्य होनो चहिये, तुम वाके 'अधिकारी होने चहिये. इन तीन कसौटीपे कोई बात यदि खरी उतर रही है तो तो कोई धर्म तुम्हारेलिये धर्म है अन्यथा वो धर्म नहीं है. सेवा अपनेलिये धर्म है पर यदि वो अपनेसुं शक्य है तो धर्म है. पर यदि अपन कोई कारणसुं अशक्त हैं तो सेवा अपनेलिये धर्म नहीं है. अपन सेवाके अधिकारी हैं तो श्रीमहाप्रभुजी अपनकुं वो अधिकार किन सूरतमें दे रहे हैं वो अपनेकुं समझनो पड़ेगो. सेवाधिकार या तो आश्रयके कारण मिले है या समर्पणके कारण मिले है. आश्रितकुं सेवककी सेवाके द्वारा सेवाधिकार है और समर्पितकुं स्वयं सेवाधिकार है. ये सेवाधिकारमें आती बाते हैं. शक्यत्वे सति विहितत्वे सति अधिकारवत्त्वे सति धर्मत्वम्. जहां इनमेंसुं एक ईंट भी सरकी सो ही सारो तामझाम गिर पड़ेगो. यापे ध्यान देनो चहिये. यामें यदि अपनने खोटो अत्याग्रह कियो के अपन समर्पित नहीं हैं ...जैसे वैष्णव सोचे हैं के गुरुके पास जायेंगे तो वो अपने गले अपरस बांध देंगे, ये करनेको कहेंगे वो कहेंगे यासुं आत्मनिवेदन मत करो, सेवा स्टार्ट करदो. ये एक अत्याग्रह है. आजके गुरु क्या कहे हैं के तुम सेवा कर ही नहीं सको हो यदि कुवा नहीं है, नेग-भोग-राग-शृंकार नहीं है तो. ये दूसरो अत्याग्रह है. या सबके कारण अपने यहांकी सेवाकी दिव्यतम साधना गड़बड़में पड़ गयी. यामें सीधो निकष ये समझनो चहितो हतो के शक्यत्वे सति विहितत्वे सति अधिकारवत्त्वे सति धर्मत्वम् अन्यथा धर्मत्वमेव नास्ति. जब धर्म ही नहीं है, साधनरूपता ही नष्ट हो गयी तब फिर फलरूपता कहांसुं आयेगी! ये विवेक अपनने खोयो.

पञ्चविध प्रतिबन्धके बारेमें मोकुं एक बात खास कहनेकी है के

श्रीमहाप्रभुजीने ''परपीडादि''में 'आदि' शब्द वापर्यो है. यासुं दोष इतने ही नहीं हैं, ओर भी हो सके हैं जो श्रीहरिरायजीने गिनाये हैं. उनने गिनाये हैं वामें भी एकाध 'आदि' मिल जायेगो. यासुं मनोजबावाने योगके प्रतिबन्धनकुं पुष्टिमार्गकी टर्मिनोलोजीमें इंटरप्रीट् करके जोडी वो अच्छी बात है. या सन्दर्भमें ये बात खास कहनो चाहूंगो के भाषासाहित्यमें श्रीमहाप्रभुजी या श्रीगुसांईजी को सेवापराध ग्रन्थ हतो. वो कितनो प्रामाणिक है वो मोकु पता नहीं है. पर सबसुं पहलो सेवापराध अष्टसखामेंसुं कोईकुं इन पिता-पुत्रमेंसुं कोईने कह्यो है. द्वारकादास परीखने बजरंग पुस्तकालय, मथुरा सुं छपवायो हतो. वाके बाद चोंसठ सेवापराध श्रीहरिरायजीने लिखे हैं. याके अलावा एक बत्तीस और सोलह सेवापराधके ग्रन्थ ओर हैं. ये सारे सेवापराध पाञ्चरात्र तन्त्रागमसुं आये भये हैं. हार्डली दो-चार अपराध प्योर् पुष्टिमार्गी हैं. तन्त्रागममें जो अपराध माने गये हते उनको पुष्टिमार्गीकरण कियो गयो है. ये अपनी एक इन्साईट् है के वो अपराध जैसे वहां है ऐसे वो अपने यहां भी हो सके हैं. वहां पूजाके सन्दर्भमें अपराध हैं, अपने यहां सेवाके सन्दर्भमें हैं. ये इन्साईट् अपनेकुं होनी चहिये. क्योंके अक्सर ऐसो होवे है के इतने ही अपराध होवे हैं ऐसो यदि अत्याग्रह अपनने रख्यो तो दुनिया ऐसी चालाक है के इन अपराधनकी मर्यादासुं बाहर जाके कोई अपराध करे तो वाकुं रोकनो कैसे! लोग तो गिना देंगे के पुष्टिमार्गमें अपराध तो इतने ही होवे हैं. मेरे साथ ऐसी ही घटना भयी. एक बालकने मोसुं आके कही के आप भागवत सप्ताहके पैसा लेनेकी ना पाड़ो हो तो ठीक है. हम सप्ताहकी घोषणा बिना पैसाके करें. पर सप्ताहके अन्तिम दिन तो पैसा ले सकें के नहीं!! वामें तो कोई दोष नहीं है न! तो आदमी चतुर है. जाकुं अपराध करनो ही है वो अपराधसुं बचनेके रस्ता निकाल ही लेवे है. यासुं ये खुशीकी बात है के अपनने नये-नये अपराधनकुं खोजे हैं. ये अपने जिंदा होनेको प्रमाण है. राधाकृष्णन् कहे है के डालीपे नये-नये पत्र उग रहे हैं वो वाके जीवित होनेको प्रमाण है. तो जैसे अपराधी नये-नये अपराधके तरीका खोजते रहे हैं ऐसे अपने पुष्टिमार्गमें नये-नये अपराधनकुं अपराधतया पहचाननेकी प्रणाली भी जिंदा रहनी चहिये.

याके बाद झालाको पत्र हतो. वाको थ्रस्ट उपदेशनिष्ठापे हतो. इनको एक चोरस बने है : उपदेश, उपदेशक, उपदिष्ट कर्तव्य और उपदिष्ट प्रयोजन. उपदेशमें निष्ठाके कारण उपदेशकमें निष्ठा. उपदेशकमें निष्ठाके कारण उपदिष्ट

कर्तव्यमें निष्ठा. उपदिष्ट कर्तव्यमें निष्ठाके कारण उपदिष्ट प्रयोजनमें निष्ठा. वों इन चारोंनको चोरस बननो चहिये. कोई भी कारणसुं ये चोरस टूट्यो तो वो जीवित धर्म नहीं रहके मिकेनिकल् धर्म बन जायेगो. सबसुं पहलो अपनो आचार्य है. वामें अपनी निष्ठा क्यों होनी चहिये? क्योंके वाके उपदेशमें अपनी निष्ठा है. उपदेशनिष्ठासुं रहित उपदेशकमें निष्ठा है, मतलब कुछ गड़बड़ी है. पहचानो के कोई प्रतिबन्ध है, अपराध है. उपदेश-उपदेशक दोनोंमें निष्ठा है पर उनके उपदिष्ट कर्तव्यमें निष्ठा नहीं है. जैसे वल्लभपन्थीकुं रोग है. ये भी गड़बड़ी है. ऐसे ही उपदिष्ट कर्तव्यमें निष्ठा वाके पीछे रहे भये प्रयोजनके कारण होनी चहिये. या तरहसुं पूरी फ्रेम बननी चहिये. अपने पुष्टिमार्गके सन्दर्भमें कर्तव्यके पीछे प्रयोजन श्रीमहाप्रभुजी बतर रहे हैं : **''श्रीकृष्णार्थं जगत् सर्वम्''**. सारो जगत् श्रीकृष्णकेलिये है. ये ब्रह्माण्डवाली स्थिति है. पिण्डमें अपने लिये उपदेश है **''भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः अन्यथा न भवेत्''**.

याके बादके पत्र विक्षेप और परपीडा के विषयमें हते. विक्षेप आत्मपीडा है. वाके सामने परपीडा है. एब्नोर्मल् मनोविज्ञानमें यासुं जुड़े भये तीन दोष बताये गये हैं. एक दोष है मैसेकिज़म्, दूसरो है सेडीज़म् और तीसरो है ऑब्सेसिव् पर्सनालिटि साधनावस्थाको और सिद्धावस्थामें वो होवे है ऑब्सेसिव् न्युरोसिस्. ऑब्सेसिव् पर्सनालिटि मतलब अत्याग्रह. ये तराजूको कांटा है जाके एक पल्लामें परपीडा है और दूसरेमें आत्मपीडा है. मैसेकिज़म् = आत्मपीडा और सेडीज़म् = परपीडा. श्रीमहाप्रभुजीके या सेटप्में विक्षेप और अशक्ति दोनों आत्मपीडाके उदाहरण हैं. तुम मन-शरीरसुं कमजोर हो पर अत्याग्रहके कारण लगे भये हो सेवामें तो एक बाजु आत्मपीडा होवे है. ऐसी अत्याग्रहवाली सेवाके कारण अपनेमें एक तरहको साय्कोलोजिकल् डिज़ोर्डर् पैदा भयो है जाके कारण अपन सेल्फटोर्चरिंग् करें हैं. या बाजू परपीडा और प्रतिबन्ध सेडीज़म् है. याको मुख्य लक्षण है दूसरेकुं पीडा देनेमें मजा आनो. एग्ज़र्टेशियलिज़म्को बहोत बड़ो विद्वान मोर्क्विस् द सेद भयो जाने सेडीज़म्पे बहोत नोवेल् लिखी हैं. प्रतिबन्ध क्यों परपीडा है? जिनपे अपनो बस नहीं चल रह्यो है उनकुं कोई तरहसुं परेशान करनो. परपीडा यहां वाकुं कही जा रही है के जिनपे अपनो बस चलतो होवे वाकुं परेशान करनो. मतलब, गाम विरोध कर रह्यो है, बड़े विरोध कर रहे हैं फिर भी सेवा करेंगे. तुम कौन ना पाड़नेवाले! ये सेडिस्टिक् वृत्ति है. या बाजु विक्षेप और अशक्ति में सेवा करनी

मूलमें आत्मपीडाकी वृत्ति है. वे साय्कोलोजिकल् डिज़ोर्डर् हैं ये बात अपनकुं समझनी पड़ेगी. इनकी साय्कोथेरपी करनी पड़ेगी. श्रीमहाप्रभुजी भी "विक्षेपादथवाशक्त्या"सुं अपनी साय्कोतेरपी ही कर रहे हैं जासु कि अपन स्वस्थ हो पावें.

कल एक बात आई हती के भक्तिवश अशक्ति अशक्ति नहीं है, भक्ति ही है. और अशक्तिवश भक्ति अशक्ति है, भक्ति नहीं है. ऐसे ही भक्तिवश विक्षेप भक्ति है, विक्षेप नहीं है. पर विक्षेपवश भक्ति विक्षेप ही है, भक्ति नहीं है. ऐसे ही प्रतिबन्ध, परपीडा में भी समझनो चहिये. ऐसे कहां भक्ति है और कहां भक्ति नहीं है वाके बेलेंसकु समझनो चहिये.

पुष्टिभक्ति–साधनामें महाप्रतिबंध अन्याश्रय

डॉ. गजानन शर्मा.

पुष्टिभक्ति–साधनाका सुदृढ आधार है–अन्याश्रयरहित कृष्णाश्रय

पुष्टिमार्गीय भक्ति–साधनाका केन्द्र बिन्दु और सुदृढ आधार है पुष्टिपुरुषोत्तम प्रभु श्रीकृष्णका अनन्य आश्रय. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणने शरणमंत्र एवं ब्रह्मसम्बन्धमंत्रके द्वारा प्रभु श्रीकृष्णको ही पुष्टि जीवोंकेलिए एकमात्र शरण, अनन्य आश्रय और एकमेव गति बताते हुए उन्हींकी शरण लेकर, उन्हींको सर्वस्व समर्पित कर दासत्व भावनासे उन्हींकी भावमयी सेवा करनेका स्पष्ट एवं बारम्बार निर्देश किया है. साधन और फल दोनों ही रूपोंमें श्रीकृष्ण ही पुष्टिजीवके एकमात्र आश्रय हैं. वही पुष्टि जीवकेलिए परम श्रेयस्कर, परम हितकर एवं उद्धारका एकमात्र साधन, मार्ग और लक्ष्य है. इसीसे श्रीकृष्ण–सायुज्य रूपी फल शीघ्र ही और सुनिश्चित रूपसे मिलता है. श्रीगुसांईजी, श्रीगोपीनाथजी एवं अन्य आचार्य श्रीमहाप्रभुजीके इस अटल सिद्धान्तकी ही बारम्बार सम्पुष्टि करते हैं.[१]

अनन्यता, अन्याश्रयत्यागपूर्वक भगवत्–शरणागति या अनन्याश्रय ही भक्तिके प्रासादकी मजबूत नींव है अतः पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तको केवल अपनेमें (भगवानमें) ही मन और बुद्धि लगाने तथा अन्य सर्वधर्मोंका परित्याग कर एकमात्र उन्हींकी शरणमें आनेकी आज्ञाकी है. यही अनन्ययोग तथा अव्यभिचारिणी भक्ति ही श्रेयस्करी है. नारदभक्तिसूत्रमें भी भक्ति–साधनाकेलिए अन्याश्रय–त्यागपूर्वक अनन्यताको अनिवार्य माना गया है.[२] अतः दयारामभाईने गाया है– *"हरिने भजे वळी अन्य आराधे ते अनन्य भक्त न कहावे रे."* न केवल पुष्टिमार्गमें अपितु सभी भक्ति समुदायोंमें अनन्यताको अनिवार्य माना गया है.

पुष्टिमार्गका अविचल सिद्धान्त है कि एकमात्र प्रभु श्रीकृष्णमें ही सुदृढ, अनन्य विश्वास रखो. उन्हींकी शरण लो. वे ही तुम्हारे शरण–स्थल हैं, एकमात्र आश्रय हैं. वे ही सभी ओरसे हर स्थितिमें, सब प्रकारसे रक्षा करेंगे, इसमें किसी भी प्रकारका कोई संशय नहीं है. वे ही तुम्हारा उद्धार करेंगे.

उन्हींसे तुम्हारा सब कुछ, ऐहिक-पारलौकिक तथा परम श्रेयस् सिद्ध होगा. श्रीगुसांईजीका मत है कि श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धमें भिन्नाश्रय-निवारणपूर्वक परमार्थरूप परब्रह्म श्रीकृष्णका ही गान हुआ है.[1]

आश्रयकी चर्चा किनकेलिए और क्यों?

जो व्यक्ति वैष्णवपरिवारमें जन्म लेकर, परिवारके बडे लोगोंके हठाग्रहसे अनिच्छा और अश्रद्धापूर्वक ब्रह्मसम्बन्धकी विधि जैसे-तैसे पूरी कर डालते हैं तथा जिनकी प्रभुमें प्रीति एवं निष्ठा नहीं होती उन्हें आत्मनिवेदी नहीं कहा जा सकता. उनकेलिए आश्रय या अनन्यताकी चर्चा ही व्यर्थ है. ऐसे लोग शनिवारको शनि महाराजको मत्था टेकने जाते हैं, रविवारको गायत्री मन्दिरमें साधना करने पहुंचते हैं, सोमवारको शिवजीके सामने हाथ जोडकर शिव-स्तोत्रका पाठ करते हैं, मंगलवारको हनुमानजीके मन्दिरमें हनुमान-चालीसा पढते हैं, बुधवारको गणेशजीको लड्डू चढाकर कामना पूर्तिकेलिए प्रार्थना करते हैं, गुरुवारको साईं मन्दिरमें भजन गाते हैं, शुक्रवारको देवी मन्दिरमें पूजा करते हैं. कभी मनोकामनाकी सिद्धि पर मजार पर लोबानकी धूनी देते हैं. ऐसे लोगोंकेलिए पुष्टिमार्गमें प्रवेश और सेवाके अधिकार रूप ब्रह्मसम्बन्धकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती. उनकी न तो किसीके प्रति निष्ठा होती है और न उनका कोई आश्रय ही होता है. वे तात्कालिक लाभ या स्वार्थसिद्धिकेलिए इधर-उधर दौडते-भटकते रहते हैं. उनका ऊपरी और दिखावटी प्रेम तथा भक्तिका पाखंड स्वार्थसिद्धि तक ही रहता है. ये सच्चे वैष्णव नहीं माने जा सकते वे तो आत्मवंचना करते हैं, अपने आपको तथा समाजको छलते हैं. ये बवंडरमें निरुद्देश्य तथा विवश होकर उडते हुए सूखे पत्तोंके समान हैं. ऐसे व्यक्तियोंकेलिए आश्रय, अन्याश्रय आदिकी चर्चाका कोई महत्व नहीं है.

आश्रय-अन्याश्रयकी चर्चा तो उनकेलिए है जो प्रभु श्रीकृष्णके प्रति समर्पित होकर, प्रीतिसे, भावपूर्वक उनकी सेवा करते हैं किन्तु कभी भगवद्विमुख या महाप्रभुजीके सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ, या सिद्धान्तोंके अन्यथा-भ्रान्त ज्ञानसे भरे हुए अपसिद्धान्तोंके प्रचारकोंके संसर्गसे तात्कालिक लाभकी भावनासे प्रेरित होकर, या अपसिद्धान्त-प्रचारकोंसे दिग्भ्रमित होकर, सर्वसमर्थ प्रभुका आश्रय लेनेके बाद भी अन्य विभूति रूपोंका या अन्य साधनोंका

आश्रय ले लेते हैं, ऐसे लोगोंको सही दिशा और वास्तविक गन्तव्यका बोध करानेकेलिए ही आश्रयका निरूपण तथा अन्याश्रयका ज्ञान कराते हुए उससे बचनेकी चर्चाकी जाती है.

आश्रयके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान होनेसे प्रभुके सामर्थ्य और कृपा पर उनका विश्वास जम जाता है तथा भगवद्-आश्रय सुदृढ हो जाता है. ऐसा व्यक्ति दुःसंगसे दूर रहता है, यदि कभी उसे दुःसंग हो भी जाए तो उस पर उसका प्रभाव नहीं पडता, यदि तात्कालिक कुछ प्रभाव हो भी जाए तो आश्रय भावसे विवेक सम्पन्न होकर उस कुप्रभावको धो डालता है. अन्याश्रय नहीं करता है. ऐसे व्यक्तियोंकेलिए ही आश्रयके स्वरूपका निरूपण तथा अन्याश्रयकी व्याख्या तथा उसके महाबाधक रूपका अंकन आवश्यक होता है.

आश्रयका तात्पर्य

'आश्रय' शब्दका अर्थ होता है : सहारा, अवलम्बन, शरणस्थल आदि. इसमें मुख्यतः दो भाव सन्निहित हैं १.सहारा देनेवाला तत्व और २.सहारा लेनेकी क्रिया. सभीको सहारा-आश्रय देनेवाला सबसे महान् तत्व, सर्वसमर्थ या एकमात्र वास्तविक और यथार्थ आश्रय तो परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि ही है, जो कि सम्पूर्ण जगतका उपादान कारण, उसकी उत्पत्ति-पालन-प्रलय करनेवाले हैं.[2]

श्रीमहाप्रभुजी उन्हीं परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णको एकमात्र आश्रय मानते हैं और उन्हींका आश्रय लेनेकी आज्ञा पुष्टि जीवको करते हैं.[3] उन सर्वसमर्थ और परमहितैषीका आश्रय अनन्य भावसे, सम्पूर्ण निष्ठा और अविचल विश्वासके साथ लेना चाहिए.

आश्रयका ही समानार्थी शब्द 'शरण' है. शरणमें भी दो अर्थ समाहित हैं १.रक्षक, रक्षा करनेवाला तत्व और २.घर या आश्रयस्थल. भक्तको यह भली-भांति जान लेना चाहिए कि सर्वत्र, सर्वतः, सर्वथा, सर्वथा रक्षा करनेवाले हमारे एकमात्र रक्षक प्रभु श्रीकृष्ण ही हैं अतः केवल उन्हींकी अनन्य शरणागतिसे ही हमारी कृतार्थता है.

यों भी कह सकते हैं कि साधनावस्थामें जो प्रभु शरणागतके रक्षक हैं, वे ही फलावस्थामें परम आश्रयरूप घर बनकर जीवको परमानन्द और शाश्वत शांतिके प्रदाता बन जाते हैं. वास्तवमें प्रभु ही तो एकमात्र रक्षक और परमानन्द स्वरूप है अतः वे ही साधन भी है और साध्य भी.

कुछ लोग आश्रयका विपरीत अर्थ ग्रहण कर अनर्थ करते हैं. प्रभुका अनन्य आश्रय लेनेका अर्थ यह नहीं है कि हम स्वयंको सर्वथा विवश, लाचार, असमर्थ मानकर प्रयत्न-विमुख, अकर्मठ और पुरुषार्थ-विहीन बन जावें. भगवदाश्रयी जीव प्रभुप्रदत्त साधनों-शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, प्राण, चेतना-सभीको प्रभुकेलिए ही विनियोजन कर प्रभुको ही कर्ता-कारयिता-प्रेरक-अनुमन्ता तथा स्वयंको केवल माध्यम या निमित्त मानकर, सर्वसमर्थ परमात्मा श्रीकृष्ण पर अटल-अडिग-अगाध विश्वास रखकर भगवदर्थ कर्म करता हुआ कर्तव्य-परायण होता है. वह फलरूप भी केवल भगवानको ही मानता है. भगवदाश्रयी स्वयंको दीन-हीन-पतित मानकर घिघियाता नहीं है, न परावलम्बी या अकर्मण्य बनता है और न भयग्रंथिसे आक्रान्त होकर पलायनवादी बनता है. किन्तु उसे अपने गुण, योग्यता, सामर्थ्य का अहंकार भी नहीं होता. वह भगवानको ही शक्तिका स्रोत और केन्द्र मानकर पूर्णतः निरहंकार, विनम्र (दैन्यभावयुक्त) होकर भगवदर्थ कर्म करता रहता है.

आश्रय दो प्रकारका

आश्रयके अनुरूप प्रभुका सामान्य या विशेष अनुग्रह होता है. आश्रय भी दो प्रकारका होता है : मर्यादामार्गीय आश्रय और पुष्टिमार्गीय आश्रय. मर्यादामार्गके आश्रयमें भक्त प्रभुके चरणारविन्द(प्रपद) पकडकर शरणागत होता है. ऐसे मर्यादामार्गीय प्रपन्न भक्तको प्रभु कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि शास्त्रविहित साधन करवाकर आश्रय कराते हैं. इस साधनरूप सामान्य आश्रयसे प्रपन्न भक्त पर प्रभुका सामान्य अनुग्रह होता है.

पुष्टिमार्गीय आश्रय विशेष प्रकारका है. इसमें भगवानका अनुग्रह ही साधन है, कृपासे ही उद्धार है और स्वयं भगवान ही फल हैं. यह आश्रय फलरूप है. भगवान् अपने आनन्दात्मक स्वरूपका अनुभव कराकर भक्तको आश्रय कराते हैं. यह प्रपत्तिमार्गसे भिन्न पृथक् शरणमार्ग है.

साधनरूप आश्रय और फलरूप आश्रय

जब आश्रयभाव साधनरूप रहता है तब भक्त आश्रयरूप भगवान् श्रीकृष्णका सतत भावन, चिन्तन, मनन और विचार करते हुए तदनुसार वाणी और क्रियाके स्तर पर व्यवहार करता है. इस अवस्थामें भगवदाश्रयी जीव भगवन्निष्ठा, गुरुनिष्ठा और भगवदीय निष्ठासे युक्त होकर भगवत्सेवापरायण होता है. अनवसरमें वह सत्संग, अष्टाक्षर-पंचाक्षरकी शरणभावना-तदीय भावनासे परिपूरित होकर भगवल्लीलाके चिन्तन तथा भगवद्-गुणगानमें मग्न रहता है. उसकी वाणी और क्रिया भी तदनुकूल ही होती है. "एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्."[९]

आश्रयकी फलावस्थामें पूर्णानन्द, निरवधि-निरतिशय परमात्मा भावरूप भगवान् अनन्य भावसे समर्पित एकनिष्ठ भक्तके मनमें सदासर्वदाकेलिए बस जाते हैं, इस प्रकार आनन्दनिधि प्रभु रमण करने लगते हैं, वहां अन्य किसीकेलिए स्थान ही शेष नहीं रहता. सूरदासजीके शब्दोंमें कहें तो *"नाहिन रह्यौ मनमें ठौर. नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और"* यह निरोध अवस्था है. यह फलावस्थाका आश्रय भगवत्कृपासे ही सिद्ध होता है. इसीलिए चाचाजी श्रीहरिवंशजीने कहा था "मेरी सुनी हे, तेरी अब सुनेंगे."

धर्मपर्यवसायी और धर्मिपर्यवसायी आश्रय

प्रभुचरण श्रीगुसांईजीने आज्ञाकी है कि कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि शास्त्रोक्त मार्ग जीवको मोक्ष तक ले जाते हैं, इसलिए वे धर्मपर्यवसायी हैं, धर्मिपर्यवसायी नहीं. ध्यान रहे कि भगवद्-विमुखका कोई भी धर्म सिद्ध नहीं होता. कलिकालमें ये साधन न केवल दुःसाध्य हो गये हैं अपितु इनकी फलसाधकता भी नहीं रही है.

सर्वात्मभाव ही केवल धर्मिपर्यवसायी आश्रय है. जब भक्त धीरे-धीरे प्रेम, आसक्ति और व्यसन अवस्थाओं तक चढता हुआ निरोधकी स्थितिमें भगवत्कृपासे पहुंचता है तब भक्त सेव्य-स्वरूपमय हो जाता है और समग्र जगत् भी उसके सेव्यस्वरूपमें समा जाता है. प्रभुके अतिरिक्त न कुछ दृष्टिगोचर होता है और न अन्य किसीका भान ही रहता है. यह सर्वात्मभाव ही धर्मिपर्यवसायी आश्रय है, यही श्रेष्ठ है. सर्वात्मभावकी यही परमस्थिति

जिसमें भगवदाश्रयी भक्तकी धर्मिस्वरूपमें ऐसी तन्मयता, तत्प्रवणता हो जाती है, पुष्टिभक्तिकी परमफलरूपता है. यही भगवदाश्रयी भक्तका परम सौभाग्य है.[७]

आश्रयणीय कौन होता है?

श्रीमहाप्रभुजीने दृढ एवं अनन्य आश्रय पर बल दिया है. आपने आश्रयणीय तत्वको ही भजनीय माना है. उस तत्वमें सात गुण आवश्यक बताये हैं. १.आश्रयणीय या भजनीय वही होता है जो कि स्वयं अभय हो. २.उसमें ऐसी करुणा होनी चाहिए कि जो जीव एक बार उसकी शरणमें आ जाए, उसका आश्रय लेले उसे सदाकेलिए सर्वतः भयसे मुक्त कर दे. ३.उसमें ऐसा सामर्थ्य एवं उदारता होनी चाहिए कि वह शरणागतको इस लोककी मुक्ति और परलोककी मुक्ति (मोक्ष) प्रदान करे. ४.भजनका सन्देह हो तो भी अनुषंग (अति निकट सम्बन्ध मात्र)से ही मुक्ति प्रदान करे. ५.जो स्वयं निर्दोष एवं पूर्ण गुणवाले विग्रह (स्वरूप)से युक्त हो. ६.जो अधिकारी न हो, उसे भी गति (मोक्ष)का दान करे. ७.जो दूसरे (भक्त)केलिए स्वयंके बनाये नियमका विरोध भी न माने.[८]

आश्रयणीय केवल प्रभु श्रीकृष्ण ही क्यों?

अखिल जगतके उपादान, स्रष्टा, पालक, भयकर्ता सदानन्द परब्रह्म श्रीकृष्ण ही है. जीव उन्हींका अंश है, जो कि उनसे बिछुडनेके बाद अविद्याग्रस्त और दुःखी हो गया है तथा जन्म-मृत्युके दुष्चक्रमें फंस कर भयभीत हो रहा है. भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य सभी देव प्राकृत है, अक्षरब्रह्म भी गणितानन्द है. पूर्णानन्द और सर्वथा अभय रूप तो श्रीकृष्ण ही है. उनसे जो भिन्न देखता है, वही भयग्रस्त होता है. उस अभय स्वरूप ब्रह्मके भय से, उसके शासनमें तो वायु, सूर्य, इन्द्र, अग्नि और मृत्यु भी दौडता है. वही एकमात्र अक्षय तत्व है.[९] इस प्रकार पूर्णतः अभय परम तत्व परब्रह्म श्रीकृष्ण ही है.

जो एक बार उनकी शरणमें चला जाता है. उसे वे पूर्णतः अभय प्रदान कर देते हैं. पूर्णानन्द प्रभुः आनन्दको जानने वाला कभी किसीसे नहीं डरता.[१०] प्रभु शरणागतको, आश्रितको कभी नहीं छोडते.

प्रभु श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्य युक्त है. उनसे ही ऐहिक-पारलौकिक सब कुछ सिद्ध होता है. वे स्वयं ही परमार्थ स्वरूप है.[११]

एकमात्र प्रभु श्रीकृष्ण ही सर्वथा निर्दोष, पूर्णगुण विग्रह है. अन्य सभी देव प्राकृत हैं.[१२]

प्रभु श्रीकृष्ण परम कृपालु हैं. वे जीवके साधन और उसकी पात्रता या अधिकारका विचार न कर अपने प्रमेय बलसे शरणागत जीवका उद्धार कर देते हैं. उन्होंने सुसाधन, निःसाधन, पुष्ट साधन यहां तक कि निन्दित कर्मोंमें निरत और अनधिकारी जीवोंका भी उद्धार किया है. यहां तक कि वे शास्त्र-विहित, अविहित, निषिद्ध कर्मोंको भी उद्धारका बहाना बना लेते हैं. वे काम, भय, द्वेष पूर्ण सम्बन्धोंको भी उद्धारका आधार बनालेते हैं. वास्तवमें वे साधनों पर विचार ही नहीं करते उनकी कृपा ही जीवके उद्धारका एकमात्र साधन हैं. अतः दुराचारी, पापियों तकका उद्धार कर देते हैं. ऐसा परम कृपालु और परम उदार अन्य कौन है?[१३]

प्रभु श्रीकृष्ण भक्तोंकेलिए अपने नियम और प्रतिज्ञाके विरुद्ध कार्य करनेमें भी संकोच नहीं करते. भीष्मजीका उदाहरण प्रसिद्ध ही है. *"परम प्रेमके पाले पडकर प्रभुको नियम बदलते देखा."*

इस प्रकार एकमात्र आश्रयणीय केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही है. यदि इस तत्वको समझ लिया तो शरणागत कभी अन्याश्रयका विचार भी मनमें नहीं आने देगा. प्रभुके स्वरूप और सामर्थ्यका अज्ञान अन्याश्रय दोषका कारण बनता है. अतः यह विवेचन किया गया है.

अन्याश्रय महाबाधक क्यों है?

श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगोपीनाथजी, श्रीगुसांईजी, श्रीहरिरायजी सभीने अन्याश्रयको महाबाधक मानकर अन्याश्रयत्यागपूर्वक भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करनेकी आज्ञा की है. श्रीगुसांईजी अन्य सम्बन्धकी गन्धको भी गलेकी फांसकी तरह मानते हैं तथा श्रीहरिरायजी इससे डरते रहनेकी आज्ञा करते हैं.[१४]

इन आज्ञाओंके सन्दर्भमें यह जान लेना उचित होगा कि अन्याश्रय बाधक क्यों है? कुछ कारण इस प्रकार हैं :

१.अन्याश्रय भगवत्-पदाश्रयका विरोधी है.[१५]

२.प्रभु अनन्य भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं. अन्याश्रयसे प्रभु अप्रसन्न होते हैं तथा अन्याश्रय लेनेवालेसे उदासीन हो जाते हैं.[१५]

३.ब्रह्मसम्बन्धी जीव प्रभुको सब कुछ समर्पित कर पतिव्रत धर्मको स्वीकार करता है-''जो पतिव्रत तो या ढोटासों, इन्हें समर्प्यो देह.'' अन्याश्रय पतिव्रत धर्मकी दृष्टिसे चरित्रहीनता है. महा अपराध है. गीतामें भी भगवानने अव्यभिचारिणी भक्ति पर बल दिया है. अन्याश्रय तो व्यभिचार ही होगा.[१६]

४.अन्याश्रयसे शरणधर्म भंग हो जाता है.[१८]

५.यदि अन्याश्रय है, तो भक्ति नहीं है, छल है. जो सबके होते हैं, वे किसीके नहीं होते. ऐसे लोगोंको दयारामभाई अनन्य भक्त नहीं मानते-''हरिने भजे बळी अन्य आराधे, ते अनन्य भक्त न कहावे रे.'' पतिव्रता केवल पतिकी होती है, गणिका सबकी होती है.

६.अन्याश्रय तो सत्पुरुषके चित्तको भी तत्काल, तत्क्षण बहिर्मुख, भगवद्विमुख बना देता है.[१९]

७.यदि जीवनमें अन्याश्रय है, तो सत्संग, असमर्पितका त्याग और भगवद्गुणगान भी सिद्ध नहीं होंगे. फिर भगवत्सेवा कैसे सिद्ध हो सकती है? अतः अन्याश्रय सर्वथा त्याज्य है.

८.प्रभु परम दयालु हैं, कृपा सागर हैं अतः स्वयंके सेवकोंके अन्याश्रयका निवारण भी करते हैं. उन्होंने व्रजभक्तोंको इन्द्रपूजनरूप अन्याश्रयसे छुडाया. अम्बिकापूजनरूप अन्याश्रयसे नन्दरायजीको दंड देकर छुडाया. अतः अन्याश्रय त्यागपूर्वक निरन्तर प्रभु श्रीकृष्णका स्मरण और उन्हींकी सेवा करनी चाहिए.[२०]

९.प्रभु जिसे अपना लेते हैं, उसका सर्वथा परित्याग नहीं करते. दंड देकर भक्तोंके अन्याश्रय दोषका परिमार्जन भी कर लेते हैं तथा पुनः उन्हें अपना लेते हैं. इसी कारण अलीखान और उसकी बेटीको अगले जन्ममें श्रीगुसांईजीके सेवक बननेकी प्रेरणा दी और अपना लिया. इसी प्रकार दामोदरदास संभलवाले दम्पत्तीको म्लेच्छपुत्रके माता-पिता बननेका दंड मिला किन्तु महाप्रभुजीने इन भगवदीयोंका त्याग नहीं दिया.

१०.प्रभु कभी-कभी अन्याश्रय लेनेवाले भक्तोंके प्रति अत्यन्त कठोर हो जाते हैं तथा उन्हें सेवासे वंचित कर देते हैं. उदाहरणार्थ उज्जैनके पासकी वैष्णवने भूमि नापनेवाले अधिकारीके प्रति आश्रय भाव व्यक्त किया तो

श्रीठाकुरजीने उसके घरका त्याग कर दिया. कृष्णभट्टने उचित ही कहा था कि लोगोंके सामने श्रीठाकुरजी और अपनी वैष्णवताका प्रदर्शन तो वैष्णवताको बेचना है. ऐसे व्यक्तिकी सेवा प्रभु स्वीकार नहीं करते. जो व्यक्ति आज श्रीठाकुरजी एवं अपनी वैष्णवताका प्रदर्शन कर वैष्णवताको बेचते हैं, उनकी सेवा भी पुष्टि पुरुषोत्तम स्वीकार नहीं कर रहे हैं. यही लगता है.

११.सभी भक्तिशास्त्रोंमें अन्याश्रयको महाबाधक माना गया है. हारितस्मृतिमें भी अन्य देवके दर्शन, नमस्कार, उनके मन्दिरमें जाने और उनका प्रसाद लेनेका निषेध है.[१०३]

अन्याश्रयके सन्दर्भमें अन्य कौन है?

महाप्रभुजीने अन्याश्रयके सन्दर्भमें 'अन्यके भजन'की वर्जनाकी है. यह विचारणीय है कि अन्य किसे माना जाए तथा अन्यकी परिधिकी व्याप्ति कहां तक है? गो. श्रीगोपीशजीने श्रीगुसांईजीके 'न्यासादेश'के अनुरूप अन्यका अर्थ 'अन्यदेवता' मानकर आज्ञाकी है कि महाप्रभुजीने अन्य देवताका भजन न करनेका निर्देश दिया है तथा श्रीगुसांईजी भी 'न्यासादेश'में यही आज्ञा करते हैं.[११] श्रीगुसांईजीने स्पष्टतः आज्ञाकी है कि यदि परिवारमें परम्परासे किसी इतरका भजन होता चला आ रहा है तो भी भगवदाश्रयी वैष्णवको इतर देवताका भजन (सेवा-पूजा) नहीं करना चाहिए.[११] श्रीगोपीनाथजी भी 'अन्य'का अर्थ 'अन्यदेव' ही मानते हैं.[११]

गो. श्रीरघुनाथजी 'अन्य' का अर्थ ''भगवद्भक्तके अतिरिक्त अन्य'' मानकर उनके भजन, सेवनका निषेध करते हैं. संभवतः उन्हें श्रीगोपीनाथजीसे यह संकेत प्राप्त हुआ होगा. क्योंकि आपश्रीने अवैष्णवोंके साथ रहने-बसने और संसर्ग रखनेका निषेध किया है.[२४] गो. श्रीरघुनाथजीने श्रीगोपीनाथजीकी 'साधनदीपिका'के अनुरूप अपनी विवेकधैर्याश्रयकी टीकाको भी 'दीपिका' कहा है, इससे उपर्युक्त अनुमानको बल मिलता है.

गो. श्रीश्याममनोहरजीके अनुसार 'अन्यदेव'का अर्थ है : ''भगवानके ऐसे देवरूप कि जिनको पुष्टिमार्गीय सेवा-प्रणालीमें मान्य नहीं किया गया है.'' 'कृष्णएव गतिर्मम' तथा 'कृष्णएवाश्रयो मतः'के संदर्भमें अन्य या इतरकी

व्याख्या करते हुए आपश्रीने स्पष्ट किया है कि 'एवकार इतर व्यावर्तक' माना जाता है. श्रीकृष्णके मूलरूपके अलावा अन्य सारे विभूति रूप, लौकिक हों या अलौकिक, जड हों या चेतन, देव-दानव-मानव-पशु-पक्षी इत्यादि सभी रूपोंको भक्तिमार्गीय एवं पुष्टिमार्गीय आश्रयके दृष्टिकोणसे इतर (अन्य) माना जाता है. अतएव सभी विभूतिरूप एवकारके द्वारा व्यावर्तनीय माने जाते हैं. अतएव विभूतिरूप आश्रयणीय नहीं है.[१५] एकमात्र रसात्मा श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं. वे ही आश्रय लेने योग्य हैं अतः केवल उन्हींका आश्रय लेना चाहिए, अन्य किसीका नहीं.

क्या श्रीयमुनाजी, श्रीगिरिराजजी, श्रीमहाप्रभुजी और भगवदीय भी 'अन्य' है?

यदि मूलरूप श्रीकृष्णके अलावा अन्य सभी रूप इतर या अन्य है, आश्रयणीय नहीं है तो श्रीयमुनाजी, श्रीगिरिराजजी, श्रीमहाप्रभुजी और भगवदीयोंका गुणगान भी अन्याश्रय माना जाएगा. किन्तु पुष्टिमार्गमें तो इनके आश्रयका महत्व है. सैद्धान्तिक दृष्टिसे सही स्थिति क्या है? इस पर विचार किया जाना आवश्यक है, जिससे वैष्णवोंके मनमें किसी प्रकारकी द्विधाकी स्थिति न रहे.

श्रीयमुनाजी

पुष्टिमार्गमें श्रीयमुनाजीका स्तवन होता है. उनके गुणगान-सम्बन्धी पद भावपूर्वक गाये जाते हैं. स्वयं श्रीयमुनाजीकी स्तुति श्रीमहाप्रभुजीने 'यमुनाष्टक' स्तोत्रकी रचना करके की है. वैष्णवजन नित्य व्यक्तिगतरूपसे तथा सामूहिकरूपसे यमुनाष्टकका पाठ करते हैं.

इस विषयमें यह ज्ञातव्य है कि पुष्टिमार्गमें जिन श्रीयमुनाजीको सेव्य कोटिमें माना जाता है, वे पुराणोंमें वर्णित कूर्मवाहिनी यमुनादेवी नहीं है. पुष्टिमार्गमें श्रीयमुनाजी गोलोकमें स्थित स्वामिनीजी स्वरूपा हैं, जो कि साक्षात् भगवद्रूपा हैं. उनके सम्बन्धमें ब्रह्मवैवर्त पुराणमें श्रीगर्गाचार्यने कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही लीलार्थ श्रीकृष्ण और श्रीयमुनाजी, इन दो रूपोंमें विभाजित हुए हैं. इस प्रकार श्रीयमुनाजी द्विगुणभावसे कृष्णस्वरूपा हैं.[१६]

श्रुतियोंके आधार पर श्रीहरिरायजी यह प्रमाणित करते हैं कि

श्रीयमुनाजी सूर्यमण्डलमें स्थित घनीभूत रसात्मा भगवान् नारायणके हृदयानन्दसे आविर्भूत द्रवीभूतरसात्मिका हैं, वे पुष्टिलीलाकी प्रसिद्धिकेलिए भूतल पर पधारी हैं. २७ वे कालप्रवाहमें बहते हुए जीवोंको वहांसे बरबस खींच कर अपने साथ बहाती हुई, उन्हें श्रीकृष्णकी दिव्य, मधुरलीलाओं तक पहुंचा देती है. वे जीवको साक्षाद् भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति, विविध पुष्टिलीलाओंके दर्शन करपानेका सामर्थ्य, लीलारसानुभवका सामर्थ्य, सर्वात्मभाव आदि पुष्टिमार्गीय सिद्धियां प्रदान करती हैं, भगवद्भावसे सम्पन्न करती हैं, भगवत्सम्बन्धीके प्रतिबन्धों/विघ्नों और कलि-दोषोंको भी दूर करती हैं, परमानन्दात्मक प्रभुके उच्छलित आनन्दकी इस रसधारामें स्नानसे प्रभुअंगसंगकी सिहरन पैदा होती है, उनकी कृपासे पुष्टिजीवोंका स्वभावविजय होकर भगवत्प्रेमभाजनता सम्पादित होती है और जीव पुष्टिमार्गमें प्रवेशयोग्य बनता है. पुष्टिप्रभुने अपने गुणधर्म और रूप श्रीयमुनाजीमें भी प्रकट किये हैं अतः श्रीयमुनाजीसे सम्बन्ध होना परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके साथ अनायास सम्बन्ध होना है. अतः उनका आश्रय अन्याश्रय नहीं है. यह स्मरणीय है कि पुष्टिमार्गमें स्वतन्त्र रीतिसे भजनीय-आश्रयणीय तो एकमात्र श्रीकृष्ण ही है, श्रीयमुनाजी उनके साथ तद्रूपमें भजनीय है. उनकी स्तुतिसे फलरूप श्रीकृष्णकी ही प्राप्ति होती है.

श्रीमहाप्रभुजी

श्रीगुसांईजीने श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र, श्रीवल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत आदिमें श्रीमहाप्रभुजीके दिव्य स्वरूपको प्रकट करते हुए सार रूपमें आपश्रीको 'वस्तुतः कृष्णएव', कृष्णरूप ही बताया है.

श्रीहरिरायजीने स्पष्ट किया है कि भगवद्भाव प्रमेयबलके बिना अन्य किसी साधनसे उपलब्ध नहीं होता. अतः अनवतार दशामें दैवी जीवोंके उद्धारकेलिए प्रभु श्रीकृष्णने करुणा करके भावात्मक मुखारविन्दरूप वैश्वानरको श्रीमदाचार्यरूपमें प्रकट किया है. उन्हींके सम्बन्धसे भगवद्भाव, भगवद्-स्वरूपानन्दकी प्राप्ति होती है. अतः श्रीआचार्यजीका आश्रय करके सदानन्द श्रीकृष्णका भजन करना चाहिए. आचार्यश्री ही पुष्टिपुरुषोत्तमका स्वरूप तथा रहस्य जताते हैं और उनसे जीवका पुष्टिसम्बन्ध सिद्ध करते हैं. प्रभु उन्हींके द्वारा जीवका वरण करते हैं. अतः उनके अतिरिक्त अन्य किसीको आश्रयणीय

कहना या उनके समान बताना आसुरत्व है. इसी कारण आचार्यजीके वचनों पर सन्देह करनेको अन्याश्रयरूप दोष/अपराध वार्ता-साहित्यमें बताया गया है.[२८]

श्रीगुसांईजीकी स्पष्ट घोषणा है कि श्रीमदाचार्यके आश्रयसे भक्तिके प्रतिबन्धोंका विनाश होकर कृष्णाधरामृतके आस्वादरूपा सिद्धिकी प्राप्ति होती है तथा उनका सेवक प्रभुको जो निवेदित करता है, प्रभु उसे साक्षात् आरोगते हैं. इस प्रकार श्रीमदाचार्यका आश्रय तत्वतः कृष्णाश्रय ही है और उसका फल स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं. परमार्थरूप एवं आश्रय तो भावात्मा श्रीकृष्ण ही हैं किन्तु श्रीमदाचार्यकी कृपासे ही भावका उदय होता है. श्रीगुसांईजीका मत है कि भागवतजीमें 'वचोविभूतीः' कहनेसे श्रीमदाचार्यका ही बोध होता है.[२९]

श्रीहरिरायजी महाप्रभुने स्पष्ट किया है कि पुष्टि प्रभु, श्रीयमुनाजी और श्रीमदाचार्यचरण समानधर्मा हैं. वे तीनों सजातीय धर्मवाले हैं क्योंकि तीनों ही भाववृद्धि करते हैं. प्रभु विरह देकर, श्रीयमुनाजी अपने दर्शनोंसे तथा प्रभुका स्मरण कराकर और आचार्यश्री ब्रह्मसम्बन्ध करवा कर निजजनोंको तापक्लेश प्रदानकर भाववर्धन करते हैं. इस प्रकार तीनों सजातीय धर्मवाले हैं.[३०]

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीयमुनाजी और श्रीमदाचार्यका आश्रय भगवदाश्रयसे भिन्न आश्रय नहीं है. यह भगवदाश्रयको दृढ करनेवाला परम उपकारक है अतः इनके आश्रयसे कृतार्थता मानी जाती है.

भगवदीय

गो. श्रीरघुनाथजी अन्याश्रयका अर्थ 'भगवद्-भक्तके अतिरिक्त अन्य'के भजनको मानते हैं. अर्थात् उनके मतानुसार भगवद्भक्तका आश्रय भगवदाश्रय ही है. श्रीगुसांईजीकी भी आज्ञा है कि भावात्मा भगवानकी अलौकिक लीलोपयोगी संसिद्धि हो जानेसे भगवद्भक्तकी देह भावसे परिपूरित हो जाती है. उस स्थितिमें भगवदीय (मेघके समान) श्रीहरिका भी हरि (दुःखहर्ता) हो जाता है. ऐसे भक्तको आश्रय समझना चाहिए.[३१]

श्रीगिरिराज

व्रजवासी जब इन्द्रपूजन करके अज्ञानवश अन्याश्रयकी भूल करने जा रहे थे तब स्वयं प्रभु श्रीकृष्णने उन्हें श्रीगिरिराजपूजनकी आज्ञा करके उनके अन्याश्रयका निवारण किया था. प्रभुने स्वयं गिरिराजरूपसे व्रजवासियोंका पूजन स्वीकार किया था. गिरिराज हरिदासवर्य हैं. वे प्रभुकी लीलाके साधन, वातावरण उपस्थित करते हैं. प्रभुके सम्बन्धसे ही उनका भगवद्रूपमें भगवल्लीलाके परम उपकारक और हरिदासवर्य एवं परम भगवदीय रूपमें वन्दन, पूजन, अर्चन किया जाता है. यह अन्याश्रय-निवारक है, अन्याश्रयका कारक नहीं. श्रीगिरिराजकी कृपासे भगवल्लीलाकी स्मृति, अनुभूति और साक्षात्कार होता है.

अन्याश्रयका स्वरूप, भेद और विविध आयाम

भगवदाश्रयके बाधकरूप अन्याश्रयकी श्रीमहाप्रभुजीने तीन स्थितियां मानी है. १.अन्यका भजन, २.वहां स्वतः गमन और ३.अन्यत्र प्रार्थना करना. पुष्टि भक्तको इन तीनोंका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए.[३२]

१.अन्यका भजन

भगवानके ऐसे देवरूपका भजन सर्वथा नहीं करना, जिसे पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें मान्य नहीं किया गया हो. अन्य देवका भजन चाहे सकामरूपसे किया जाए अथवा निष्कामरूपसे, दोनों ही रूपोंमें अन्य देवभजन अन्याश्रय है. अतः अन्य देवका भजन-पूजन-अर्चन नहीं करना चाहिए. केवल प्रभु श्रीकृष्ण ही भजनीय हैं.

२.अन्य देवके मन्दिरमें स्वतः नहीं जाना

स्वतः अर्थात् अपनी ओरसे-चलाकर-स्वेच्छासे किसी अन्य देवके मन्दिरमें जाना अन्याश्रय है. उससे बचना चाहिए. कुछ आचार्योंका मत है कि श्रीमहाप्रभुजीने 'स्वतोगमनमेव च'में 'च'के द्वारा यह भी व्यंजित किया है कि किसी अन्यकी प्रेरणासे भी अन्य देवके मन्दिरमें नहीं जाना. ३३

३.किसी अन्य देवसे प्रार्थना भी नहीं करना

किसी अन्य देवसे किसी भी प्रकारकी प्रार्थना, चाहे वह लौकिक

प्रयोजनकेलिए हो अथवा अलौकिक प्रयोजनकेलिए हो, नहीं करनी चाहिए. दोनों ही स्थितियोंमें अन्य देवसे की गयी प्रार्थना अन्याश्रय ही है. गो. श्रीरघुनाथजीका मत है कि जो कार्य स्वधर्ममें, पुष्टिधर्ममें विहित हो तथा स्वधर्मके विरुद्ध न हो ऐसे कार्यकेलिए प्रार्थनाकी जा सकती है. किन्तु ऐसी प्रार्थना भी अपने प्रभुसे या भगवद्-भक्तोंसे ही करनी चाहिए, किसी अन्यसे नहीं. इसका भाव यही समझना चाहिए कि स्वधर्ममें विहित प्रत्येक कार्य करनेके पूर्व भगवानकी वन्दना, स्तुति, मंगलाचरणरूपमें प्रार्थना करना उचित है. इसमें यह भाव भी संनिहित है कि दासधर्मके अनुरूप किसी भी कार्यको आरंभ करनेके पूर्व स्वामी, कर्ता-कारयिता सर्वसमर्थ प्रभुके चरणोंमें विज्ञापना करनी चाहिए. यह अन्याश्रय नहीं अपितु आश्रयकी दृढता एवं समर्पित जीवकी भगवदधीनताका द्योतक है. अन्य देवसे प्रार्थना न करनेमें यह ध्वनि भी छिपी हुई लगती है कि यदि कठिन परिस्थिति आ पडे तो प्रभुके चरणोंमें आर्त भक्त प्रार्थना कर सकता है किन्तु भगवानके अतिरिक्त अन्य किसीसे भी प्रार्थना या विज्ञापना कदापि नहीं करनी चाहिए. अतः "तथाऽन्यत्र विवर्जयेत्"में जोर देकर कहा गया है. सिद्धान्ततः श्रीमहाप्रभुजी प्रार्थना करनेका निषेध करते हैं क्योंकि प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, हमारे परम हितैषी हैं, उनसे प्रार्थना करना स्वामीके अभिप्रायके प्रति शंकाका द्योतक है.[५]

उपर्युक्त तीनों स्थितियां भगवदाश्रय-विघातक एवं अन्याश्रय-विधायक हैं. इन तीनों स्थितियोंसे बचना चाहिए.

मानसिक, वाचिक और कायिक अन्याश्रय

अन्याश्रय पहले मनमें अंकुरित होता है, फिर वाणीसे स्फुटित होता है, तदुपरांत हमारी कायिक चेष्टाओं, क्रिया-कलापोंमें व्यावहारिक रूपसे व्यक्त होता है. इन तीनों स्तरों पर सजाग और सावधान रहकर अन्याश्रयसे बचना चाहिए. अतः महाप्रभुजीकी आज्ञा है कि मनमें सतत शरण भावना, भगवदाश्रयका भाव रखें, वाणीसे वही व्यक्त करें तथा जीवनके समस्त छोटे-बडे लौकिक-वैदिक कार्योंमें शरण भावनाको व्यक्त होने दें.[५]

सूक्ष्म और स्थूल अन्याश्रय

स्थूल अन्याश्रय-वाणी या व्यवहारके द्वारा किया जानेवाला आश्रय

स्थूल अन्याश्रय है. वाणीके द्वारा होनेवाले अन्याश्रयका उदाहरण उज्जैनके पासकी वैष्णवीके प्रसंगमें मिलता है. दामोदरदास संभलवालेकी पत्नीके मनमें महाप्रभुजीके वचनोंके प्रति संशय हुआ था. पूर्व जन्ममें अलीखान और उसकी बेटीने व्यवहारके धरातल पर अन्याश्रय किया था. कहा जाता है कि तृतीय गृहके किन्हीं गोस्वामी बालकके द्वारा सरस्वती मंत्र जीभ पर लिखा गया जिसे अन्याश्रय मानकर द्वारकाधीश प्रभुने अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए आज्ञाकी थी कि अन्याश्रय करनेके कारण आप हमारी सेवाके पात्र नहीं रहे. स्वार्थसिद्धिकी आशासे नेताओं, अधिकारीयों और धनिकों की चाटुकारिता करना भी स्थूल अन्याश्रय है.

लौकिक हितकी कामनासे अन्य देवकी

उपासना-जप-अनुष्ठान-व्रत आदि करना, उनकी मानता (मन्नत) लेना, नवरात्रि व्रत, सप्तशतीपारायण आदि भी सर्वसमर्थ प्रभुके सामर्थ्यको भुलाकर, उपेक्षा कर अन्याश्रय लेना ही है. ग्रहशांतिकी कामनासे ग्रहोंके अनुष्ठान-व्रत-दान आदि रोग-मुक्तिकेलिए या मारक योग टालनेके उद्देश्यसे महामृत्युंजय जप आदि भी पुष्टिधर्मकी दृष्टिसे अन्याश्रय है. पुष्टिभक्तके मनमें सुदृढ विश्वास होना चाहिए कि जो समस्त जगतके सखा हैं, वे परम हितैषी प्रभु अपने भक्तोंका अहित कैसे होने देंगे? कदापि नहीं होने देंगे.[५]

सूक्ष्म अन्याश्रय

सूक्ष्म अन्याश्रय विचारके धरातल पर होता है. जैसे ठंडी हवाका झोंका आने पर पवनदेवकी कृपाको श्रेय देना या सुवृष्टिकेलिए इन्द्रदेवकी कृपाकेलिए आभारी होना भी वैचारिक धरातल पर सूक्ष्म अन्याश्रय है. वास्तवमें सभीके नियामक तो श्रीहरि हैं उन्हींकी इच्छासे सब होता है. अतः अन्य किसीको श्रेय देना उपयुक्त नहीं है.

इसी प्रकार अपने गुण, योग्यता या सामर्थ्य पर गर्व करना, अहंकार करना कि "मैं हि योग्यतम हूं, में ही यह कार्य कर सकता हूं, अन्य कोई नहीं कर सकता". ऐसा अहंकार भी घातक है. वास्तवमें हमें जो गुण, योग्यता, क्षमता, सामर्थ्य प्राप्त है, वह प्रभु-प्रदत्त ही है. वेही हमारे प्रेरक हैं. वास्तविक कर्ता-कारयिता तो वे ही हैं, हम तो निमित्त मात्र हैं. हमारा वही चिन्तन होना

चाहिए.

कुछ विशिष्ट स्थितियां, जिनमें अन्याश्रय नहीं होता

१.वेद भगवद्रूप है. वेदवाणी भगवदाज्ञा है. वैदिक अनुष्ठान, यज्ञादि भी ब्रह्मरूप हैं. अतः नित्य-नैमित्तिक वैदिक कर्मानुष्ठान यज्ञादि अन्याश्रय नहीं है. (सर्व. नि. २५२)

२.श्रुतिमें नित्यकर्मके रूपमें विहित उनके अधिष्ठातृ देवोंका पूजन कर्माङ्गभूत होनेके कारण अन्याश्रय नहीं है.

३.नित्य संध्योपासनमें अंगभूत गायत्रीका आवाहन, गायत्री मंत्रका जप, सूर्यको अर्घ्यदान, उपस्थान, वैश्वदेव, होम आदि अन्याश्रय नहीं है. ये द्विजकेलिए विहितकर्म हैं, भगवदाज्ञा रूप हैं. (सा.दी.१९-२०)

४.भगवदाश्रयमें रहनेवाला सेवा-परायण भक्त अन्य देवके मन्दिरमें न जावे किन्तु उनका अपमान कदापि न करे. ३७ यदि कहीं जाते समय देवमन्दिर सामने हो और वहां विराजित देवके दर्शन हो जाएं तो उन्हें भगवद्-अंग मानकर, हाथ जोडकर उनके प्रति आदरभाव व्यक्त करे, भगवत्स्मरण करे. पुष्टिमार्ग तो प्राणिमात्रमें भगवद्-दृष्टि रखता है, वह किसीका भी अपमान नहीं करता. अतः अन्य देवके अपमानकी बात तो वह सोच भी नहीं सकता. अन्य देवको भगवद्-अंश मानकर सम्मान देनेसे अन्याश्रय नहीं होता. किन्तु अन्य देवकी उपासना, उनका व्रत, उनके मंत्रादिका अनुष्ठान, उनके दर्शन करनेका नियम बनाने, किसी कामना-पूर्तिकेलिए उनसे प्रार्थना करनेसे अवश्य अन्याश्रय होता है.

यज्ञोपवित, विवाह आदि षोडश संस्कार, नवनिर्मित भवनके वास्तु आदिमें कर्माङ्गभूत गणेशपूजन, गृहशान्ति, कुलदेवस्थापन-पूजन आदिसे भी अन्याश्रय नहीं होता. इनका भगवानका अंशरूप मानकर एवं मंगलप्रसंगमें पधारे हुए मान्य अतिथि मानकर पूजन करना चाहिए, किन्तु उन्हें इष्टदेव या आराध्य मानकर नहीं. इस भावनासे भी पूजन न करें कि वे पूजनसे प्रसन्न होकर हमारा हित करेंगे. और न इस डरसे पूजन करें कि यदि इनका पूजन-अर्चन नहीं करेंगे तो मंगलकार्यमें विघ्न उपस्थित होगा या अनिष्ट होगा.

व्यक्तिगत जीवनमें या सार्वजनिक समारोहमें औपचारिकरूपसे या शिष्टाचारके निर्वाहके रूपमें धन्यवाद देने या आभार-प्रदर्शन करनेसे अन्याश्रय

नहीं होता. यह औपचारिकताका निर्वाह या शिष्टाचारका पालन है.

किसी कर्मको सम्पन्न करानेकेलिए आये हुए ब्राह्मण, पुरोहितको कर्मानुष्ठानके बाद तिलक करके दक्षिणा देकर सम्मानित करना अन्याश्रय नहीं है.

यद्यपि भगवद्धर्मकी अपेक्षा लौकिक-वैदिक कर्म हीन हैं. किन्तु लोक-वेद-कुलके आचार-कर्म भी करने चाहिए किन्तु इन्हें शरणभाव बनाये रखकर, करणीय मानकर करें, इनमें लिप्त न हों.

तीर्थोंमें तीर्थ देवताका तथा तीर्थ पुरोहितका सम्मान एवं पूजन करना अन्याश्रय नहीं है.[३८]

पितृकर्म-श्राद्ध आदिके समय तर्पण, ब्राह्मण भोजन, आहूत ब्राह्मणका तिलक, दक्षिणासे सम्मान, पूजन आदिसे अन्याश्रय नहीं होता.

गौ, ब्राह्मण, अतिथि एवं भगवद्भक्तोंको प्रणाम करना, उनका अर्चन करना अन्याश्रय नहीं है.

गंगादि तीर्थोंकी यात्रा, जगन्नाथपुरी, द्वारिका, बद्रीनाथ, व्रजमण्डल, श्रीरंग, वेंकटेश्वर-तिरुपति, श्रीविट्ठल-पंढरपुर आदि स्थानों पर, विष्णु क्षेत्रमें रहकर भगवत्पूजन करना अनुकल्पके रूपमें स्वीकार है. इससे अन्याश्रय नहीं होता.[३९ ४०]

तीर्थयात्राके अनुकल्पको स्वीकार करने पर भी तीर्थोंसे पुण्यलाभकी भावना मनमें रखनेसे तीर्थाश्रयके रूपमें अन्याश्रय होगा किन्तु भगवन्नाम एवं गुण-गान करते हुए कृष्णतत्पर होकर निस्पृह, शान्त, एकाकी तीर्थवास या पर्यटन करें तो अन्याश्रय नहीं होता.[४०]

एकादशी तथा चार जयन्ती पर व्रत करना चाहिए. अन्य व्रत शिवरात्रि, नवरात्रि, सोमवार-शनिवार आदि वैष्णवोंको नहीं करने चाहिए. इनसे अन्याश्रय होता है.[४१]

सूर्यनारायण, विष्णु पत्नी पृथ्वी, भगवत्प्रिया तुलसी आदिको भगवत्सम्बन्धसे प्रणाम करनेमें अन्याश्रय नहीं होता.

राष्ट्रगान/राष्ट्रगीत गानेमें अन्याश्रय नहीं होता. यह देशके नागरिक होनेके कारण हमारा कर्तव्य है. इसी प्रकार राष्ट्रध्वजका वन्दन भी हमारा नागरिकके रूपमें कर्तव्य है.

यदि किसी समारोहमें अतिथिके रूपमें सरस्वतीदेवीके चित्रको माला चढाने या दीप प्रज्वलनकेलिए कहा जाय तथा किसी महापुरुषकी जयन्तीके

अवसर पर उनके चित्रको माल्यार्पण करनेकेलिए आग्रह किया जाय तो यह आदर व्यक्त करना है. अतः ये कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं. इसमें अन्याश्रय जैसी कोई बात नहीं है.

अन्याश्रय है या नहीं इसका निर्णय कैसे हो?

अन्याश्रयका निर्णय क्रिया मात्रसे नहीं हो सकता. उस क्रियाके अन्दर निहित भावसे ही निर्णय हो सकता है. उदाहरणार्थ एक वैष्णव बैलगाडीमें सामग्री भरकर गोकुल जा रहा था. मार्गमें चढाई पडने पर लोगोंने आग्रह किया कि यहां भैरवको दो नारियल चढाने होते हैं. वैष्णवने चढा दिये. श्रीगुसांईजीसे शिकायत हुई. उससे स्पष्टीकरण मांगा गया तो उसने कहा "मैंने भैरवसे प्रार्थना नहीं की कि आप मेरा यह कार्य कर दें. मैंने तो उनके मेहनतानेके रूपमें दो नारियल दिये थे." इस प्रसंगमें सेठ पुरुषोत्तमदासका प्रसंग भी विचारणीय है. उनका काशीविश्वनाथ मन्दिरमें श्रीठाकुरजीका प्रसाद लेकर जाना कुछ लोगोंको भले ही अन्याश्रय प्रतीत हुआ हो किन्तु वे अन्याश्रयी नहीं थे. उनके मनमें शंकरजीका आश्रय लेनेकी, उनसे किसी प्रकारकी कामनापूर्तिकी कोई आकांक्षा नहीं थी. किन्तु यह भूलना नहीं चाहिये कि स्वयं शंकरजीके कहने पर वे उनसे भगवत्स्मरण करने जाते थे.

कई बार ऐसे कार्य करनेका अवसर आता है जो कि ऊपरी तौर पर अन्याश्रय लगते हैं तब मनमें प्रश्न करें.

१.क्या मैं यह कार्य किसी लौकिक या अलौकिक स्वार्थकी पूर्तिकेलिए कर रहा हूं?

२.मैं जिन देवका आदर देनेकेलिए नमन कर रहा हूं, वह क्या स्वेच्छासे है? क्या स्वार्थ सिद्धिकेलिए है? क्या मैं उनके माहात्म्य या सामर्थ्यको नमन कर रहा हूं.

यदि केवल औपचारिकताकेलिए निर्वाह या शिष्टाचार या भगवद्-शेष (अंश) रूपमें आदर भाव व्यक्त करनेकेलिए नमन-वन्दन है तो अन्याश्रय नहीं होगा.

हमारे जीवनका सम्पूर्ण व्यवहार श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंके अनुरूप, प्रभु श्रीकृष्णको ही परब्रह्म, सर्वसमर्थ एवं एकमात्र आश्रय मानकर होना

चाहिए. हर क्षर शरण भाव बना रहे, भगवदाश्रय सुदृढ रहे तो अन्याश्रय होनेकी संभावना समाप्त हो जाती है. अपने विचारों, भावनाओं, वाणी और क्रिया-कलापोंको इसी कसौटी पर कसते चलें.

अन्याश्रय क्यों होता है?

अन्याश्रय होनेके दो मुख्य कारण हैं : १.अज्ञान और २.अविश्वास. यदि भगवानके सर्वकारणकाररूप, सर्वरूप, सर्वसमर्थरूप, हितैषी स्वरूप और परमकृपालु स्वरूपका ज्ञान न हो तथा अपने और प्रभुके अंश-अंशी सम्बन्धका बोध न हो तो कठिन समयमें जीव घबरा कर अन्याश्रय कर बैठता है.

प्रभुके स्वरूप और उनके साथ जीवके सम्बन्धोंका ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है. प्रभुके सर्वसमर्थ, हितैषी और कृपालु होने पर पूर्ण, अविचल विश्वास भी होना चाहिए. प्रभु सर्वसमर्थ हैं, वे हर स्थितिमें सदा, सर्वदा, सर्वतः, सर्वथा मेरी रक्षा करेंगे और उन्हींसे मेरे लौकिक-अलौकिक सब सिद्ध होंगे. अन्य सभीमें उन्हींके द्वारा दी गयी अल्प सामर्थ्य है. मैं सर्व शक्तिमानको छोडकर अल्प शक्तिशालीके पास क्यों जाउं? मैं अन्य किसीका आश्रय कदापि नहीं लूंगा.

यदि ऐसा बोध और विश्वास बना रहे तो किसी भी स्थितिमें अन्याश्रय नहीं हो सकता? होता यह है कि जैसे डूबता हुआ व्यक्ति घबराकर प्राणोंकी रक्षाकेलिए बिना सोचे-समझे जो भी वस्तु मिले, उसे पकड लेता है, यही स्थिति अज्ञानी, अविश्वासी, अविवेकी और अधीर व्यक्तिकी होती है. ऐसे ही व्यक्ति अन्याश्रय करते हैं.

श्रीमहाप्रभुजीने भगवदाश्रयके विघातक, बाधक तत्वोंमें अविश्वासको सबसे बडा और प्रबल माना है तथा स्पष्टतः आदेश दिया है "**अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः.**" इसके सन्दर्भमें ब्रह्मास्त्रका उदाहरण आपश्रीने दिया है. हनुमानजी ब्रह्मास्त्रमें बंध गये थे किन्तु बांधनेवालोंके द्वारा अविश्वास करने पर वे उसके बन्धनसे मुक्त हो गये. इसी प्रकार भगवदाश्रयके सामर्थ्यके प्रति अविश्वास होनेके कारण अन्य धर्मकी

मिलावट या उससे सम्बन्ध हो जाता है तब शरणमंत्र भी व्यर्थ चला जाता, टिकता नहीं है. अतः अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिए.[१२] अविश्वास ही प्रधानरूपसे अन्याश्रयका कारण बनता है.

यदि श्रीमदाचार्यके बनाये गये मार्गके प्रति अविश्वास हो तो भी सब कुछ व्यर्थ चला जाएगा. प्रभुके प्रति तथा आचार्योपदिष्ट मार्गके प्रति, पूर्ण विश्वास आवश्यक है. दोनों ही दृष्टियोंसे अविश्वास महाबाधक है.[१३]

लौकिक-वैदिक कर्म एवं कुलाचार-अन्याश्रयके सन्दर्भमें

पुष्टिमार्गमें भगवद्धर्मको सर्वोत्तम माना गया है. वैदिक-लौकिक कर्मों और कुलाचारोंको उसकी तुलनामें हीन और गौण माना जाता है. वैदिक कर्ममें षोडश संस्कार, विहित नित्य अनुष्ठेय कर्म, संध्यावन्दन, जप, होम, बलिविश्वदेव, यज्ञ, श्राद्ध-तर्पण आदिका समावेश हो जाता है. लौकिक कर्मोंमें पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-माननीय दायित्वोंका निर्वाह, आजीविकाकेलिए दिये जानेवाले कार्य और तत्सम्बन्धी दायित्वोंका समावेश है. लोकाचार तथा कुलाचारमें मांगलिक कार्योंमें गणेश-स्थापना, कुल-देवता-स्थापना, जन्माक्षर मिलाना, मुहूर्त देखना आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं. इन्हें करना चाहिए या नहीं? इसके विषयमें आचार्योंकी सामान्य राय यह है कि इन्हें करना चाहिए. इनके न करनेसे अपकीर्ति, सामाजिक निन्दा आदि होंगे, उससे चित्तमें उद्विग्नता होगी जिससे भगवद्धर्ममें, भगवत्सेवामें भी व्यवधान होगा तथा चित्तकी भगवत्प्रवणता भी प्रभावित होगी. दूसरा कारण यह है कि पुष्टिमार्गको वेदविरुद्ध, आर्यमर्यादाके प्रतिकूल तथा सामाजिक-राष्ट्रीय-माननीय दायित्वोंकी उपेक्षा करनेवाला गैरजिम्मेदार मार्ग न माना जावें, इस दृष्टिसे भी इनका करना उचित है-"**कार्याणि मार्गप्रामाण्यार्थं.**" इन्हें प्रभुने भी करणीय बताया है-"**सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्.**" अतः प्रभु आज्ञा मानकर भी इन्हें करना चाहिए. "**प्रभोराज्ञां ज्ञात्वा तानि कार्याणि.**"[१४] इस दृष्टिसे ये कार्य करें, तो शरणधर्म भंग नहीं होगा "**करिष्ये वचनं तव.**"

अब प्रश्न यह उठता है कि इन्हें कैसे किया जाए? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है कि लौकिक-वैदिक कर्म कापट्यसे करने चाहिए और भगवद्धर्म पूर्ण

तन्मयतासे सहजरूपसे करने चाहिए. गीतामें भगवानने स्पष्ट कर दिया है कि मेरेलिए कोई भी कर्म करणीय या कर्तव्यरूप नहीं है किन्तु लोग बडोंका अनुसरण करते हैं, लोग मेरा अनुकरण करके कर्म करना छोड देंगे इससे लोक नष्ट हो जाएगा तथा आर्य-मर्यादा भी मिट जाएगी लोगों बुद्धिभेद-भ्रम न हो इसलिए ज्ञानवान् व्यक्तिको लोकसंग्रहकेलिए, लोककल्याण तथा आदर्श उपस्थित करनेकेलिए लौकिक-वैदिक कर्म आसक्ति रहित होकर करने चाहिए. यद्यपि उपरसे तो उसे आसक्त अज्ञानी लोगोंके समान कर्मरत समझा जाएगा किन्तु मनसे वह अनासक्त और भगवत्परायण बना रहता है.[१५] कापट्यसे करनेका अर्थ यही है कि कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करते हुए भी मन सदा प्रभुमें ही लगा रहे, भगवदाश्रय दृढ रहे, शरणभाव बना रहे, कोई आसक्ति कर्ममें न रहे तथा कोई फलाकांक्षा भी न रहे. ये कर्म इसलिए करें कि केवल प्रभुकी आज्ञाका पालन होता रहे. श्रीगोपीशजीका भी यही मत है "**प्रभोराज्ञा ज्ञात्वा तानि कर्माणि, न तु स्वधर्मत्वेनेति.**" "**प्रभोराज्ञां मत्वा कर्मकरणयावातं नान्यथा.**"

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद और अन्याश्रय

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके दार्शनिक सिद्धान्तमें शुद्धाद्वैत परब्रह्म श्रीकृष्ण ही रूप-नामके विभेदसे जगत् रूपमें क्रीडा कर रहा है और समस्त देवी उसीके अंश और विभूति रूप है. इस दृष्टिसे वे श्रीकृष्णसे अभिन्न है. अतः उनके भजनमें क्या आपत्ति है? जब प्रभुके अलावा कुछ है ही नहीं तो अन्य कौन और अन्याश्रय क्या? "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" की धारणाके अनुसार यह ज्ञान उत्तम है. श्रीमहाप्रभुजीका स्पष्ट है कि ये सभी विभूतिरूप भगवान्से अभिन्न बुद्धिसे ज्ञातव्य है किन्तु ये भजनीय या आश्रयणीय नहीं है. यों तो सम्पूर्ण जगत्, जड-चेतन सभी भगवद्रूप हैं क्या सभी आश्रयणीय या भजनीय है? हां, प्रसंगवश इन विभूति रूपोंका पूजनादि किया जावे तो उस समय उन्हें भगवत्शेषतया, भगवानके अंश या सेवक मानकर उनका प्रासंगिक या कर्माङ्गभूत रूपमें पूजन-अर्चन करनेमें कोई दोष नहीं है. किन्तु आश्रय तो मूलरूप, आदिदेव, पूर्णानन्द, सर्वसमर्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण ही है, उन्हींका आश्रय लेना चाहिए. अतः श्रीमहाप्रभुजीने "**कृष्णएव गतिर्मम**", "**कृष्णएवाश्रयो मतः**" की सैद्धान्तिक उद्घोषणाओंमें एवकारके द्वारा आश्रयरूपमें विभूति रूपोंका व्यावर्तन किया है. जिस प्रकार समुद्रकी एक बूंदकी संरचना वही है,

जो कि समुद्रके अगाध जलकी है, दोनोंमें तत्वतः कोई भेद नहीं है. फिर भी बूंदमें यह सामर्थ्य नहीं है कि उसमें जहाज चल सकें और उनमें बैठ कर हम गंतव्य तक पहुंच सके. ओसकी बूंदें चाटनेसे भी कभी किसीकी प्यास नहीं बुझती. अतः आश्रय पूर्णका लें अंशका नहीं, भूमाका आश्रय लें, अल्पका नहीं.

अन्याश्रय-चर्चाकी सम्प्रति प्रासंगिकता

कलियुगमें लोकाश्रय और वेदाश्रय फलसाधक उपाय नहीं रहे. कालकी प्रतिकूलता, देशकी अनुपयुक्तता, द्रव्योंकी अशुद्धताने लोकाश्रयरूप साधनको अब फल-साधक नहीं रहने दिया. वेदाश्रयकी दृष्टिसे वैदिक कर्मानुष्ठान करनेवाले सुयोग्यकर्ता नहीं रहे, मंत्रोंका ज्ञान नहीं और न सुपात्र मंत्र-साधक है अतः मंत्रोंकी दैवी शक्ति तिरोहित हो गयी, वैदिक कर्मोका वास्तविक स्वरूप ही आज ज्ञान नहीं होता. आज तो कर्ममार्गकी दृष्टिसे सुसाधन, निःसाधन और दुष्टसाधन सभी प्रकारके जीवोंके अर्थात् सर्वोद्धारक श्रीकृष्ण ही एकमात्र आश्रय हैं, जो कि किसी भी भावमूलक कर्मको अनुग्रहका निमित्त बना लेते हैं. ज्ञानदृष्टिसे सभी देव अंश-फलावतार रूप तथा प्राकृत होनेसे आविर्भाव-तिरोभावशाली हैं. अक्षरब्रह्म भी गणितानन्द होनेसे ज्ञेय है. अतः ज्ञानमार्गीय दृष्टिसे भी आश्रयणीय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. भक्तिमार्गीय दृष्टिसे भी विवेक, धैर्य, भक्ति आदिसे रहित और पापासक्त दीन जीवकेलिए एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति है. अतः आज जब कि भगवत्प्राप्तिके सभी साधन दुःसाध्य हो गये हैं तब श्रीमहाप्रभुजी हमें शरणागतोंके एकमात्र समुद्धारक भगवान् श्रीकृष्णके सर्वोद्धारक और सर्वार्थसाधक स्वरूपका परिचय कराते हैं तथा यह पक्का श्वासन देकर निर्भय करते हैं कि यदि तुम्हारा शरणभाव सच्चा है तथा तुम अन्य सभीका आश्रय त्याग कर देते हो एवं श्रीकृष्णकी ही सन्निधि और आश्रय ग्रहण करते हो तो वे आज भी तुम्हारे आश्रय बन कर उद्धार करनेकेलिए तत्पर हैं **"तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्"** उनका निर्णय है कि अन्याश्रयरहित कृष्णाश्रय ही आज भी सबकेलिए हितकारी है **"एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्."**

श्रीमहाप्रभुजीके चिन्तनका केन्द्रबिन्दु भगवदाश्रय है, कृष्णाश्रय है. भगवदाश्रयकी दृढताके चार उपाय हैं १.मन और वाणीसे निरन्तर प्रभुके प्रति

शरण-भावना रखना, २.चातकके समान प्रभु पर सर्वदा सुदृढ और अविचल विश्वास करना तथा कभी भी किञ्चित् भी प्रभु पर अविश्वास नहीं करना, ३.प्रभुकी इच्छासे जो भी प्राप्त हो उसे प्रभुको समर्पित कर ममतारहित उपभोग करना, ४.किन्तु इस दिशामें एक सावधानी सबसे आवश्यक है कि हम मनमें, वाणीमें और क्रियामें प्रभुके अलावा अन्य किसीका आश्रय कदापि न लें. यदि अन्य किसीका आश्रय लिया तो यह प्रभुके प्रति अविश्वास होगा, शरण-भावनाका सर्वनाश होगा और प्रभुकी कृपाको ठुकराना होगा. ऐसी स्थितिमें अन्याश्रय सब कुछ नष्ट कर देगा. यदि हम प्रभुप्राप्तिके मार्ग पर न चल पा रहे हों या थक कर बैठ गये हों तो भी अन्य किसीकी बैसाखीका सहारा न लेकर सच्चे मनसे पुकारें, प्रभु श्रीकृष्णको. यदि उनका आश्रय ले लिया, उनके चरणोंमें बैठ गये तो समझो कि बिना चले भी गन्तव्य तक पहुंच गये. क्योंकि भगवानके चरण-शरण अपने आपमें मार्ग भी है और गन्तव्य भी, परम आश्रय भी है. अतः महानुभाव सूरदासजीने गाया है *"सब तज तुम सरनागत आयो, दृढ करि चरन गहे रे, 'सूरदास' प्रभु तुम्हारे मिले तें, पाये सुख जु घने रे"*.

पुष्टिमार्गीय भगवदीयोंने श्रीमहाप्रभुजीकी शरण लेकर अन्याश्रयसे सर्वथा बचानेकी गुहार लगाई है :

'भूल जिन जाय अनत मन मेरो।
रहौं निसि दिवस श्रीवल्लभाधीश पदकमलसों लागि, बिना मोलको चेरो।
अन्यसम्बन्धसों अधिक डरपत हौं, सकल साधन हू तें करो निवेरो।।

अन्याश्रयरहित कृष्णाश्रय, भगवदाश्रय ही पुष्टिजीवकी कृतार्थता है. अन्याश्रय भगवत्सेवामें महाबाधक प्रतिबन्ध है.

सन्दर्भसूची

१.
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः। वि. पै. आ. १०
अशक्ये वा शुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः। वि. पै. आ. ११
अलौकिक मनः सिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः। वि. पै. आ. १३
अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत्। वि. पै. आ. ९
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्। वि. पै. आ. १७

'कृष्ण एव गतिर्मम' यह उद्घोष पूरे 'कृष्णाश्रय'में है

''सर्वत्यागेऽन्यभावे कृष्णमात्रैकभानसे।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम्।।'' त. दी. नि. (सर्वनिर्णय प्रकरण-२१८, २१९)

अन्याश्रयो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः। (श्रीगुसांईजी-चतुश्लोकी २)

दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम्। साधनदीपिका-३०

अन्याश्रयाणां त्यागः अनन्यता। ना. भ. सू. १०

२.

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। गीता १२।८

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। गीता १८।६६

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। गीता १३।१०

३.

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः। सर्वमाश्रयतो भवेत्। वि. धै. आ. १

'बलोद्विभूति' रित्युक्त्वा भिन्नाश्रयनिवारणम्।

स आश्रयः परं ब्रह्म श्रीकृष्ण इति गीयते'भाग. १२।३।१४ पर प्रभुचरण विरचित कारिका-१

४.आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवलीयते।

५.'कृष्णाश्रय' और 'विवेकधैर्याश्रय'में यही आज्ञा है.

६.वि. धै. आ.-१३

७.

कर्म-ज्ञान-भक्तिमार्गा हि मोक्षान्ताः, भगवद्धर्म-पर्यवसाना एव न तु धर्मिपर्यवसाना...सर्वात्म-भावस्य केवल धर्मिपर्यंतसानात्स एव उपदिष्टो भवति.-गुसांईजी- न्यासादेश विवृतिः

भगवद्विमुखस्य न कोऽपि धर्मः सिद्ध्यति. सुबोधिनी ३।१५।१३

८. भजनीयः स एव स्यात्-१.यः स्वयमभयः, २.सकृदपि प्रपन्नं सर्व तो भयान्मोचयति, ३.ऐहिका-मुष्मिकां च मटद्धि मोक्षं च प्रयच्छति, ४.भजन-सन्देहेऽपि अनुषंगादपि यो मुक्तिं प्रयच्छति, ५.स्वयं च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः, ६.अनधिकारिणोऽपि गतिं प्रयच्छति, ७.परार्थं स्वकृतनियम मपि विरुद्धं न मन्यते, एवं यः सप्तगुणो भवति, षडंगसहितभजनोपयोगिमहागुणवान् स भजनीयः. (सुबोधिनी-३।२।१८)

९. भीषास्माद्वातः पवते. भीषोदेति सूर्यः, भीषादस्माद्मग्निश्चेन्द्रश्च.मृत्युर्धावति पञ्चम इति. (तै. ति. ३४।२।८।१), द्वितीयाद्वै भयं भवति. बृह. उप. १।४।२

१०. ''सकृदेव प्रपन्नायतवास्मीति च याचते. अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'' (वा. रामायण), ''आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान् न बिभेति कदाचनेति. (तै. ति. उप. २।४)

११. ऐहिके पारलोके च सर्वसामर्थ्य संयुतः. स एव गोकुलाधीशः. शिक्षापत्र-८।२,

सर्वमाश्रयतो भवेत्. वि. धै. आ. १३,

आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्य कामया. त. दी. नि. शा. प्र. १३

पारमार्थ्यमिदं ज्ञेयं नान्यत् श्रीगोकुलेश्वरात्. भाग. १२।३।१४ प्रभुचरणकारिका-४

१२. निर्दोषः पूर्णगुणविग्रहः. त. दी. नि. शा. प्र. ४३

कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्. अन्तःकरणप्रबोध-१

१३.

शरणस्थममुद्धारं कृष्णं विज्ञापयः स्वात्. कृष्णाश्रय-१०

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम. कृष्णाश्रय-९

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्. गीता ९।३०

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्यये ऽपि स्युः पापयोनयः. गीता ९।३२

१४.

महाप्रभुजी-विवेकधैर्याश्रय १४, १५ तथा साधनप्रकरण २१८

गुसांईजी विज्ञप्ति-अन्यसम्बन्ध गन्धोऽपि कन्धरायेव बाधते.

अन्याश्रयत्यागपूर्वकं गुरुपदिष्ट-श्रीभागवत, भक्तिवर्धिनी, नवरत्न-प्रकारेण स एव भगवान् -श्रीकृष्णो भजनीयः. (पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार)

अन्याश्रयो महानेव बाधको भीषतां ततः. शिक्षापत्र ८।४

श्रीगुसांईजी चतुःश्लोकी-२

१५. अन्याश्रयस्तदीयैकः पदाश्रयविरोधकृत. शिक्षापत्र

१६.ईशो ह्यनन्यैव संतुष्यति. प्रभोरुदासीनतायाः कारणं त्यज्यतां द्रुतम्. शिक्षापत्र १४।२

१७.गीता १३।१०

१८.(देवतान्तरभजन) यदि न वर्जयेत्तदा शरण पदार्थो गच्छे दित्यर्थः. इदमेवोक्तं 'न्यासादेशेषु' इत्यत्र 'मदितरभजनापेक्षणमि'ति. वि. धै. आ. गो. गोपीशानां विवृतिः.

१९.तत्क्षणमेव सच्चेतो विमुखं च विधास्यति. शिक्षापत्र ८।४

२०.यः स्वतः सेवकानां हि पराश्रय-निवारकः।
कृपासरित्यतिः कृष्णस्तत्स्मृतिः क्रियतां सदा।। शिक्षापत्र १५।३

२०अ. नान्यं देवं नमस्कुर्यान्नान्यं देवं निरीक्षयेत्।
नान्यत्प्रसादयाच्च नान्यदायतनं व्रजेत्।। (हारीतस्मृति)

२१.'अन्यस्य देवतान्तरस्य भजनम्'. इदमेवोक्तं 'न्यासादेशेषु' इत्यत्र 'मदितर भजनापेक्षणमि'ति. गो. गोपीशाजीः वि. धै. आ. विवृतिः

२२.इतरदेवताभजनं पारम्पर्यगतमपि न कार्यम्. (श्रीगुसांई टिप्पणी)

२३.नान्यदेवं व्रजेत्. सा. दी. ६८

२४. ना वैष्णवैः सह वसेत्, न तैः संसर्गमाचरेत्. सा. दी. ६२

अन्यस्य भगवद्भक्तव्यतिरिक्तस्य भजनं सेवनं. (वि. धै. आ. दीपिका)

२५. देखें-गो. श्याममनोहरजी द्वारा लिखित 'विवेक-धैर्याश्रय' एवं 'कृष्णाश्रयस्तोत्र'का ग्रंथपरिचय.

२६. श्रीकृष्णतेजसोऽर्धेन सा च मूर्तिमती सती एका मूर्तिर्द्विधाभूता, भेदो वेदे निरूपितः. (ब्रह्मवैवर्त पुराणः श्रीकृष्णजन्मखंड)

२७.श्रीयमुनाऽपि प्रथमं सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनारायण-हृदयानन्दमदादाविर्भूता द्रवीभूतरसात्मिका ...भूमावागता ततो लीलास्थाने समागत्य तादृग्भक्तसंवलिता जाता. द्रवीभूतरसात्मैषा सर्वाङ्गीणश्रमाम्बुभिः. नारायणस्य हृदयाच्छुद्धसत्त्वस्वरूपयतः. प्रादुरासीन्मूलरूप पुष्टि लीला

प्रसिद्धये. (श्रीहरिरायप्रणीतं टिप्पणम्) वहीं उद्धृत बृहन्नारायणोपनिषद्, मधुविद्यासे सम्बद्ध श्रुतिवाक्य भी द्रष्टव्य है.

२८.

प्रमेयबलतो नान्यत्साधनं तत्रमा मतम्, अतः सर्वैः प्रकर्षतो निजाचार्यपदाश्रयः।[वि.प्र.१.१५]
चक्रे करुणया कृष्णो भावात्माऽऽत्मयं व्यधिष्म। मूर्तिमद् भावसम्बन्धात् तत्प्राप्तिरिति वेद यः।[वि.प्र.१.१६]
सर्वदा सर्वभावैकहेतुभूतेषु सर्वथा। श्रीमदाचार्यपादेषु स्थाप्यतां तन्मयं मनः।[वि.प्र.११.९]
तत एव कृतार्थत्वं निश्चयः क्रियतां हृदि। आसुरत्वं विनिश्चेनमन्यतत्साम्यवादिषु।[वि.प्र.११.१०]
सा तु स्वाचार्यशरणगतौ तैर्ज्ञापितः प्रभुः। यदैव कुरुते कृष्णस्तदा भवति सर्वदा।[वि.प्र.११.११]
आचार्यद्वारकं तत्र वरणं न हरेः स्वतः।[विप्रप्र.११.१४]
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्।[वि.प्र.१.१०]

२९.

विनियोगो भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने। कृष्णामृताधरास्वाद-सिद्धिरत्र न संशयः[सर्व.नि.१]
अतः सर्वोत्तमं स्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थिभिः. सर्वो.३५
यस्मादस्मिन् स्थितो यत् किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छत्यद्धा तद् गोपिकेशः
स्ववदनकमले चारुहासे करोती।। (श्रीवल्लभाष्टकम्-४)
'वचोविभूति' रित्युक्त्वा भिन्नाश्रयनिवारणम्, स आश्रयः परं ब्रह्म श्रीकृष्ण इति गीतयेति।
('कथा ह्यास्ते' भाग. १२।३।१४ पर प्रभुचरण विरचित कारिका-१)
श्रीमदाचार्यकृपया भवेद् भावो न चान्यथा, भावात्मा भगवान् कृष्णः साक्षाद् ब्रह्माश्रयो मतः।[वि.धै.आ.का.२]
'पारमार्थ्यं'मिदं ज्ञेयं नान्यत् श्रीगोकुलेश्वरात्। 'वचोविभूतीः' कथनात् श्रीमदाचार्यबोधनम्।[वि.धै.आ.का.११]

३०.

पुष्टिप्रभोः श्रीयमुनायाः श्रीमदाचार्यचरणानां च समानो धर्मः. त्रयाणां सजातीयधर्मवत्वे च सिद्धम्.
भगवान् विरहं दत्त्वा भावबृद्धिं करोति हि, तथैव यमुना स्वामिस्मारणात्स्वीयदर्शनात्।।१।।
अस्मदाचार्यवर्यास्तु ब्रह्मसम्बन्धकारणात्, तापक्लेशप्रदानेन निजानां भावबृद्धिकाः।।२।।
(श्रीयमुनाष्टकम्: हरिरायप्रणीतं टिप्पणम्)

३१.

द्रष्टव्य-वि. धै. आ. पर गो. रघुनाथजीकी दीपिका.
अलौकिकस्य संसिद्ध्या भावपूरितविग्रहः। तमाश्रयं विजानीयाद् हरेरपि हरिर्यदि।।
('कथा ह्यास्ते' भाग. १२।३।१४ पर प्रभुचरणकी कारिका-१९)

३२.अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमन मेव च, प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र विवर्जयेत्। वि.धै.१४

३३.चकारादन्यप्रेरणयापि तत्र न गच्छेत्. (वि. धै. आश्रय, गोपीशजीकीविवृत्ति)

३४.कार्यमात्रेऽपि कर्तुं विहिते स्वधर्माऽविरोधिनि कर्तव्यर्थे प्रार्थना कार्येति रोषः. प्रार्थनीयो भगवान् तद् भक्तो वा. अतएव विष्णुधर्मोत्तरे शंकरगीतासु "अपृष्ट्वा वस्तु यां काञ्चित् क्रियां नारभते हरिम्, असम्भिन्नार्यमर्यादस्तस्य तुष्यति केशव" इति. (वि. धै. आ. रघुनाथजीकी दीपिका)

३५.

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्।[वि.धै.आ.१३]

यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्वतुल्यावचान्यपि, किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्।[वि.धै.आ.१५]
३६. अहितं निजभक्तानां विदधाति हरिर्न हि, सन्नस्तानां सतस्त्या स्वीय भक्तानां न कथं भवेत्।[वि.आ.१.३८]
३७.नान्यदेवं व्रजेद् नैव प्रसक्तौ ह्यपमानयेत्. सा. दी. ६८
३८.तीर्थेषु तीर्थदेवानां भूदेवानां समर्चनम्. सा. दी. ६८
३९.

भक्तवृन्दान् नमेद् अर्चेद् दृष्ट्वा हृष्येत समानयेत्. सा. दी. ४८
विप्रागावो हरर्भक्ता सदा पूज्या हरेः प्रियाः। गृहस्थस्यातिथिर्यस्मात् पूज्यः....।। सा. दी. ३५

४०.

तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा; वज्रास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृता:; एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः. सर्व नि. २५१-२५३

४०अ.

जगन्नाथेविट्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा, यत्रपूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत् तत्परः,[सर्व.नि.२५०]
जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले, यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत् तत्परः.[वि. धै. आ.]
गङ्गादितीर्थवर्येषु यथा चित्तं न दुष्यति.[वि. धै. आ.]

४१. एकादश्युपवासादि कर्तव्यं...तथा कृष्णाष्टमी चापि...अन्यापि तथा कुर्याद् उत्सवो यत्र वै हरेः.
सर्वे नि. २४८।२४९

पूर्वविद्धं परित्याज्यं व्रतं तद्विष्णुपञ्चकम्. सा. दी. ३९

४२."तेषामविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे ततो निर्गतमासीत्तथात्ताप्यविश्वासेन धर्मान्तर-सम्बन्धे शरणमन्त्रो यास्यति शरणधर्मो न तिष्ठतीति स न कर्तव्यः".(वि.धै.आ. गोपीशजीकी विवृत्ति)

४३.आचार्योक्तमार्गे यद्यविश्वासस्तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्यर्थः. अविश्वासस्य महाबाधक-त्वानुसन्धानेन सर्वथा न कार्य इत्येत्यर्थः. (गो. रघुनाथजीः वि. धै. आ. दीपिका)

४४.देखें वि. धै. आ. रघुनाथजीकी टीका एवं गोपीशजीकी विवृत्ति.

४५.गीता अध्याय ३ श्लोक १६से ३१ तक इसका सुन्दर विवेचन है.

चर्चा

पुष्टिभक्ति-साधनामें महाप्रतिबंध अन्याश्रय

श्रीगजानन शर्मा

गो. श्या. म. : अन्याश्रयत्यागके बारेमें गजाननजीने कहा कि जितने भी भक्तिमार्ग हैं उनमें सभीका यह सिद्धान्त है. पर एक बात समझो कि ज्ञानमार्गमें और कर्ममार्गमें भी ये ही सिद्धान्त है. वेदकी संहितामें स्पष्ट लिखा हुवा है कि जो यज्ञ जिस देवकेलिये किया जाता है उसके अलावा ओर किसी देवका वहां विचार करना भी उस यज्ञको भ्रष्ट कर देता है. "**अयथादैवतं यज्ञं स्वार्थाद् भ्रश्यते**". कर्ममें भी ये ही सिद्धान्त है. इसलिये निरुक्तकार स्पष्ट कहते हैं कि साधकके महाभाग्यसे किसीको एक देवका अनन्याश्रय होता है. ये कर्ममार्गके तहत कही गयी बात है. अतः अन्याश्रयत्याग तो अपनी सामान्य धारणा थी कि जो जिस देवका आश्रय कर रहा है उसको उसीका आश्रय करना चाहिये. कुछ देव आश्रयणीय होते हैं तो कुछ देव केवल पूजनीय होते हैं. कुछ देव आदरणीय होते है. कुछ देव इष्टदेव होते हैं, कुछ कर्माङ्गदेव होते हैं, कुछ तीर्थदेव होते हैं. सभी देव देव हैं. और वेदोपनिषत्में देखें तो 'देव'शब्द इतना व्यापक है कि पृथ्वि एक देव है. कल अपनने देखा कि धूर्तता भी एक देव है. देवोंकी कोई सीमा नहीं है इतने सारे देवता हैं. मुंडन होता हो तो नाईका उस्रा भी देव होता है. देव अपने यहां कोई भी हो सकते हैं. पर जिस प्रसङ्गमें जिस तरहसे कर्माङ्ग या ध्यानाङ्ग होता है वो देव उतना ही अपेक्षित है. इष्टदेव इन सबसे अलग होता है. वह एक ही होता है. ओर सब देव आदरणीय हैं. देवकी बात जाने दो अपने यहां यहां तक कहा गया है कि "**यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्य**" अनन्यका यह कर्तव्य है कि वह सबके प्रति नमनशील रहे. लोग समझे बिना अपने अन्याश्रयत्यागके सिद्धान्तके ऊपर आक्षेप कर देते हैं. और एक कारण इसका यह भी है कि अपन भी समझे बिना कुछ गलत व्यवहार कर बैठते हैं इसलिये लोगोंको अवसर मिल जाता है.

गो. शरद् : इन दिनोंमें ऐसा देखा गया है कि हमारे शुद्ध सामाजिक प्रसङ्गोंके साथ धार्मिक और सम्प्रदायके अन्तरङ्ग अनुष्ठानों को मिला दिया जा रहा है. इस तरह शुद्ध सामाजिक प्रसङ्गोंको अनावश्यक रूपसे धार्मिक बना दिया जाता है. इसी तरह शुद्ध धार्मिक या साम्प्रदायिक अनुष्ठानके प्रसङ्गोंमें सामाजिक मीटिंग्-ज्ञातिभोज-पार्टीकी घालमेल होने लगी है. राजनीति शुद्ध सामाजिक प्रवृत्ति है. पर आजकल राजनेता इफ्तार पर्टी भी देते हैं, दरगाहमें माथा टेकने भी जाते हैं, गुरुद्वारेमें भी जाते हैं और चर्चमें प्रेयर् भी कर आते हैं. राजनैतिक पक्षसे जुडे हुवे तत्तत् कार्यकर भी उसी फैशनमें अपनी धार्मिक-साम्प्रदायिक निष्ठाको ताकपर रखकर उनके नेताओंका अनुकरण करते हैं. इसी तरह गणेशोत्सव, नवरात्रि, शिवरात्रि आदि शुद्ध धार्मिक अनुष्ठान हैं. इनका आज सामाजिकीकरण कर दिया गया है. सोसायटीमें किसीको गणेशकी प्रतिष्ठा करनेकी इच्छा हुई तो वह सोसायटीमें रहने वाले सभी लोगोंको, उनकी व्यक्तिगत धर्मनिष्ठाकी परवाह किये बिना, गणेशप्रतिष्ठा-विसर्जनमें निमन्त्रित करता है. और उसमें यदि कोई सम्मिलित नहीं होता है तो उसका बुरा मानता है. अच्छी और सच्ची बात यह है कि हम हमारे सामाजिक प्रसङ्गोंके साथ धार्मिक-साम्प्रदायिक अनुष्ठानोंको न जोड़ें. इसी तरह शुद्ध धार्मिक-साम्प्रदायिक प्रसङ्गोंमें सामाजिक प्रसङ्गोकी घालमेल भी न करें. और यदि कोई ऐसा करता है तो अनन्यभक्तोंमें अपनी निष्ठाका उद्घोष करनेका साहस प्रदर्शित करना चाहिये. अनन्यभक्तोंको ऐसे प्रसङ्गोमें यथासम्भव सम्मिलित नहीं होना चाहिये.

दूसरी बात यह है कि आजकल आरोग्य और चिकित्सा केलिये धार्मिक-साम्प्रदायिक चीज-वस्तुओंका उपयोग होने लगा है. जैसे कई लोग क्रोधको काबूमें करनेकेलिये मोती पहनते हैं. थोडा सिद्धान्त समझते हैं वो ऐसा सोचते हैं कि ग्रहबाधाके निवारणकेलिये रत्नोंको पहनना तो ठीक नहीं है पर भौतिक उपायके रूपमें हम रत्न पहन सकते हैं. ऐसे ही कुछ लोग विल्पावर् बढ़ानेकेलिये और हृदयरोगसे बचनेकेलिये रुद्राक्ष पहनते हैं. कई लोग अपने घरमें लाफिंग् बुद्ध, कछुआ, स्टार् जैसी वस्तुएं रखते हैं. पुष्टिमार्गके अनन्य आश्रयके सिद्धान्तको सोचें तो इन सबका कितना औचित्य है यह

हमें सोचना चाहिये.

तीसरी बात यह है कि **"इतरभजनं न कार्यं पारम्पर्यागतमपि"** ऐसी आज्ञा प्रभुचरण टिप्पणीजीमें करते हैं. अतः स्पष्ट है कि कुलपरम्परासे चले आते कुलदेवी या कुलदेव का पूजन-अर्चन-होम-व्रतादि वैष्णवकेलिये निषिद्ध है. इसमें इतना जरूर है कि शास्त्रीय नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अन्तर्गत कर्माङ्गतया अन्य देवोंके साथ-साथ उनका भी पूजन प्राप्त होता हो तो उसमें दोष नहीं है. पर उनका प्रसाद तो कसी भी स्थितिमें लिया नहीं जा सकता है. इसे एक ओर रखें तो नित्य-नैमित्तिक शास्त्रीय कर्मोंके अतिरिक्त भी कुल-ज्ञातिके रिवाजके रूपमें नवरात्रि-शिवरात्रि-गणेशचौथ जैसे उत्सवोंपर और उसके अलावा भी कई अवसर पर कुलदेवी-देवके हवन-नेग-पूजा आदि होते हैं. सिद्धान्ततः वैष्णवकेलिये ऐसे प्रसङ्गोंमें भाग लेना दोषावह है.

एक बात यह भी कही जाती है कि कही जाते हुवे रास्तेमें कोई देवमन्दिर आता है तो प्रणामादिसे उनका सन्मान करना चाहिये. इसमें अन्याश्रय नहीं माना जाता है. बात सच है. परन्तु इस सन्दर्भमें श्रीमहाप्रभुजीका एक वचन ध्यानमें रखना चाहिये. आप निबन्धमें आज्ञा करते हैं कि **"अन्येषां देवानां तद्विभूतित्वेन तत्सेवकत्वेन वा सन्माननं यदि स्फुरति"**. यहां आचार्यचरण स्पष्ट लिखते हैं कि यदि आपको देवी-देवताओंमें उनके भगवत्सेवक होनेकी या भगवान्‌की विभूति होनेकी स्फुरणा हो रही है तो उनका सन्मान करना चाहिये. "यदि स्फुरति" शब्दोंके ऊपर ध्यान देना चाहिये. ऐसी स्थितिमें इसे अनिवार्य वैष्णवाचारके रूपमें स्थापित करना भी कितना आवश्यक है यह सोचना चहिये. तात्पर्य यह है कि अति उदार दृष्टि रखनेके लोभमें हम कहीं हमारी मर्यादा चूक न जायें इसकी सावधानी रखनी चाहिये.

गोपालदास : बरसात नहीं पड़ रही है और अपन पर्जन्ययज्ञ, कारीरीयज्ञ जैसे सकाम कर्म करें तो अन्याश्रय होयगो के नहीं?

गजानन शर्मा : वैष्णवको ऐसे सकाम अनुष्ठानकी इच्छा होनी ही नहीं चाहिये. यदि होती है तो वह कर्ममार्गी भले ही बन सकता है पर पुष्टिमार्गीय तो नहीं कहलायेगा.

गोपालदास : अन्याश्रय है कि नहीं? आपने पोलिटिकल् जवाब दिया.

गजानन शर्मा : भक्तिका अङ्गभूत है तो भक्ति है नहितो तो कर्म ही है. जिसे कर्ममें रुचि हो वो कर्ममें जाये. हमको तो भक्तिमें रुचि है तो हम भक्ति ही करेंगे! इसलिये हमारे लिये तो अन्याश्रय ही है. उपेक्षणीय ही है. अविचारणीय है.

गोपालदास : त्याज्यतया विचारणीय है.

गो. योगेश : श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं "स्वतो गमनमेव च" खुद चलाके नहीं जानो. पर कोईकुं सामाजिक प्रेशर्के कारण ऐसे सकाम अनुष्ठानमें जानो पड़तो होवे तो फिर वो "स्वतो गमन" नहीं भयो.

गो. शरद् : चर्चा ये नहीं है के कारीरीयज्ञमें जानो के नहीं जानो. वो तो व्यक्तिगत विषय है. चर्चा ये है के कारीरीयज्ञ सकाम अनुष्ठान है और वाको अनुष्ठान कोई पुष्टिमार्गी कर रह्यो है तो वो अन्याश्रय मान्यो जायगो के नहीं.

गजानन शर्मा : ये पुष्टिक्षेत्रमें नहीं आता है.

गो. योगेश : कोई कारीरी यज्ञमें बुलाये तो जाना के नहीं?

गजानन शर्मा : जैसे दूसरे सामाजिक या धार्मिक आयोजनोंमें जाते हैं ऐसे जा सकते हैं. उसमें तो कोई तकलीफ नहीं है.

गो. शरद् : मेरी समझ ऐसी है कि पहले तो पुष्टिमार्गीको ऐसे सकाम अनुष्ठानोंमें नहीं ही जाना चाहिये. दूसरी बात ये है कि यदि किसी पुष्टिमार्गीको अन्यधर्मी परिवारजन या समाजके लोग पुष्टिमार्ग विरुद्ध आचरण करनेकेलिये बाध्य करते हैं ऐसेमें उसकी पुष्टिमार्गमें निष्ठा दृढ नहीं होनेके कारण वह लोगोंको साफ मना भी नहीं कर पा रहा है, उसमें उतनी चतुराई भी नहीं होनेसे वह कोई बहाना भी खोज नहीं पा रहा है ऐसी स्थिति यदि है तो वह विवश है. ऐसी विवशताके कारण यदि उसको सकाम यज्ञादिमें जाना पड़ रहा है तो हम कह सकते हैं कि उसने मध्यम मार्गका आश्रय किया है. पर प्रथम कल्प तो यह ही है कि पुष्टिमार्गीको अपने बनते किसी भी तरहके सकाम अनुष्ठानोंमें नहीं जाना चाहिये.

धर्मेन्द्रसिंह झाला : कृष्णकी सकाम भावसे उपासना अन्याश्रय है या नहीं?

गोपालदास : **"अकामः सर्वकामो वा"** कह्यो है. अन्याश्रय क्यों होयगो?

धर्मेन्द्रसिंह झाला : कृष्णकी उपासना कोई भी कर सके है वो बात अलग है.

पर पुष्टिभक्तिमार्गके अन्तर्गत कृष्णकी सकाम उपासना अन्याश्रय है या नहीं?

गोपालदास : अन्याश्रय अलग वस्तु है. सकाम उपासना अलग वस्तु है. वो अन्याश्रयकी डेफिनेशन्के भीतर नहीं आयेगो.

गो. श्या. म. : श्रीगुसांईजी आज्ञा करे हैं के कृष्णको सकाम भजन अन्याश्रय है. **"अकामः सर्वकामो वा"** अपने कृष्णको माहात्म्य हो सके है पर वा तरहसुं वाको भजन अन्याश्रय है. जैसे भगवान् गीतामें आज्ञा करे हैं के **"मयैव विहितान् हि तान्"** देवताएं जितने फल देवें हैं वो मेरे द्वारा विहित हैं. ये कृष्णको माहात्म्य है. माहात्म्यतया ये ध्यातव्य है पर कृष्णको वैसो रूप अपनेलिये भजनीय नहीं है. भद्दो उदाहरण है पर समझनेकेलिये अच्छो है. व्याधने कृष्णके ऊपर शरसन्धान कियो. वा बखत चरणमेंसुं रक्त वह रह्यो हतो. ये भी कृष्णको कोई तरहको माहात्म्य है. व्याध मांफी मागने गयो तब भी ठाकुरजी वापे प्रसन्न हते. तेने यामें कुछ नहीं कियो है. सब कछु मेरी लीलासुं भयो है. भगवान्की लीला तो वो है. पर क्या अपन या लीलाको चिन्तन करनो चाहेंगे? कोईकु करनो होवे तो करे पर अपनेलिये वो लीला चिन्तनीय नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीने पुष्टिमार्गके गुलदस्तामें ठाकुरजीकी जा लीलाके फूल सञ्चित किये हैं वाकी तो अपन सुगन्ध लेंगे. पर जिनकुं श्रीमहाप्रभुजीने अपने गुलदस्तामें नहीं सजाये हैं वाको मधु जिनकु सञ्चित करनो होवे वो करे. अपन क्यों करें! भागवतकी लीलाकी बात छोड़ो ८४-२५२ वार्तामें भी ठाकुरजीकी ऐसी-ऐसी लीलाएं वर्णित हैं के जाको चिन्तन अपन नहीं कर सके हैं. लीला है तो है. ठाकुरजी तो सब तरहकी लीला कर सके हैं. मालिकको कोई मालिक थोड़ी हो सके है!

પુષ્ટિ ભક્તિ સાધનામાં પ્રતિબંધ વિષય-સંગ

(નૈકાન્તે વાસ ઈષ્યતે ના સંદર્ભમાં)

આશિષ શાહ

પુષ્ટિ ભક્તિમાર્ગના પથિક વૃત્રાસુર આ માર્ગની યાત્રમાં પોતાના સહયાત્રીઓનો સાથ માંગે છે. જેથી ક્યારેક તેઓ એકલા ચાલતાં-ચાલતાં બીજા માર્ગો ઉપર અટવાઈ ન જાય. (ષોડશગ્રંથ પરિચય ગો. શ્રીશ્યામ મનોહરજી)

मम उत्तमश्लोकजनेषु सख्यं, संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्मायया त्मात्मजदारगेहे स्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ।।

ગીતાજીના પુરુષોત્તમયોગમાં ભગવાન્ અસંગશસ્ત્રથી આ અનન્ત મૂળવાળા સંસારવૃક્ષને છેદવાની આજ્ઞા કરી રહ્યા છે. શ્રીમહાપ્રભુજી પણ 'પંચશ્લોકી'માં **"संगःसर्वात्मना त्याज्यः"**ની નીતિ બતાવી રહ્યા છે. તેથી વિરુદ્ધ શાસ્ત્રવચનોમાં અને સાંપ્રદાયિક ગ્રંથોમાં પણ ભગવદીયોના સંગની અત્યન્ત આવશ્યકતા પણ બતાવવામાં આવી છે. શ્રીમહાપ્રભુજીએ તેથી જ ભગવદ્વાર્તા માટે સંગ કોનો કરવો તેનું નિર્ધારણ કરવા જલભેદ-પંચપદ્યાની જેવા ગ્રન્થો રચ્યા છે. અને પરવર્તી આચાર્યોએ તે ગ્રન્થોની સવિસ્તાર ટીકા આપી છે. ક્યાંક-ક્યાંક ભક્તોના ચરિત્રોમાં આશકરણ દાસજી જેવા ભગવદીયો પ્રચુર ભગવત્પ્રેમની દશામાં સર્વ સંગનો ત્યાગ કરી સાક્ષાત્ લીલા અનુભૂતીની અવસ્થામાં મુક્ત વિચરણ કરતાં તેવા પણ પ્રસંગો પ્રાપ્ત થાય છે. જ્યારે કે ભક્તિવર્ધિનીમાં શ્રીમહાપ્રભુજીએ એકાંતવાસ કરવાની સ્પષ્ટ મના કરેલી છે. તેથી વિચારણીય બને છે કે

-પુષ્ટિભક્તિમાર્ગના પથિકે સંગ કોનો કરવો?
-સંગ રહિત સ્થિતિના અધિકારી કોણ છે?
-દુઃસંગથી પુષ્ટિભક્તિસાધનામાં કેમ અને ક્યા-ક્યા પ્રતિબંધ આવી શકે?
-દુઃસંગથી કેવી રીતે બચી શકાય?
-ભગવદીયોનો સંગ ક્યા પ્રકારે કરવો?
-સંગની પ્રક્રિયા શું છે?

-અન્ય માર્ગીય કૃષ્ણ ભક્તોનો સંગ બાબતમાં શું નિતી અપનાવવી?
-વળી શ્રીભાગવતજી **"गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः"** આજ્ઞા કરે છે તે વચનની શું વ્યવસ્થા જાણવી?
—વગેરે વિષયો આ શોધપત્રમાં વિચારણીય બનશે.

સંગની પરિક્ષા :

શ્રીભાગવતજીનું ગુણદોષ ન જોવા એ વચન ઉત્કટ વૈરાગ્યના સાધકને લક્ષમાં રાખી કરાયેલ છે. ભક્તિમાર્ગમાં તો વેદસ્તુતી સુબોધિનીજી (૨૩) પ્રમાણે આખા જગતમાં સદ્‌બુદ્ધિ રાખી તેનું સેવન સત્પુરુષો કરતાં નથી કારણ કે કોઈ-કોઈ પ્રકારની ભ્રાંતિને કારણે અસદ્ વિષયમાં સદ્‌બુદ્ધિ થઈ જાય છે. તેથી સમજદાર જીવ તો શ્રીકૃષ્ણને જ ભજે છે. આ વ્યવસ્થા છે.

વળી સંગ વિચાર્યા વિના કરવામાં આવે તો જે દોષ આપણામાં ન હોય તે પણ સંગ દોષને કારણે પ્રકટ થઈ જાય છે. તેથી શ્રીમહાપ્રભુજી તો દીક્ષા લેવામાં પણ **"कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं..."** વડે દીક્ષા લેતાની પણ પરિક્ષા કરવા આજ્ઞા કરી રહ્યા છે. તે જ પ્રમાણે શ્રીહરિરાયજી પણ શિક્ષાપત્રમાં શ્રીમહાપ્રભુજીના વચનથી અન્યથા કે વિરુદ્ધ બોલનાર કે સંસારાસક્તિ વધારે તેવા સંગને દુષ્ટ સંગ તરીકે ઓળખી તે જો મહત્કુળ(ગુરુ)પ્રસુત હોય તો પણ તેનો સંગ ન કરવા આજ્ઞા કરી રહ્યા છે.

સર્વ સંગ ત્યાગ :

ગીતાજીમાં અસંગશસ્ત્રથી સંસાર વૃક્ષને છેદવાની આજ્ઞા પ્રભુ કરી રહ્યા છે. અને પંચશ્લોકીમાં શ્રીમહાપ્રભુજી **"संगः सर्वात्मना त्याज्यः"**ની જે આજ્ઞા આપી રહ્યા છે ત્યાં પણ 'અસંગ'નો અર્થ ભગવાન્ અને ભક્તિમાર્ગના ભગવદીઓ સિવાયના જાગતિક વિષયોનો સંગ ન કરવો એ જ તાત્પર્ય છે.

સુબોધિનીજી (૧૦।૩૧।૩૭)માં શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા આપે છે કે સત્સંગ અને શ્રીભાગવતજી તો ભગવાનના આધિભૌતિક ચરણારવિન્દ છે. વળી પ્રકૃતિના સત્વ, રજસ્ અને તમસ્ ગુણોથી બંધાયેલો કોઈ પણ મનુષ્ય સ્વપ્નરહિત નિદ્રાની અવસ્થા સિવાયની સ્થિતિમાં કોઈને કોઈ વિષયનો સંગ

કર્યા વિના, અન્તઃકરણને તેમાં જોડ્યા વિના, રહી શકતો નથી. જેમ કોઈ સાયકલ સવાર પેડલ મારીને તેને ગતિશિલ ન રાખે તો જમીન પર પગ ટેકવ્યા વિના રહી શકતો નથી તેમ સંસાર ચક્રમાં ભ્રમણ કરતાં જીવને કર્મબંધન તેમજ વિષયાસક્તિ ગુરુત્વાકર્ષણ બળની જેમ લાગેલી હોવાથી સાયકલની ગતિ જેમ બેલેન્સ જાળવવામાં મદદરૂપ થાય છે તેમ સત્સંગ અનાયાસે પ્રાપ્ત થઈ જનારા દુઃસંગથી અને તેનાથી થનારા વિષય કામથી બચાવે છે. સંગથી કામ ઉત્પન્ન થાય છે. **"संगात् संजायते काम"** (ગીતાજી).

પણ ભાગવતજીમાં (૧૦।૨૨।૨૬)માં ભગવાન્ આજ્ઞા કરે છે કે જેમ શેકેલું કે ઉકાળેલું ધાન બીજ બનીને ફરીથી ઉગી શકતું નથી. તે જ પ્રમાણે ભગવદ્ વિષયક કામને કારણે ક્રોધાદિની દુર્વાસના અંકુરિત થતી નથી. સત્સંગરૂપ ભગવત્ ચરણારવિન્દનો સંગ ભગવત્ કામને તો પ્રકટ કરે છે પણ જીવના હૃદયમાં બીજી કોઈ દુર્વાસના પ્રકટ થતી નથી. તેથી જ સત્સંગને સંસરોગની ઔષધી સમજવી. સત્સંગની આવશ્યકતા જોઈને જ શ્રીમહાપ્રભુજી ભક્તિવર્ધિનીમાં આજ્ઞા કરે છે કે **"बाधसंभावनायां तु नैकांते वास ईष्यते, हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय"**. બાધની સમ્ભાવના હોય તો ભક્તે એકાંતમાં રહેવું યોગ્ય નથી. તેણે માનવું કે તે જ્યાં પણ રહેશે ત્યાં ભગવાન્ બધી રીતે તેનું રક્ષણ કરશે. જો ભગવદીયોમાં અતિ સામીપ્યને કારણે દોષદર્શન થાય તો પણ વિપ્રકર્ષે સ્થિતી કરીને પણ (અતિ પરિચય ન થાય તેવું અંતર જાળવવાની નિતિ અપનાવીને) તેમના દ્વારા પ્રાપ્ત થતાં સત્સંગનો લાભ છોડવો નહીં.

વળી એકાંતવાસમાં અનેક વિઘ્નો આવે છે. માણસ બીજાનાં સુખ-દુઃખમાં સહભાગી થવાની ભાવના રહિત થતો જાય છે, હિંસક થઈ જાય છે. ભક્તિમાર્ગમાં હૃદયની કોમળતા અત્યંત આવશ્યક છે. એકાંતમાં માણસનો પ્રેરક અને નિર્ણાયક કેવળ પોતાનો બુદ્ધિયોગ હોય છે. બીજા ભગવદીયોનો સંગ નહીં થવાથી તેઓના બુદ્ધિયોગનો લાભ મળતો નથી. આ સંજોગોમાં જેવી રીતે પ્રજ્વલીત દીવાને વાયુ ઓલવી નાખનારો થાય છે. પણ જંગલના દાવાગ્નિને તે જ વાયુ વધારનારો થાય છે. તેવી રીતે નિરોધની અતિ ઉચ્ચ કક્ષાએ પહોંચેલા ભગવદ્‌જીયોમાટે જે એકાંત કે રહપ્રિયતા સાધક થાય છે તે જ એકાંતવાસ સાધન દશાના ભક્તો માટે બાધક થાય છે. વળી બાલબોધમાં

શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા કરે છે. સ્વરૂપથી ભગવાનનો અંશ હોવા છતાં અવિદ્યા ગ્રસ્ત હોવાથી જીવ સ્વભાવથી દુષ્ટ છે. તેથી દોષના અભાવ માટે સર્વદા નવધા ભક્તિ કરવી જોઈએ. તેમાં શ્રવણાદિના નિર્વાહમાટે ભક્તોના સંગની આવશ્યકતા છે. તેથી સંન્યાસનિર્ણય ગ્રન્થમાં સાધન દશામાં શ્રીમહાપ્રભુજી પુષ્ટિ ભક્તિમાર્ગીયને સંન્યાસ લેવાની પણ ના પાડેલી છે.

અપવાદરૂપ પ્રસંગો તરીકે અતિ ઉચ્ચ અધિકારી જેવા કે જેમને શ્રીમહાપ્રભુજીએ માનસીનું દાન કરેલ છે તેવા અચ્યુતદાસજી, જે ગોવિન્દકુંડ પાસે એક ગુફામાં રહેતા, તેમણે શ્રીમહાપ્રભુજી પાસે વરદાન જ એવું માગ્યું હતું કે, *"મહારાજ, મોં પર ઐસી કૃપા કરો જો એકાંતમે બૈઠી કે માનસી સેવામેં મન લાગે"*. વળી રાજા દુબે અને માધો દુબે જેમને શ્રીમહાપ્રભુજીએ ફલ નિરોધનું દાન કરેલું છે તેમને આપશ્રીએ કોઈની સાથે બહુ બોલવું નહીં અને ઘર છોડીને બહુ ફરવું નહીં તેવી આજ્ઞા કરેલ છે. રાજા આશકરણદાસજી વ્યસન દશા સિદ્ધ થઈ ગયા પછી રમણરેતીમાં રાત-દિવસ એક ટીલાપર બેસીને સર્વસંગ ત્યજીને વિપ્રયોગનો અનુભવ કરતાં આદિનો ઉલ્લેખ કરી શકાય.

જગતના જીવો જ્યારે જાગતિક વિષયોનો સંગ કરે છે તથા બીજા જીવના સંગમાં પ્રત્યક્ષ કે પરોક્ષ રીતે આવે છે ત્યારે અનાયાસે જ સરખામણીની અને પ્રેરકતાની પ્રક્રિયા ઉત્પન્ન થાય છે. પોતે પંચપર્વા અવિદ્યાથી ગ્રસ્ત હોવાને કારણે દેહની સાથે બીજાના દેહની, ઈન્દ્રિયોની સાથે ઈન્દ્રિયોની, અન્તઃકરણની સાથે અન્તઃકરણની ઈત્યાદી પોતાની સમસ્ત અહંતા-મમતાસ્પદ વસ્તુઓની સાથે તે જેના સંગમાં છે તેની અહંતા-મમતાસ્પદ વસ્તુની સાથે સરખામણીની પ્રક્રિયા અન્તઃકરણમાં જાણે અજાણે શરૂ થઈ જાય છે. તેથી તારતમ્યનો વિચાર ઉત્પન્ન થાય છે. સામાન્ય સંસારી જીવોમાં તો તેથી તુરત જ રાગ, દ્વેષ, ઈર્ષ્યા ઈત્યાદિ ઉત્પન્ન થાય છે. વસ્તુતઃ તો એક જીવ બીજા જીવનો સંગ કરતો નથી પણ બીજો જીવ જે ગુણ પ્રવાહમાંથી પસાર થઈ રહ્યો છે તેનો સંગ કરે છે. અને ગુણોથી જ તે બંધાય છે. સત્વ ગુણ સુખ અને જ્ઞાનના સંગથી બાંધે છે, રજો ગુણ કર્મના સંગથી અને તમો ગુણ પ્રમાદ આલસ્ય અને નિદ્રાથી બાંધે છે. આપણા ત્રિવર્ગ (ધર્મ-અર્થ-કામ) ની બાબતમાં આપણી અપેક્ષાઓ નિર્ધારીત કરવામાં આપણે જેમના સંગમાં હોઈએ તેમની જીવન શૈલીનો મોટો પ્રભાવ પડતો હોય છે.

વ્યવહારમાં પણ ઘર ખરીદતી વખતે આપણે પાડોશીઓ કોણ છે તે જોતા હોઈએ છીએ. સંગ તેવો રંગ, સોબત તેવી અસર વગેરે કહેવતો તેનું પ્રમાણ છે તદ્ ઉપરાંત એક બ્રાહ્મણની વાર્તામાં આવે છે તેમ ચાર ઠગો થોડા-થોડા અંતરે તેને વારા ફરતી મળે છે અને જે વાછરડીને તે ઉચકીને જઈ રહ્યો છે તે બકરી છે તેમ કહે છે. વારંવાર આ જ અભિપ્રાય સાંભળવાથી બ્રાહ્મણ પણ તે બકરી જ હશે એમ માની તેને ત્યજી દે છે. તેથી ઘણી મોટી સંખ્યામાં જનસમુદાય અનિષ્ટને ઈષ્ટ, ત્યાજ્યને ગ્રાહ્ય, પ્રેયને શ્રેય, અપસિદ્ધાન્તને સિદ્ધાન્ત માની રહ્યો હોય તો સાધકની બુદ્ધિ પર તેની અસર પડે છે. સાધનપ્રકરણમાં શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા કરે છે કે **"अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः... जह्वोपस्थपरायणाः... स्वतो दुष्टाः तत्र धर्मः कथं भवेत्."** તેથી પુષ્ટિ ભક્તિમાર્ગના સાધકે કલિના પ્રભાવને સમજી લેવો જોઈએ. ભગવાન્ શ્રીકૃષ્ણ સંસારના વૈરી છે તેમ શિક્ષાપત્રમાં શ્રીહરિરાયજી સમજાવે છે. લૌકિક અને અલૌકિક એ પરસ્પર વિરુદ્ધ દિશાની મુસાફરી છે.

या निशा सर्वभुतानां तस्यां जाग्रति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (ગીતા સાંખ્યયોગ)

તદ્ ઉપરાંત જેનો વિશેષ સંગ થાય છે તેની આસક્તિ થઈ જાય છે. જો તે નિર્બળ હોય તો "હું જ તેનો પાલન કર્તા છું" તેવું મિથ્યાભિમાન થઈ જાય છે. જેવી રીતે હરણના બચ્ચાના વિષયમાં આવું જ્ઞાન થઈ જવાના કારણે પોતાના પરિવાર, રાજ્ય, સિંહાસન ઈત્યાદિનો ત્યાગ કરીને વનમાં સાધના કરી રહેલા ભરત રાજાને મૃગનો અવતાર થયો! તદ્ ઉપરાંત પ્રાયઃ તે વિષયી હોય તો તેની જેમ વિષયાનન્દ ભોગવવાની દુર્વાસના ઉત્પન્ન થાય છે. સૌભરી ઋષિ તેનું ઉદાહરણ છે. પુરુષોત્તમસહસ્ત્રનામમાં શ્રીમહાપ્રભુજી પ્રભુના આ નામ આપે છે **"संग्यगम्यः, सर्वसंगविवर्जितः, त्यागमात्रोपलभ्यनः, संगानिष्टप्रदर्शकः"**. ગીતાજીમાં ભગવાન્ આજ્ઞા કરે છે કે **"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषुपजायते, संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते"**. વિષયોનું ધ્યાન કરતા પુરુષનો તેઓમાં સંગ થાય છે. સંગમાંથી કામ અને કામમાંથી ક્રોધ ઉત્પન્ન થાય છે. ક્રોધથી સંમોહ થાય છે. તેથી વિવેક જતો રહે છે. સંમોહ થવાથી શાસ્ત્રમાંથી અથવા ગુરુ દ્વારા જે ઉપદેશ શ્રવણ કર્યો હોય તેમાં વિભ્રમ થાય છે. અને સ્મૃતિનો નાશ થાય છે. સ્મૃતિનો નાશ થવાથી બુદ્ધિનો નાશ થાય છે. બુદ્ધિનો નાશ થવાથી વિનાશ

થાય છે. ગીતાજીમાં **"ઇન્દ્રીયાણાં હિ ચરતાં યન્મનોઽનુવિધીયતે, તદસ્ય હરતિ પ્રજ્ઞાં વાયુર્નાવમિવાંભસિ"**. વિષયાસક્ત ઇન્દ્રિયોમાંની જે ઇન્દ્રિયને મન અનુસરે છે તે ઇન્દ્રિય આ પુરુષની બુદ્ધિને જેમ વાયુ નાવને જળમાં ખેંચી જાય તેમ ખેંચી જાય છે. અહીં બુદ્ધિરૂપી નાવનું ખેંચાવું એટલે નિશ્ચયનું બદલાઈ જવું પ્રેય ને શ્રેય, ત્યાજ્યને ગ્રાહ્ય, ક્ષણિકને શાશ્વત, નિષિદ્ધને આચારવા યોગ્ય માની લેવું. આમ વિષયોનું સ્મરણ દુઃસંગ થવાથી થાય છે. સર્વનિર્ણયમાં સ્વધર્મનું યથાશક્તિ આચરણ, વિધર્મનું નિવર્તન અને ઇન્દ્રિય અશ્વોનો નિગ્રહ આ ત્રણને સર્વથા ન છોડવા તેમ આજ્ઞા કરી છે. આ ત્રણેને નિભાવવામાં દુઃસંગ બાધ કરનારો બને છે. **"સંગઃ ત્રયાણાં બાધકઃ તત્ પરિત્યજેત્."**

વસ્તુતઃ પ્રીતિ, સ્નેહ કે રતિ એ તો ભગવદ્ ધર્મ છે. ભગવાને બધા જીવોને અંડજઃ તે વર્હેચી આપ્યો છે જેથી તે સુખની અનુભૂતિ કરી શકે. તેથી જે જેનો સંગ કરે છે તેમાં પ્રીતિ થઈ જાય છે. જીવ ભગવાનનો અંશ હોવાથી ભગવાનનો આત્મરતિરૂપ ધર્મ તેને પ્રાપ્ત થયો છે. અને આત્માના પણ આત્મા ભગવાન્ હોવાથી ભગવાનમાં જ સ્નેહની ગતિ હોવી જોઈએ વસ્તુતઃ તો **"ન વા રે સર્વસ્ય કામાય સર્વમ પ્રિયમ ભવતી, આત્મનસ્તું કામાય સર્વમ પ્રિયમ ભવતી"** પ્રમાણે અંશી ભગવાન્ પ્રિય હોવાથી જ અંશરૂપ આત્મા પ્રિય લાગે છે. પરન્તુ અવિદ્યાના કારણે દેહ, ઇન્દ્રિય, પ્રાણ, અન્તઃકરણ ઇત્યાદિમાં આત્મબુદ્ધિ થઈ જવાથી જેમ કાગડીના માળામાં કોયલના ઈંડા મુકતાં કાગડી તેને પોતાના સમજી મમતા રાખે છે તેમ જીવ પણ દેહ ઇત્યાદિને જ પોતાનું સ્વરૂપ સમજી તેમાં અતિ આસક્ત બની જાય છે. તેથી જીવ ભગવાનને સ્નેહ કરતો હોવા છતાં તેમની અનુભૂતિ ન થઈ શકવાને કારણે જે વિષયો અનુભૂત થઈ રહ્યાં છે. તેમાં સ્નેહા સક્ત થઈ જાય છે. અને દુઃસંગના કારણે અવિદ્યાથી પ્રેરીત સંસારાસક્તિની તિવ્રતામાં વધારો થતો રહે છે, દુઃસંગ બળતામાં ઘી હોમવાનું કાર્ય કરે છે. અને લૌકિક ભોગમાં જેટલી આસક્તિ વધે તેટલો વધુ બળવાન અને ભગવદ્ભાવનો વિઘાતક પ્રતિબંધ પુષ્ટિભક્તિ સાધનામાં ઉભો થાય છે.

દુઃસંગની પ્રતિબંધકતા

શ્રીહરિરાયજી કૃત શિક્ષાપત્રની ટીકામાં શ્રીગોપેશ્વરજી આજ્ઞા કરે છે કે

પ્રભુસેવા-સ્મરણમાં પરાયણ જીવને પણ જો દુઃસંગ પ્રાપ્ત થાય તો એક ક્ષણમાં સર્વધર્મનો નાશ થઈ જાય છે. જન્મ-જન્મથી વૃદ્ધિ પામેલો ભગવદ્ભાવ એક ક્ષણમાં જતો રહે છે. તેથી આ કરાલ કલી કાલમાં દુઃસંગથી બચવું એ મુખ્ય પુરુષાર્થ છે. જેમ જલથી અગ્નિની રક્ષા કરીએ છે તેમ ભાવરૂપ નિધિનું લોકસંકોચ ત્યજીને પણ દુઃસંગથી રક્ષણ કરવું મન વશ છે એમ ન માનવું દુઃસંગથી વિવેક, ધૈર્ય એક ક્ષણમાં નાશ પામે છે. તેથી સતત સત્સંગમાં રહેવું તાદશી ભક્તોનો સંગ પ્રાપ્ત ન થાય તો પુસ્તક, આચાર્ય બાલકોના વચનામૃતની સી.ડી. વગેરે માધ્યમ દ્વારા પણ સત્સંગ પ્રાપ્ત કરી શકાય છે. આજીવિકા માટે જગતમાં વ્યવહાર કરતાં પણ દુઃસંગ પ્રાપ્ત થવાની વિશેષ સંભાવના રહે છે. તેથી તે સમય દરમ્યાન પરંપરાથી પ્રભુનો સમ્બન્ધ વિચારવો, શક્ય તેટલું મૌન રાખવું, વ્યાવૃત્તિ દરમ્યાન અને સત્સંગના અભાવમાં આગળ થયેલ સત્સંગનું મનન કરવું જેમ ગાય વનમાંથી ચારો ચરીને આવ્યા પછી વાગોળે છે તેમ. પ્રથમથી જ સત્સંગ કરવો જેથી પ્રસંગવશ દુઃસંગ આવે ત્યારે તેના પ્રભાવથી બચી શકાય. સત્સંગ વિના અન્ય ઉપાયથી દુઃસંગથી બચી શકાતું નથી તે નિશ્ચય છે. તેથી શ્રીગોપીનાથજી સાધનદીપિકામાં આજ્ઞા કરે છે.

અશૂન્યા દિવસા યામા મુહુર્ત ઘટિકા લવા ।
ભગવદ્ભજનૈઃ કાર્યા સંસારાસક્તિરન્યથા ।।

શ્રીમહાપ્રભુજી પણ આજ્ઞા કરે છે રાઈનો દાણો ગાયના શિંગડા પર ટકે તેટલો સમય પણ જો ભગવાનનું વિસ્મરણ થાય તો આસુરાવેશ થયા વિના રહેશે નહીં. દુઃસંગથી વિષયાક્રાન્ત થયેલાને ભક્ત હોવા છતાં હરિનો આવેશ થતો નથી. **"વિષયાક્રાન્તદેહાનાં નાવેશઃ સર્વદા હરેઃ"** (સંન્યાસ નિર્ણય) **"સર્વત્રવિરક્તસ્ય રાગઃ સ્યાદ્ નંદનંદને"** (સાધન દીપિકા) વિષયની તૃષ્ણા હોય તો પણ હરિનો આવેશ થતો નથી. તેથી ભજન સિદ્ધ થતું નથી. (શાસ્ત્રાર્થ પ્રકરણ ઉપસંહાર શ્લોક ૧) સંસારાસક્ત અવસ્થાને કારણે સેવા કરતો હોવા છતાં **"સંસારી યસ્તુ ભજતે સ દૂરસ્થો યથા તથા, અપેક્ષિત જલાદીનામ્ અભાવાત્ તત્ર દુઃખભાક્"** (સિદ્ધાન્તમુક્તાવલી) પ્રમાણે લીલારસની અનુભૂતી ન થવાને કારણે તે દુઃખી રહે છે. કાળક્રમે તેની સેવા યંત્રવત ક્રિયા જેવી બનતી જાય છે આ ભય સ્થાનને જાણીને શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા કરે છે કે આ નિરોધ (પુષ્ટિ ભક્તિ) માર્ગમાં રહેલાઓ એ ફલનિરોધ

જ્ઞાને પ્રાપ્ત કરવા માટે સર્વ લૌકિક આસક્તિ અને લૌકિક સંગથી વિમુક્ત એટલે સારી રીતે મુક્ત થઈને વ્રજાધિપ શ્રીકૃષ્ણનું જ ચિન્તન કરવું જોઈએ. ભગવત્ ચિન્તનનું સાતત્ય એ પુષ્ટિમાર્ગીય યોગ છે. તેના અભાવમાં ચિત્તની ચંચળતાને કારણે ભજન સિદ્ધ થતું નથી. (શાસ્ત્રાર્થ પ્રકરણ ઉપસંહાર)

સંગ નિર્ણય

શાસ્ત્રો દ્વારા પ્રવર્તિત વર્ણવ્યવસ્થા જે પ્રાચીન સમયમાં સારી રીતે પ્રવર્તમાન હતી ત્યારે તો બ્રહ્મચર્યાશ્રમમાં શિષ્યો ગુરુની સન્નિધિમાં નિવાસ કરતા અને વાનપ્રસ્થાશ્રમ દરમ્યાન વનો પણ આપણી સંસ્કૃતીના ધબકતા કેન્દ્રો જેવા હતા જ્યાં વેદજ્ઞ ઋષિઓનો સત્સંગ પ્રાપ્ત થતો. આજે જ્યારે એ વ્યવસ્થા લગભગ નામશેષ થવા જઈ રહી છે ત્યારે સાધારણ લોકોએ એ વાતનું ધ્યાન રાખવું જોઈએ કે જે લોકો વિષયોના સેવન અને ઉદર પોષણમાં જ રચ્યા-પચ્યા રહે છે તેવા અસત્-દુષ્ટ પુરુષોનો સંગ ક્યારેય ન કરવો. કારણ કે તેમને અનુસરનારા પુરુષની દુર્દશા એક અંધને ટેકે-ટેકે ચાલનાર બીજા અંધ જેવી જ થાય છે, તેને તો ઘોર નરકમાં જવું પડે છે. (ભા. ૧૧૨૬૧૩) લૌકિક ભાવવાળી સ્ત્રીઓ અને સ્ત્રીલંપટ પુરુષોનો સંગ ન કરવો જોઈએ. વિષય અને ઈન્દ્રિયો નો સંયોગ જ મનમાં વિકાર ઉત્પન્ન કરે છે. નહીં તો વિકાર માટે કોઈ અવકાશ જ નથી જે વસ્તુ ક્યારેય દેખી કે સાંભળી નથી તેના માટે મનમાં વિકાર થતો નથી. વિષયોનો ઈન્દ્રિયોની સાથે જેઓ સંયોગ થવા દેતા નથી તેમનું મન પોતાની મેળે નિશ્ચલ શાંત થઈ જાય છે. મોટા-મોટા વિદ્વાનોએ પણ ઈન્દ્રિયો અને મનનો વિશ્વાસ ન કરવો જોઈએ (ભાગ.પુરા. ૧૧૨૬૧૨૩-૨૫) પરિવાર જનો પણ ટી. વી. વગેરેને કારણે દુઃસંગ પ્રાપ્ત કરતાં હોય તો તેટલા અંશમાં તેમની સાથે અનાત્મીયતા અને સાવધાની વર્તવી જોઈએ. કારણ કે જેમને આપણે આત્મીય, સ્વજન માનતા હોઈએ છે તેમની રોજંદી ક્રિયાનું જાણે-અજાણે વત્તા-ઓછા અંશે આપણે અનુકરણ કરતાં થઈ જઈએ છીએ. સંગ વિચારધારાનો, સિદ્ધાન્તનો પણ હોઈ શકે છે. શ્રીપદ્મનાભદાસજીએ પોતાની સત્તાના દ્રવ્યથી જ પોતાના ઠાકોરજીની સેવા નિભાવવાના સિદ્ધાન્તને સાચવવા શ્રીમહાપ્રભુજીના સાક્ષાત્ સંગનો અમુલ્ય લાભ છોડ્યો છે. શ્રીમહાપ્રભુજીના સિદ્ધાન્તનો સંગ કર્યો છે. શ્રીહરસાનીજીએ પણ આપશ્રીના સંન્યાસ ગ્રહણ પછી આપની આજ્ઞા શિરોધાર્ય કરી સંન્યાસ લેવાનું ટાળ્યું છે.

ભક્તોના સંગનો નિર્ણય

ભગવદીયોનો સંગ પણ ભગવદ્ વાર્તા માટે જ કરવો, લૌકિક હેતુ માટે નહીં. અતિપરિચયથી તેમનામાં દોષદર્શન ન થાય તે માટે અતિ નજીક નહીં અને અતિ દૂર નહીં તે રીતે રહેવું. **"अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति".**

૨૫૨ વૈષ્ણવની વાર્તામાં વૈષ્ણવ પતિ-પત્ની હતા. તેમના પડોશીના ઘરે બીજા દેવનું પૂજન થતું અને ઘણો વૈભવ હતો તેથી પત્નીએ પણ પતિને તે દેવનું પૂજન કરવા આગ્રહ કર્યો. આ પ્રમાણે અન્યાશ્રય કરવાથી પતિને આખા ગામમાં ગધેડા પર બેસીને ફરવાનો અનિષ્ટ પ્રસંગ ઉપસ્થિત થયો. તેથી સંગના કારણે અન્યાશ્રય કરવાની કુબુદ્ધિ થઈ તે સ્પષ્ટ છે.

બીજી વાર્તામાં વૈષ્ણવ શેઠના ઘરે વૈભવ યુક્ત સેવા પ્રકાર જોઈ સાધારણ સ્થિતિના વૈષ્ણવની પત્નીએ વૈભવ પ્રાપ્તિ માટે જીદ કરી. તે પ્રસંગમાં ઝાડના મૂળમાં પાણી રેડતા દ્રવ્ય પ્રાપ્ત કર્યા પછી "તારા દ્વારા જે ઝારીજી ભરવામાં આવશે તેનું ફળ જોઈતું નથી કારણ કે હવે તારું મન દ્રવ્યમાં રહેશે પ્રભુમાં નહીં" એવો અવાજ આવ્યો આમ બીજા વૈષ્ણવના ઘરે તથા ધંધાદારી ધોરણે અભક્તિમાર્ગીય પ્રકારે ચાલતી હવેલીઓમાં વૈભવ યુક્ત સેવા પ્રકાર જોઈને પોતાના માથે બિરાજતાં શ્રીઠાકોરજીના સેવા પ્રકાર બાબતે ભાવમાં કમી કરવી નહીં. પુષ્ટિ પ્રભુ ભક્તિના જ ભોક્તા છે એ કદી ભૂલવું નહીં અન્યથા તો આધિદૈવિક લક્ષ્મીના સ્વામીને કોઈ શું આપી શકે છે?

હાલમાં ચાલી નિકળેલાં કહેવાતી પુષ્ટિમાર્ગીય હવેલીના જાહેરમાં ભગવત્સેવાના અપુષ્ટિમાર્ગીય અને અભક્તિમાર્ગીય પ્રકાર કે જ્યાં વૈષ્ણવેતર અને ભક્તેતર દર્શનાર્થીઓનો સંગ ટાળી ન શકાય તેવી રીતે પ્રાપ્ત થાય જ છે. જે શ્રીગોપીનાથજીની **"नावैष्णवैः सह वसेन् न तैः संसर्गमाचरेत, प्रसंगेषु हरिं ध्यायेत्"** ની ઘોર ઉપેક્ષા છે. તેવા સેવા પ્રકારને સદ્યને માટે ત્યજીને ભક્તિવર્ધિનીમાં ઉપદિષ્ટ **"गृहे स्थितवा स्वधर्मतः"** પ્રમાણે પોતાના ઘરમાં પોતાના પરિવારજનોની સાથે પોતાના ધનથી ભગવત્સેવાનો પ્રકાર અપનાવવો જોઈએ. કથાશ્રવણમાં પણ આજીવિકા માટે ભાગવતજીનો ઉપયોગ કરનારનો સંગ સંસારાસક્તિ વધારનારો, ભક્તિનો નાશ કરનારો અને શ્રીમદાચાર્યચરણનો દ્રોહ કરાવનારો જાણી તેનાથી દૂર રહેવું જોઈએ.

શ્રીહરિરાયજી આજ્ઞા કરે છે કે મહત્કુલમાં પ્રસૂત (સંપ્રદાયિક દિક્ષાદાતા) પણ જો શ્રીમદાચાર્યચરણના સિદ્ધાન્તથી વિપરિત કે અન્યથા વાત કહે કે તેને પ્રોત્સાહન આપે કે સંસારાસક્તિ વધારનારી વાત કહે તો તેમના સંગને પણ દુષ્ટસંગ માનવો જોઈએ. "૪ આચાર્ય બાલક કે વૈષ્ણવો "શ્રીમહાપ્રભુજીએ પુષ્ટિમાર્ગીઓ માટે રચેલા ષોડશગ્રન્થ ઇત્યાદિ ગ્રન્થોનું અધ્યયન આવશ્યક નથી" એમ કહેતા હોય, તેનું અધ્યાપન કરાવવામાં ઉદાસીનતા બતાવતા હોય તેમના સંગને મહાદુષ્ટ સંગ માનવો. શ્રીગોપીનાથજી સાધનદીપિકામાં આજ્ઞા કરે છે કે પુષ્ટિભક્તિસાધના સારી રીતે થઈ શકે તે માટે ભગવાનના માહાત્મ્યજ્ઞાનની અને તેના માટે શાસ્ત્રાભ્યાસની અને તેના માટે જ ગુરુની આવશ્યકતા છે. (સાધનદીપિકા-૯)

ભાગવતજી તૃતિય સ્કન્ધમાં કર્દમ ઋષિની ભગવત્સ્તુતિ "આપના ભક્તો તો એવા હોય છે કે તેઓ લોકોનો તેમજ પશુના જેવા લોકોને અનુસરતા ભક્તોનો પણ ત્યાગ કરી આપના ચરણરૂપ છત્રનો આશ્રય કરે છે" (ભા. ૩।૨૧।૧૭) આ શ્લોકના સુબોધિનીજીમાં શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા કરે છે કે ભગવાનના મુખ્ય ભક્તોએ જેમ લોકોનો ત્યાગ કરવાનો છે તેવી જ રીતે ભગવાનના ભક્તો પણ જો લોકને જ અનુસરનારા હોય તો તેઓનો પણ ત્યાગ કરવો જ જોઈએ. લોકોના કરતાં પણ આમનો ખાસ ત્યાગ કરવો જોઈએ એ વિષયનું કારણ 'પશુઓ' શબ્દથી કહેલું છે. કારણ કે આંધળો કૂવામાં પડે તો તે યોગ્ય છે. જો આંખવાળો પડે તો તે મોટો આંધળો છે, એમ જાણવું.

ગોવિન્દ દુબેજીની વાર્તા તે મીરાબાઈનો સંગ કરતાં ત્યારે શ્રીગુસાંઈજીએ તેમ ન કરવા પત્ર દ્વારા આજ્ઞા આપી છે. તેથી મોક્ષકામ કે સકામ કૃષ્ણ ભક્તોનો સંગ પણ પુષ્ટિ ભક્તોએ ન કરવો જોઈએ. કેમ કે તે તેના નિર્ગુણ ભક્તિભાવને બાધક થાય છે. જેમ દુષ્ટોનાં સંગથી ત્રિવર્ગમાં (ધર્મ-અર્થ-કામ) પુરુષાર્થ બુદ્ધિ થઈ જાય છે તેમ સકામ અને મોક્ષકામ કૃષ્ણભક્તોના સંગથી પુષ્ટિભક્તિના અત્યન્ત વિલક્ષણ અને દુર્લભ એવા ભક્તિના પંચમ પુરુષાર્થ રૂપ હોવાનાં ભાવને બાધ થાય છે.

પોતે પુષ્ટિભક્ત ન હોવા છતાં પુષ્ટિભક્તો માટે આદર કે સહાનુભૂતિ

કે કુતૂહલ વૃત્તિ બતાવનારાઓના સંગથી પણ કેવી રીતે બચવું તે કુંભનદાસજીએ અકબર અને માનસિંહ સાથેના પ્રસંગમાં દેખાડ્યું છે.

તે જ રીતે આપણો સંગ બીજા ભગવદીયો માટે દુઃસંગ ન બની જાય તથા ગુરુજનો સમક્ષ અનધિકાર ચેષ્ટા ન થાય તે ધ્યાન રાખવું જોઈએ.

શ્રીહરિરાયજીએ દુઃસંગવિજ્ઞાનપ્રકારમાં બતાવ્યા પ્રમાણે વંચકથી સદા બચીને રહેવું. એના વૈષ્ણવ વેશ અને મીઠી ભાષાના કારણે તેને ઓળખવો ઘણો મુશ્કેલ હોય છે. પણ તે નિરપેક્ષ ન હોતાં અર્થ-કામ સાપેક્ષ હોય છે. આ રીતે તેને ઓળખી તેનાથી દૂર રહેવું. તેને ઓળખવામાં વિલંબ થાય તો તે સમય દરમ્યાન થયેલો તેનો સંગ પણ સર્વ નાશ કરનારો થાય છે.

ઉપસંહાર

ઉત્તમ અધિકારી સંગ સર્વથા છોડી શકે છે અથવા રસોન્માદમાં છુટી જાય છે. સાધનદશામાં તો તાદશીનો અદુરે-વિપ્રકર્ષની સાવધાની રાખી સંગ કરવો. અનોસરમાં સદા સત્સંગમાં રહેવું સત્સંગ એ જ દુઃસંગની ઔષધિ છે. કુલ મળીને પુષ્ટિભક્તિમાર્ગના પથિકે સંયોગ અને વિપ્રયોગ ના ચક્રને જીવવા માટે સંયોગમાં સાચી સાધનાપ્રણાલી (આચાર્ય કંઠોક્ત) અપનાવીને "**ગૃહે સ્થિતવા સ્વધર્મતઃ તત્ સિદ્ધયે તનુવિત્તજા**" અનુસારની અને અનોસરમાં જલભેદ-પંચપદ્યાની વગેરેમાં વર્ણવ્યા પ્રમાણે વક્તા-શ્રોતાની પરીક્ષા કરીને પોતાની સાધનાપ્રણાલીને પ્રતિબંધ અને વિઘ્નો થી બચાવવી.

દુઃસંગથી પોતાની ભક્તિને બચાવવા માટે તે જ વરદાન વૃત્રાસુર પ્રભુ પાસે માગી રહ્યા છે.

मम उत्तमश्लोक जनेषु सख्यम संसार चक्रे भ्रमतःस्वकर्मभिः।
त्वन्मायया आत्मात्मज दारगेहे स्वास्तत चित्तस्य न नाथ भूयात।।

चर्चा

પુષ્ટિ ભક્તિ સાધનામાં પ્રતિબંધ વિષય-સંગ

(नैकान्ते वास ईष्यते ना संदर्भमां)

श्रीआशिष शाह

गो. मनोज : सङ्ग, असङ्ग और दुःसङ्ग की बात अपने बताई. दामोदरदासजीकी वार्तामें आवे है के "अपनो मार्ग निःसङ्गताको नाहीं है" वाको क्या आशय है.

आशिष शाह : वहां तो भगवत्सङ्गकी बात है.

गो. शरद् : जलभेद-पञ्चपद्यानिमें श्रीमहाप्रभुजीने वक्ता-श्रोताके लक्षण समझाये हैं. श्रीमहाप्रभुजी वक्ता-श्रोता दानोंकुं ये समझानो चाह रहे हैं के कौनको सङ्ग सत्सङ्ग है और कौनको सङ्ग दुःसङ्ग है. अन्यत्र भी या सम्बन्धमें वचन मिलें हैं. श्रीमहाप्रभुजीके बखत ओडिओ-वीडीओ रेकॉर्डिंग्के इलेक्ट्रोनिक् साधन नहीं हते यासुं आपने व्यक्तिके सङ्गके सन्दर्भमें सिद्धान्त बताये हैं. वर्तमान सन्दर्भमें विचारणीय ये है के आज अपन रेडीओ, केसेट्, सीडी, आईपोड्, टेलिवीज़न् आदि साधनके द्वारा व्यक्तिको साक्षात् सङ्ग किये बिना भी कीर्तन-कथा-प्रवचनादिको श्रवण कर सकें हैं. इन साधननको उपयोग करनेपे व्यक्ति अपने सम्पर्कमें नहीं आवे है फिर भी वाकी वाणी, वाको अभिनय अपने पास पहोंचे है. जा समय व्यक्तिको सङ्ग करनो पड़तो हतो वा बखत अपनो रिमोट् कंट्रोल् वाके हाथमें रहेतो हतो. जाकुं वो सुना रह्यो है, समझा रह्यो है वाकुं वो अपनी इच्छाके अनुसार ट्रीट्मेंट् देतो हतो. अब स्थिति ये है के जब अपन इन इलेक्ट्रोनिक् साधनसुं श्रवणादि करें है तब वाको कंट्रोल् अपने हाथमें होवे है. मेरो प्रश्न वे है के इलेक्ट्रोनिक् मीडीयाके माध्यमसुं होते सङ्गकुं अपन जलभेद ग्रन्थके अन्तर्गत कौनसी कक्षामें रख सके हैं.

सामान्य दृष्टान्त लेवें तो आधुनिक समयमें होती रासलीला-ढाढीलीला, जो नृत्य-गीत-संगीतके साथ होवे हैं, वो

आज व्यवसायिक रूपमें किये जावे हैं. श्रीमहाप्रभुजी जलभेदमें आज्ञा करे हैं : **"जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः... वेश्यादि-सहिता मत्ता गायका गर्तसञ्ज्ञिताः"**. मनो के कोई मंडली व्यावसायिक रूपसुं रासलीला-ढाढीलीला कर रही है. कोईने उनको कार्यक्रम व्यावसायिक दृष्टिसुं आयोजित कियो. अपन वा कार्यक्रममें कोई भी तरहसुं जुड़े नहीं हैं. वासुं अपनो कुछ भी लेनो-देनो नहीं है. वा कार्यक्रमकी सीडी अपनेपास आयी और अपन वाकुं देख रहे हैं. याकुं जलभेदकी दृष्टिमें क्या समझनो? ये सत्सङ्ग है या दुःसङ्ग?

ऐसे ही कीर्तनकुं लेलो. श्रावण महीनामें गुजरातके गांवनूमें व्रजवासी घूमते होवें हैं. घर-घर जाके रसिया-कीर्तन गावें हैं और वैष्णव लोग उनकुं खुश होके कुछ देते होवें हैं. ऐसे ही व्यावसायिक और गैरव्यावसायिक कीर्तनिया भी कीर्तनके प्रोग्राम् छोटे-बड़े स्तरपे आयोजित करते होवें हैं. कई अवैष्णव संगीतज्ञ प्रोग्राममें कीर्तन गाते होवें हैं. वैष्णव लोगनकुं आकर्षित करवेकेलिये "कीर्तनको प्रोग्राम्" ऐसो प्रचार भी वो करते होवें हैं. संगीतके रसिक वैष्णव भी यदि प्रोग्राम् कीर्तनको होवे तो जाते होवे हैं, अन्यथा नहीं जावें हैं. ऐसे लोगनके साक्षात् सङ्गमें आये बिना उनके कीर्तनादिकी केसेट्-सीडी सुनें तो जलभेदकी दृष्टिसुं वो सत्सङ्ग कहलायेगो के दुःसङ्ग.

ये ही बात भागवतकथा आदिके सम्बन्धमें भी सोची जा सके है. जैसे कोई कथाको आयोजन भयो है वहां वैष्णव नहीं जा रह्यो है. पर पीछे जब वा कथाकी सीडी-केसेट् रिलीज़ होवे वाकुं खरीदके सुन रह्यो है.

ये सब दृष्टान्त ऐसे हैं के जामें व्यक्तिको साक्षात् सङ्ग नहीं हो रह्यो है, परोक्ष सङ्ग होवे है. या स्थितिमें जलभेदमें आचार्यचरणने सङ्गके त्याज्यात्याज्यको विवेक बतायो है वाकुं इन सन्दर्भमें कैसे निभानो ये जिज्ञासा है.

आशिष शाह : જેની સીડી કે કેસેટ આપણી પાસે આવી હોય એ વ્યક્તિની બીજી પ્રવૃત્તિઓને જોઈને જાણી શકાય કે એમાં દમ્ભ-કામ આદિ દુર્ગુણો છે કે નહીં.

गो. शरद् : એવી સી.આઈ.ડી. ગોઠવવાની કુરસત કોને હોય! લોકો તો એમ

વિચારતા હોય છે કે આપણને જોવા-સાંભળવાનું ગમે છે તો જોવું-સાભળવું બાકી એના પાખંડ-ગોરખધંધા બધું એ જાણે. એમાં આપણને શું! આમાં હું એ વાતથી સમ્મત છું કે જે વ્યક્તિના સદ્સદ્ગુણોથી પરિચિત છીએ એવી વ્યક્તિની કેસેટ્ કે સીડી આપણે જોઈ કે સાંભળી રહ્યા છીએ તે વખતે એના ગુણ-દોષો જો સ્મરણમાં આવે તો એ આપણા ભક્તિભાવને બાધા કરી શકે છે. પરન્તુ ધારો કે આપણે વ્યક્તિના સમ્બન્ધમાં કંઈ પણ જાણતા ન હોઈએ અને એના દ્વારા થતા કીર્તન-કથા-પ્રવચન સાંભળી રહ્યા છીએ તો એમાં કંઈ દોષ છે? જેમ આજે "શ્રીકૃષ્ણઃ શરણં મમ" ની ઘડીયાળ વાગી રહી છે. ઘડીયાળ બનાવનારે તો ધંધા માટે જ બનાવી છે. પણ આપણને તો એ ભગવત્સ્મરણ કરાવી રહી છે કે નહીં! કોઈ કીર્તનકારની કેસેટ્ બજાર પડી હોય. એ કેસેટ્ના વેચાણ ઉપર રોયલ્ટી પણ લેતો હોઈ શકે. આપણે કેસેટ્ ખરીદીને વગાડી રહ્યા છીએ. સેવામાં પણ અને તે સિવાયના સમયમાં પણ લોકો સીડી-કેસેટ્ વગાડતા જ હોય છે. તે જ રીતે કથા વગેરેના સમ્બન્ધમાં પણ આવું જોવા મળે છે. તો આ સન્દર્ભમાં સંગનો વિવેક કેમ સમજવો? આ સમસ્યાની ગમ્ભીરતા સમજવાનો પ્રયાસ કરો. ઘણા લોકો એવા દૂરના પ્રદેશોમાં વસતા હોય છે કે જ્યાં પુષ્ટિમાર્ગીનો તો શું હિન્દુ ધર્મી નો પણ સંગ મળતો નથી હોતો. એવા પ્રદેશમાં વસનારા લોકો પોતાનું અસ્તિત્વ આવી સી.ડી.-કેસેટ્ જેવા માધ્યમોના આધારે ટકાવી રાખતા હોય છે.

परेश शाह : संग प्रत्यक्ष होय याहे परोक्ष, ज्यारे संग थई रह्यो छे त्यारे ईन्द्रियोनो एन्काउंटर् विषयो साथे थई ज रह्यो छे. एटले श्रीमहाप्रभुजीने अभिप्रेत विचार अनुसारनी वाणी नहीं होय तो ए दुःसंग गणाशे. एटले केसेट के सीडी नो निर्धार करवो डिफिकल्ट छे के ए श्रवण करवा योग्य छे के अयोग्य.

असित शाह : दुःसंगको विचार तब प्राप्त होवे है के जब अपन सत्संगके द्वारा भक्ति बढानो चाह रहे हैं. अब समझो के अपन टी.वी.पे कोई धार्मिक चेनल् देख रहे हैं. वा बखत अपनो ऐसो कोई इंटेन्शन् नहीं है के अपन सत्संग कर रहे हैं या भक्ति बढ़ानेको उपाय कर रहे हैं. ऐसे बखत जब अपन कुछ देखें-सुनें हैं तब इतने सावधान होके नहीं सुनें हैं के मोकुं सत्सङ्ग करनो है वाके अनुरूप वक्ता है के नहीं. वक्ता

जा विषयको निरूपण कर रह्यो है वो मेरे अनुरूप है के नहीं के जासुं मेरो भाव बढ़ेगो या मेरी बुद्धि सुधरेगी. जब इतनी सीरियस्नेस् नहीं है तब अपन इतनो डीपमें विचार नहीं करे हैं के जहांसुं टेलिकास्ट कियो जा रह्यो है वो कौनसी जगह है, आयोजक कौन है, कितने दिन चलनेवालो है ये सब इन्क्वायरी अपन नहीं करें हैं. जस्ट फोर टाईम् पास् अपन देखें हैं. पर जब अपन या बातकुं इतनी गम्भीरतासुं सोच रहे हैं कि मोकुं सत्सङ्ग करनो है वाके कारण मेरो भाव और बुद्धि को पोषण करनो है, साथ-साथ ऐसे दुःसंगसुं बचके चलनो है के जासुं मैं बहिर्मुख हो जाऊं. जब इतनी गम्भीरतासुं साधनाके तहत अपन सत्संग कर रहे हैं तब सब सावधानी अपनकुं रखनी पड़ेगी. जब सावधानी रख रहे हैं तो हर तहके दोष सोचने पड़ेंगे. दोष वामें कई रस्तासुं आ सके हैं. जैसे सबसुं पहले अपन ये सोचें के केसेट् या सीडी में विषय क्या है. विषय यदि प्रभुके रूप-नाम-लीलाको वर्णन है और यदि वो व्यावसायिक रूपसुं हो रह्यो है वाकुं अपन सुनेंगें तो अपराध है. पर जैसे कोई संस्था न नफा- न नुकशान् की नीतिसुं सिद्धान्तके प्रवचन-अध्यापनकी सीडी बनाके वितरित कर रही है या भागवतकुं छोड़के अन्य पुराणकी सीडी बना रही है तो वाके बारेमें शास्त्रमें या अपने यहां भी निषेध नहीं है. इतनो जरूर है एज़ अ गुड् प्रेक्टिस् और मोरल् ग्राउंड् के तहत कमानेकी दृष्टिसुं वाको विक्रय नहीं करनो चहिये.

ये तो विषयके आधारपे डिसाईड् करनेकी बात भई के वो सुननो चहिये के नहीं सुननो चहिये. पर मानलो के ये तय हो गयो के भागवतकी कथा है और वो निष्प्रयोजन आयोजित भई है, वक्ताने भी कोई दक्षिणा नहीं ली है, कोई फंड-फाळा नहीं भये हैं. वाकी अपन सीडी देख रहे हैं.

गो. शरद् : वाकुं ऐसे सोचो के आयोजन सप्रोजन है चाहे निष्प्रयोजन, मोकुं वासुं कोई सम्बन्ध नहीं है. मैं एक उपभोक्ता हूं. मैने सी.डी. खरीदी और सुनी. और मेरो पर्सनल् अनुभव ऐसो होवे के वाके कारण मेरो भाव बढ्यो है....

असित शाह : वापे मैं आ रह्यो हूं. तो ये दूसरो क्राइटेरिया भयो वाकुं सुननो या नहीं सुननो वाकु डिसाईड् करनेको. तीसरो एलिमेंट् कर्ता है. एक

प्रयोज्य कर्ता होवे है और दूसरो प्रयोजक कर्ता होवे है. समझो के कथाकारके कथा करनेके पीछे कुछ अलग प्रयोजन हैं. और जो वाकी सीडी निकाल रह्यो है या टेलिकास्ट कर रह्यो है वाके कुछ अलग प्रयोजन हैं के वाकी प्रसिद्धि बढे, प्रोफिट् मिले. ऐसे ही कोई वक्ता बहोत प्रसिद्ध होवे तो सीडी बेचनेवालो वाकी सीडी बेचके प्रोफिट् लेनो चाहतो होवे, तो जो सीडी निकाल रह्यो है वाके प्रयोजन भी यदि अपने भक्तिमार्गीय दृष्टिसुं दूषित हैं तो वो वक्ता अच्छो है, वाकी बात भी सच्ची है पर प्रयोजक कर्ता जो बीचमें आयो है वाके भाव यदि दूषित हैं तो फिर ऐसी सीडी सुननो भी दोष ही कहलायेगो. ऐसो नहीं है के वक्ता अच्छो है और अपनने शुद्ध भावसुं सुन लियो तो वो सत्संग हो जायेगो. वो दूषण वाके माध्यमसुं भी आ सके है. और प्रेक्टिकलि जलभेदमें ये ही बात कही है. भागवतजीमें तो सब निरूपण बरोबर ही है. पर बीचमें वक्ता ऐसो दुष्ट आ गयो के जाकु संसारासक्ति है वाके मुखसुं अपनने सुनी तो अपनेमें भी दोष आयेंगे, भागवतके श्रवणको कोई लाभ अपनकुं नहीं होयगो. वासुं बीचके प्रयोजक कर्ताकुं भी अपनकुं टेस्ट करनो पड़ेगो के वो कौनसे हेतुसुं सीडी निकाल रह्यो है या टी.वी. पे प्रसारण कर रह्यो है.

पर जैसे मैने कही के ये सब विचार तब प्राप्त होवे है के जब अपन कोई भी श्रवणादिकुं सत्सङ्गके रूपमें भक्तिसाधनाके रूपमें कर रहे हैं. ऐसे समय अपनकुं सभी सावधानी बरतनी पड़ेगी. वक्ताकी भी इन्क्वायरी करनी पड़ेगी, जाके माध्यमसुं अपनकुं सीडी या प्रसारण उपलब्ध हो रह्यो है वाकी भी इन्क्वायरी करनी पडेगी. ये सब करके ही कुछ सुननो-देखनो चहिये.

गो. शरद् : तेनें जैसे श्रवणके विषयकी बात करी वा सम्बन्धमें एक प्रश्न होवे है के जैसे कुछ विषय ऐसे होवे हैं के जामें वक्ता अपनी ओरसुं कुछ विवेचन करतो होवे है. जैसे भागवत. वक्ता जब कथामें अपनो बघार लगातो होवे तब भागवतके साथ-साथ वाके भी अच्छे-बुरे भाव श्रोताकुं प्रभावित करते होवे हैं. पर अपन कीर्तनकुं लेवें. कोई अच्छो गानेवालो है जो व्यावसायिक लाभके विचारसुं कीर्तन गा रह्यो है, कोई सी.डी. बनानेवालो प्रोफिट्केलिये वाकी सी.डी.

बनाके बेच रह्यो है. ऐसे प्रोफेशन्में कोई पुष्टिमार्गमें दीक्षित व्यक्ति भी हो सके है. यहां कीर्तनके अर्थ या भाव के विवेचनकी कोई बात नहीं है. ऐसे श्रवणकुं दोषरूप माननो या नहीं?

असित शाह : व्यावसायिक है तो प्रतिबन्ध आयेगो ही.

गो. शरद् : कैसे आयेगो? जैसे ग्रन्थको दृष्टान्त लो. कोईने यमुनाष्टक-सर्वोत्तमकी पुस्तक छापके बेची. अपनने खरीदी. वामें...

असित शाह : स्पेसिफिक् कीर्तनकेलिये मैं कह रह्यो हूं.

गो. शरद् : जैसे सी.डी.-केसेट् एक माध्यम है ऐसे पुस्तक भी एक माध्यम है. ये बात सोचनी या लिये जरूरी है के याकु खींचके सेवाके धंधा तक लियो जाय है. आज प्रायः सब लोग ये बात जान रहे हैं के पुष्टिमार्गीय हवेली-मन्दिरमें सेवा-मनोरथ धंधाकेलिये ही होवे हैं. जब उनकुं ये पूछ्यो जाय है के तुम वामें क्यों सम्मिलित हो रह हो तो वो कहते होवे हैं के जो सेवाको धंधा करते होवें वो चाहें तो दरियामें पड़ें चाहे नरकमें पड़ें, हमकुं वासुं क्या मतलब! हमकुं तो दर्शनको लाभ मिल रह्यो है और हमारी भावना सन्तुष्ट हो रही है. देवद्रव्यको प्रसाद खानेसुं या व्यावसायिक हवेलीमें दर्शन करनेसुं हमकुं कोई नुकसान भयो होवे ऐसो हमकुं लग नहीं रह्यो है. ये बात श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तसुं सर्वथा प्रतिकूल है ये बात अपन मानके चल रहे हैं.

असित शाह : सत्संग-दुःसंगको निर्णय अपनकुं वा फ्रेमवर्कमें रहके ही करनो पड़ेगो के जामें श्रीमहाप्रभुजीने और पूर्वाचार्यन्ने बतायो है. ऐसे ही लाभ-अलाभ भी अपनकुं वा ही सिद्धान्तमर्यादामें सोचने पड़ेंगे. कोईकु कछु लग्यो वासुं सिद्धान्तको निर्णय नहीं होयगो.

गो. शरद् : कीर्तनकी बात चल रही हती. कीर्तनकी सीडी सुननेमें दोष कैसे है?

असित शाह : याकु दो तरहसुं अपन सोच सके हैं. कोई वैष्णव है के जाकुं कीर्तन गानो नहीं आवे है. वो सेवामें ठाकुरजीके सन्मुख कीर्तनकी केसेट् बजा रह्यो है. वा बखत वाको भाव ऐसो नहीं है के वो सत्संग कर रह्यो है. जैसे सेवामें फूल चहिये हैं और बजारसुं खरीदके वाकी माला ठाकुरजीकुं धराई ऐसे ठाकुरजीके सुखकेलिये कीर्तनकी केसेट् खरीदके बजा दी. ये एक अलग बात भई. और सत्संगकेलिये केसेट्

लावे तो वा बखत वाको भाव सत्संगको है यासुं वा बखत तो वाकुं सब बात सोचनी पड़ेगी. यदि कीर्तन गानेवालेको प्रयोजन या केसेट् बनानेवालेको प्रयोजन व्यावसायिक है तो वो प्रतिबन्धक होयगो ही. और आजकल एक एक्स्ट्रीम ये भी चल रह्यो है के अवैष्णव कीर्तनियाकी केसेट् भी चलन निकली है. श्रीहरिरायचरण स्पष्ट आज्ञा करे हैं के "**अवैष्णवानां मुखात् भागवतश्रवणं**" अपने आपमें अपराध है. ऐसा नहीं है के भगवत्सम्बन्धि कोई कुछ गा रह्यो है तो अपनकुं श्रवण करनो ही. और ये सही बात है के अपन हर व्यक्तिकी ये परीक्षा कर नहीं सकें हैं के कीर्तनीया कौन है, कहां रहे है, सी.डी. बनानेवालो कौन है...पर ऐसेमें उचित ये है के ऐसी स्थितिमें अपनकुं वो सी.डी. नहीं सुननी चहिये.

गो. मनोज : आपने कही के सत्संगकी दृष्टिसुं श्रवण नहीं करतो होवे पर ऐसे ही सुनतो होवे तो दोष नहीं है. पर अपनकुं पता नहीं है और अपन विष पी रहे होवें तो विष तो अपनो प्रभाव दिखायेगो ही न! कितने ही वैष्णव घरमें काम करते-करते धार्मिक चैनल्पे आते कोई भी प्रवचन सुनते रहे हैं. ऐसेमें उनके कानमें मार्गसुं विरुद्ध बात भी जा सके है जो उनकुं प्रतिबन्धक हो सके है. भले उनने टी.वी. टाईम् पास् करनेकेलिये चालू कियो होवे.

असित शाह : चोईस् तो वाके हाथमें है. आदमीकुं टाईम् पास् करनो है तो वो अच्छी तरहसुं भी कियो जा सके है और बुरी तरहसुं भी कियो जा सके है. टाईम् पास् करनेकेलिये टी.वी.पे क्या देखनो वो तो वाके हाथमें है. कोई वैष्णव चेनल्पे आते प्रवचनकुं अच्छो समझके सुन रह्यो है तो वाके परिणामकेलिये वो खुद जिम्मेदार है.

रसिक शाह : વક્તા જે બોલી રહ્યો છે, એનો ભાવ એ દ્વારા પ્રકટ થઈ રહ્યો છે એ નુકશાન કરે છે. તેથી વક્તાની કાળજી રાખવી જોઈએ. મીડીયાને સત્સંગ કે દુઃસંગ સાથે જોડવાનો કોઈ અર્થ નથી લાગતો.

जनक शाह :: मने लागे छे के सांभणनारनी रुचि उपर आधार छे. मीडीयानो विषय एवो छे के व्यक्तिओ पोतानी रीते नक्की करवानुं रहे छे के ओणे सांभणवुं के नहीं. टाईम् पास् माटे सांभणवुं के सत्संग माटे. जो टाईम् पास् माटे जोता होईओ तो कंई फरक नथी पडतो के कोण छे अने शुं बोले छे. पण जो सत्संग रुपे सांभणता होईओ तो आपणी ओ

જવાબદારી બની જાય છે કે આપણે સંગના બધા પાસાઓને જાણીએ-ચકાસીએ કે કોન સાંભળવા યોગ્ય છે અને કોન સાંભળવા યોગ્ય નથી. ન્યુઝપેપરનું એવું છે કે એમાં તો ઘણી બધી વાતો છપાતી રહે છે. લોકો એ વાંચીને અનુકરણ કરતા નથી હોતા.

गो. शरद् : विचारमें ओर सहायक होवे वाकेलिये कह रह्यो हूं के प्राचीन समयमें जब टेप-सीडीप्लेयर् जैसे साधन नहीं हते वा बखत सम्पन्न लोग सेवामें पगारदार कीर्तनीया रखते हते, आज भी होवे हैं. धंधादारी हवेलीमें भी होवे हैं और सिद्धान्तानुसार स्वगृहमें सेवा करनेवाले सेवापरायण लोग भी रखे हैं. अति प्राचीन कालकी तो पता नहीं है पर अर्वाचीन कालमें, रूढिवश् वा कीर्तनीयाकुं कंठी पहना दी जाती होयगी. वा कीर्तनीयाको उपयोग ओल्मोस्ट ऐसे ही कियो जातो हतो के जैसे आज लोग टेप-सीडी को करे हैं. वाकुं सत्सङ्ग बधाई-कीर्तनमें भी बुलाते और दक्षिणा देके वाको समाधान भी करते. जन्मदिन आदिमें वाकुं न्योछावर भी दी जाती हती. मतलब् वाको एक इन्स्ट्रुमेंट्के रूपमें कंट्रोल्ड् उपयोग कियो जातो हतो. या ही तरहसुं सेवामें भीतरीया, मुखिया आदि भी पगार देके रखे जाय हैं. वो अपने नौकर हैं. वो भी बिचारे अपने पेटकेलिये अपनी नौकरी करते होवे हैं. कोई मूर्ख ही उनकुं भगवदीय मानतो होयगो. अब यदि अपन कैसेट्-सी.डी.के श्रवणकुं दुःसंग मानेंगे तो इन कर्मचारीन्के सम्बन्धमें भी ये बात आयेगी. वाको विचार करनो चहिये.

असित शाह : यदि वाकुं एक ऑब्जेक्ट-वस्तुके रूपमें वापर रहे हो तो फिर वो कौन है, कैसो है, क्यों कर रह्यो है ये सब परीक्षण करनेकी जरूरत नहीं है. पर यदि अपन अपने संगकेलिये कर रहे हैं तो सब बात देखनी पड़ेगी.

गो. योगेश : जलभेद-पञ्चपद्यानिमें जो सङ्गको निरूपण भयो है वाकुं भक्तिवर्धनकी प्रक्रियाके अन्तर्गत समझनो चहिये. अब कोई व्यक्ति सीखवेकेलिये केसेट् सुन रह्यो है, वो भक्तिसाधना नहीं कर रह्यो है. सबसुं पहले याको पृथक्करण करनो जरूरी है.

दूसरी बात टी.वी., रेडीयो, सी.डी. वगैरह मीडीयाकी है तो पुस्तकमें और इनमें क्या अन्तर है? जैसे कीर्तनकी पुस्तक छपके

आयी और कोईने कीर्तन गायो वाकी केसेट् आयी. मोकुं तो इन दोमें खास अन्तर नहीं लग रह्यो है. कीर्तन सीखवेकी दृष्टिसुं जैसे पुस्तकको अपन उपयोग करे हैं ऐसे केसेट्को भी कर सके हैं. वामें कोई दोष मोकुं लग नहीं रह्यो है. दोष वहां है के जब कोई भागवतसप्ताहकी केसेट् लेके भक्तिवृद्धिकेलिये सुन रह्यो है. तब फिर जलभेदके सब उपदेश ध्यानमें लेने पड़ेंगे फिर वो साक्षात् श्रवण होवे के केसेट्-सीडी को श्रवण होवे.

गो. श्या. म. : कुछ पृथक्करण अपनकुं करने चहिये. सबसुं पहली बात ये है के अपन जब कोईके साथ सम्पर्कमें आ रहे हैं वाकी दो विधाएं हैं. एक तो वा व्यक्तिके रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दसुं सम्पर्कमें आके व्यक्तिके सम्पर्कमें आवें. अथवा व्यक्तिके रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दके सम्पर्कमें आवें पर वाको जो आश्रय-व्यक्ति है वाके सम्पर्कमें नहीं आवें. जैसे कोई शवकुं छुएं तो छू जायें हैं. पर क्या शवके फोटोकुं छुनेपे छू जावें हैं? नहीं. शवको रूप तो स्पर्शमें आ रह्यो है पर रूपको आश्रय-शवको स्पर्श नहीं कर रहे हैं. पहले ये प्रणाली कम हती के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दकुं वाके आश्रयसुं पृथक् कियो जा सके. हती तो बहोत कम मात्रामें हती. चित्र अत्तर जैसी गिनीचुनी वस्तुएं हती. आज प्रेक्टिकलि विज्ञानने ऐसे कोई भी गुणधर्म बाकी नहीं रखे हैं के जिनकुं वाके आश्रयसुं अलग नहीं कियो जा सके. या स्थितिमें सम्पर्क दो तरहसुं सम्भव हो गये हैं एक तो शब्दके सम्पर्कमें आनो पर वक्ताके सम्पर्कममें नहीं आनो. और दूसरो दोनोंके सम्पर्कमें आनो. जलभेद और पञ्चपद्यानि में अपन साफ देख सके हैं के "नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्, भावान् विंशतिधा भिन्नान्". भाव भिन्न कैसे होवे हैं? आश्रयके कारण. गुण तो हरिके हैं पर उनमें दोष आश्रयके दोषके कारण आ रह्यो है. या तथ्यपे अपन ध्यान दें और रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द सबके ऊपर याकु लागू करेके देखें तो पता चलेगी के जैसे शवकी बात मैने रूपसुं बताई. समझो के मृत मछली पड़ी है. वाकुं अपन छुएं तो नहानो पड़े. पर समझोके वाकी गन्ध अपनकुं आयी. तब क्या अपनकुं नहानो पड़ेगो? नहीं. गन्धाश्रयको स्पर्श नहीं हो रह्यो है या लिये अपन नहीं छुएंगे. ये क्राईटेरीया ध्यानमें रखनो चहिये. जैसे

रावणको रूप स्वयं रावणमें रहे तो असुर है पर रामलीलामें कोई रावण बन्यो है वाकुं देखके अपनकुं जोश आ गयो और लगे वापे तीर छोड़ने! रामलीला स्तब्ध हो जायेगी! यासुं अपनकुं पृथक्करण करनो पड़ेगो के यद्यपि वहां रावणको रूप, कृति, शब्द बहोत कछु है पर वो सब रावणरूपी आश्रयमें नहीं होनेसुं वामें अपन असुर होनेको भाव प्रकट नहीं करे हैं के जो भाव अपन साक्षात् रावणके प्रति प्रकट कर सकते होवे हैं. यासुं गुण और गुणाश्रय के बीच आते पार्थक्यकुं अपनकुं भूलनो नहीं चहिये.

ये ऑब्जेक्टिव् पेरामीटर भयो. दूसरी बात सब्जेक्टिव् पेरामीटरकी भी है. वो ये है के अपन खुद वाकुं कौनसे भावसुं कर रहे हैं. शाबरभाष्यमें याको सुंदर विवेचन भयो है. ब्राह्मण शराब पीये तो मरण ही प्रायश्चित्त है. पर कोई ब्राह्मण जल पीके नाटक करतो होवे के शराब ऐसे पी जाय है तो वाकुं मद्यपानको प्रायश्चित्त लगे के नहीं! यद्यपि शबराचार्यकुं श्रीमहाप्रभुजी बहोत प्रमाण नहीं माने हैं पर ये बात वाकी ऐसी नहीं है के जापे श्रीमहाप्रभुजीकुं आपत्ति होवे. शबराचार्य कहे है के मद्यपानको प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होवे है. ठीक या ही तरहसुं जहांसुं अपनी भक्तिको कल्प शुरु हो रह्यो है वहांसुं अपन वाको निर्धार करेंगे. जहां लोकव्यवहार है वहां अपन ये पृथक्करण नहीं करेंगे. वाको प्रसिद्ध प्रसङ्ग श्रीगुसांईजीको है के आपने वैष्णवकुं पाग लेवे भेज्यो और रंगारी कुल्ला करके पाग रंग रह्यो हतो. ये देखके वैष्णव दौड़के पाछो आ गयो. श्रीगुसांईजीने आज्ञा करी के मैने तोकुं पाग लेने भेज्यो हतो, रंगारी पाग कैसे रंगे है वो देखने नहीं भेज्यो हतो. अपन पागपे कुल्ला क्या थूंक भी उड़ायेंगे तो भी वो छू जायेगी और रंगारी कुल्ला करे है तब भी पाग नहीं छू रही है. अपनो व्यवहार क्योंके वहांसुं शुरु नहीं हो रह्यो है. यासुं अपनकुं ये पृथक्करण निभाते आनो चहिये के भक्तिको व्यवहार कहांसुं शुरु हो रह्यो है. सिद्धान्तरहस्यमें कह्यो है के "**न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्**". अर्धभुक्त प्रभुकुं नहीं समर्पनो. पर समझो के किसानने या दुकानदारने बोरीमेंसुं दाल-चोखा खा लिये होवें या मालीने फूल सूंघ लिये होवें तो वामें अपन क्या कर सकें? वो लोकव्यवहार है. वो अपने ढंगसुं चलेगो. जहांसुं भक्तिको

व्यवहार शुरु होयगो वहांसुं भक्तिके मापदंड लागू होंगे. हर व्यवहारकी अपनी मर्यादा होवे है. वा मर्यादामें अपन व्यवहार करें तो अतिरेक नहीं होयगो, नहीं तो अतिरेक हो सके है.

जैसे प्राचीन समयमें लहिया पैसा लेके ग्रन्थनकी प्रतिलिपि करते हते. लोग ग्रन्थ उनसुं लिखवाते हते. अब समझो के कोईने भागवतकी प्रतिलिपि पैसा देके लहियासुं तैयार करवाई. भागवत वाकुं मुफतमें नहीं मिली है. क्या अपन वा लहियाकुं ये कहके गाली देंगे के "**वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि**". नालायक! भागवत बेचे है, शर्म नहीं आवे है! वाकुं बिचारेकुं भागवतसुं क्या लेना-देना! वाको तो काम लिखनो है. तुम वाकुं कुरान लिखनेको कहोगे तो वो कुरान लिख देगो. तो यहां भी अपनकुं पृथक्करण करनो पड़ेगो के अपनो भक्तिको व्यवहार जहांसुं शुरु हो रह्यो है वहांसुं अपनकुं गुण-दोषको विचार करनो है.

एक मूर्तिकारको इंटर्व्यु हतो वाकी बात सुना रह्यो हुं. वाने कही के जब हम बड़े कदकी मूर्ति बनावें तब हमकुं कभी वाके माथापे बैठनो पड़े तो कभी वाकी छातीपे भी बैठके हथौड़ा चलाने पड़े हैं. वाके कारण यदि तुमकुं अश्रद्धा होती होवे तो मूर्ति मत खरीदो. अपन कहेंके भगवानकी मूर्ति बना रहे हो तो बनाते बखत भी वाकी भगवत्ता निभाओ. तो मूर्ति ही नहीं बनेगी. मूर्तिकार जब हथौड़ी-छेंनी मूर्तिपे चला रह्यो है तो वो भगवानको अपमान नहीं कर रह्यो है, वो भगवानकुं नहीं मार रह्यो है. मूर्ति बनाते बखत भक्त और भगवान् नहीं है, कलाकार और कलाकृति है. व्यवहार भी यासुं तदनुरूप होवे है. मूर्तिकार भगवानकी मूर्ति बेचे तो वो भगवानकुं बेचनेवालो पापी-देवलक नहीं कहवायेगो. पर मूर्तिमें भगवानकी प्रतिष्ठा करके वाकुं बेचे है, वाकी सेवा-दर्शनकुं बेचे है वो निश्चित ही पापी-देवलक कहवायेगो.

ऐसे ये बात तीन कोणसुं चल रही है. एक तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द वाके आश्रयमें हैं के वासुं पृथक् हैं, ये दूसरो और तीसरो वाको गृहीता अपनो व्यवहार कहांसुं शुरु कर रह्यो है. जा पोंइटसुं व्यवहार शुरु करेगो वहांसुं वो मान्यो जायेगो. वासुं पहले वो व्यवहार मान्यो नहीं जायेगो. जहांसुं भक्तिव्यवहार शुरु हो रह्यो है

वहांसुं प्रिकोशन् लेनी चहिये. ये बात ख्यालमें रखनी चहिये.

गो. शरद् : आपकी बात ठीक है. अब इतनो विचारणीय रहे है के याकुं अपन कहां तक एक्स्टेंड् कर सके हैं.

गो. श्या. म. : जाहांसुं भक्तिको व्यवहार शुरु हो रह्यो है वहासुं, वाके पहले नहीं. वाके पहले अपन यहां तक मान सके हैं के कमलकी पैदाईश कीचड़ हो सके है. कीचड़में कमल भगवान्पे चढ़ाने लायक नहीं है पर जब कमलकुं कीचड़मेंसुं निकाल लियो पीछे वो भगवान्पे चढ़ायो जा सके है.

गो. शरद् : वा प्रश्नकुं बहोत पर्टिक्युलर् करके पूछ रह्यो हुं. सम्प्रदायके मासिकपत्रमें एड्वर्टाईज़ छपी हती के जिनकुं ठाकुरजीकुं भोग धरनेकेलिये पवित्रतासुं सिद्ध करी भई रेडिमेड् अन्नकूटकी अनप्रसादी सामग्री चहिये तो वाकुं वो डबल् कन्तानमें बांधके घर बैठे सप्लाय करी जायेगी. याकुं क्या समझनो?

गो. श्या. म. : सवाल ये है के भक्तिव्यवहार है के वाणिज्यव्यवहार है! वो ये खुलासा कर दे के ये वाणिज्यव्यवहार है ...

गो. शरद् : वो तो वाणिज्य ही कर रह्यो है.

गो. श्या. म. : वाणिज्य भले कर रह्यो है. पर वाको नाम वो क्या दे रह्यो है? और लेनेवालो वाकुं कौनसे व्यवहारसुं ले रह्यो है? जैसे देनेवालो पिता अपनी कन्या कोईकुं पत्नीके रूपमें दे रह्यो है. देनेवालो दलाल एक स्त्रीकुं वेश्याके रूपमें दे रह्यो है क्लायंट् समझके. सिच्युएशनमें क्या फर्क है सिवाय वाके के तीन पोंइट्पे रिलेशन् अलग-अलग बन रहे हैं. कन्या दोनों केसमें आ रही है. फर्क लेनेवालो, देनेवालो और दी जानेवाली चीज ये तीन पोंइट्कुं समझनेपे पड़ेगो. देनेवालो यदि पुत्रिके भावसुं नहीं दे रह्यो है, लेनेवालो यदि पत्नीके भावसुं नहीं ले रह्यो है तो वेश्यागामिताको व्यवहार कहलावेगो. देनेवालो पुत्रीके भावसुं दे रह्यो है, लेनेवालो पत्नीके भावसुं ले रह्यो है तो शुद्ध व्यवहार भयो. कोई पिता कन्यादान करतो होवे वाकुं अपन ऐसे तो नहीं कह सकेंगे के वो अपनी पुत्रीकी दलाली कर रह्यो है! ये तीन पोंइट्को व्यवहार है, उन तीनोंकुं चेक् किये बिना वाकी स्पष्टता नहीं हो सकेगी. इनमें यदि घोटाला हैं, जानके कन्फ्युज़न् खड़ो कियो जावे तब तो गड़बड़ी है. श्रीगुसांईजीने वा ही बखत खुलासा कर दियो के

रंगारी तो कुल्ला करके ही रंगेगो. वासुं अपनकुं मतलब नहीं रखनो. अपनो व्यवहार जहांसुं शुरु होवे वहांसुं अपनकुं प्रिकोशन् रखनो चहिये.

गो. शरद् : ये बात मैं समझ गयो. पर समस्या ये है के सब व्यवहारमें इतनो क्लीयर् कट् डिस्टिंक्शन् होवे नहीं है. भक्तिमार्गीय भी ऐसे व्यवहार है जैसे अपन कोईकी सर्विस् हायर् कर रहे हैं, कोईके पाससुं माल ले रहे हैं, सिद्धवस्तु ले रहे हैं, अपक्व भी ले रहे हैं. व्यवहार दोनों तरहसुं चल रहे हैं. मानोके एक पुष्टिमार्गी अपने घरमें सेवामें सहायताकेलिये मुखिया या भीतरिया कुं कर्मचारी तरीके रख रह्यो है. दूसरो पुष्टिमार्गी इतनो सम्पन्न नहीं है के वो परमेनेन्ट् बेज़्पे कर्मचारी रख सके. वो कर्मचारी रखनेके बजाय बजारमें कोई शुद्धतासुं सामग्री सिद्ध करके बेचतो होवे तो वो खरीदनो चाहेगो. जैसे व्रजमें दूधघरकी सिद्ध सामग्री बरसनसुं लोग खरीदके श्रीगिरिराजजी-श्रीयमुनाजी और ठाकुरजीकुं भी भोग धरें हैं. या तरहसुं कोई मिठाईवालेकुं लगे के या विस्तारमें पवित्रतासुं सिद्ध करी भई अनप्रसादी पुष्टिमार्गीय सामग्री सिद्ध करके बेचें तो वाके ग्राहक मिल जायेंगे और धंधा चलेगो ऐसे विचारसुं वो दुकान खोल रह्यो है और रेडिमेड् राजभोग, कुनबाराभोग, अन्नकूटभोग आदि सप्लाय करनेको धंधा शुरु कर रह्यो है. सेवाकर्ता अपन सब बजारसुं बहोतसी चीजें खरीदें ही हैं. सभी सेवाकर्ता अपने घरमें गाय तो बांधें नहीं हैं. दूध तो बजारसुं ही लेवें हैं. न अपन खुद खेती करके अनाज उगावें हैं. वो भी बजारसुं रेडिमेड् लेवें ही हैं. ऐसेमें अपनी आचारमर्यादाके अनुरूप कोई सखडी-अनसखडी सामग्री भी सिद्ध करके बेचतो होवे तो वो खरीदनेमें क्या आपत्ति है?

गो. श्या. म. : मैं समझुं हूं के जब अपन फूल रेडीमेड् खरीद रहे हैं, ठाकुरजीके शृंगार-वस्त्र रेडीमेड् ले रहे हैं तब सामग्री भी रेडीमेड् लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है. पर बेचनेवालो सामग्रीकुं मालकी तरह बेच रह्यो है, सेवा-भक्तिको दम्भ नहीं कर रह्यो है और खरीदनेवालो माल खरीदनेके रूपमें खरीद रह्यो है तो भक्तिके व्यवहारमें कोई बाध नहीं है. और जा क्षण वो ऐसे ललचावे के ये तो मैं सेवाभावसुं कर रह्यो हूं तो फिर घपला है. ये बात एकदम स्पष्ट होनी चहिये.

मैं अक्सर या बातको उदाहरण दउं हूं. अल्बर्ट मोरविया नामको एक इटालियन् वार्तालेखककी एक कहानी है. एक औरत वेश्यावृत्तिमें फंसी भई है. वाकुं एक बेटी है. वो औरत नहीं चाहे है के वाकी बेटी वाके जैसी घृणित वृत्तिमें फंसे. वो छुपके अपनो धंधा करती रहे है. बेटी जवान हो जावे है. एक दिन अचानक वाकुं पता चल जावे है के वाकी मां वेश्या है. जैसे ही वाकुं ये पता चले है सो ही वाके मनमें ऐसे विचार आवे हैं के वेश्यावृत्तिमें बुरो कुछ भी नहीं है. ऐसे सोचते-सोचते वो भी अपनी मांसुं छुपके वेश्यावृत्ति करने लगे है. वाके घरमें वाकी मांके जितने ग्राहक आते वो सब बेटीकुं कहते के तेरी मां तो हमारी मित्र है. ऐसे ही बेटीके ग्राहक आते वो वाकी मांसुं कहते के तेरी बेटी तो हमारी मित्र है. और घर आनेवाले सब लोग दोनोंकुं पैसा नहीं देते, पैसाकी जगह गिफ्ट देते जासुं के उनको दुराचार ढंक्यो रहे. एक दिन वाकी मां अपनी बेटीकी हकीकत जान जावे है और भयंकर आक्रंद करे है. मोकुं ये स्टोरी पढ़के अपन गोस्वामीनकी दशा याद आ जावे है. अपन भी अपने ठाकुरजी वैष्णवनकुं सप्लाय करते रहे हैं. सप्लाय करनेवाले ये बहाना आगे रखे हैं के ये सब तो हमारे आत्मीय हैं, परिकर है. और हवेलीमें आनेवाले भी यों कहते होवे हैं के हम तो सेवाभावसुं भेट-सामग्री धर रहे हैं!

रसिक शाह : प्रश्न तो फिर खड़ो ही है के वृत्तिकेलिये जो कथाकार भागवत बांच रह्यो है वो कथा सुन नहीं सकें तो क्या टी.वी. या सी.डी.पे सुन सकें?

गो. श्या. म. : मैं वो ही तो बता रह्यो हूं. इन तीन पोंइट्पे जांचलो न! गुण और गुणी जहां अलग हो गये वहां आश्रयसुं गुण-दोष आ रहे हैं. पोइंट् दो, आप वाकुं कौनसे भावसुं ग्रहण कर रहे हो.

रसिक शाह : ये बात तो स्पष्ट है के लोग तो सत्संग जानके ही ग्रहण कर रहे हैं.

गो. श्या. म. : तो बात स्पष्ट हो गई न! फिर तो अल्बर्टो मोराविआकी स्टोरी वाली बात हो गई!

गो. योगेश : फिर आप जो आश्रको भेद कर रहे हो वो भेद करनेकी जरूरत ही कहां रही!

गो. श्या. म. : सिंगल् पोंइट्पे नहीं है न! तीन पोंइट्पे बात है.

गो. योगेश : पर ये स्पेसिफिक् सी.डी.के प्रश्नमें तो यदि वो सत्संगके भावसुं कर रह्यो है तो बात पूरी हो गई...

गो. श्या. म. : आप कौनसे भावसुं कर रहे हो, वो गुण वा आश्रयमें है के नहीं. ये सिंगल् पोंइट्सुं निर्णय नहीं होयगो. तीन पोंइट्सुं होयगो. गुण गुणके आश्रयमें है के नहीं, गुण वाके आश्रयसुं पृथक् भयो तो आश्रयके दोषसुं वो छुट्टो पड़ गयो. वाकुं आप दूषित भावसुं एक्सेप्ट कर रहे हो के ...यदि आप दूषितभावसुं ले रहे हो तो फिर वो दोषग्रस्त हो गयो. आप यदि गुणकुं गुणके भावसुं ले रहे हो गुणाश्रयीके भावसुं नहीं ले रहे हो तो बात खतम हो गई. आप गुणकुं गुणाश्रयके भावसुं ले रहे हो तो फिर बात वहीं पहोंच गई. गुण-गुणीमें पर्थक्य हो गयो पर आप वाकुं पाछे वाही तरहसुं ले रहे हो.

रसिक शाह : "क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि" यामें कहां फिट हो रह्यो है? गुण और आश्रय ...

गो. श्या. म. : वहां तो "क्षेत्रप्रविष्टास्तेचापि संसारोत्पत्तिहेतवः" में गुण हरिके हैं. और वा क्षेत्रमें प्रविष्ट होनेके कारण वो संसारोत्पत्तिको हेतु हो रह्यो है. गुण हेतु बन रह्यो है के आश्रके कारण दोष आ रह्यो है?

रसिक शाह : आश्रयके कारण.

गो. श्या. म. : तो खतम हो गयी न बात!

रसिक शाह : आश्रयके कारण दोष तो वाणीसुं वैसे भाव प्रकट हो रहे है वाके कारण दोष आ रहे हैं....

गो. श्या. म. : जब आश्रयसुं गुण छुट्टे पड़ गये

रसिक शाह : वाणीमें भाव तो आवेंगे ही न!

गो. श्या. म. : वाहीको मैने उदाहरण दियो के जब आश्रयसुं गुण छुट्टो भयो तब वो आश्रयसोषसुं सम्पृक्त नहीं रह्यो.

रसिक शाह : वाणीमें जो भाव है वो भाव तो आयेंगे ही न!

गो. श्या. म. : वाणीमें भाव दो तरहसुं सम्भव हो सके हैं. वाणीमें एक अपने भावको विरोधी भाव. वो भाव यदि प्रकट हो रह्यो है तो वो गुण ही नहीं है, अवगुण है. यदि वो भाव प्रकट नहीं हो रह्यो है तो वो गुण है. और आश्रयमें है तो दूषित है और आश्रयसुं पृथक् भयो तो दूषित नहीं है. यासुं ही श्रीमहाप्रभुजी यहां तक आज्ञा करें हैं के शृंगारके

लौकिककाव्यनकुं यदि गानो है तो वामें 'कृष्ण'पदको विन्यास करके भक्तिभावसुं गाओ तो दोष नहीं है. बहोतसे पद अपने वहां ऐसे हैं.

रसिक शाह : आज व्यावसायिक कथाकार जो कर रहे हैं वाकुं अपन सिद्धान्तके अनुसार मना कर रहे हैं...

गो. श्या. म. : इन तीन पोंइट्पे चेक् करो. बात साफ हो जायेगी.

रसिक शाह : कथाकार जाहेर कथा नहीं करके वाकी सी.डी. बनाके बेचें तो क्या वो अपनकुं मान्य होयगो?

धर्मेन्द्रसिंह झाला : सी.डी.को कंटेंट् भी तो चेक होयगो!

गो. श्या. म. : कंटेंट् तो चेक् करनो पड़ेगो न!

रसिक शाह : कंटेंट् तो अच्छो होवे तब भी पैसा लेके कथा करे तो सुननेकी अपन मना कर रहे हैं. पर सी.डी. बनाके बेचेगो तो वाकुं मना कैसे करेंगे?

गो. श्या. म. : एक कसाईने गायकुं काटके वाकुं बेची, वो पैसा वाने शाक-भाजीवालेकुं दिये. वाके पाससुं आप शाक खरीद सको के नहीं?

रसिक शाह : शाकवालेमें बाधा नहीं है. पर यहां तो कथाकार खुद धंधा कर रह्यो है.

गो. श्या. म. : वो ही कह रह्यो हूं. आ गयो न शाकभाजीवालो!

रसिक शाह : ये तो धंधा करनेको रस्ता मिल गयो!

गो. श्या. म. : मिल गयो तो मिल गयो. वो कथा कर रह्यो है. वाकुं आप प्रोत्साहन देनो चाह रहे हो तो खरीदो, नहीं देनो चाह रहे हो तो मत खरीदो. जब वाके गुण वाके आश्रयसुं पृथक् हो गये फिर वो नहीं रहे.

धर्मेन्द्रसिंह झाला : आश्रयकुं आप जान रहे हो के आश्रय ऐसो है तब तो तुम्हारो मन आश्रयकुं ही पकड़ेगो न! आश्रय दूषित है और वाकुं आपने पकड़ लियो. ये बात तब है के जब आश्रय कौन है वो पता नहीं है.

गो. श्या. म. : और वहां अपनो व्यवहार कौनसो है वो भी तो चेक् करनो पड़ेगो न! अपनो व्यवहार भक्तिको है के लोकव्यवहार है? या तीन पोंइट्पे चेक् करोगे तब ही निर्णय होयगो. नहीं तो तो अन्त ही नहीं आयेगो. अपन शाकभाजी भी नहीं खरीद सकेंगे.

પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય ભક્તિસાધનામાં પ્રતિબંધક-વિક્ષેપ

નિકિતા-જગદીશ શેઠ

ઉપક્રમ :

વિક્ષેપ એટલે નિરંતર માનસિક વ્યગ્રતા, જેના કારણે ચિત્ત ભગવત્સેવામાં લાગતું નથી. વિક્ષેપ નીચે બતાવેલ પ્રકારોમાંથી ઉત્પન્ન થઈ શકે છે.

૧.પરિવારજનોથી,
૨.સ્વતઃકૃત,
૩.ભગવત્કૃત,
૪.ભક્તિના બીજભાવની પ્રારંભિક અવસ્થામાં,

વિક્ષેપ થવાની પ્રક્રિયા અને તેનું સ્વરૂપ :

૧.પરિવારજનોથી : પરિવારના સદસ્યો દ્વારા જબરદસ્તીથી કરાવવામાં આવતી સેવાથી વિક્ષેપ થાય છે. અહીં સેવાકર્તાની પોતાની ભગવત્સેવામાં રુચિ નથી હોતી અને બીજાનાં પ્રભાવથી સેવા કરે છે. ઘણીવાર પરિવારનાં સદસ્યનાં કટુવચનથી અને વધુ પડતા નેગ, ભોગ, રાગના આગ્રહથી, પણ વિક્ષેપ ઉત્પન્ન થાય છે.

૨.સ્વતઃકૃત : લૌકિક વિષયોમાં રાગદ્વેષની પ્રબલતાના કારણે ઇન્દ્રિયોની ભગવત્સેવામાં સહજ અરુચિ થાય છે. તેવા વખતે હઠપૂર્વક સેવા કરવાથી ચિત્તમાં વિક્ષેપ (ખીજ, અન્યમનસ્કતા, ઉદ્વેગ વગેરે) પ્રગટે છે. પોતાના બીજભાવ કે ભક્તિભાવથી અધિક બીજાના પ્રભાવમાં આવીને ભક્તિ કરવાનો પ્રયાસ કરવાથી પણ ચિત્તમાં વિક્ષેપ થાય છે.

૩.ભગવત્કૃત પ્રતિબંધ : ભગવત્કૃત પ્રતિબંધ ત્યારે આવે છે કે જ્યારે ભગવાન્ સર્વથા જીવ પર કૃપા કરવા માંગતા નથી. તે સમયે અન્યની સેવા પણ વ્યર્થ થઈ જાય છે. આસુરાવેશના કારણે ઇન્દ્રિયો ભગવત્સેવામાં સ્વતઃ પ્રવૃત્ત ન થવાથી હઠપૂર્વક તેમને ભગવત્સેવામાં લગાવવાથી વિક્ષેપ ઉત્પન્ન થાય છે.

૪.ભક્તિના બીજભાવની પ્રારંભિક અવસ્થામાં : જેમ નાનું બાળક જન્મે છે ત્યારે બહારના વાતાવરણને અનુકૂળ થવા ઘણા બધા વિક્ષેપોનો સામનો કરવો પડે છે. તેવી જ રીતે ભક્તિના બીજભાવની પ્રારંભિક અવસ્થામાં ભક્તિના વાતાવરણને અનુકૂળ થવામાં ઘણા બધા વિક્ષેપોનો સામનો કરવો પડે છે.

ગ્રન્થનો સંદર્ભ :

શ્રીઆચાર્યચરણ સર્વનિર્ણય નિબંધમાં આજ્ઞા કરે છે :

વિક્ષેપાદથવાશક્તયા પ્રતિબન્ધાદપિ ક્વચિદ્।।
અત્યાગ્રહપ્રવેશે વા પરપીડાદિ સમ્ભવે।।
તીર્થપર્યટનં શ્રેષ્ઠં સર્વેષાં વર્ણિનાં તથા।।૨૪૭।।

ગૃહસ્થોને પણ પૂજામાં પાંચ પ્રકારના દોષો સંભવે છે, વિક્ષેપ, આશક્તિ, પ્રતિબંધ, અત્યાગ્રહ અને પરપીડા.

અહીં પ્રકાશમાં આચાર્યચરણ કહે છે : **"સ્વતઃપ્રવૃત્તિરહિતાનિ ઇન્દ્રિયાણિ બલાદ્ ભગવતિ યોજ્યમાનાનિ વિક્ષેપં જનયન્તિ વિગ્રહકર્ષિતાનિ".** સ્વતઃપ્રવૃત્તિરહિત ઇન્દ્રિયોને જ્યારે જબરદસ્તીથી ભગવાનમાં લગાડવામાં આવે છે ત્યારે તેઓ વિક્ષેપ ઉત્પન્ન થાય છે.

વાર્તા સંદર્ભ :

૮૪ વૈષ્ણવોની વાર્તામાંથી શ્રીગોવિંદદૂબેજીની વાર્તાના પ્રસંગમાં આ વાત જોવા મળે છે. શ્રીગોવિંદદૂબે ઘરમાં સેવા કરતા હતા પરંતુ તેમના મનમાં વિક્ષેપ રહેતો હતો. એમનું ચિત્ત સેવામાં નહોતું લાગતું. ત્યારે એમણે પોતાના આ વિક્ષેપનો ઉલ્લેખ કરતો પત્ર શ્રીમહાપ્રભુજીને લખ્યો. એના પ્રત્યુત્તરમાં શ્રીમહાપ્રભુજીએ નવરત્ન ગ્રન્થ લખીને મોકલ્યો. એના પ્રથમ શ્લોકમાં **"ચિંતા કાપિ ન કાર્યા નિવેદિતાત્મભિઃ કદાપીતિ ભગવાનપિ પુષ્ટિસ્થો ન કરિષ્યતિ લૌકિકીં ચ ગતિમ્."** (નવરત્ન ૧) આ વાર્તામાં જો કે સ્પષ્ટ છે કે શ્રીગોવિંદદૂબેનો માનસિક વિક્ષેપ જો કે ભગવત્સમ્બન્ધી હતો કેમકે શ્રીગોવિંદદૂબે જીવતો દ્વારકાલીલા સમ્બન્ધી હતા પણ સેવાભાવના વ્રજની કરતા, છતાં પણ એ તથ્ય તો સ્પષ્ટ રીતે નીકળે જ છે કે કોઈપણ પ્રકારનો માનસિક વિક્ષેપ ચાહે તે લૌકિક હોય કે અલૌકિક સેવામાં તો બાધક થાય જ છે.

ગ્રન્થોક્ત નિરાકરણ :

અહીં વિક્ષેપના ઉપરોક્ત પહેલા બે પ્રકારો વર્ણવવામાં આવે છે એમાં સેવાફલમાં શ્રીમહાપ્રભુજી દ્વારા બતાવેલ સાધારણ અને ભગવત્કૃત પ્રતિબંધ પૈકી સાધારણ પ્રતિબંધનો બુદ્ધિપૂર્વક ત્યાગ કરવો જોઈએ અને ત્યારે ભગવત્સેવાનો ત્યાગ ના કરવો જોઈએ. શ્રીપ્રભુચરણે પોતાના આત્મજોને લખેલા એક પત્રમાં એવી એક લોકચતુરાઈનો ઉપદેશ આપ્યો છે, **"अन्यच्च यवनादयो ठाकुरद्वारे आगच्छन्ति यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यं यद्यपि हार्दं न भवति, बाह्यतोपि कार्यम्"** એટલે કે યવનો વગેરે પ્રભુદ્વારે આવે છે તો પહેલાંની જેમ વાર્તાલાપ, મિલન, પ્રસાદ વગેરે કાર્યો જો હૃદયપૂર્વક ન થાય, છતાંય બહારથી પણ કરવા. આવી લોકચતુરાઈનું પ્રયોજન ભગવત્સેવા જીવ નિર્વિઘ્ને કરી શકે તે જ હોવું જોઈએ નહીં કે આત્મસન્માન ખોઈને સરકારી અધિકારીઓની ખુશામત કરવી.

શ્રીમહાપ્રભુજી તેથી જ પુષ્ટિપ્રવાહ મર્યાદાભેદમાં આજ્ઞા કરે છે : **"लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा"** (૨૦). તદુપરાંત વિવેકધૈર્યાશ્રયમાં પણ આપશ્રી આજ્ઞા કરે છે : **"प्रतीकारो यदच्छातः सिद्धश्चेद् नाग्रही भवेत्, भार्यादिनां तथान्येषां असतश्चाकमं सहेत्"**. જો સહજતાથી પ્રતિકાર થતો હોય તો કરવો પરંતુ વધુ પડતુ આગ્રહી ના થવું. પત્ની વગેરે તથા અસત્ લોકોનો પણ અતિક્રમણ સહન કરવો. આપશ્રી સર્વનિર્ણય નિબંધમાં પણ કહે છે : **"स्वधर्माचरणं शक्तया विधर्मात् च निवर्तनम्, ईन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्"**(૨૩૮). સ્વધર્મનું શક્તિપૂર્વક આચરણ કરવું જોઈએ. વિધર્મથી દૂર રહેવું જોઈએ અને ઈન્દ્રિયરૂપી ઘોડાઓનો વિશેષરૂપથી નિગ્રહ કરવો જોઈએ. આ ત્રણેયનો ત્યાગ સર્વથા ન કરવો જોઈએ. અહીં પણ સ્વધર્મનું શક્તિપૂર્વક આચરણ કરવાનું કહ્યું છે. ઈન્દ્રિયોરૂપી ઘોડાપર ના બહુ જબરદસ્તીથી કે ના એને બહુ છોડી છઈને નિગ્રહ કરવો જોઈએ.

નિરોધલક્ષણ ગ્રન્થમાં આપશ્રી કહે છે : **"यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते, तदा विनिग्रहः तस्य कर्तव्यः ईति निश्चयः"**(૧૯). જે-જે ઈન્દ્રિયને ભગવત્કાર્ય સ્પષ્ટ જોવામાં નથી આવતું તે-તે ઈન્દ્રિયનો નિગ્રહ કરવાનો નિશ્ચય કરવો.

પૂ.પા.ગો.શ્રીશ્યામમનોહરજી નવરત્નમાં સમજાવે છે કે શ્રીમહાપ્રભુજીએ અતિ સુદૂર દૃષ્ટિ રાખી ૧.જીવની સરળતા, ૨.ભગવત્સુખ, ૩.શાસ્ત્રની સંગતિ અને ૪.દેશકાળની મર્યાદા આ ચાર વસ્તુઓને ધ્યાનમાં રાખી પ્રત્યેક ઉપદેશ આપ્યો છે. પરંતુ આની સમજ ન હોવાના કારણે ગડબડ થાય છે.

વિક્ષેપના ત્રીજા પ્રકારમાં, ભગવત્કૃત પ્રતિબંધમાં, શ્રીમહાપ્રભુજી સેવાફલ ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરે છે :

"अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिः न हि।।
यथा वा तत्वनिर्धारः विवेकः साधनं मतम्"।।३।।

भगवत्कृतश्चेद् प्रतिबंधः तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मंतव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था. तदा आसुरोऽयं जीवः ईति निर्धारः तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम् शोकाभावाय ईति 'विवेकः'.

ભગવાનની ફલદાનની ઈચ્છા જ્યારે ન હોય ત્યારે જીવની પાસે કોઈ ઉપાય રહી નથી જતો. તેથી "આ જન્મ મારો આસુરાવેશવાળો છે" એવો તત્વનિર્ધાર કરી લેવો. આ વિવેક જ ત્યાં શોક નિવારણનું સાધન છે.

વિક્ષેપના ચોથા પ્રકારમાં, બીજભાવની પ્રારંભિક અવસ્થામાં બીજભાવને ખીલાવવા માટેના અનેક ઉપદેશો શ્રીમહાપ્રભુજીએ એમના ગ્રન્થોમાં આપ્યા છે.

પંચશ્લોકી :

"अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।।४।।
करिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा।।
आत्मनिवेद्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः"।।५।।

પ્રભુના અનુકૂળ બનવાનો સંકલ્પ, પ્રભુના પ્રતિકૂલનો ત્યાગ, પ્રભુ બધું પોતાની ઈચ્છાથી કરશે એવો ભરોસો, સ્વામીના રૂપમાં પ્રભુનો સ્વીકાર, આત્મનિવેદન તથા દીનતા એમ શરણાગતિનાં છ પ્રકાર હોય છે.

ષોડશગ્રન્થોક્ત નવરત્ન, અંતઃકરણપ્રબોધ, વિવેકધૈર્યાશ્રય અને

શ્રીકૃષ્ણાશ્રયમાં પણ શ્રીમહાપ્રભુજી પુષ્ટિજીવને ભક્તિમાં આવતા અવરોધોને દૂર કરવાના ઉપદેશો આપે છે.

चर्चा

पुष्टिभक्तिमार्गीय भक्तिसाधनामां प्रतिबंधक-विक्षेप

श्रीमती निकिता-जगदीश शेठ

अनिल भाटीया : विक्षेपके चार प्रकार ग्रन्थके सन्दर्भमें हैं या जनरल् कैटेगरिमें हैं?

जगदीश शेठ : सर्वनिर्णयमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के गृहस्थाश्रमीकुं विक्षेप आ सके है. यासुं ऐसे सोच्यो के गृहस्थ अपने परिवारके साथमें होयगो तो उनके द्वारा भी विक्षेप हो सके है और खुदके भीतर लौकिक आवेश है वाके द्वारा भी विक्षेप हो सके है. ये सोचके ये चार प्रकार समझाये हैं.

अनिल भाटीया : ऐसो लगे है के परिवारजनके कारण विक्षेप होवे है तो श्रीमहाप्रभुजीने जो "पूजा त्यक्तव्या" कह्यो है वामें मुख्य सेवाकर्ताको कह रहे हैं. और यहां परिवारजन मुख्य कर्ता हो रहे हैं. और उनके कारण वो विक्षेप हो रह्यो है.

जगदीश शेठ : जैसे कोईसुं जबरदस्ती सेवा करवा रहे हैं तो उनके मनमें तो विक्षेप होयगो ही. ऐसे समझो के कोई सेवाको पूरो क्रम पहोंच नहीं पावे फिर भी जबरन् वासुं सेवा करवावे तो वाकुं विक्षेप होनो स्वाभाविक है.

अनिल भाटीया : तो सेवा परिवारजनकुं छोड़नी चहिये के सेवाकर्ताकुं!

गो. श्या. म. : मोकुं लगे है के जगदीशकी बातमें कुछ सचाई है. अत्याग्रह वालो परिवार और परिवारको सदस्य परपीडाको केस है यों रिवर्स् लो. आखो परिवार अत्याग्रही है के कोई तरहसुं सेवा करो. फिर नयी बहू होवे या बेटा होवे. वा स्थितिमें परिवारके द्वारा विक्षेप मान्यो जा सके है. कोई अपने कन्विक्शन्सुं भी सेवा करतो होवे और वाको मन नहीं लगतो होवे तो भी विक्षेप हो सके है. वा अर्थमें बात ठीक है. मोकु अपने बचपनकी बात याद आ गयी. छोटो हतो तब मोसुं सवेरे जल्दी जग्यो नहीं जातो हतो. बड़े लोग कभी ठाकुरजीकुं जगानेकी आज्ञा करते तो मैं जगाने तो जल्दी उठके जातो पर मोकुं

रोनो आतो. क्योंके मोसुं जल्दी जग्यो नहीं जातो हतो. ऐसी बात नहीं हती के मोकु श्रद्धा नहीं हती, सेवामें रुचि नहीं हती. असामर्थ्यवश ऐसो होतो हतो. तो जब सामर्थ्य नहीं होवे और जबरदस्ती सेवा करायी जावे तो विक्षेप होवे है.

प्रतिबंधः अविवेक

देवेन्द्र शाह

उपक्रम :

આપણે પહેલાં પ્રતિબંધ વિશે અને ત્યારબાદ પ્રતિબંધ રૂપ બહુરૂપીના અનેક રૂપમાંનું એક રૂપ અવિવેક વિશે વિચારીશું.

प्रतिबंधो सामे श्रीआचार्यजीनो रोल :

શ્રીઆચાર્યજીના પ્રાકટ્યનો ઉદ્દેશ જ દૈવીજીવોને ભગવત્ પ્રાપ્તિમાં આવતી અડચણોથી મુક્ત કરાવવાનો હતો. જીવ દૈવી હોવાના કારણે તેની સ્વાભાવિક ગતિ તો પ્રભુ પ્રતિ જ હોવાની પણ તે અવિદ્યારૂપ પ્રતિબંધથી સહસ્ર પરિવત્સરથી ભટકી ગયો છે. દિશાભાન રહ્યું નથી જેથી તેને ભગવત્ સંમુખ કરાવવાનો આપનો ઉદ્દેશ હતો. અંદરથી થતાં પ્રતિબંધો આપે શરણદીક્ષા તથા સમર્પણદીક્ષા કરાવીને સ્વસ્વરૂપ તથા ભગવતસ્વરૂપનું જ્ઞાન કરાવીને, ભગવત્ સેવા-કથામાં જીવને જોડી છઈને દૂર કર્યા. તથા બહારથી થતું આક્રમણ આપે માયાવાદનું ખંડન કરી તથા ભાગવતાદિ ગ્રન્થોને યથાર્થરૂપે રજૂ કરીને દૂર કર્યા. આમ જીવની ગતિ તો પ્રભુ પ્રતિ હતી પણ તેની સામે બંધ-અવરોધ આવ્યા તેને આપે ભગવદુપદેશથી દૂર કર્યા.

આમ શ્રીઆચાર્યજીના પ્રાકટ્યનો ઉદ્દેશ જ પ્રતિબંધ સામે પ્રતિબંધ થવાનો હતો. એટલે કે ૧.દૈવી જીવોની અવિદ્યા દૂર કરવાના ઉપાય કરવાનું ૨.માયાવાદરૂપ મદોન્મત્ત હાથીને નાથવાનું ૩.શ્રીમદ્ભાગવતનો યથાર્થ પ્રગટ કરવાનું.

ભગવાનનો વિવેક/અવિવેક :

આ માટે આપે પુષ્ટિ-ભક્તિમાર્ગનું પ્રાકટ્ય કર્યું કે "જ્યાં ભગવદનુગ્રહ જ નિયામક છે" તેવી દૃઢ સમજ જ આ પ્રતિબંધોને હટાવવામાં રામબાણ બને છે. આ માર્ગમાં ભગવાન્ જ મુરારી બનીને જીવના પંચક્લેશોને હટાવી ખુદ ભક્તની સેવા સ્વીકારે છે. આ માર્ગમાં આ પણ ભગવાનનો વિવેક છે. (ક્રમશઃ)

દૈવી મર્યાદાજીવો માટે ભગવાન્ પ્રતિબંધો હટાવવામાં વિવેક

(શાસ્ત્રમર્યાદા) વાપરે છે તેમના દુઃખો દૂર કરી શાંતા આપે છે માત્ર. જ્યારે દૈવી પુષ્ટિજીવો માટે ભગવાન્ વિવેક (શાસ્ત્ર મર્યાદા) બાજુમાં મૂકી અસીમ કૃપા કરે છે. અને ક્યારેક તો ભૂલી ભક્તાધીન બની જાય છે. ક્યારેક ડરે છે, ક્યારેક નાચે છે, ક્યારેક વિવશ થઈ જાય છે તો ક્યારેક અધીર. ભક્તને સુખ આપતાં-આપતાં પોતે ભક્તના સુખદાનથી, આનન્દરૂપ-આનન્દમય પ્રભુ આનન્દ પામવા લાગી જાય છે. આ તે પરબ્રહ્મ તેવા પ્રભુનો કેવો અવિવેક?

પ્રતિબંધોના ઉપાયોમાં વિવેક :

તત્ત્વવિચારથી પુષ્ટિમાર્ગમાં પ્રતિબંધોને પણ ભગવાનની જ કૃતિ માની છે તેથી તેના નાશની વાત નથી વિચારી અહીં મેલા જલને ફેંકી દેવાનું નથી પણ તેમાંથી માત્ર મેલને દૂર કરવાનો છે. તે જલને પ્રભુને લાયક બનાવવાનું છે અને પછી સ્વીકારવાનું છે.

પ્રતિબંધો તો રાક્ષસ જેવા છે. જેમ મારતા જાઓ તેમ નવા-નવા જન્મે. અથવા કહો કે સ્પ્રીંગ જેવા છે. દબાવો તેનાથી બમણા વેગથી ઉછળે. જેથી તેના ઉપાયો કરવામાં વિવેક વાપરવાનો છે. આ પ્રતિબંધનું જન્મસ્થાન મન છે. અને તેના બાળપણનું લાડકું નામ દુઃસંગ છે. આ નાનકું બાળક આગળ જતાં મોટું થઈને વિકરાળ અહંકારનું રૂપ ધારણ કરે છે. સર્વનાશ કરે છે પોતાનો જ તે જુવાન વિકરાળ અહંકાર (અહંતા)ની ગોદમાં એક મમતા છે. તે મમતાના હાથ બહુ લાંબા છે. તે બધું જ પોતાનું કરી લેવા મથે છે. આવું છે આ યુગલ-સ્વરૂપ પરન્તુ તેમનાથી સર્વનાશ કેવી રીતે? પેલી કથામાં છે તેમ કે "જે માણસ સૂરજ આથમતાં સુધી જેટલું દોડે તેટલી ભૂમિ તેની" અને લોભના કારણે શક્તિબહારનું દોડીને સાંજે સૂરજ ઢળવા સાથે પોતે પણ ઢળી પડે છે. વિષયતાના કારણે વિષયને ભોગવનાર ન રહ્યો. માટે જ ભગવાન્ શ્રીમદ્ ભગવદ્ગીતામાં આજ્ઞા કરે છે કે

संगात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते
क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः बुद्धिनाशात् प्रणश्यति

પ્રતિબંધોના ઉપાય :

માટે તો શ્રીહરિરાયજી શીક્ષાપત્રમાં વારંવાર દુઃસંગ તથા સત્સંગની

વાતો માંડ્યા કરે છે. રાક્ષસી સ્વભાવને સુધારી દેવસ્વભાવ બનાવવાની વાત કરે છે. બાળપણથી જ પ્રહ્લાદજીની જેમ આ પ્રતિબંધને સોહામણા રૂપ-રંગ છે. મધુરી સુગંધ છે. સુંવાળો સ્પર્શ છે, મનગમતો સ્વાદ છે. આ બધું માણી શકાય છે. પણ તેમાં નથી તો તે શુદ્ધ-સ્નેહ. માટે તો તે પ્રતિબંધ છે. હવે જ્યારે જો તેમાં સ્નેહ ઉમેરી દેવાય તો પ્રતિબંધની દિશા સંસાર તરફથી ભગવાન્ તરફ થઈ જશે.

આ પ્રતિબંધ ઉચ્છ્વાસ છે તેને શ્વાસ બનાવવાનો છે. જે જીવન લેનાર છે તેને જીવન દેનાર બનાવવાનો છે, કોઈ તાદશીના સહારે. **"निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै जनैः".**

જીવની પહોંચ બહારના પ્રતિબંધ :

સ્વસાધના ઉપરના આશ્રય તે જ અહંકાર હોવાથી પ્રતિબંધ છે કેમકે તે પ્રભુના જ સર્વસામર્થ્ય-સર્વ કર્તૃત્વપણામાં અવિશ્વાસ જગાવે છે.

કાલ-કર્મ-સ્વભાવ તો ભગવાનના પાર્ષદ છે. જ્યાં તેઓ પ્રતિબંધક થાય ત્યાં તો જીવે ભગવાનની શરણાગતિ સ્વીકારવી રહી. કેમકે ભગવત્ કૃતનો શું ઉપાય? પરન્તુ ભગવત્ શરણાગતિથી પ્રભુ તેને પણ અનુકૂળ બનાવી દે! કેમકે શરણાગતને ભક્તિમાર્ગમાં ચલાવવો છે.

જેમકે વાર્તા સાહિત્યમાં અષ્ટપદી ડોશીમાં કાળના પ્રતિબંધને ઓળંગી ગયા. રામાનન્દ પંડિત વૈષ્ણવ-ભક્તોના વાચિક દોષરૂપ કર્મ-પ્રતિબંધને ઓળંગી ગયા. તેમજ પેલા બ્રાહ્મણને સ્વપ્નમાં શુળીએ ચઢાવીને કર્મ-પ્રતિબંધને ફુદાવી દીધો. દામોદરદાસ સંભલવાલાની સ્ત્રીને અન્યાશ્રય દોષ છતાં દીનતાના કારણે બચાવી લીધી.

સામાન્ય ઉપાય-અન્તઃકરણ શુદ્ધિ :

પ્રભુની અપરસ તો બહુ પાકી છે. આપ અતી શુદ્ધિના આગ્રહી છે. જીવને દોષોથી મુક્ત કરી, શુદ્ધ અન્તઃકરણવાળા બનાવીને જ સ્વીકારે છે. શુદ્ધ સ્નેહ + અન્તઃકરણશુદ્ધિ + પ્રભુ સમ્બન્ધી માહાત્મ્યજ્ઞાન ત્રણે જોઈએ. આવી છે આપની પાકડી મરજાદ.

વ્રજભક્તોના અભ્યાસો દૂર કર્યા પછી જ મહારાસને લાયક બનાવ્યા. લઘુરાસ પછીના સૂક્ષ્મદોષને પણ ન ચલાવી લીધો. તેની શુદ્ધિ તાપ ક્લેશથી કરાવી. પછી જ પોતે પરમાનન્દ આપ્યો. આવો વિવેક (આગ્રહ) છે પ્રભુની અપરસનો.

જે ગોપીજનોએ છેલ્લે કર્યું તે શ્રીઆચાર્યજી; એટલામાટે જ પહેલું કરાવે છે, પોતાના સેવકોને સહસ્ર પરિવત્સરથી છૂટા પડ્યાનો તાપ-ક્લેશ, દીનતાભાવ, શરણાગતિ સાથેની સેવા-કથાનું અહર્નિશ ચાલતું ચક્ર.

જેનામાં વિરુદ્ધ ધર્માશ્રયપણું સમાન ભાવે બિરાજે તે પરબ્રહ્મ અને તે પુરુષોત્તમ તેને પ્રતિબંધો બાધા ન કરે. પણ તે પ્રતિબંધોને બાધા કરે માટે જ બાકી બધાંએ તો પ્રતિબંધોના ઉપાયો કરવા જ રહ્યા, શ્રીવલ્લભ ચાતર્યા માર્ગે. આ જીવમાટેનો વિવેક (સાચી સમજ)

પુષ્ટિમાર્ગીય ઉપાય સ્નેહાત્મક ભક્તિ દીનાનાથની :

આપણા માર્ગમાં દુશ્મન સિંહ નથી પરન્તુ તેનામાં રહેલો હિંસાભાવ છે જે પ્રતિબંધ છે. આ સમજ તે વિવેક આપણે ત્યાં તો જે ભક્તિવિરોધી તે પ્રતિબંધ અને આ ભક્તિવિરોધી પ્રતિબંધને દૂર કરવાનો ઉપાય નિષ્કામ-સ્નેહ. દુર્ભાવ નિષ્કામ સ્નેહથી ભાવમાં પરિણમે.

ગુલામ એન્દ્રુઝે હિંસક સિંહના પગમાં ખૂંપેલો કાંટો કાઢી નાખ્યો. તેને પોતાના સ્નેહથી સિંહમાં ખૂંપેલો હિંસાભાવરૂપ કાંટો કાઢી નાખ્યો. આપણા માર્ગમાં કૃષ્ણ સાથેનો પ્રેમ એવો છે કે કૃષ્ણની સાથે બંધ થાય તો તે પણ કબૂલ કૃષ્ણના સુખ ખાતર બંધ થાય તો પણ કબૂલ પણ કૃષ્ણ વગરનો મોક્ષ કે કૃષ્ણ ને સહેજ પણ અસુખ થાય અને મોક્ષ મળે તો તેવો મોક્ષ પણ નકામો.

ભૂતકાળનો પ્રતિબંધ તે વર્તમાનનો ઉપાય :

ઈતિહાસ શામાટે ભણવો? જ્ઞાનમાટે? ના.. પુષ્ટિમાર્ગી સમજે છે કે જેમણે ભૂલો કરી છે ભૂતકાળમાં તેવી ભૂલો આપણે ભવિષ્યમાં ન કરી બેસીએ તે માટે ઈતિહાસ ભણવાનો છે. આ પ્રકારની સમજ તે પુષ્ટિમાર્ગીય વિવેક અને માટે જ તો આપણે ત્યાંની ૮૪।૨૫૨ ભગવદીયોની વાર્તા તે પરિપ્રેક્ષ્યમાં

વાંચવામાટે પ્રગટ થઈ છે. નહિ કે તે પરમકૃપાપાત્ર નિર્ગુણ ભગવદીયોના દોષ દર્શન કરવામાટે!

વિજ્ઞાનથી ઉપાય :

નચિકેતાની સમજથી પ્રેય તે પ્રતિબંધ આપણા માર્ગની સમજ પ્રમાણે સંસાર પ્રતિની અહંતા-મમતા તે પ્રતિબંધ આ પ્રતિબંધના એક છેડે સંસાર છે અને બીજા છેડે ભગવાન્ ભગવાનથી જે વિરુદ્ધ દિશામાં લઈ જાય તે પ્રતિબંધ વિષયાનન્દથી વિરુદ્ધ ભજનાનન્દ જે પૃથ્વી (સંસાર)ના ગુરુત્વાકર્ષણથી બહાર નિકળવા ભગવદ્ ભક્તિરૂપ (રોકેટ) પર સવાર થાય અને અકલ્પ્ય ગતિનો આનન્દ માણે તે ભજનાનન્દ. અહંતા-મમતાને ભગવાનમાં જોડે તો વિવેક અને સંસાર સાથે જોડે તો અવિવેક કઈ દિશા પકડવી છે? Right step to the right direction કે....?

ભાષાશાસ્ત્રથી ઉપાય :

કોઈ પણ વાક્યમાં વિરામાદિ ચિન્હોનું કોઈક સ્થાન છે. જ્યારે જીવના પ્રતિબંધો વિરામ લેવા લાગે ત્યારે જીવમાં રહેલો ભક્તિભાવ અલ્પવિરામથી, અર્ધવિરામે પહોંચે અને જ્યારે પ્રતિબંધ છૂટી જાય ત્યારે જીવનો ભક્તિભાવ ઉદ્ગાર ચિન્હે પહોંચી જાય અને તે જ ભજનાનન્દ અને જો સકામતા માર્ગે વળીને ભટકી ગયા તો કયારેક પ્રશ્નાર્થ ચિન્હ અને ભૂલેચૂકે ભક્તિને સાધન અને જ્ઞાનને ફળ માની બેઠા તો પછી પૂર્ણવિરામ (સાયુજ્ય અક્ષરમાં) માટે ક્યાં પહોંચવું છે તે હંમેશા નજર સમક્ષ જરૂરી છે. ઉદ્ગાર ચિન્હ તે વિવેક અને પ્રશ્નાર્થ કે પૂર્ણવિરામ તે અવિવેક.

મનોવિજ્ઞાન :

શ્રીઆચાર્યજીનો ઉપદેશ પ્રતિબંધો દૂર કરવાનો ઉપાય. તનુ-વિત્ત પ્રકારે ભગવદ્સેવા કરતાં મનના પ્રતિબંધો દૂર થાય અને મન માત્ર નિરોગી જ નહિ પણ સ્વસ્થ થાય. માત્ર અભય પ્રાપ્તિ નહિ પણ આનન્દ પ્રાપ્તિ. આ જ ફલરૂપા માનસી કે જ્યાં ચંચળ મન, ચંચળ તેવા પ્રભુમાં ચોંટી જાય છે. બન્નેની સમાન દશા, સમાન ગતિ હોવાથી સ્થિરતા ભાસે છે. એક દિશામાં દોડતી સમાનગતિની ટ્રેનની જેમ એકબીજા સાથેની ફીલિંગ્સ મેચ થઈ જાય છે. આ માનવૈજ્ઞાનિક વિવેક સેવા.

નીતિશાસ્ત્ર :

પરન્તુ આ પ્રતિબંધો બહુરૂપીને ઓળખવા બહુ દુર્લભ છે. માટે તો શ્રીઆચાર્યજીએ કર્તવ્યબોધ એટલે કે પ્રતિબંધોની સામે પણ ગતિ કરી શકવાની શક્તિ પ્રાપ્ત કરવાની ઝગાત (ઉપાયો) આપે છે. ષોડશાદિ ગ્રન્થોમાં.

સર્વોત્તમ સ્તોત્ર :

પોતાના સેવકોના આવા પ્રતિબંધોને દૂર કરવામાટે તે શ્રીપ્રભુચરણે સર્વોત્તમસ્તોત્રની રચના કરી આજ્ઞા કરી છે. **"विनियोगो भक्तियोगः प्रतिबंध विनाशने"** અહીં જે શ્રીવલ્લભના નામોમાં શ્રીવલ્લની કૃપા છે સધિયારો છે,. સામર્થ્ય છે, વિધિ ઉપદેશ છે, તેમ નિષેધ ઉપદેશ છે, પોતાનું આદર્શ જીવન છે, ચરિત્ર છે. આમ અનેકાનેક પ્રકારે પ્રતિબંધો દૂર કરનારા ઉપાયો છે. જરૂર છે આપણી વિવેક દૃષ્ટિની લૌકિક કામના માટે ૩૫ પાઠ કરવા તે અવિવેક અને શ્રીપ્રભુચરણે આ ગ્રન્થરચનાનો ઉદ્દેશ્ય જે ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરી છે તેને સમજીને પાઠ કરવો તે વિવેક.

ષોડશગ્રન્થોથી યાત્રા સંસારાસક્તની સંસારારિ પ્રતિ :

(યમુનાષ્ટકમાં) પ્રવાહી સ્વભાવના દૈવીજીવમાં રહેલા દોષોની સામે, દૈવીજીવો પ્રતિના પૂર્વગ્રહના કારણે કૃષ્ણતુર્યની ચક્રવણીથી કૃષ્ણ મુરારીરૂપ ધારણ કરીને યુદ્ધે ચડે છે. જીવોના દોષોને દૂર કરીને પછી મુકુન્દરૂપ ધારણ કરે છે. (બાલબોધ) એટલું જ નહિ જીવને બે ઘોડાની બગીગાડીમાં બેસાડે છે. જેમાં એક ઘોડો વર્ણાશ્રમધર્મ અને બીજો ભગવદ્ ભક્તિનો છે. બન્ને સ્વધર્મ છે (કોના? ભક્તના) પણ જો રસ્તામાં તેને વર્ણાશ્રમધર્મમાં અશ્રદ્ધા અને ભક્તિમાં અરુચિરૂપ પ્રતિબંધો ભેટી જાય અને તે વિવેક ભૂલી જાય તો બન્ને ઘોડા તેને પછાડીને ભાગી જશે. પછી તો તે પોતે સવાર (રથી) મટીને સંસાર-રથ ખેંચનારો બે ઘોડાનો ભાર જાતે જ વેંઢારશે મોઢે ફીણ આવી જાય તો પણ!

આ પ્રવાસીને સર્વ સિદ્ધાન્ત સમજાવી સ્વસિદ્ધાન્ત (વિવેક) તદાશ્રય-તદીયતાથી અવગત કરી, પ્રતિબંધોથી મુક્ત કરી શ્રીવલ્લભ તેને જાનવરમાંથી મનુષ્ય સેવક બનાવે છે. તનુ-વિત્તજાનો ઉપદેશ આપીને (સિ.મુ). કોઈક વિપરીત સંજોગોમાં તનુ-વિત્તજા સેવા ન બની શકે તો તદીયનો સંગ પરચારજી તથા સત્સંગ માટે કરવાનો ઉપાય પણ બતાવે છે. તથા જ્ઞાનવાદથી

પરિચિત પણ કરાવે છે શાસ્ત્રોદ્વારા. છતાં જ્ઞાનવાદમાં અશ્રદ્ધા, લોકાર્થીતા (યશ-સમ્પત્તિ) અજ્ઞાન, ભક્તિનો અભાવ, પાખંડીપણું અને દુષ્ટતા તથા જેવા પ્રતિબંધોથી છોડાવે છે અને તત્ તત્ વિવેક ભણાવે છે. છતાં પણ આ પ્રવાસી જીવ સ્વભાવથી દુષ્ટ હોવાના કારણે કોઈક નબળી પળે સંસારમાં આસક્ત થઈ જાય છે(પ્ર.પ્ર.મ). કેમકે Wood are lovely dark and deep ત્યારે સિંહના બચ્ચા (દૈવી અંશજીવ)ને એમ જ થાય છે કે હું તો શિયાળ (પ્રવાહી) બચ્ચુ છું ત્યારે તેનું શિયાળપણાનું મિથ્યાભિમાન છોડાવવા પ્રભુ એક લાકડી ફટકારે છે ત્યારે તે ભાગી જવાને બદલે ત્રાડ નાખે છે. આમ તેને દૈવીપણાનું સ્વરૂપ જ્ઞાન કરાવી કહે છે. Now you have promies to keep and mile to go before you sleep and mile to go befor you ... આમ તેને બ્રહ્મસમ્બન્ધની યાદ કરાવી ભક્તિયાત્રાના પવિત્રપથ ઉપર ચડાવી દે છે કે જ્યાં આંખો મિચીને દોડવામાં આવે તો પણ ઠેસ વાગતી નથી કેમકે તે અસમર્પિત ત્યાગ પૂર્વક ભગવદ્સેવાનું વચન પાળી રહ્યો છે, કર્તવ્યપૂર્વક નહિ પણ પ્રેમપૂર્વક નિરપેક્ષભાવે (સિ.૨).

આ પ્રમાણે સમર્પિત જીવન જીવતાં તેને અનેક માનસિક અડચણો (પ્રતિબંધ) પોતાની અસમજ કે ગેરસમજના કારણે આવતી હોય તેમ લાગે છે (નવરત્ન) જેથી મુકામની સભાનતાવાળા આ પ્રવાસીને કંઈક અજૂગતું તો નથી કરી રહ્યો? તેવી ચિંતા થાય છે. આ ચિંતારૂપ પ્રતિબંધને પણ શ્રીઆચાર્યજી સાયકોટ્રીક ટ્રીટમેન્ટ આપીને દૂર કરે છે.

આ જીવમાં આવેલા અહંકારના ઉભરાને સમાવવા પ્રભુ ક્યારેક તેના પ્રતિ શિતલતા ભાવ રાખે ત્યારે આ જીવ ડીપ્રેસ થઈ જાય છે. ત્યારે શ્રીવલ્લભ સ્વામીની કૃપાળુતા અને જીવના દાસપણાનો બોધ કરી અહંકાર પ્રતિબંધને મારી હઠાવે છે. (અં.પ્ર)

પણ જીવ પોતાની દુર્બળતાના કારણે સ્વામીના અભિપ્રાયને સમજી શકતો નથી અને સંશય કરી બેસે અભિમાન કરી બેસે, હઠ કરે, દુરાગ્રહ, ધર્માધર્મની જ્ઞાન-ભાન કરી બેસે ત્યારે સ્વામી તેનાથી રઠી ન જાય માટે કેવો વિવેક જાળવવો કેવું ધૈર્ય રાખવું તે શ્રીવલ્લભ સમજાવે છે. અને કહે છે તું જેના આશરે છે તે તો ત્રિભુવનનાથ છે છતાં તારા નામમાત્રના સ્નેહથી રીઝી જાય તેવા

મૂઢ બાળક જેવા પણ છે. (વિ.ધૈ.આ) વળી આ દાસભાવને વિશેષ દૃઢ કરવામાટે આશ્રય કરવા લાયક જે કોઈ છે તે સર્વના આશ્રયદાતા મૂળ કારણ આ સદાનન્દ કૃષ્ણ જ છે. વળી તેમ પણ કહે છે કે ધર્મનું અનુસાસન બહુ જ ક્ષીણ થવાના કારણે કળીકાળમાં અન્યાશ્રયરૂપ ડાકુઓ, લુંટારુઓથી બચવા આ જ માત્ર આધારરૂપ છે. (કૃષ્ણાશ્રય)

માટે જ જીવનના આદિથી અંત સુધીની સર્વપ્રવૃત્તિમાં કેન્દ્રમાં કૃષ્ણ નહિ રાખીશ તો, ગાંઠમાં પારસમણી હોવા છતાં ભિખારી જીવન ગાળીશ તેમ શ્રીવલ્લભ કહે છે. (ચતુઃ) જીવનમાં અધિકાર ભલે પ્રભુદત્ત છે પણ ભક્તિ તો સેવકે કરવાની છે. કૃષ્ણની નજીક જવું છે, ગન્તવ્ય સુધી પહોંચવા માટે પ્રેમની પ્રચૂરતામાટે જીવ જેમ તલપાપડ થશે તેમ પ્રભુ પણ અઢળક કૃપા કરશે જ. પછી તો ખુદ કૃષ્ણ પણ તને તેમનાથી વિમુખ નહિ કરી શકે. (ભ.વ)

પણ ધ્યાન રાખજે, કૃષ્ણની કથા કહેનારા તો અનેક મળશે પણ તેમની નિષ્ઠા કૃષ્ણમાં શુદ્ધ સ્વરૂપમાં છે? કે પછી લાભ-પૂજામાં? કૃષ્ણકથામાટે જ્યાં-ત્યાં દોડતાં પહેલાં વિચારજે અને એ પણ વિચાર કે તારો કૃષ્ણકથા સાંભળવા પાછળનો આશય નિર્મળ સ્નેહ માત્ર છે કે પછી તે દૂધ-દહિં? (જ.ભે. પં. પ.)

ઘર બહાર નીકળી જતાં દશવાર વિચારજે કે શા માટે નીકળ્યો? કૃષ્ણને શોધવા? કેમકે બહાર તો બે રાક્ષસ દુષિત અન્ન અને દુઃસંગ મો ફાડીને ઉભા છે અને તારી અંદર રહેલો વિષય-વાસના વાઘ પણ પાછો પેલા બે સાથ આપશે તે માટે ભક્તિ દૃઢતા રૂપ કવચ પહેરી તથા નેત્ર-કંઠ, ભાલે કૃષ્ણ પધરાવીને નીકળજે પછી તો તારી સાથે વાત કરનાર કૃષ્ણ હોવાથી રસ્તો ક્યાં કપાય છે તે પણ ખબર નહિ પડે અને પેલા પ્રતિબંધો તો સો ગજ દૂર રહેશે. (સં.નિ.)

પછી તો તારી બધી ઈન્દ્રિયો સ્વાર્થવિષયથી વિમુખાર્થ કૃષ્ણને જ વિષય તરીકે પસંદ કરશે. આથી રૂડું વળી બીજું ક્યું ફળ? (નિ.લ.)

પણ જો જે આટલું છતાં પણ સાવધાન તો રહેજે જ ઉદ્વેગ ભોગરૂપ વાંચકોથી છેટો ચાલજે. કેમકે આ બન્ને જયશ્રીકૃષ્ણ કહેતાં-કહેતાં એક અંદરથી

અને બીજો બહારથી તને ઘેરી લઈને મારશે. (સે. ફ.)

માટે કૃષ્ણ સુધી તથા કૃષ્ણ માટે તથા કૃષ્ણ થકીની આ ભક્તિફેરીમાં ક્યાંય આ પ્રતિબંધો તારી અપરસ ન છૂટાવી દે. માટે જાગતો રહેજે આ વિવેક જાળવજે.

જેઓ આ યાત્રામાં સફળ રહ્યા/ પુષ્ટિમાર્ગે જીવ્યા :

તેવા ૮૪ ભગવદીયોના જીવનયાત્રા ઉપર દૃષ્ટિપાત કરીએ કેમકે ઉપર જે સિદ્ધાન્ત કહ્યા તેમને જીવી જનારાઓની આ કથા છે. આ પ્રમાણ છે પ્રત્યક્ષ. કે જે ઉપર કહેલા શબ્દ પ્રમાણને સંગતિ કરે છે.

ભગવત્ પ્રાપ્તિમાં પ્રતિબંધો મોહ કરાવનાર અવિદ્યા છે. જે રાક્ષસ છે પણ રૂપાળા મૃગનું રૂપ લઈને રામથી સીતાને પ્રતિબંધ કરાવે છે. તેનો ઉપાય તો દાસભાવવાળા હનુમાન જ કરી શકે. સમુદ્રને પાર કરી શકે, સોનાની લંકાથી ન લોભાય કે બ્રહ્માસ્ત્રથી પણ ન ડરે, સીતાજીની મુક્તામાળા પણ જો રામરહિત હોય તો કાચની જેમ તુચ્છ જાણે. તેવા આ ૮૪ હનુમાનોની કથા છે. જેમને પ્રતિબંધો તો આવ્યા છતાં શ્રીવલ્લભના સિદ્ધાન્તોમાં નિષ્ઠાના કારણે તેમને ઓળંગીપણ ગયા. દામોદરદાસ હરસાનીએ કહેવું પડયું, "મહારાજ! આ માર્ગ અત્યન્ત કષ્ટ તથા આતુરતાનો છે. નિશ્ચિન્તતાનો નથી".

કૃષ્ણદાસ મેઘન કે જે શ્રીવલ્લભના મનની વાત પણ જાણી જતા તેમને મુખરતા દોષ તથા સત્યાગ્રહ. શ્રીપદ્મનાભદાસના પોતા રઘુનાથદાસમાં વિદ્યા અહંકાર. રામદાસ સારસ્વતને અપરસનો અહંકાર તેવું જ ગોવિન્દદાસ ભલ્લા. તો નારાયણદાસ બ્રહ્મચારી ગુરુદર્શનની ઉતાવળમાં પ્રભુને ગરમ ખીર ધરી બેઠા, માધવભટ્ટ કાશ્મીરી તથા નરહર જોશીનો પગ પરોપકારની લીલ ઉપર પડી ગયો, રાણાવ્યાસને ઈન્દ્રિયાભિમાન, વાસુદેવદાસ છકડાને ધર્માધર્માગ્રિદર્શન, બુલાકિશ્રની હઠ પરમાનન્દદાસને અનધિકાર ચેષ્ટાભાવ, રામાનન્દ પંડીતને ક્ષુદ્ર સ્વાર્થ તો જીવાણદાસનો રંગરાગમાં વૃત્તિ આ બધા અનેકાનેક પ્રતિબંધો તો આવ્યા પણ તેમાંથી બચ્યા પણ ખરા. આધુનિક જીવોને આ નિર્ગુણ પરમ ભગવદીયોએ નાટક કરી ઉદાહરણો પૂરા પાડ્યા કે કેમે કરીને આ દુર્ભાગી જીવોના પ્રતિબંધ અજ્ઞાનના પોપડા ખરે છે?

દમલાજીનો વિવેક :

હવે પ્રતિબંધોમાના એક અવિવેકના ઉપાય રૂપ વિવેકને જોઈશું. દમલાજીના જીવનમાં તો વિવેકનો ભંડાર. કેમકે "સુન્યો પર સમજ્યો નહીં" એટલા માટે કે શું હું ગુરુનો સમોવડીયો? (અધિકાર) મારે લાયક હશે તો મને કહેશે જ (વિશ્વાસ) શબ્દો તો સંભળાય પણ તેની પાછળનો ગૂઢ આશય શું પણ હોય! અધીર શા માટે થવું? સમજ્યો કહીને અને ભગવદ્ ઈચ્છાથી સાંભળવા મળ્યું તો ભગવદીચ્છાથી સમજવા પણ મળશે. વળી હું તો શરણે છું પછી મારે સાંભળવાનું જેમ આપે નકકી કર્યું તેમ સમજવાનું પણ આપ જ નકકી કરશો બહારની ઈન્દ્રિયો તો સાંભળે પણ અંદર તો આપ બિરાજો છો જેથી આપ જે મારા માટે ઈચ્છશો તે યોગ્ય જ કરશો. આમ વિવેક, ધૈર્યાશ્રય ગ્રન્થમાં શ્રીઆચાર્યજી આપણા માટે જે વિવેકની વ્યાખ્યા કરી છે કે હરિ પોતાની ઈચ્છા પ્રમાણે સર્વ કંઈ કરે છે. તેવી દૃઢ સમજ તે વિવેક ઈન્સાલ્લાહ.

જીવની અપ્રાર્થના કેમકે ભગવાન્ અન્તર્યામી છે.
જીવની નિરાભિમાનતા કેમકે ભગવાન્ સર્વસમર્થ છે.
જીવની ધર્માધર્મઅનિર્દ્રાન કેમકે ભગવાન્ ભગવાનનો કોઈક આશય છે.
જીવની હઠત્યાગ કેમકે ભગવાન્ ભગવાનની બળવાન ઈચ્છા.

આ બધું જ "સુન્યો પર સમજ્યો નહીં" તે એક વાકયથી દમલાજીએ વિવેક સમજાવ્યો.

અવિવેકીને વિવેકના પગથિયે ચડાવનાર શ્રીવલ્લભ :

શ્રીવલ્લભ સર્વ નિજસેવકોને સૌથી પાયાના સિદ્ધાન્ત ભગવદાશ્રય સુધી પહોંચાડવા માગે છે. ભલે તે નામદીક્ષા પામ્યો હોય કે સમર્પણ દીક્ષા અને ત્યાં પહોંચવામાટેની સીડીનું પહેલું પગથીયું વિવેક છે. ખુદ પોતાના જ પગથી ધ્યેય સુધી પહોંચાડી શકે તેવું સબળ, પણ આ પગથીયું બહારનું છે. પણ બીજી એક અંદરનું પગથીયું છે. તે છે ધૈર્ય. ભકિતર્હસમાની આજ્ઞા મુજબ આ એક એવી સીડી છે જ્યાં ન ઠેસ લાગે ન પડાય.

પરન્તુ જીવ સ્વભાવે દુષ્ટ તથા ચતુર છે છતાં અજ્ઞાન છે. એટલા માટે કે તે પોતાને મહાજ્ઞાની સમજી બેસીને અવિવેક કરી રહ્યો છે કે હરિ જ શું માત્ર

સમર્થ છે? કયાંય નિયતિ, કર્મ, પુરુષાર્થ વગેરે છે કે નહિ? હરિ કંઈ પૂર્ણ સ્વતન્ત્ર થોડા છે. સૃષ્ટિના નિયમ તો સૌએ પાળવા પડે. અન્યથા સૃષ્ટિ ચાલે કેમ?

શ્રીઆચાર્યજી આને અજ્ઞાન કહે છે. અહંકાર કહે છે મોહ કહે છે. અને આ ત્રિપુટીનું એક કોમન નામ છે અવિવેક. શ્રીઆચાર્યજીએ સાકાર બ્રહ્મવાદની વ્યાખ્યા કરીને આ અવિવેકને દૂર કરવાનો ઉપાય કર્યો.

'વિવેક'ને સમજવામાં ટીકાકારોની સહાય :

શ્રીઆચાર્યજી વિવેકધૈર્યાશ્રય ગ્રન્થમાં વિવેકની એક સામાન્ય વ્યાખ્યા **"વિવેકસ્તુ હરિ સર્વં નિજેચ્છાતઃ કરિષ્યતિ"** થી કરે છે. શ્રીરઘુનાથજી, શ્રીગોપેશજી, શ્રીગોકુલોત્સવજી તથા શ્રીવ્રજરાયજી એ તેના પર વિવરણ કર્યું છે.

શ્રીગોપેશજીએ વિભાગપાડીને ૯ વિવેક બતાવ્યા છે :

૧. શ્રીહરિ જ ભકતનું બધું કરશે.
૨. શ્રીહરિ જે કંઈ કરશે તે પોતાની/પોતાના ભકતની ઈચ્છા પ્રમાણે કરશે
૩. પ્રભુ પાસે માંગણી કરવાથી શું વળશે?
૪. બધું ભગવાનનું છે તથા બધું આપવાનું સામર્થ્ય પણ તેમનું છે.
૫. અભિમાનનો સારી રીતે ત્યાગ કરવો
૬. ગુરુઆજ્ઞા પ્રમાણે સેવા કરતાં પ્રભુ સેવા કરતાં પ્રભુ કંઈ વિશેષ આજ્ઞા કરે તો તેમાં પોતાનું સુખ છે કે પ્રભુનું તે વિચારી નિર્ણય લેવો.
૭. આપત્તિ આવે ત્યારે ચલાવી લેવું પણ હઠ ન કરવી.
૮. દરેક કાર્યમાં ધર્મ-અધર્મનો સૂક્ષ્મ વિચાર કરવો.
૯. ભગવદ્ કાર્યો કરતાં વૈદિક કે લૌકિક કાર્યો કરવા અંગે આગ્રહ ન રાખવો.

આ ગ્રન્થ સાથે નવરત્ન, અન્તઃકરણપ્રબોધ, કૃષ્ણાશ્રય વગેરે સંકળાયેલા છે. ટીકાકારોએ વિવેક, ધૈર્ય તથા આશ્રયના પરસ્પર સમ્બન્ધની છણાવટ કરી છે. તથા રક્ષણનો અર્થ આચરણમાં મૂકવું દુષ્પ્રવૃત્તિથી દૂર રહેવું, અન્તઃકરણને શુદ્ધ રાખવું તેવો પણ કર્યો છે. શ્રીગોપીશજીએ વિવેકને નવરત્ન સાથે સતત ગૂંથેલો રાખ્યો છે. તો શ્રીવ્રજરાયજીએ વિવેકને શ્રીમદ્ભાગવતમાં વર્ણવેલ પ્રભુલીલાના ફૂલની વેણી ગૂંથી દીધી છે. આ શ્રીવલ્લભ તથા તેમના બાળકોએ કરેલી વિવેક વિશેની સમજ પોતાના ભકતોના આત્મોદ્ધાર માટે

અનુગ્રહ રૂપ છે.

વ્યવહારમાં વિવેક :

બાકી શબ્દકોષ તો વિવેકને નિર-ક્ષીર ન્યાય, એકાન્ત, વિચાર, પ્રતાપ વગેરે તરીકે પણ સમજાવે છે વ્યવહારમાં તો જગતના સ્થૂલ-ચેતન સર્વ વસ્તુ-વ્યક્તિ પ્રતિ આપણો સુચાર, વ્યવહાર તે વિવેક. વડીલો, ગુરુ; સ્વજન, મિત્ર, દુશ્મન, સમાજ, દેશવાસી, પ્રાણી, જીવજંતુ કે જડ પ્રતિ યોગ્ય વ્યવહાર. તેમને નુકશાન પહોંચાડવાનો ઈરાદો ન હોવો આ નૈતિક વિવેક. તો વર્ણાશ્રમધર્મ પ્રમાણે શાસ્ત્રાજ્ઞા પ્રમાણેનો વ્યવહાર તે શાસ્ત્રીય વિવેક અને શાસ્ત્રમર્યાદા તોડે તે અવિવેક મનુષ્ય જગત્ સાથેનો વ્યાજબી વ્યવહાર તે માનવીય વિવેક.

શાસ્ત્રને મરડી નાખનારો અવિવેક :

શ્રીમદ્ ભગવદ્ ગીતામાં **"કર્મણ્યેવાધિકારસ્તે મા ફલેષુ કદાચન"** તેવી આજ્ઞા ઉપદેશ છે. પણ પાછું તેથી કર્મ ન કરીને ફલ પણ ન ઈચ્છવું તે અવિવેક તેથી કર્મ ન કરીને ફલ પણ ન ઈચ્છવું તે અવિવેક. અથવા ઈચ્છીત ફળની અપેક્ષા રાખવી તે અવિવેક. આમ પાછું વિવેકને સમજવામાટે પણ વિવેકબુદ્ધિ જોઈએ.

પોતાની ઈચ્છાનુસાર અથવા કહો કે બદ્દાનતને કારણે શાસ્ત્રને મરડીને મનગમતો અર્થ કરી સિદ્ધાન્તને અપસિદ્ધાન્તમાં ખપાવી અપસિદ્ધાન્તને સિદ્ધાન્તના આભરણ પહેરાવી, જાણવા છતાં પાખંડ કરે તે માફ ન થઈ શકે તેવો અવિવેક. દેવદ્રવ્યરૂપ પદાર્થને ભગવદ્પ્રસાદ કહીને ભક્તિ (અ)ભાવ પૂર્વક ભક્ષણ કરવું તે ભસ્મ કરી નાખે તેવો અવિવેક. શ્રીવલ્લભના માર્ગમાં જ રહીને શ્રીવલ્લભના વિચારને ભૂંસવા (મિથ્યા) પ્રયાસ કરવો, શ્રીવલ્લભના જ કહેવાઈને શ્રીવલ્લભની આજ્ઞાનું ઉલ્લઙ્ઘન કરવું આ કેવો વિવેક? અને "જેમ ચાલે છે તેમ ચાલવા દ્યો" કેમકે શ્રીવલ્લભ જ આજ્ઞા કરે છે કે "વિવેકસ્તુ હરિઃ સર્વં..." આ પ્રકારનો વિવેક પાછો કેવો?

આ બધા પ્રકારોને વિવેક કહેવા કે અવિવેક આ વિવેક-અવિવેકમાં ગુંચવી નાખનારાના વિવેકને પાછો વિવેક કહેવો કે અવિવેક તે પાછો ગંભીર પ્રશ્ન! માટે તો શ્રીવલ્લભને વિનતી કરવાની જબલપુરવાળા 'ભૂપ'જીની કાનીથી

કે

"એક બાર આઓ શ્રીવલ્લભ
વિવેકને અર્થ પૂર્ણ હુઆ ના
ધૈર્ય અબ ન રહા હમારા
આશ્રયકી તો બાત કહાં હૈ?"

શ્રીઆચાર્યજીનો આશય :

વિવેક-ધૈર્યાશ્રય ગ્રન્થ રચના પાછળનો શ્રીઆચાર્યજીનો સ્થાયીભાવ પુષ્ટિ દેવીજીવનો ઉદ્ધાર છે. આપ આ માર્ગના આચાર્ય છો જેથી આપ કોઈ પણ વ્યાખ્યા કરો તેમાં તેનો અર્થ આશય "આ ભટકેલો જીવ આ પ્રમાણે ભાગવત્, સમ્મુખ થાય" હોય છે. માટે તો આપે વિવેકની વ્યાખ્યા "વિવેકસ્તુ હરિ સર્વં નિજેચ્છાતઃ કરિષ્યતિ" કરી અને ટીકાકારોએ પણ આપનું આ લક્ષ્ય સ્થાયી ભાવને ધ્યાનમાં રાખીને જ વિવરણ કર્યું છે. તેથી જ શ્રીવલ્લભે આ મુખ્ય વાક્યની સમજણ દૃઢ કરવામાટે પાછળના બીજા ચાર શ્લોકમાં પણ અપેક્ષીત મુશ્કેલીમાંથી ઉગરવાની અજ્ઞાત આપી છે. અને આ એક મુખ્ય વિવેકમાં માત્ર ૯ પ્રકારના વિવેકની જ વાત નથી પણ અનેકાનેક વિવેકની લૂમ છે. પુષ્ટિમાર્ગમાં પુષ્ટિજીવન સારી રીતે જીવવામાટે જે-જે ઉપાયો શ્રીઆચાર્યજીએ પોતના ગ્રન્થોમાં તથા તે પછી શ્રીપ્રભુચરણે તથા અન્ય ગો. બાળકો અને વિદ્વાનોએ બતાવ્યા છે તે બધા જ આ મુખ્ય વિવેકમાં સમાઈ જાય છે. આ મુખ્ય વાક્ય હાથીનું પગલું છે.

શ્રીદ્યારામભાઈની ભાષામાં વાત કરીએ તો.

૧.જીવ તું શીદને ચિંતા કરે હરિને કરવું હોય તે કરે.
૨.રખવાળો રિપુ છે નહિ કોય, સઘળી વસ્તુ શ્રીકૃષ્ણની હોય
કર્તા, હર્તા એક શ્રીવ્રજરાય એના કર્યા વિના કાંઈ નવ થાય.
૩.દોરી સર્વની એના હાથમાં ભરાવ્યું ડગલું ભરે
જેવો જંત્ર વગાડે જંત્રી તેવો સ્વર નિસરે ...કૃષ્ણને કરવું હોય તે કરે.
કર્યું થાય શ્રીકૃષ્ણનું કોંચી ઘટે-વધે નહિ લેશ
તેજ પ્રમાણે સુખ-દુઃખ લાભાલાભ ન સંશય લેશ.

૪.તુલસીદાસજી કહે છે.

"તુલસી જો ભવિતવ્યતા તેસી ઉપજે બુદ્ધ,

હોનહાર હિ રહે બસે બિસરી જાત સબુ સુછુ''

૫.પાંડવગીતા :

''અહં યંત્ર ભવાન્ યંત્રી ન મે દોષો ન મે ગુણઃ''

૬.દયારામભાઈ

''જણાય એહવું માટે રખે જાઓ, સેવો શ્રીકૃષ્ણ ધરી સ્નેહ સાચો,
વણમાગ્યે સહુ આપે એ સ્વામી, નથી સજાણ્ય અન્તર્યામી''

વિવેકની વ્યાખ્યા '૮૪' ના જીવનથી :

અ.''વિવેકસ્તુ હરિઃ સર્વં''

આનન્દદાસ-મુકુન્દદાસની વાર્તામાં મરી ગયેલા મુકુંદદાસને જીવતા કર્યા.

આ.''હરિઃ સર્વં નિજેચ્છાતઃ કરિષ્યતિ''

પદ્મનાભદાસજીએ અનેકપ્રકારના દુઃખો સહન કર્યા અને ભગવદ્ ઇચ્છા માની.

ઈ.''પ્રર્થિતે વા તતઃ કિં સ્યાત્ સ્વામ્યભિપ્રાય સંશયાત્''

ગદાધરદાસે જળની લોટી ધરી પણ પ્રાર્થના ન કરી.

ઉ.''સર્વત્ર તસ્ય સર્વં હી સર્વસામર્થ્યમેવ ચ''

સુસાધન પરમનન્દદાસને આનન્દમાંથી પરમાનન્દ દીધા નિઃસાધન અનાથ કૃષ્ણદાસ હરિ-ગુરુ-વૈષ્ણવ સૌના અધિકારી બનાવ્યા
દુષ્ટસાધન નન્દદાસજીને વિષય કામાસક્તિમાંથી ભગવદ્ સ્વરૂપાસક્ત બનાવ્યા.

ઋ.''અભિમાનરૂપ સન્ત્યાજ્ય સ્વામ્યધીનત્વ ભાવનાત્''

રામદાસ સારસ્વતજીએ અભિમાની અહંકારના કારણે સ્વામીની અધીનતા ન રહેતાં સીપાઈગિરી કરી અને અહંકાર છોડ્યો.

ઌ.''વિશેષતશ્ચવેદાજ્ઞા સ્યાદન્તઃ કરણ ચોચરઃ''

ગોપાલદાસ જટાધારીએ પંખો કર્યો પણ સ્વસુખમાટે ગુરુ આજ્ઞા વિરુદ્ધ ભગવાનની આજ્ઞા છતાં દર્શન ન કર્યા.

ઓ.''આપદ્ગત્યાદિ કાર્યેષુ હઠસ્ત્યાજ્યશ્રય સર્વથા''

પાર્વતીએ રઘુનાથદાસને સેવા કરવા ઈ પોતે પરચારગી પણ કરી અને ઠાકોરજીએ ''ગળું છોલાય છે'' કહ્યું તો દાળ બનાવવા લાગી. પણ ક્યારેય હઠ ન કરી.

અં.''અનાગ્રહશ્રય સર્વત્ર''

ભગવત્સેવામાં વિલમ્બ ન થાય માટે બુહારી બાંધવા યજ્ઞોપવિતને તોડી.

ઔ.ધર્માધર્માગ્રદર્શનં

ગોપાલદાસ વાંસવાડાવાળાએ તીર્થમાં વાળ ન મૂંડાવ્યા.
કૂતરો પાતળ કૂદી ગયો તો શેઠ વૈરાગીને ભિન્ન આજ્ઞા.

સાર :

પ્રભુથી વિમુખ કરાવે તે પ્રતિબંધ. પ્રભુ સિવાય અન્યનું સામર્થ્ય વિચારવું તે અવિવેક. આજના કાળમાં વંચકોનું પ્રાબલ્ય છે. તેથી તેમનામાં દેખાય વિવેક પણ હોય અવિવેક. તેમને ઓળખી લેવામાટેનો ઉપાય શ્રીહરિરાયચરણે દુઃસંગ વિજ્ઞાન પ્રકરણમાં છે. કે તે નિધિ કોને ગણે છે? ભગવદ્ભજન/ ભગવાનને કે યશસમ્પત્તિ/ લાભપૂજને?

એક વિવેકપૂર્વક અવિવેક :

પ્રાર્થના કરવી તે અવિવેક છે તેમ જાણવા છતાં અહીં શ્રીવલ્લભને એક વિનતી કરી છે.

ગળામાં હાથ નાખી, પ્રેમના શબ્દો કહી,
સ્મિત-વદને મીઠું ચુંબન દઈ દીધું,
પ્રતિબંધ જીવન-પ્રાણથી જ્યારે થયું
ત્યારે થયું એ ભાન કે
આહ.. આ તો વિષ(ય) કન્યા છે.

કૃષ્ણને હું શોધવા નિકળ્યો હતો જેના સહારે
એતો મારા ભોમિયા, ડાકુ હતા, પ્રતિબંધ હતા
'શબ્દ' ના તાત્પર્યને સમજ્યો નહિ અજ્ઞાનવશ
તાત્પર્ય તેઓનું હતું શું આજ તે સમજી ગયો
ગહવરવનના માર્ગમાં.

'અ'થી તો અતુલ્ય તું 'અ'જ્ઞાન વશ સમજ્યો ન હું
'વિ'વસી રહ્યો તું સર્વ થે 'વિ'તથ (મિથ્યા)નું સમજી ગયો.

'વે'ની વેણુ હતો તું 'વે'રી હું તેનો થઈ ગયો.
'કે'મ શ્રીવલ્લભ આપજો હવે સેવા-'કે'થામાં જોડીને.

भक्ति और प्रपत्तिमें भगवत्कृत् प्रतिबंध

ख्याति द्वारकादास

"जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभु श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति।।"

"सर्वासां (भगवतः) शक्तिनां मध्ये इच्छाशक्तिरुत्कृष्टा"- भगवानकी सर्व शक्तियोंमें उनकी इच्छा शक्ति उत्कृष्ट हैं, क्योंकि यह सबका मूल है. दूसरी सभी शक्तियां इच्छाशक्तिसे साध्य हैं. भगवानकी अन्य सभी शक्तियां इच्छाशक्तिके आधीन हैं. श्रीपरमानन्ददासजी निम्नलिखित पद द्वारा इसी बातका समर्थन करते हैं.

"कियो गोपालको सब होय।
जो जाने पुरुषारथ अपनो अतिशय झूठो सोय।।
दुःख-सुख, लाभ-अलाभ सहज गति, ताहि न मरिये रोय।
जो कछु लेख लिख्यो नन्दनन्दन, मेट सके न कोय।।
उद्यम साधन जंत्र-मंत्र-विधि ये सब डारो धोय।
परमानन्ददासको ठाकुर, चरणकमल चित पोय।।"

सब कुछ तो भगवानकी इच्छानुसार हो रहा है, इसलिए उनके चरणारविंदमें ही अपने चित्तको लगाये रखना उचित है. उसीमें हमारा कल्याण है. विश्वकी समस्त घटनाओ में भगवद् इच्छा ही कारण रूप है. लोकपाल सहित ये समस्त लोक भगवानकी इच्छाके वशमें रहकर जालमें बंधे हुए पक्षीकी तरह चेष्टा कर रहे हैं. सबकी जय और पराजय में उनकी इन्द्रिय शक्ति, शारीरिक या मानसिक शक्तिमें भी भगवद् इच्छा ही कारणभूत है. प्राण, अमरत्व या मृत्यु सबके कारणरूप भी भगवान ही है. जिस प्रकार कठपुतली या काठका खिलौना अपने सूत्रधार या संचालक के आधीन है, उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि परमात्माके आधीन है.

पुरुष (चेतन), प्रकृति, महतत्व, अहंकार, पंचभूत, इन्द्रियां और

अन्तःकरण, यह सब तत्व सृष्टिकी उत्पत्ति आदिमें भगवानकी इच्छाशक्ति, भगवद् अनुग्रहके बिना समर्थ नहीं होते हैं. जिनको इस सत्य सिद्धान्तका ज्ञान नहीं है, वे मनुष्य अपने असमर्थ शरीरको समर्थ मानकर अहंकार करते हैं. वास्तवमें तो भगवान ही निज इच्छासें प्राणियों के द्वारा प्राणियोंको उत्पन्न करते हैं और प्राणियों द्वारा ही प्राणियों का नाश करते हैं. जीवनमें कीर्ति या अपकीर्ति, जय या पराजय, सब कुछ भगवद् इच्छासे ही होता है.

श्रीमद् आचार्यचरण द्वारा निर्दिष्ट इस पुष्टिभक्तिमार्गमें सेवाका फल सेवा ही है और श्रीमद् आचार्यचरणने 'सेवाफल' ग्रंथमें आज्ञा भी की है कि सेवाके तीन फल होते हैं; अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य और सेवोपयोगी देह. फलाधिकारिताका दान भी भगवद् इच्छाके आधीन है.

भगवत्कृत् प्रतिबंधका निराकरण करना जीवके सामर्थ्यके बाहर है, फिर भी यहां एक नम्र प्रयास किया है.

प्रतिबंधका अर्थ है विरुद्ध सामग्री और उसके उत्पादक. प्रतिबंधका एक अर्थ सेवासे प्रतिकूल निग्रह भी होता है. वह सेवामें रुची होने पर भी, शारीरिक सामर्थ्य होने पर भी, सेवा समयमें लौकिक, वैदिक, कायिक, व्यापार रूप होते हुए बाह्यसेवाके विरुद्ध सामग्री रूप है और सेवामें प्रतिबंधक है. यह कायमी न होते हुए अचानक ही हो जाता है.

यहां श्रीपुरुषोत्तमजीके ऐसे वचनभी प्राप्त हैं कि "**तु बाधकम्. अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि. यथा वा**" यदि यह बाधक भगवान् द्वारा करवाया गया है तो निश्चित रूपसे उस जीवकी कोईभी गति नहीं है.

भगवद् इच्छा में भक्त हित :

"षड्भगैः युक्तः सः भगवान्" गीताजीमें आज्ञा करते है "**कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन,**" और "**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन**" मेरी क्रीडाके लिए प्रकटित जीवलोकमें, आनन्दांशतिरोधान होनेसे अनीश्वरत्वके उद्भावन से क्रीडा रस भगवद् इच्छासे हुआ है.

भगवानकी इच्छामें भक्तका हित समाया हुआ है. जब भगवान् भक्तको लौकिक दुःख देते है, तब उसमें भक्तके संसारके स्नेहका नाश करनेकी इच्छा कारणरूप होती है. भक्तके मद या अहंकारको नष्ट करनेके लिए देह-पीडा या स्वजनों द्वारा दुःख पहोंचाया जाता है. जब भगवान् भक्तको लौकिक दुःसंग से बचाना चाहते हैं तब वे उसे अपने स्वजनों से दूर कर देते हैं या स्वजनों से क्लेश करवाते है. भक्तकी दीनताको सिद्ध करना हो, तो उसे दूर विदेश भेद देते हैं.

लौकिक मोहकी निवृत्ति करानी हो तो भगवान् उसे साधनकी आर्ति देते है. वेदना भक्तके संचित (पिछले जन्ममें किए हुए) कर्म और क्रियमाण (इस जन्ममें किए हुए) कर्म प्रारब्ध भुगतवानेके लिए, अथवा भक्तके धैर्य, विश्वास आदि की परीक्षा लेने के लिए भगवान् फल देनेमें विलम्ब करते हैं.

भगवत्कृत प्रतिबंध होनेसे फलका अभाव होता है, तब शोककी उत्पत्ति न हो, इसलिए साधनका उपदेशभी तीसरे श्लोकमें है. यदि भगवानको फल देनेकी इच्छा न हो तो कोईभी गति, उपाय, निस्तार इत्यादि नहीं है इसलिए भगवत्कृत् प्रतिबंध दूर करनेका कोई उपाय नहीं है इसका मूलकारण तो यह है कि सर्व मार्गमें मूल फलदाता तो षडऐश्वर्य युक्त भगवान् स्वयं हैं. यदि उनकी इच्छा ऐसी हो इस जीवको फलदान नहीं करना तो वह भगवत्कृत् प्रतिबंध है. उसमें जीवकृति निरर्थक है, शायद इसलिए भगवत्कृत् प्रतिबंधका त्याग अशक्य है.

लौकिकमें अगर दुःख आ जाए तो, उसे भगवद् इच्छा जानकर प्रसन्नता से रहना चाहिए. वैष्णवको अपने मनमें क्लेश नहीं करना चाहिए. "**यथा न गणयेद् रोगी तिक्तभेषजभक्षणम्**" जिस प्रकार रोगी पुनः स्वस्थ होनेके लिए कडवी दवा भी, उसके स्वाद पर ध्यान न देकर, पी जाता है, क्योंकि उसका ध्यान स्वास्थ्य-प्राप्तिकी ओर होता है; इसी प्रकार भक्तको लौकिक कष्टोंको कडवी दवाके रूपमें सहन कर लेना चाहिए. उसका ध्यान तो परमानन्द स्वरूप प्रभुमें होना चाहिए. भक्त भगवद् इच्छाको समझ नहीं सकता है, इसलिए भगवान से विनंती करता है, शिकायत करता है, लेकिन भगवान् अपने भक्तका अहित कभी नहीं करते.

ऐसे समयमें हमारे भीतर आसुरावेश होनेका तत्वनिर्धार कर लेना चाहिए जिससे व्यर्थ शोकका निवारण होता है. शोकका अभाव हो ऐसे प्रकारका ज्ञान रखना चाहिए. ज्ञानमार्ग द्वारा स्थिति करके शोक दूर रखनेका विवेक रखना चाहिए.

भगवत्कृत् प्रतिबंध होते ही समझ लेना चाहिए कि यह जीव आसुरी जीव है या आसुर भाववाला है या सहज आसुर है. जिस जीवके मनमें भक्तके सामीप्य से सद्भाव उत्पन्न हो, असानिद्धयमें यह भाव नष्ट हो जाय वह असुरावेशी जीव है; किन्तु जिस जीवको सत्संग से भी सद्भाव उत्पन्न न होता हो वह सहज आसुरी जीव है.

पुष्टिमार्गमें फलाधिकारी तो वही है जिस पर भगवानकी कृपा हो अन्य कोईभी नहीं. सर्वनिर्णय निबन्धमें श्रीमद् आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि जिसके उपर सर्वथा भगवानकी कृपा नहीं है उसके लिए इस मार्गमें सब कुछ अशक्य है. इसीके प्रकाशमें यह कहा गया है "इस मार्गमें सभीका मुख्य फलाधिकार नहीं है. परन्तु, जिस पर भगवत्कृपा है उसीको है. कृपाका परिज्ञान मार्गरुचीसे निश्चित होता है." इसीलिए, मार्गमें अरुचीरूप बहिर्मुखता भगवत्कृत् प्रतिबंध है. यह प्रतिबंध होने पर प्रभुकी शरणागति दृढतापूर्वक करनी चाहिए. यही एकमात्र उपाय है.

भगवदीय कुलमें जन्मे आसुरी जीव सर्व प्रथम सेवामें सत्संग से प्रवृत्त हो सकता है और बादमें प्रभु विघ्न करते है; तब जीवको पश्चाताप और क्लेश होते हैं. यह क्लेश करनेके लिए, भगवदीयका सम्बन्धी है ऐसा विचार करुणा करके, उसे भी शोकाभावके लिए श्रीमद् आचार्यचरण उपदेश करते हैं : "**तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावयेति विवेकः**" तब शोक न होनेके लिए ज्ञानमार्गमें स्थिति करना यही विवेक है.

जिस प्रकारके आसुरीपनेका निर्धार हुआ है उसी प्रकारका विवेक, इसी ज्ञानको शोक न होनेका साधन माना गया है. यदि जीव आसुरावेशी है तो ज्ञानमार्गमें उसकी स्थिति सम्भव है पर उसका फल मुक्ति न होकर मात्र शोकका अभाव है. यदि वह जीव सहजासुर है तो उसकी स्थिति ज्ञानमार्गमें भी

नहीं है. इसलिए उसे संसार निश्चय है.

जिस जीवकी ज्ञानमार्गसे भी स्थिति न हो उस जीवको संसार निश्चय समझ कर चिंताको सर्वथा त्याग कर देना चाहिए. श्रीवल्लभजी महाराज मतानुसार, जो पहला उपदेश 'ज्ञानमार्गमें स्थिति करना' उन जीवोंके लिए जिनका अन्तःकरण दैवी है पर जीव आसुरी है, और दूसरा उपदेश 'सर्व चिंताका त्याग' जिनका अन्तःकरण भी आसुरी है, उनके लिए है. कुछ महानुभावोंका मत ऐसा भी है कि पहला उपदेश आसुरावेशी जीवोंके किया गया है और दूसरा उपदेश सहजासुरी जीवोंके लिए किया गया है. श्रीपुरुषोत्तमजीके मतानुसार 'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थमें 'भक्त्याभावे' कारि से संसारमें अत्यंताभिनिवेशकी निवृत्तिके हेतु से यह उपदेश है. इन सब इतना तो स्पष्ट होता ही है कि पहले कहे अधिकारियों से यह हीन अधिका है और उसका फल जन्ममरणरूप संसार ही है.

गीताजीमें भी आसुरी जीवके लक्षण बताते हुए भगवान आज्ञा क हैं कि

१. "**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।**
न शौचं नापि चाऽचारो नसत्यं तेषु विद्यते।।७।।"

जो आसुरी जीव हैं वे आसुर सर्गमें उत्पन्न हुए हैं, न प्रवृत्तिको जा है न निवृत्ति को. अज्ञानमें दृष्टान्त है, अनुकूल न तो उनमें देह-शुद्धी है न आचरण न तो सत्य. (अध्याय १६।८)

२. "**असत्यमप्रतिष्ठं ते.... कामहैतुकम्।।८।।**"

आसुरी लोग वेद-पुराण इत्यादिको नहीं मानते. वे ब्रह्म प्रतिष्ठाको भी नहीं स्वीकारते. कर्ताके अभावमें स्त्री-पुरुष संयोगसे लोक उत्पत्ती है. स्त्री-पुरुषमें काम ही हेतु है-इसके अतिरिक्त और कोई कारण न है. (अध्याय १६।८)

३. "**काममाश्रित्यदुष्पूरं.... प्रवर्त्ततेऽशुचिव्रताः।।१०।।**"

महान कष्टसे भी तृप्त न किये जानेवाले कामका आश्रय लेक

jurisdiction. Any other thought on the subject is mere confusion. Those bhaktas who belong to Him should know that Krishna dose not delay His Grace."

जीव आसुरताके जिन लक्षणोंको हमने संक्षेपमें देखा उनमेंसे कौनसे लक्षण गिनने? क्योंकि आसुरावेशी जीवमें कुछ क्वचित लक्षण भी प्रकट हो रहे हैं. श्रीआचार्यचरणके मतानुसार, आसुरी जीवको ऐसे आसुरी भाव बार-बार नियमित रूपसे, सेवामें प्रतिबंध प्रकट करते हो ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है. इस विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए इस सभाको मेरा नम्र अनुरोध है.

आजकी परिस्थिति :

भोग, उद्वेग, प्रतिबंध, काल, कर्म, स्वभाव कृत, साधारण प्रतिबंध जो सेवामें बाधक होते हैं वे आजकी परिस्थितिमें हम वैष्णवोंको व्यवधान करते हो ऐसा अनुभव हो रहा है. इन सभी प्रतिबंधोंको आसुरावेश युक्त सेवाके कारण कुछ न्यूनता आई है, जो आजके वैष्णव, जन समुदायमें बडी मात्रामें पाये जाते हैं. परन्तु सेवामें रुची रखनार, सेवाकर्तु और मार्गमें निष्ठा रखनेवाले वैष्णवोंकेलिए भगवत्कृत् प्रतिबंध नहीं है.

अंतमें,

"विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशः तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥"

(श्रीमद् भागवत् ३।१६।३६)

चर्चा

भक्ति और प्रपत्तिमें भगवत्कृत् प्रतिबंध

श्रीख्याति द्वारकादास

ख्याति द्वारकादास : आसुरताके जिन लक्षणोंको हमने देखा उनमेंसे कौनसे लक्षण गिननें इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है. क्योंकि आसुरावेशी जीवमें भी कुछ ...लक्षण प्रकट हो रहे हैं.

असित शाह : ये केटेगरि एब्स्ट्रेक्ट है. याके दृष्टान्त वार्तामें भी मिलने कठिन हैं. पर अपन समझनेको प्रयास करें तो सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के "भगवदिच्छा तु कार्याद् अनुमातव्या". वैसे भगवदिच्छाकुं जाननो कठिन है पर कार्यसुं भगवदिच्छाको अनुमान हो सके है. इनकुं भी जैसे महाप्रभुजी कह रहे हैं कि "तदा आसुरोयं जीवः इति निर्धारः". तो एपेरेंट्लि इनमें ऐसे लक्षण नहीं दीख रहे हैं जो गीताजीके पांच वचनमें गिनायें हैं. ये ओल्मोस्ट ऐसो अधिकारी है के जो मार्गमें दीक्षित भयो है, सेवा कर रह्यो है, पर वाकुं फल प्राप्त नहीं हो रह्यो है. और फल प्राप्त नहीं हो रह्यो है फिर भी ऐसो नहीं है के वो सेवा छोड़ देनो चाह रह्यो है. वो तो श्रीमहाप्रभुजीके पास आ रह्यो है के मैं आपने बताई ऐसी सेवा कर रह्यो हूं फिर भी फल प्राप्त नहीं हो रह्यो है. या स्थितिमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं के प्रभुकी इच्छा ऐसी नहीं है. ये भगवत्कृत प्रतिबन्ध है. वैसे टीकाकारन्ने कुछ-कुछ बतायो है पर मेरे हिसाबसुं मोकुं लग रह्यो हैके ये जीवको ऐसी तरहको वरण है के जैसे प्रभु गीतामें बतावे हैं के "माम् अप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्". प्रभुने वाको वरण आसुरी जीवतया कियो है. और आसुरी जीव ऐसो नहीं है के जाकुं प्रवृत्ति-निवृत्ति पता नहीं है. पर केवल ये अर्थमें के "माम् अप्राप्यैव". मोकुं ये जीव प्राप्त नहीं होवे, भजनानन्दकुं प्राप्त नहीं होवे ऐसी प्रभुकी इच्छा है. याके पेरेलल् बात बतानो चाहुं हूं. भागवतजीमें मुचुकुन्दकी कथा आवे है. मुचुकुन्द सो रहे हते. कालयवन प्रभुके पीछे पड्यो हतो. प्रभुने अपनो पीताम्बर मुचुकुन्दके

ऊपर ओढा दियो. फिर वो जग गये और उनकी दृष्टि पड़नेसुं कालयवन भस्म हो गयो. फिर प्रभु और मुचुकुन्द के बीचमें संवाद भयो. राजाकुं पता है के प्रभुको स्वरूप क्या है, माहात्म्य कैसो है. प्रभुने भी वाकुं बता दियो के तु कौन है आदि. फिर भी प्रभुने वाकुं ऐसो कह्यो के तुम अगले जन्ममें मोकुं प्राप्त करोगे. अब कृष्णावतारकुं देखें तो सबकुं ढीलमें मुक्ति मिल रही है. और मुचुकुन्द ऐसे हैं के जिनने प्रभुको काम कियो. और यदि अपन निमित्त सोचें तो वा बखत मुक्तिको निमित्त भी है के उनकुं प्रभुके साक्षात् दर्शन भये हैं. और यदि अनवतारकालकी बात सोचें तो मरते बखत कोईकुं प्रभुको चरणामृत प्राप्त हो जाये तो उतने मात्रसुं भी बाकी शुद्धि हो जाय, वाकुं कुछ फल मिल जाय है. और प्रभुने तो मुचुकुन्दकुं अपनो पीताम्बर ओढा दियो हतो. तो वाकुं भी निमित्त बनाके प्रभु उनकुं फल दे सकते हते, पर प्रभुको वरण ही कुछ ऐसे प्रकारको है. प्रभु नहीं चाह रहे हैं के या जन्ममें याकुं फल प्राप्त होवे. यासुं प्रभुने राजाकुं ऐसी आज्ञा करी के अगले जन्ममें मोकुं प्राप्त करेगो. ऐसे सेवाफलमें भी ऐसे कोई जीवकी बात है के जाको वरण ही प्रभुने ऐसो कियो है. ऐसे नहीं है के वाके अंदर गीतामें कहे भये आसुरिताके लक्षण हैं. प्रभुको वरण ही ऐसो है और वरणजन्य ये प्रतिबन्ध है. ये अपवादरूप अधिकारी है. जैसे "फलमत उपपत्तेः"में सिद्धान्त बतायो है के फलदान सेवासुं स्वाभाविक नहीं मिले है पर प्रभु जाको वरण करें और फल देनो चाहें उनकुं ही फल मिले है. ये सिद्धान्त यासुं स्थापित हो रह्यो है.

गो. श्या. म. : मोकुं यामें एक बात और लगे है के प्रायः सब टीकाकार आपसमें मतभेद प्रकट करे हैं. पर मैं एक ऐसी भावना रखुं हूं के षोडशग्रन्थ मूलमें श्रीमहाप्रभुजीने पुष्टिजीवकुं उद्देश्य करके लिखे हैं. और वाके कई प्रमाण अपन श्रीमहाप्रभुजीके वचननमें ही देख सके हैं. और वो पुष्टिजीव जब "यादृशी सेवना प्रोक्त तत्सिद्धौ फलमुच्यते" में जैसी सेवना कही वैसी सेवा कर रह्यो है वा बखत वाकुं क्या फलानुभूति होयगी ये बात जब कह रहे हैं तब वाके ही सन्दर्भमें श्रीमहाप्रभुजी ये भी आज्ञा कर हरे हैं के वा बखत वाकुं प्रतिबन्ध कैसे होंगे. वा बखत वाकुं प्रतिबन्ध कैसे होंगे ये सोचें

कोरोलरीमें, तो बात ही कैंसल् हो जावे है के ये आसुरी जीव हो सके है. आसुरावेशी ही ये हो सके है. 'तदा'को एक अर्थ संस्कृत भाषाके हिसाबसुं कंडीशन् भी होवे है और काल भी होवे है. प्रायः याकुं कंडीशन्के अर्थमें लेवें हैं पर मैं याकु कालके अर्थमें लेनो पसंद करुं हूं. तदा अयं असुरः. कंडीशन्के अर्थमें नहीं. जैसे "यदा त्वम् आगमिष्यसि तदा अहं गमिष्यामि" ये कंडीशन्के अर्थमें भी हो सके है "जब तुम आओगे तब मैं जाऊंगो". ये मेरे जानेकी प्रीकंडीशन् हो गई. यामें कालको भी उल्लेख मान सके हैं के मैं कौनसे समय जाऊंगो? जा समय तुम आओगे वो मेरे जानेको काल होयगो. कालके अर्थमें 'तदा' लें तो बहोत बातन्को खुलासा हो जाय है. वाने दीक्षा ली है, सेवा कर रह्यो है तदा वाकुं क्या प्रतिबन्ध है? भोग, उद्वेग और प्रतिबन्ध. भगवत्कृत प्रतिबन्ध भी ऐसो हो सके है के 'तदा' कोई प्रतिबन्ध होवे. जितने समय तक प्रभु वाकुं मिलनो नहीं चाहें उतने बखत वाकुं आसुरावेश रहेगो. और जब आसुरावेश दूर हो जायेगो तब प्रभु वाकुं मिल जायेंग. ऐसे लेनेसुं सुसंगति ज्यादा बैठे है बाजाय के यों लेनेके के वो जीव आसुरी है.

वैसे एक बात सच है क प्रायः सब टीकाकार यामें मतभेद प्रकट कर रहे हैं के यहां क्या है? अचानक ऐसी बात कैसे आ गयी? और वा मतभेदमें यहां तक मतभेद प्रकट हो गयो है के सेवाफलमें जाके भी पुष्टिभक्तिको उपदेश है के मर्यादाभक्तिको भी उपदेश है. जब मतभेद गहेराये हैं तो कई लोगनने यहां मर्यादाभक्ति भी ली है. पर मैं या बातसुं स्पष्ट मतभेद रखुं हूं के जब श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं "यादृशी सेवना प्रोक्ता", यादृशी कीदृशी? यादृशी यमुनाष्टके प्रोक्ता, यादृशी सिद्धान्तमुक्तावल्यां प्रोक्ता, यादृशी सिद्धान्तरहस्ये प्रोक्ता, भक्तिवर्धिन्यां प्रोक्ता, चतुःश्लोक्यां प्रोक्ता, निरोधलक्षणे प्रोक्ता तादृश्याः सेवायाः फलम् अपुष्टिगीं कथं भवितुमर्हति? ये मोकु बहोत बड़ी आपत्ति है उन व्याख्या शैलीपे. मैं ये मानुं हूं के यहां कोई आसुरावेशीकी कथा है. और 'तदा' कालके अर्थमें लें तो सब बात स्पष्ट हो जावे है. " **'तदा' आसुरोऽयं जीव इति निर्धारः. 'तदा' अन्यसेवाऽपि व्यर्था. 'तदा' ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम्** ". 'ज्ञानमार्ग'सुं मैं बाहरवालो ज्ञानमार्ग नहीं लउं हूं

क्योंके यदि श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तसुं ज्ञानमार्ग आसुरीके लिये होवे तब तो सत्यानाश हो गयो! पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ग्रन्थ कैंसल् हो जायेगो! आसुरीकेलिये तो प्रवाहमार्ग है! तो "**ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय**" ये बात भी उपपन्न नहीं हो रही है. यासुं मोकुं ऐसो लगे है के यहां 'ज्ञानमार्ग'को मतलब प्रभुको स्मरण लेनो चहिये. श्रीमहाप्रभुजी कई ठिकाने 'ज्ञान'कुं स्मरणके अर्थमें वापरें हैं. जैसे "ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते" में 'ज्ञान'सुं स्मरण लियो है. ये प्रपत्ति तक जा सके है. जब भगवत्कृत प्रतिबन्ध है तब दूसरो तो क्या हो सके, प्रभुके शरणमें रहनो. "जैसो हूं तैसो कहाउं तेरो". ऐसो अर्थ मोकुं श्रीमहाप्रभुजीकुं ज्यादा अभिप्रेत होवे ऐसो लगे है.

પુષ્ટિભક્તિ અને પ્રપત્તિ સાધનામાં પ્રતિબંધ : 'અધૈર્ય'

ભાવેશ પરમાર

"वागर्थाविव सम्प्रक्तौ ग्रन्थः कृष्णो हि यन्मुखे,
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद् वागर्थोपलब्धये"

શ્રીઆચાર્યજી મહાપ્રભુજીએ ભક્તિને દઢ કરવામાટે 'વિવેકધૈર્યાશ્રય' ગ્રન્થમાં ત્રણ સાધનો બતાવ્યા છે : વિવેક, ધૈર્ય અને આશ્રય જ્યારે પ્રપત્તિને દઢ કરવામાટે વિવેક અને ધૈર્ય.

ધૈર્યનું સ્વરૂપ લક્ષણ છે : "**त्रिदुःख सहनं धैर्य आप्तते सर्वतः सदा**" અર્થ-મરણ પર્યંત આધિભૌતિક વગેરે ત્રણે પ્રકારના દુઃખોને સહન કરવા, હંમેશા સહન કરવા, સામનો ન કરવો તે ધૈર્ય છે.

શરૂઆતમાં આટલું ધૈર્ય ધારણ થવું શક્ય નથી. તેથી શ્રીઆચાર્યજીએ ચાર ઉપાય બતાવ્યા છે :

१.प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन नाग्रही भवेत्
२.भार्यादिनां तथान्येषां असतश्चाक्रमं सहेत्
३.स्वयमिन्द्रिय कार्याणी कायवांग मनसा त्यजेत्
४.अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्या सामर्थ्य भावनात्

—આ ચાર 'त्रिदुःखसहन' સુધી પહોંચવાના સાધનો છે.

ધૈર્ય અને તેના સાધનને નિભાવવાના ઉપાયના સ્વરૂપમાં ભક્તિ કે પ્રપત્તિ ની સાધનામાં કંઈ બાધકતા પ્રકટ થતી નથી. પરંતુ આ ચારેય સાધનને જ્યારે ઉલટા કરવામાં આવે, દા.ત. ૧.પ્રતિકારનું ઉલટું અપ્રતિકાર, ૨.સહનનું અસહન, ૩.ત્યાગનું અત્યાગ, ૪.અસામર્થ્યની ભાવનાની સામે સામર્થ્યની ભાવના ત્યારે તે પ્રતિબન્ધક બને છે.

૧.પ્રતિકાર :

ભગવદ્ ઇચ્છાથી દુઃખને દૂર કરવાનો ઉપાય મળી આવે તો દુઃખ ભોગવવાનો આગ્રહ ન રાખવો એ ધૈર્ય ધારણ કરવાનું પ્રથમ સોપાન છે. અહીં દુઃખ સહન કરવું તે ધૈર્ય નથી. પરંતુ દુઃખને મળી આવતા ઉપાયો દ્વારા પ્રતિકાર કરવો તે ધૈર્ય છે. દા.ત. આપણે બિમાર પડીએ તો દવાથી બિમારીને દૂર કરવી પરંતુ "ત્રિદુઃખ સહનં ધૈર્યમ્" એમ માની પ્રતિકાર ન કરીએ તો આપણી સેવા જ છૂટી જશે, તેથી તે ભક્તિમાં બાધકરૂપ છે. અને મેં પ્રભુ ઉપર વિશ્વાસ રાખ્યો તો પણ દુઃખ વધ્યું, આવી પ્રભુમાં અન્યથા બુદ્ધિથી શરણાગતિ છૂટી જશે.

૨.સહન :

પત્નિ વગેરેના, અન્ય સમ્બન્ધિઓના અને અસત્પુરુષોના અતિક્રમોને સહન કરવા. સહનનું ઉલટું અસહન દા.ત. આપણા ઘરે કોઈ મહેમાન આવે ત્યારે આપણે પત્નિ વગેરે ઘરના સભ્યો સાથે આપણે ઝઘડતા હોઈએ તો આવનાર મહેમાનની શું દશા થશે. એમ પ્રભુ પણ આપણા ઘરે મહેમાન થઈને પધાર્યા છે, તેમની સામે જ્યારે આપણે પત્નિ વગેરેના અતિક્રમોને સહન ન કરતા ઝઘડતા હોઈએ તો પ્રભુને તે નહીં ગમે. કારણ કે આપણા પ્રભુ અક્લિષ્ટ કર્મા છે. એટલે શ્રીઆચાર્યજી નિબંધમાં આજ્ઞા કરે છે કે **"સર્વં સહેત પરમં સર્વેષાં કૃષ્ણભાવનાત્"** (સ.નિ.૨।૨૩૩).

૩.ત્યાગ :

એટલે કે જે કારણથી દુઃખ ઉત્પન્ન થતું હોય એવા કોઈક, વાચીક અને માનસિક વ્યાપારોનો વ્યર્થમાં આરંભ જ ન કરવો એટલે કે અનારંભ આનું ઉલટું દુઃખ ઉત્પન્ન થાય તેવા કાયિક વગેરે વ્યાપાર કરવા એ ભક્તિ અને પ્રપત્તિની સાધનામાં બાધકરૂપ થઈ જશે. દા.ત. શ્રીહરિરાયજી શિક્ષાપત્રમાં આજ્ઞા કરે છે કે **"યો વદત્યન્યથાવાક્યમ્ આચાર્યવચનાજ્જનઃ, સંસૃતિપ્રેરકો વાઽપિ તત્સંગો દુષ્ટસંગમઃ"** અર્થ : જે શ્રીઆચાર્યજીના વાક્યથી અન્યથા વાક્ય કહે અથવા અહંતા-મમતાત્મક સંસારમાં આસક્તિ કરવાની પ્રેરણા કરે તેનો સંગ દુષ્ટસંગ જાણવો. (શિક્ષા.૩૮) અને સંસાર વધવાથી તે દુઃખી થાય છે. **"સંસારી યસ્તુ ભજતે સ દુરસ્થો યથા તથા, અપેક્ષિત જલાદીનામ્ અભાવાત્ તત્ર દુઃખભાક્"** આમ દુઃખ પ્રકટ થાય તેવા કાઈક, વાચીક અને માનસિક વ્યાપારોનો ત્યાગ કરવો.

૪.અસામર્થ્યની ભાવના

આનું ઉલટું જ્યારે આપણે સામર્થ્યની ભાવના અહંકાર કરીશું તે ભક્તિ અને પ્રપત્તિ બન્નેમાં બાધકરૂપ થશે. કારણકે કોઈ પણ કર્મ કરવામાં આપણે સંપૂર્ણ સશક્ત નથી અને સંપૂર્ણ અશક્ત પણ નથી. જો સંપૂર્ણ અશક્ત હોત તો પ્રથમમુનિઓએ હજારો વર્ષ સુધી હવા ભક્ષણ કરીને કરેલી તપસ્યા એક અપ્સરાના નાચ-ગાનથી ભંગ શા માટે થઈ જાત? અને શ્રીભાગવતજીના (૧૦।૮૯।૩૩,૩૪) માં શ્લોકમાં બ્રાહ્મણના મૃત પુત્રોને પાછા લાવવાની પ્રતિજ્ઞા (સામર્થ્યની ભાવના) જ્યારે અર્જુન કરે છે :

> "અર્જુને કહ્યું-હે બ્રાહ્મન્! હું બલદેવ, શ્રીકૃષ્ણ અથવા પ્રદ્યુમ્ન નથી.. હું તો અર્જુન છું, જે એકલો જ ગાંડીવ ધનુષ ધારણ કરી જાણે છે. બ્રાહ્મણ દેવતા! આપ મારા પરાક્રમનો તિરસ્કાર ન કરો, આપ જાણતા નથી કે મેં મારા પરાક્રમથી (મૃત્યુંજય) શંકર ભગવાનને પણ સંતુષ્ટ કર્યા હતા. હે ભગવન્! હું આપને વધારે શું કહું? યુદ્ધમાં સાક્ષાત્ મૃત્યુને પણ જીતી લઈ હું આપનું સંતાન લાવી આપીશ, એટલી મારામાં શક્તિ છે".

આખરે અર્જુનજી બ્રાહ્મણના મૃત પુત્રોને ન લાવી શક્યા ત્યારે પ્રતિજ્ઞા ભંગ થવાથી ખૂબ દુઃખ પામ્યા અને પ્રતિજ્ઞા પ્રમાણે અગ્નિમાં પ્રવેશવા તૈયાર થયા. આવી સામર્થ્યની ભાવના (અહંકાર) ને દૂર કરવાની અકસીર દવા શ્રીઆચાર્યજી નિબંધમાં બતાવે છે.

"પ્રવર્તકત્વં કૃષ્ણસ્ય ન વિધ્યર્થસ્ય કર્હિચિત્,
કાર્યતાદિપરિજ્ઞાનમ્ ઉત્પાદ્યૈષ પ્રવર્તયેત્"

અને

"સાધનં ચ ફલં ચૈવ હરિઃ વેદે નિરૂપ્યતે
તદભિવ્યક્તિતઃ સર્વં પુરુષાર્થં સ્વરૂપતઃ

સાધનં ચ ફલં ચૈવ ઈતિ ઉભયાત્મકો હરિઃ વેદે નિરૂપ્યતે તતશ્ચ વેદાનુસારેણ તદભિવ્યક્તો સત્યાં સર્વ એવ પુરુષાર્થ સિધ્યતિ, યતો ભગવાન્ સર્વ પુરુષાર્થ રૂપઃ" (ત.દી.નિ.પ્ર.૨,૧૭૭-૧૭)

અને

"નહીં સાધન સંપત્યા હરિસ્તુષ્યતિ કસ્યચિત્,
ભક્તાનાં દૈન્યમેવેકં હરિ તોષણ સાધનમ્" (દશ.સ્ક. કારિકા)

આમ સામર્થ્યની ભાવના ભક્તિ અને પ્રપત્તિની સાધનામાં બાધકરૂપ થાય છે.

આપણે જે સેવા કરીએ છીએ તે સેવાનું એક પાસું જ્ઞાનસમ્બન્ધ છે, એક પાસું ભગવાનનું મહાત્મ્યજ્ઞાન છે, એક પાસું ભગવત્સ્નેહ છે, એક પાસું તનુવિત્તજા છે અને એક પાસું કૃષ્ણકથાની લીલાભાવના છે. ધૈર્યના ચાર સાધનો અનાગ્રહ, સહન, ત્યાગ અને અસામર્થ્યની ભાવના એ પાયા છે કે જેના ઉપર ધૈર્યનું ભવન ઉભું રહી શકે છે. ધૈર્યના ભવનના ઉભા રહેવાથી આપણું મન અધીર ન થાય તો તે સેવામાં લીલાભાવનામાં પ્રવણ થશે. અને જ્યારે મન અધીર થશે ત્યારે સેવામાં ક્લેશ ઉત્પન્ન થશે. તે ક્લેશની સીધી અસર તનુવિત્તજા વગેરે પાસાઓ ઉપર નહીં પડે પણ કૃષ્ણકથાની લીલાભાવના ઉપર પડશે. અને આપણી સેવા ભાવભાવનાત્મિકા, ભગવદ્ તન્મયતા રૂપા (**"चेतस्तत्प्रवणं सेवा"**) ચિત્ત ભગવદ્ પ્રવણતા રૂપા, થવી જોઈએ તે નહીં થાય અને અધૈર્યથી ક્લેશ રૂપા બની જશે, ક્રિયાત્મક બની જશે. જ્યારે કોઈ પણ કામ આપણે તન્મયતાથી, ભાવનાથી કરીએ છીએ તો ક્લેશની કોઈ સંભાવના નથી. પરંતુ કોઈ કામ આપણે ક્રિયાત્મક કરીએ ત્યારે તે ઉદ્વેગ ઉત્પન્ન કરે છે. એટલે શ્રીઆચાર્યજી નિબંધમાં આજ્ઞા કરે છે કે **"सप्रेम ईति अनुद्वेगार्थम्"** અને ઉદ્વેગને સેવાફલમાં પણ બાધકરૂપ કહ્યો છે.

અધૈર્યનો જન્મ માયાના ગુણધર્મો ૧.કામ ૨.ક્રોધ ૩.લોભ ૪.મોહ ૫.મદ અને ૬.માત્સર્યમાંથી થાય છે તે આપણે ૮૪-૨૫૨ વૈષ્ણવોના પ્રસંગ દ્વારા સમજીએ.

૧.કામથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

દામોદરદાસ સંભરવારા ૮૪ વાર્તા પ્રસંગ-૩ "તબ શ્રીઆચાર્યજીને કહ્યો. જો તુ જાય કે અપની સ્ત્રીસોં પૂછિ આઉ. તબ દામોદરદાસ અપની સ્ત્રી સોં પૂછી, જો તેરે કાહૂં બાતકો મનોરથ હૈ? તબ સ્ત્રીને કહ્યો. જો ઓર તો કછુ મનોરથ રહ્યો નાંહી, એક પુત્રકો મનોરથ હૈ. ભાવપ્રકાશ-એક પુત્ર સેવા અર્થ હોય, સો યહ વિચાર નાહીં આયો જો પુષ્ટિમાર્ગકી સેવા માંગે તે મિલે. પુત્રકો કહાં પ્રમાણ હૈ, જો સેવા કરૈંગો? ઈતને યહ વચનમેં શ્રીઆચાર્યજીને જાન્યો જો મેરો આશ્રય છુટ્યો. જાઉં પુત્રકો લેકે સગરી ભક્તિ સકામી હોઈ ગઈ. તાતે મુકુંદદાસ સપ્તમ સ્કન્ધમેં પ્રહ્લાદ નૃસિંહજી સોં કહે હૈ, "સ્વામિકો નિજ અર્થ હિ

ચાહે નિદન ભક્તિ અવગાહૈં. સ્વામિ સો લૌકિક વૈદિક અપનો સુખ કછૂ ચાહે સો નિંદિત હૈ, વાકો ભક્તિ ન મિલે".

"लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा" (શિ.મુ.૧૬)

શ્રીભાગવતજીના ત્રીજા સ્કન્ધમાં ૧૪ માં અધ્યાયમાં કશ્યપપ્રજાપતિની પત્નિ દિતિને સંધ્યાસમયે કામ ઉત્પન્ન થયો તેથી કશ્યપે કહ્યું કે આ સંધ્યા સમય જવા દો કારણ કે સંધ્યા સમય ઘોર પ્રાણીઓ, રાક્ષસો વગેરેનો છે. તે વખતે ભુતનાથના ગણ ભૂત-પ્રેતાદિ ફરતા હોય છે. તો પણ કામાતુર બનેલી દિતિની ધીરજ ન રહેવાથી અકાલમાં ગર્ભધાનથી હિરણ્યકશિપુ અને હિરણ્યાક્ષ અસુર પુત્રો ઉત્પન્ન થયા. **"स्वयमईन्द्रिय..."** રિવર્સ અત્યાગ.

ભગવદ્ભક્ત પુત્ર ઉત્પન્ન થાય એવી કામનાથી શાસ્ત્ર વિરુદ્ધ કામોપભોગ(વ્યભિચાર) દુષ્કૃત્ય છે. આવું શાસ્ત્રવિરુદ્ધ (શ્રીઆચાર્યજીના સિદ્ધાન્તથી તદ્દન વિરુદ્ધ) દુષ્કૃત્ય આચરનાર પુષ્ટિમાર્ગની ફલાનુભૂતિથી વંચિત જ રહે છે **"विषयाक्रान्त देहानां नावेशः सर्वदा हरेः"** (સં.નિ.).

આમ કોઈપણ કામનાથી થતું અધૈર્ય ભક્તિ અને પ્રપત્તિમાં બાધકરૂપ બને છે.

૨.ક્રોધથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

પ્રસંગ ૮૪-૭૪ ગોપાલદાસ જટાધારી "સો એક વૈષ્ણવકો લરીકા અપુને શ્રીઠાકુરજી કે લીયે.... નિત્ય દ્વા-પાંચ ફુલ ચુરાય લે જાય. સો ગોપાલદાસ બહોતેરો જતન કિયો જો કોન ફૂલ લે જાત હૈ. પરંતુ જાની ન પરી. તબ એક દિન ગોપાલદાસ ઉહ બાગમેં છિપ રહે. સો ઉહ વૈષ્ણવકો લરીકા વર્ષ, ગ્યારહ કો, સો ચારો ઓર ગોપાલદાસ સો દેખ્યો. જાન્યો જો અબ યે નાહીં હૈ. તબ પાંચ ફૂલ તોર્યો. તબ ગોપાલદાસ દોરિકે આયો. સો ઉહ લરીકાકો પકરીકે માર્યો. તબ વહ લરિકા છુડાય કે ભાગ્યો. શ્રીનાથજીકે મંદિરમેં છિપ્યો. તહાં ભોગ કે કિવાડ ખુલે હતે. તહાં આઈ વહ લરિકા દરસનમેં છિપ્યો. સો ગોપાલદાસ રીસકે મારે ચલે આયે. સો ક્રોધમેં મંદિરકો જ્ઞાન ન રહ્યો. (**"क्रोधात् भवति संमोह"**) ઉહ બાલક કો ધોલ મારી, તબ સબનને છુડાય દિયો. સો શ્રીનાથજીકો બહોત બુરી લાગી જો ગોપાલદાસ મેરી હું કાની ન કરી? મંદિરમેં માર્યો..... જો શ્રીનાથજીકે ફૂલ, ઘરકે ઠાકુરકો ઘરનો નાહીં" (**"भार्यादिनां तथा.... सहेत"**નું રિવર્સ અસહન).

વર્તમાન સમયમાં કોઈ જો.બાલકને ગ્રન્થ ભણાવવાનું કહીએ તો

ક્રોધિત થઈ ખવાસને કહે છે કે "ભગાવો આને અત્યારે, અમારે પોઢવાનો સમય છે". અથવા એમ કહે કે "અત્યારે અમારે સમય નથી, પછી ક્યારેક? ભણાવશું". આવી આજ્ઞા કરનાર ગુરુને પાછો પધરામણી-ઉદ્ઘાટન વગેરેમાટે સમય છે!

૩.લોભથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

૮૪-૪૮ રામાનંદ પરિડત "સો પિછલી રાત્રીકો રામાનંદને ઉઠિકે સ્ત્રીકો કહી, બેગિકે ગોબર સોંકિ, નાતર વૈષ્ણ ઉઠિકે સબ ગોબર લે જાઈંગે. સો યહ બાત રામાનંદકી શ્રીઆચાર્યજીને સુની. સોં આપ ઉઠિકે મનમેં બહોત ક્રોધ કિયે. જો યા પ્રકાર ગોબરકો કહત હૈ, ઉઠાઈ બે જાઈંગે. તો વૈષ્ણવકો ઔર સમાધાન કહાં કરેંગો? વૈષ્ણવ મેરે પ્રાણપ્રિય, તિનકો યહ ઐસી બાત કહે. તબ શ્રીઆચાર્યજી ક્રોધ કરી હાથમેં જેવ લેકે જેહમંત્ર પઢિ રામદાસ ઉપર છિરકિ કે કહે, મૈને તેરો ત્યાગ કિયો".

૨૫૨૨૦૩ એક રેવી બ્રાહ્મણીકો બેટા "યહ વૈષ્ણવ આગે કોન હતો? તબ શ્રીગુસાંઈજી શ્રીમુખતે કહે જો યહ વૈષ્ણવપૂર્વ જન્મમેં શ્રીઆચાર્યજી મહાપ્રભુજીકો સેવક હતો. સો જીભકી લાલચ સોં સ્વાદ કરી નિરયો. તબ ચાચા હરિવંશજીને શ્રીગુસાંઈજી સો બિનતી કીની, જો મહારાજ? યહ કોન અપરાધ પર્યો? તબ શ્રીગુસાંઈજી આપ શ્રીમુખતે કહે, જો એક સમય અડેલમેં વૈષ્ણવકે સાથ આયો હતો. સો શ્રીનવનીત પ્રિયાજીકી રાજભોગ આરતીકો સમય હતો. સો શ્રીઆચાર્યજી મહાપ્રભુજીને સબ વૈષ્ણવનકો મહાપ્રસાદ લિવાયો હતો. તબ કછુ ઘી-દૂધ ઈત્યાદિ શ્રીઅકબરશાહકે ઈનકી પાતરિમેં ઘોરો ધર્યો. સો જબ યહ મહાપ્રસાદ લેન બેઠ્યો તબ પાતરી દેખીકે યાકે મનમેં આઈ જો મેરે કાંધેકો જગ શ્રીનવનીત પ્રિયાજી આરોગત હૈ. સો આજ મેરી પાતરી મેં ઓછી વસ્તુ ક્યોં ધરી હૈ? સો યહ બાત ઉનમેં શ્રીઅકબરશાહકે કહી. સો તાંહી સમે શ્રીનવનીત પ્રિયાજી જૈસી કૃપા આગે કરતે તૈસે પાછે જ્ઞાનુભાવ કછુ ન જનાવે. સો જીવતને દિન ઈનકી દેહ રહી તિતને દિન સેવા તો કરી, પરી પ્રભુ જ્ઞાનુભાવતા ન જનાએ. ભાવપ્રકાશ-ઔર રસના ઈન્દ્રિયકે બસ હોય સો ગિરે યે હૂં કહે". (રસનાના લોભથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય)

૨૫૨૧૩૮ એક બ્રાહ્મણી ઉજ્જૈનકે પાસ રહતી "તબ યહ શાક્ત ભૂમિ નાપ કે આયો. તબ યા સાક્તને યા બાઈસો કહ્યો જો બાઈ! મેં તેરી ભૂમિ બાનિ કે ઈતનો તોકો અહસાન કરૂયો હૂં. તબ યા બાઈને યા સાક્ત (ઝરીફ) સોં કહ્યો જો પુત? તેં મોકો જીવાઈ. એસે યા બાઈને સો કહેતે, જો (યા બાઈકો ઘાચિક) અન્યાશ્રય ભયો. અન્યમાર્ગીયકો અહસાન મોલ લિયો. "કૃષ્ણભટ્ટને કહ્યો જો બાઈ! હમારે શ્રીઠાકુરજી બનજ વ્યોપાર કરત નાહીં હૈ" જો એસો લોગનકો દિખાઈએ. ઔર યે લોગ એની ભાંતિ વૈષ્ણવજનનિ અહસાન કરે તો વૈષ્ણવતા તો બિકની. તાતેં અબ શ્રીઠાકુરજી તોંસો સેવા સ્વીકા

ન કરાવેંગે. ભાવપ્રકાશ-ઔર અપને શ્રીઠાકુરજી કે ઢૂંઢન અન્યમાર્ગીકો ન કરાવન યહું જનાયો".

આ પ્રસંગમાં લોભ અને પુષ્ટિમાર્ગમાં સિદ્ધાન્તના અજ્ઞાન (મોહ) થી પ્રકટ થતું અધૈર્ય છે. **"સ્વયમિન્દ્રિય કાર્યાણી..ત્યજેત્"** નું રિવર્સ ત્યાગ.

વર્તમાન સમયમાં લોભથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

વર્તમાન સમયમાં દ્રવ્ય, પ્રતિષ્ઠા વગેરેના લોભ વશાત અમે જો.બાલકોએ તનુવિત્તજાના ભાગલા પાડી વૈષ્ણવોને ખોટી રીતે ભરમાવી દીધા કે તમે તમારી ઘરે ઠાકોરજીને મિશ્રી ઘરો અને અમારે ત્યાં દ્રવ્ય આપી મનોરથો કરાવી જાવ! તમારી સેવા થઈ જશે!! આમ વિત્તજા વૈષ્ણવોની "પૈસા ફેંક તમાસા દેખ" અને તનુજા મુખીયા ભીતરીયાની. આવો ઝોરખધંધો, હવેલીઓ રૂપી દુકાનદારીઓનો ધંધો (વેપાર) ખુબ ફૂલ્યો-ફાલ્યો છે. એટલું જ નહીં પણ ભોગ વૈષ્ણવોના પૈસે ધરાય અને તે ભોગનો પ્રસાદ પાછો વેચવામાં આવે! ડબલ નફો ડબલ પ્રોફીટ!!

૪.મોહ અજ્ઞાનથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

૮૪૧૩ દામોદરદાસ સંભરવાળા "એક દિન દામોદરદાસ શ્રીઠાકુરજીકો રાજભોગ સમર્પિ સૈય્યા મંદિરમેં સૈયા સંવારન લાગે તબ દેખે તો દુશીયા ઉપર બિલાઈને બિગાડ્યો હૈ. તબ દામોદરદાસને કહ્યો, જો શ્રીઠાકુરજી તો અપની સૈયા હું રાખિ સકત નાહીં. એસે કહ્યો તબ શ્રીઠાકુરજીને ચાર ચૌકી ઉપરસુ ચાતમારી ડારિ દીનો. ઔર દામોદર દાસ સો શ્રીઠાકુરજીને કહ્યો. જો સેવક તું કે સેવક મૈં? સેવક હોયકે એસો બોલત હૈ. (શ્રીઠાકુરજી હોય માલ લો બોલે નાહીં)"

અહીં સ્વામીના સ્વરૂપના અજ્ઞાન (મોહ) થી પ્રકટ થતું અધૈર્ય છે. **"ભાર્યાદિનાં...અસતશ્ચાકામો સહેત્"** સહનનું રિવર્સ અસહન.

૨૫૨૧૮૩ એક સ્ત્રી ક્ષત્રાણી, બિલાઈવાલી "બાઈ અપને શ્રીઠાકુરજીકો અપને સાથ લે સોવે તબ એક દિન રાત્રિ પ્રહર ડેઢ ગઈ હતી તબ તા દિના બિલાઈ દોઈ પાકે પલંગકે નીચે રહ ગઈ હતી. સો દોઉ બિલાઈ આપુસમેં લરન લાગી. તબ ઠાકુરજી ડરપન લાગે. તબ યહ બાઈ યા બિલાઈકો ગારી દેન લાગી. ઔર યા બિલાઈ સોં કહે, જો મેરે લાલજી ડરપત હૈં. પરિ યહ બિલાઈ તો ચરતતં રહે નાહી. શ્રીઠાકુરજી ઉન બિલૈયાન સો ડરપે સોવા બાઈ સો આપસું વપટાત જાઈ, ઔર શ્રીઠાકુરજી કહત જાઈ, જો અરી બાઈ! મેં તો ઈન નિગોડી બિલૈયાન તે ડરપત હોં. તબ યહ બાઈ

બિલૈયાનકો ગારી દેન લાગી, ઔર તુમ દેખો તો સહી સબારે મૈં તુમકો ઢકરીન સોં મારોં. આજુ તુમ મેરે લાલજકો ડરપાવત હો? ઔર યે બિલૈયા તો ઘરતનેં રહેં નાહીં તબ શ્રીઠાકુરજી ફેરી ફેરી બોલે, જો એરી આઈ! મૈં તો ઈન નિગોડીન બિલૈયાન તે ડરપત હોં. યોં કહિ કે યા બાઈ સો લપટાત જાઈ (બાઈની ધીરજ ખુટી) તબ યહ બોલી જો-અહો શ્રીલાલજી મહારાજ! તુમને તો પુતના મારી હૈ, ઔર બડે બડે દૈત્ય હું મારે હૈ. તબ તો તુમ ડરતે નાંહી. ઔરે સબ ઈન બિલૈયાન તે ક્યોં ડરપત હોં? જબ યા બાઈને એસો કહી તબ બાઈ કોં છોડિકે શ્રીઠાકુરજી કહન લાગે, જો અરી બાઈ આજ તક તો તેરો હમારો યહ સમ્બન્ધ હતો. પરિ અબ તો યહ સમ્બન્ધ રહ્યો નાહીં. તબ તા દિન સોં શ્રીઠાકુરજી યા બાઈસોં કછુ કહે ન બોલે" ભાવપ્રકાશ- સોં કહેં તે જો જહાંતાંઈ બાલક જાને તહાં તાંઈ તો લાલજી બ્હે રહે. ઔર જબ બડે જાને મહાત્મ્ય કરિ કે તબ તો પ્રભુજી ભગે. તાંતે જહાં (સેવા કરતી વખતે) મહાત્મ્ય આયો તબ તહાં સ્નેહ તો ગ્યો."

અહીં સેવાના સ્વરૂપના અજ્ઞાનથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય છે. મહાત્મ્ય ખુબ જ જરૂરી છે પરંતુ સેવા કરતી વખતે પ્રકટ કરવાથી સ્નેહ જતો રહેશે. ક્ષત્રાણી સ્ત્રીને પ્રભુ બાલભાવનો આનંદ આપતા હતા. ત્યારે ક્ષત્રાણીએ (ધીરજ ખુટતા) તે લીલાનો આનંદ ન લેતા અધીર બની મહાત્મ્ય પ્રકટ કર્યું એટલે રસાભાસ થયો.

શ્રીભાગવતજીના સ્કન્ધ ૫ માં ભરતરાજા પોતાનું રાજ્ય છોડી ભગવદ્ભજન કરવા વનમાં ગયા. ત્યાં મોહવશ હરણીના બચ્ચામાં આશક્તિ થવાથી ફલપ્રાપ્તિમાં વિલંબ થયો.

વર્તમાન સમયમાં મોહથી (અજ્ઞાન) પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

"સબસે બડો અજ્ઞાન (મોહ) તો યહ હૈ કિ હમ પુષ્ટિમાર્ગી હો કે ભી શ્રીઆચાર્યજીકે ગ્રન્થનકો અધ્યયન-અધ્યાપન નહીં કરેં હૈં. ક્યોંકિ અપન ગો.બાલક ઔર તુમ વૈષ્ણવન, અપન દોનોંકો જોડનેવાલી જો કડી હૈ સો શ્રીઆચાર્યજીકે ગ્રન્થ હૈ. શ્રુતિને કહ્યો હૈ **"આચાર્યઃ પૂર્વ રૂપં, અંતેવાષ્યુત્તર રૂપં, વિદ્યા સંધિઃ"** ઔર અપની સ્થિતિ તો ઐસી હૈ **"ઉભાવપ્યશ્રુતગ્રન્થૌ ઉભયોપિજડાત્મકૌ, અહો મોહસ્ય મહાત્મ્યં તત્રૈકઃ શિષ્યતાંગતઃ"**, મતલબ સમજે, ગો.બાલક ઔર વૈષ્ણવ દોનોંને ગ્રન્થનકો અધ્યયન નહીં કિયો, દોનોં જડ પાની (ભેંસકે અવતાર) હૈં, અરે!!! યે મોહકો મહાત્મ્ય તો દેખો ફિર ભી એક શિષ્યા હૈ, ઔર એક ગુરુ હૈ. યે કૈસે ગુરુ શિષ્ય હો ગયે? ગ્રન્થે પઢે બિના, યે તો "અંધે ગુરુ લાલચી ચેલા, દોનો નરકમેં ઠેલમઠેલા" મહાવનકે અજ્ઞારકો પાદ

કરો, વાને ચરણભેટ લે લેકે એશ કિયો ઔર શિષ્યનકો ઉદ્ધાર નહીં કિયો. ઐસે અપન ભી શ્રીઆચાર્યજીકે નામ પે ચર ખા રહે હૈં. યે અજ્ઞાનકું એક ન એક દિન તો દુર કરનો હી પડેગો". (ગો.શ્યામમનોહરજીના વચનામૃતમાંથી સાભાર)

૫.મદ અહંકારથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

૮૪૧૧ ગોવિંદદાસ ભલ્લા. "શ્રીગોવર્ધનધરકી પરચારકી કરન લાગે. દોઉ સમયકે પાત્ર માંજે, રાત્રિ પહર ડેઢ રહે પાછલી, તબ ઉઠી કે દેહકૃત્ય કરી ન્હાઈકે જાગરી લે મથુરા આઈ, શ્રીયમુનાજલકી જાગરી ભરી રાજભોગ પહલે આવતે. પાત્ર સબ માંજ રસોઈ પોતિ અપની સબ સેવા સોં પહોંચી પર્વતકે નીચે આઈ, તીલક ધોઈ માલા ઉતારી ઝાંટી બાંધી ગોવર્ધનકે આસપાસ સોં કોરી ભિક્ષા માંગી લાવતે. સો સેર પાંચ-સાતકો આહાર હું હતો. સો આહાર લાઈ કે આવે તબ આઈ કે અપને હાથ સોં પીસ રોટી કરી શ્રીગોવર્ધનકી ધજાકો દિખાઈ ચરણામૃત મિલિકે લેતે. પાછે રોજ, ભોગકે પાત્ર માંજતે રસોઈ પોતિ સેવા સો પહોંચી સેન કરતે. યા પ્રકાર સેવા કરતે. પરંતુ શ્રીગોવર્ધનનાથજીકો આછો ન લાગતો. ભાવપ્રકાશ-"તાકો કારન યહ જો ભાવ પ્રીતિ સો ઐસી સેવા કરે તો શ્રીગોવર્ધનધર પાકે પાછે લગે ડોલતે." પરંતુ ગોવિંદદાસ ભલ્લા તામસી હતો. સો સગરી સેવા અહંકાર સોં કરતે, શરીરકો કષ્ટ પાવતે. પરંતુ ગગરે સેવકનકો નીચે કરી દિયે. જો મો બરાબર કોન કરેગો. તાતેં શ્રીગોવર્ધનધરકો આછો ન લગે અપ્રસન્ન કરત હૈ".

૮૪૧૪ પાર્વતીકો બેટા રઘુનાથદાસ "પાછે રઘુનાથદાસ કછુ દિન સેવા કરી. પાછે જ્ઞાન ભયો. જો પાર્વતીકી સેવા અહંકાર કરી છુડાઈ. તાતેં પ્રભુ મો પર અપ્રસન્ન હૈ. તાતેં ભગવદીય સોં મિલિકે ચલુંગો. તો શ્રીઠાકુરજી પ્રસન્ન હોઈંગે. અહંકાર કિયે મેરી યહ સેવા જાઈગી..." ભાવપ્રકાશ- "પ્રીતિકી લોટી મોંકો (પ્રભુકો) પ્રિય હૈ. અહંકાર કરી છપ્પનભોગ પ્રિય નાહીં હૈ."

૮૪૧૨ કૃષ્ણદાસ મેઘન "ઔર એક સમય શ્રીઆચાર્યજી સોં કૃષ્ણદાસને પ્રશ્ન પુછ્યો, જો ભક્ત હોઈ કે શ્રીઠાકુરજીકી લીલાકો ભેદ નાહીં જાનત સોં કહેંતે? તબ શ્રીઆચાર્યજીને કહ્યો "...જો સબ દાસ ભયો. પ્રભુ આધીન હોં. પ્રભુ કરે સો સર્વોપરિ સિદ્ધાન્ત હૈ. યહ ભેદ અપનેમેં નાહીં. ઔર અપની યોગ્યતા માની ભગવદીયકો સંગ નાહીં કરત હૈ. તાતે યોગ્યતા જાને તબ પ્રભુ અપ્રસન્ન હોઈ જાત હૈ. યહ માર્ગ કૈસ કા હૈ. સો કૈસ નાહીં હૈ".

આ **"અસૂરેણાપિ કર્તવ્યં સ્વસ્યાસામર્થ્ય ભાવનાત્"**નું વિરુદ્ધ સામર્થ્યની ભાવનાથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય.

વર્તમાન સમયમાં મદથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

"અપન ગોસ્વામી લોગ આજ અપને પુરુષોત્તમ હોનેકો ઘવા કર રહે હૈં. પર શાસ્ત્ર પુરુષોત્તમકી કયા ડેફીનેશન દેવે હૈ? દેખો **"યસ્માત્ ક્ષરમ અતિતોઽહં અક્ષરાદપિ ચોત્તમઃ, અતોસ્મિ લોકે વેદે ચ પ્રથિતઃ પુરુષોત્તમઃ"** (ગીતાજી.૧૫।૧૮) (અર્થ : હું ક્ષરથી અતીત છું અને અક્ષરથી ઉત્તમ છું, તેથી લોકમાં તથા વેદમાં 'પુરુષોત્તમ' એમ પ્રસિદ્ધ છું.)

દુસરો ઉદાહરણ દેખો : **"યત્ર યેન યતો યસ્ય યસ્મૈ યદ્ યદ્ યથા યદા, સ્યાદિદં ભગવાન્ સાક્ષાત્ પ્રધાનપુરુષેશ્વર"** (ભાગ.પુરા.૧૦।૮૫।૪) (અર્થ : જ્યાં પણ, જે સમયે પણ, જેના દ્વારા પણ, જેનાથી પણ, જેના માટે પણ અને જે રૂપમાં પણ જે કંઈ પણ થાય છે, કે થઈ રહે છે એ બધું આપ જ છો. તાત્પર્ય આ છે કે બધા કારકો અને વિભક્તિઓ દ્વારા વાચ્યકે બોધ્ય અર્થ આપ જ છો) પ્રકૃતિ (ના રૂપમાં ભોગ્ય), પુરુષ (ના રૂપમાં ભોક્તા) અને (બન્નેના નિયામક) ઈશ્વર, સાક્ષાત્, ભગવાન્ આપ જ છો.

"યે ગીતાજી ઔર શ્રીભાગવતજીકે વચન યે સફેદ્ય પોતકે આજ હમ ગો.બાલક સબ અપને આપકો પુરુષોત્તમ માનને લગે. ઔર તુમ વૈષ્ણવનને "બોલતે ઠાકુર, બોલતે ઠાકુર" કર કર કે હમમેં એસો અહંકાર પનપા દીયો. યામેં અપન દોનોંકો બિગાડ ભયો હૈ. શ્રીઆચાર્યજીને એસો નહીં કહ્યો. ઉનને તો કહ્યો હૈ કે **"ઈતિ 'શ્રીકૃષ્ણદાસસ્ય વલ્લભસ્ય હિતં વચઃ"** (ગો.શ્રીશ્યામ-મનોહરજીના વચનામૃતમાંથી સાભાર)

૬.માત્સર્યથી પ્રકટ થતું અધૈર્ય :

૨૫।૨।૧૩ ધની ધન્યાની "(પરોસનકે ઘર) જાપકે દેખે તો વાકે ઘરમેં ઘણો વૈભવ. સો વૈભવ દેખિકે વાકો મન લલચાયો. સો વા(પરોસન) ને યા (વૈષ્ણવ સ્ત્રી) કો મન લલચાયો દેખકે કહી, જો તુમ અપને શ્રીઠાકુરજીકી સેવા કરો હો, કુલદેવતાકો પુજન નાહીં. તુમહારે વૈભવ કહાંતે હોય? તબ વાને કહી, જો હમારે ઘરમેં તો કુલદેવતા નાહીં હૈ. તબ વા (પરોસન) ને એક દેવીકો પુતરા દીયો. તબ આગામેં બેઠારે. ઈતનેમેં વા (વૈષ્ણવ સ્ત્રી) કો ધની આયો. કહી જો ઉત્થાપન નાહીં કિયે? તબ વાને કહી જો મેં કુલદેવી લે આઈ હું. સો તાકો કછુ સરંજામ હૈ નાહીં. સરંજામ લે આવો તો ન્હાઉ. ભાવપ્રકાશ-"જો અવૈષ્ણવ કો પાસ જાનો નાહીં".

આ વાર્તા પ્રસંગમાં પડોસનના ઘરે દેવીનો વૈભવ જોઈ વૈષ્ણવ-

વૈષ્ણવની સ્ત્રીમાં માત્સર્ય પ્રકટ થયું કે આવો વૈભવ મારે તો નથી. જેવી રીતે આજ-કાલ હવેલીઓમાં કેસરના હિંડોળા, અન્નકુટના મોટાં-મોટાં ઈંટો જેવડા ઢેફલા, શ્રીઠાકુરજીના બાહ્ય આડંબર રૂપ, રાગ, ભોગ, શૃંગાર, મેંડ મરજાદ, આવો ઠાઠ જોઈ વૈષ્ણવોના મનમાં એવી હીનતાની ભાવના આવી ગઈ કે આવી સેવા અમે ઘરે કેવી રીતે કરી શકીએ એટલે બધા હવેલીઓમાં મનોરથો કરાવતા થઈ ગયા. એક વૈષ્ણવ ૧૦૦ રૂા. ભેટ લખાવે તો બીજો ૨૦૦, ત્રીજો ૪૦૦ આમ પરસ્પર માત્સર્ય પ્રકટ થયું. અને પોતાના સેવ્ય સ્વરૂપમાંથી સ્વરૂપ નિષ્ઠા ખણ્ડિત થઈ. બધા સેવા છોડી-છોડી હવેલીઓમાં ભટકતા થઈ ગયા. ગો.શ્યામુબાવાના શબ્દો તો આ છે કે "જેટલી જાહેર હવેલીઓ છે તે શ્રીમહાપ્રભુજીની ભક્તિ રૂપી ગાયને કાપવાના કતલખાના છે. અને હવેલીઓનો જે પ્રસાદ છે, તે ભક્તિ રૂપી ગાયનું માંસ છે. અને તે દેવદ્રવ્ય રૂપી (માંસ) વેચનારા અમો કસાઈયો છીએ અને તે દેવદ્રવ્ય રૂપી (માંસ) ખાનારા તમો વૈષ્ણવો ગૌમાંસ ભક્ષી ગ્રાહકો છો" (સર્વનિર્ણય પ્રવચન ૨૦૦૧ મુંબઈ) આપણે જો પુષ્ટિ પ્રભુની પ્રાપ્તિ કરવી હોય તો, વર્તમાન સમયમાં શ્રીઆચાર્યજીના સિદ્ધાન્તથી સદંતર વિરુદ્ધ ચાલતા પ્રકારોનો પ્રતિકાર કરવો જ જોઈએ. **"પ્રતીકારો યદચ્છાતઃ સિદ્ધશ્ચેત્ નાગ્રહી ભવેત્".**

અધૈર્યનિવારણ-ઉપસંહાર :

"શાસ્ત્રમ્ અવગત્ય મનોવાગ્દેહૈઃ કૃષ્ણઃ સેવ્યઃ" શાસ્ત્ર (શ્રીઆચાર્યજીના ષોડશગ્રન્થ, નિબંધ વગેરે) નું અધ્યયન કરીને જ પછી મન, વાણી અને દેહથી કૃષ્ણની સેવા કરવી.

૮૪।૭૦ કનૈયાલાલ ક્ષત્રી "સો શ્રીઆચાર્યજી જિતને છોટે ગ્રન્થ કિયે હતે સો સબ કનૈયાલાલકો પઢાયે." તબ "ઝારે ગ્રન્થકે ભાવ, બીચકે ભાવ, પુષ્ટિમાર્ગકો સિદ્ધાન્ત કનૈયાલાલકે હૃદયમેં સ્થાપન કિયે. "સો શ્રીગુસાંઈજી કનૈયાલાલ પાસ શ્રીઆચાર્યજીકે સારે ગ્રન્થ પઢે. પાછે શ્રીગુસાંઈજી શ્રીઅડ્યાજી સોં પૂછ્યો, શ્રીઆચાર્યજીકે ગ્રન્થ કહાં મીલે? તબ અડ્યાજીને કહી, આગરેમેં કનૈયાલાલ ક્ષત્રીકે પાસ ગ્રન્થ હૈ, તહાં તે લેહું. પાછે શ્રીગુસાંઈજી કનૈયાલાલ પાસ શ્રીઆચાર્યજીકે સારે ગ્રન્થ પઢે. પાછે શ્રીગુસાંઈજી ગ્રન્થકી ટીકા કરી કનૈયાલાલકો કૃપા કરી પઢાયે".

૮૪।૭૬ સંતદાસ ચોપડા "શ્રીઆચાર્યજી સો બિનતી કરો" જો મહારાજ મો પર ઐસી કૃપા કરિયે જો યા દેહસોં શ્રીઠાકુરજી અનુભવ જતાવે. આપકો સ્વરૂપ હૃદયારઢ હોઈ. પુષ્ટિમાર્ગીય ફલકો અનુભવ હોઈ. તબ શ્રીઆચાર્યજી સંતદાસકો 'પુરુષોત્તમ સહસ્ત્રનામ' પઢાયે. ઔર આપુને ગ્રન્થ

કિયે હતે સો પોથી સંતદાસકો દેકે કહે, તુમકો યહ ગ્રન્થ દ્વારા સબ મનોરથ પૂર્ણ હોઈંગો".

૮૪૧૪ રઘુનાથદાસ "શ્રીઆચાર્યજીકે માર્ગકી પરિપાટી ઔર માર્ગકી બાત નાહીં જનત હૌં." તબ શ્રીગુસાંઈજીને રઘુનાથદાસકો ચાર ગ્રન્થ સિદ્ધાન્તરહસ્ય, કૃષ્ણાશ્રય, નવરત્ન, ઔર સેવાફલ અર્થ સહિત પઢાયે ઔર માર્ગકી પ્રણાલીકા કહી.

૮૪૧૫ પદ્મનાભદાસકી બેટી તુલસા "યદિ શ્રીઆચાર્યજીકે ગ્રન્થકો પાઠ નિત્ય કરિયત હૈ" "જો ઉનકે ગ્રન્થકે પાઠ તે કૃપા પ્રભુ કરત હૈ" તબ શ્રીગુસાંઈજી બહોત પ્રસન્ન ભયે.

૮૪૧૬ શેઠ પુરુષોત્તમદાસ "ઔર શ્રીઆચાર્યજીકે પાસ વાદી બહોત આવે. તબ શ્રીઆચાર્યજી પત્રાવલંબન ગ્રન્થ મહાદેવકે પાસ ભીતમેં લગાઈ, છોટે ગ્રન્થમેં હમરેન માયાવાદીનકો નિરસ્તર કિયે."

શ્રીઆચાર્યજીએ એક ગ્રન્થથી જ માયાવાદીને નિરસ્તર કર્યો, તો પછી આપણા અધૈર્યની શું વિશાદ? માત્ર શ્રીઆચાર્યજીના ગ્રન્થોના અધ્યયન,અધ્યાપનથી આપણું અધૈર્ય જ નહીં, પણ આપણને ભક્તિમાર્ગમાં આડું આવતા બધા જ પ્રતિબંધો દૂર થાય છે, એમાં કોઈ સંશય નથી.

૮૪૧૬૭ ગોપાલદાસ ક્ષત્રી "શ્રીઆચાર્યજી સો બિનતી કરી "સો મોપે એસી કૃપા કરો, જો પુષ્ટિમાર્ગકો સિદ્ધાન્ત હૃદયારૂઢ હ ।, ઔર આપકે સ્વરૂપકો કછુ જ્ઞાન હોય. તબ શ્રીઆચાર્યજીને સિદ્ધાન્ત રહસ્ય" ગ્રન્થ પઢાયે. ગોપાલદાસકે હૃદયમેં પુષ્ટિમાર્ગકે સિદ્ધાન્તકો ભાવ હૃદયારૂઢ ભયો. શ્રીઆચાર્યજીકે સ્વરૂપકો જ્ઞાન ભયો".

"જ્યાં સુધી ષોડશગ્રન્થની ચારણામાંથી પસાર નથી થયા ત્યાં સુધી પુષ્ટિમાર્ગી બની જ નથી શકતા." (ગો.શરદભાવા) વર્તમાન સમયમાં પુષ્ટિ પ્રભુ સુધી પહોંચવા માટે તો શ્રીઆચાર્યજીના ગ્રન્થોનું અધ્યયન, અધ્યાપન કરી, પુષ્ટિ પ્રભુની પોતાના ઘરમાં પોતાના તન, મન અને ધનથી સેવા જ સર્વોત્કૃષ્ટ સાધન છે. આથી અધૈર્ય આપ મેળે જ દૂર થઈ જશે. અને ધૈર્યની પ્રાપ્તિ થશે.

नह्यन्यो वाग्धीशाद् श्रुतिशतवचसां भावमाज्ञातुमीष्टे
यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति पदैरग्रतः प्रत्युदेव
तस्माद् श्रीवल्लभाख्य! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा वृथयन्ति
ज्ञातं ये ते निसर्गोत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः"

श्रीवल्लभाष्टकम्

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली का आपसी टकराव

(भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध होनेके सन्दर्भमें)

गोस्वामी श्याम मनोहर

१.औपक्रमिक परिभाषा :

'आधुनिक न्यायप्रणाली' पदका प्रयोग भारतवर्षके अंग्रेज़ोंके उपनिवेश बननेके बाद जो लिखित न्यायप्रणाली अंग्रेज़ोंद्वारा साक्षात् प्रशासित प्रदेशोंमें लागू की गयी तथा उनसे प्रभावित देशी राज्योंमें भी जो शनैः-शनैः प्रस्तुत हुयी; और, स्वाधीनता मिलनेके बाद राष्ट्रके गणतन्त्र घोषित होनेपर जो संविधान देशमें मान्य हुवा उससे जो न्यायप्रणाली प्रस्थापित हुयी, उस अर्थमें विवक्षित है. इसी तरह 'पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली'पदका प्रयोग महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणद्वारा कण्ठतः उपदिष्ट और उनके उपदेशोंपर परवर्ती व्याख्याकारोंद्वारा लिखी गयी विवेचनाओंमें प्रकट होती भगवत्सेवाकी प्रणालीका जो स्वरूप प्रकट हुवा है उस अर्थमें विवक्षित है.

२.विचार्यविषयके आधारभूत प्रमाणोंकी परिधि :

यह तो स्वाभाविक ही है कि चाहे राजकीय न्यायप्रणाली हो या धार्मिक साधनाप्रणाली कोई भी अपने मूल प्रवर्तनाके वचनोंमें बंध कर सदा रह नहीं पाती. क्योंकि परवर्ती विवेचनाकारोंकी अपनी समझ, परम्परामें उसके अनुसरणमें आती सुविधा/असुविधा; तथा अन्तमें तत्तद् देश-कालकी अनुकूलता/प्रतिकूलता ये ऐसे तथ्य हैं, जो किसी भी न्याय या धर्म की प्रवर्तमान या जीवित प्रणालीके स्वरूपको घड़नेमें महत्त्वपूर्ण घटक बन जाते हैं. अतः इन्हें भी निकष तो मानना पड़ता है. फिरभी न्यायप्रणाली हो या धर्मप्रणाली या अन्यभी जीवित प्रणालियोंका उनके मूल स्वरूप एवं प्रयोजन के अनुरूप स्वस्थरूपेण विकसित होना एक सम्भावना है. ऐसे ही दूसरी सम्भावना उसके विकृत हो जानेकी भी उतनी ही सहज होती है.

अतएव प्रस्तुत पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीकी विवेचनामें देश-

कालकी विषम परिस्थितिके वश प्रकट हुए विकृत स्वरूपको आदर्श माननेके बजाय ग्रन्थोपदिष्ट स्वरूपको ही हम प्रामाणिक मान कर यहां विमर्शार्थ प्रवृत्त होना चाहेंगे. क्योंकि उपदिष्ट सिद्धान्तके बारेमें सावधानीके साथ जो छूटछाट परम्परामें ली गयी हों अथवा देश-कालवश पनपी अनचाही विकृतियां जो परम्परामें जुड़ गयी हों, उन्हें कभी न कभी तो अपने मूलरूपमें स्वस्थ बनानेका नैतिक उत्तरदायित्व अनुगामिओंका होता ही है. यह यदि अभीष्ट न हो तो उन्हें मूल स्रोतसे जोड़ना या उनके साथ मूल स्रोतका नाम जोड़ना अनीतिपूर्ण कृत्य बन जाता है. वह यदि जगतवंचना नहीं तो उससे भी गर्हित आत्मवंचना ही होती है. अतः पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका ग्रन्थोपदिष्ट स्वरूप ही इस आलेखनकी वह प्रामाण्यपरिधि है जिसके भीतर रह कर ही जो कुछ प्रस्तुत करना है सो करना है.

३.विचार्यविषयकी परिधि :

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली के महावृत्तोंके अन्तर्भूत कतिपय परिगणित लघुवृत्त ही यहां विचारणार्थ अभिलषित हैं. क्योंकि अन्य भी अनेक लघुवृत्तोंकी विवेचना इस अल्पपरिमाणके आलेखनमें न शक्य है और न अभीष्ट ही.

एतदर्थ अनपेक्षित विस्तारसे बचनेके लिये 'सिद्धान्तवचनावली' नामक पुस्तिकामें से ही वचन उद्धृत करना चाहूंगा. यह वचनावली सन् १९९२के जनवरी मासकी तारीख १० से १३ तक चार दिनों तक विश्वकर्माबाग (पार्ले-मुंबइ) में पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारणार्थ प्रस्तुत की गयी थी. इसमेंसे भी केवल चार मुद्दोंको ही उपलक्षणविधिसे यहां उपस्थापित करना चाहूंगा : [1]सेवास्थल [2]सेव्यस्वरूप [3]सेवाधिकारी सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक [4]सेवास्वरूप. क्योंकि इस सेवास्वरूप मुद्देके भीतर अन्य चार मुद्दे यथा : [5]सेवोपदेशदीक्षा [6]सेवाप्रदर्शन [7]सेवाप्रयोजन तथा [8]सेवार्थ-आजीविका का भी स्वारसिक अन्तर्भाव सिद्ध है ही. तदर्थ यथापेक्षा उद्धरणसन्दर्भ भी प्रायः उस सिद्धान्तवचनावलीसे प्रस्तुत किये जायेंगे. अस्तु.

४.प्रसंगोपात्त स्पष्टीकरण :

इस वचनावलीमें इन विषयोंके बारेमें विचारणीय मूलवचनोंका

संकलन और भावानुवाद भी तभी प्रस्तुत किया गया था. तबसे आज तक सैद्धान्तिक दृष्टिसे कोई भी गम्भीर त्रुटि या अर्थान्तर इनमें कोई भी दिखला नहीं पाया. कुछ बचकानी छीछालेदर अवश्य प्रकाशित हुयी थी. अन्य कुछ आलोचकोंद्वारा भूतकालमें स्वयंघोषित विधानोंके वदतोव्याघात करनेवाली आलोचना भी प्रकाशित की गयी. परन्तु उनकी पूर्वस्वीकृतिको प्रामाणिक मानना या आत्मस्वीकृतिके खण्डनको प्रामाणिक मानना यह सवाल उठाये जानेपर सर्वार्थसाधकं मौनं ही प्रत्युत्तर मिला

अतः अगतिकतया मूलवचनोंके आधारपर यह निश्चित हो जाता है कि पुष्टिसम्प्रदायमें—

[1]भगवत्सेवार्थ अपेक्षित स्थल सेवाकर्ताका अपना निजी घर होता है, सार्वजनिक देवालय नहीं.

[2]सेव्यस्वरूप भी सेवाकर्ता और उसके परिवार द्वारा की जाती भगवत्सेवाके हेतु स्वार्थ-प्रतिष्ठापित होता है, परार्थ नहीं. अर्थात् पुष्टिमार्गानुगामी जनसाधारणकी धार्मिक साधना या धार्मिक हित के हेतु प्रतिष्ठापित नहीं.

अतएव ऐसे निजगृहमें बिराजमान निजी आराध्य स्वरूपके भजनार्थ अधिकार भी [3]सेवाकर्ता, और उसकी अनुमतिके आधारपर, उसके पारिवारिक या इष्ट जनोंका ही होता है, पुष्टिमार्गमें दीक्षित हर किसी वैष्णव या जनसाधारण का नहीं.

तदनुसार [4]भगवत्सेवाका स्वरूप भी निजी ही होता है सार्वजनिक नहीं.

और अतएव [5]ब्रह्मसम्बन्ध या आत्मनिवेदन की साम्प्रदायिकी दीक्षा भी स्वयं तथा स्वयंके पारिवारिक जनोंके भगवत्सेवाके अधिकारार्थ ली जाती है, पुष्टिसम्प्रदायमें प्रवेशार्थ अथवा साम्प्रदायिक सार्वजनिक देवालयोंमें दर्शनार्थ, अन्य किसी द्वारा की जाती भगवत्सेवाके हेतु धनप्रदानार्थ अथवा भगवत्प्रसादग्रहणार्थ नहीं.

परिणामतया [6]पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें दर्शनार्थ सम्मिलित होनेका कर्तव्य था अधिकार भी निजी ही होता है, सार्वजनिक नहीं.

यही तथ्य पुष्टिमार्गमें की जाती भगवत्सेवाके "प्रयोजनके बारेमे कहा जा सकता है : सेवाका प्रयोजन भक्तिरूपा या भक्तिवृद्ध्यर्थ सेवाद्वारा स्वयं-निवेदित अहन्ता-ममतास्पद पदार्थोंका अपने घरमें बिराजते भगवत्स्वरूपके हेतु विनियोजन होता है. जनकल्याण या जनप्रशिक्षण आदि नहीं.

अन्तमें निष्कर्षतया पुष्टिमार्गमें "भगवत्सेवा सेव्यस्वरूपकी आराधना, अर्थात् प्रसन्नता, के लिये होती है नकि सेवाकर्ता या उसके परिवार की आजीविकाके उपार्जनार्थ.

(द्रष्ट.सिद्धा.वच.१-८ तथा पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाका संक्षिप्त विवरण पृ.५-३८)

यों सिद्धान्ततः तो सिद्ध हो जानेपर भी एक नग्न सत्य यह है कि ऊपर दिखलायी गयी प्रणालीसे सर्वथा विपरीत ही पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाका विकृत प्रकार वर्तमान कालमें चल रहा है. अपनी आजीविकाके उपार्जनार्थ आत्मविश्वास खो बैठे हम धर्मोपदेशकोंकी क्षुद्र धनलालसाके कारण जनताको भी भगवत्सेवाकी विकृत प्रणालीको ही अनुसरनेको आज लुभाया या बहका दिया गया है. ऐसे बहकानेवाले ग्रन्थोपदिष्ट सिद्धान्तोंको गौण दिखला कर परम्पराकी दुहाई देते हैं. परन्तु परम्पराके संवाहक उन पूर्वजोंके वचन भी, अतएव, उस सिद्धान्तवचनावलीके परिशिष्टमें 'अमृतवचनावली' शीर्षकके नीचे संकलित किये गये थे. ताकि पुष्टिमार्गकी सच्ची मान्यतासे परम्पराकी दुहाई कितनी विपरीत है, यह स्वयं देखा जा सके.

एतावता यदि कोई ऐसे कहे कि सिद्धान्तदृष्टि चाहे जो कुछ रही हो, व्यवहारमें उसका अनुसरण नहीं किया गया होनेसे, उसकी प्रभाविता निःशेष हो गयी, तो यह विधान असंगत है. क्योंकि समाजमें चोरी-डाका-हत्या आदि अपराध भी सभी युगोंसे चलते ही आ रहे हैं, एतावता उन्हें अपराध न मान सामाजिक अनुमति नहीं माना जा सकता. इसी तरह सिद्धान्तवचनावली और अमृतवचनावली से विपरीत पुष्टिमार्गीय धर्मोपदेशकोंके तथा धर्मानुयायियोंके आचरणोंको अपराधरूप ही मानना चाहिये, साम्प्रदायिक अनुमति नहीं.

अन्यथा सभी वल्लभवंशजोंको साक्षात् पुरुषोत्तम माननेकी

अन्धरूढ़िके कारण पनपी अन्यान्य विकृतियोंको भी पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आवश्यक अंग मानना पड़ेगा आधुनिक न्यायप्रणालीके प्रवर्तक अंग्रेज़ न्यायाधीशोंने श्रीयदुनाथजी महाराजके लायबल-केसमें तो ऐसा स्वीकार भी लिया था मुझे, किन्तु, खयालमें नहीं आता कि किसी भी पुष्टिमार्गीय गोस्वामी-आचार्यने "कानूनके आगे किसीकी क्या चल सकती है?" ऐसी विवशता दिखला कर उन अन्धरूढ़िरूप विकृतियोंको सार्वजनिक रूपमें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या आदर्श के रूपमें मान्य रखा हो कारण स्पष्ट है कि नैतिक रूपमें तब विक्टोरिअन मोरेलिटीका जोर अधिक होनेके कारण पुष्टिमार्गकी समाजमें इतनी तीव्र निन्दा हुयी कि कोई धृष्ट अपराधी ऐसा स्वीकारना चाहता होगा तो भी स्वीकार नहीं पाया होगा आज जबकि धार्मिक साधनाप्रणालीको उसके विशुद्ध रूपमें अनुसरनेकी निष्ठा स्वयं पुष्टिमार्गकी अनुगामी जनता ही लगभग खो चुकी होनेसे उपदेशकवर्ग भी, कानूनका बहाना बना कर, अपसिद्धान्तका खुल्ला समर्थन करने लगे हैं यह सर्वप्रथम मौलिक प्रतिबन्ध आधुनिक न्यायप्रणालीके कारण हमारी साधनाप्रणालीमें प्रकट हुवा है.

फिरभी पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या आदर्श को उसके विशुद्ध रूपमें जो अनुसरना चाहते हों उनकी धार्मिक स्वतन्त्रताका अपहरण होना तो स्वयं न्यायप्रणालीके अस्वस्थ बन जानेकी शोकान्तिका सिद्ध होगी. एतदर्थ मौलिक सिद्धान्तका विमर्श सभीके लिये अवश्यमननीय तथा अवधारणीय लगता है.

१.पुष्टिमार्गीय इतिहासके कालखण्ड :

सामान्यतया किसी भी वंशकी चार पीढ़ीकी अवधि प्राय सौ वर्षकी मानी जाती है. तदनुसार 'पुष्टिमार्गकी प्रथम शतीके महाप्रभु श्रीवल्लभ और उनके वंशजोंकी तीन पीढ़ीका इतिहास, मार्गके प्रवर्तन-प्रसारणका प्रभातकालीन श्रद्धोत्पादक वृत्तान्त है. 'द्वितीय चार पीढ़िओंका वृत्तान्त मध्याकाशमें चमकते मार्तण्डके मध्याह्नकालीन प्रतापके जैसा मार्गमें श्रद्धावर्धक माना जा सकता है. 'तृतीय चार पीढ़ीका अर्थात् नौवींसे बारहवीं पीढ़ीके वल्लभवंशजोंका वृत्तान्त शनैः-शनैः अपनी चमक-दमक खोते जाते ढलते सूरजकी तरह विवश अपनी धर्मनिष्ठाकी चमक-दमक खोते जानेवालोंका वृत्तान्त अपनी श्रद्धाको कथञ्चित् निभानेका है. 'चौथी चार

पीढ़ीका वृत्तान्त अर्थात् तेरहसे सोलहवीं (या अगली पांचवीं शतीकी सतरहवीं-अठारहवीं पीढ़ी भी गिन लेनी हो तो इन) पीढ़ियोंका वृत्तान्त, परिगणित अपवादोंको छोड़ कर, धर्मनिष्ठाके सूरजके अस्त हो जानेके कारण निर्मूल परम्पराओंके सर्वमान्य बन जानेका श्रद्धाके विलोपनका वृत्तान्त है. अतएव तेरहवीं-चौदहवीं पीढ़िओंके सावधान धर्माचार्योंके ये क्लेशपूर्ण उद्गार नितान्त मननीय हैं १. "श्रीमदाचार्यकी कहा इच्छा है सो जानी नहीं परत है... जो नित्यनेम है सो नित्य भोजन करे हैं और नित्य गपोड़ा मारे हैं, और नित्य चैन उठावे हैं. सो ये हमारे चरित्र हैं सो पलंगड़ीवारे ही पार लगावेंगे २. "जो आगे सो-सवासो बरस पहेले तो श्रीगो.बा.कुं तथा बहु-बेटीनकुं अब आजकल नहीं है ताको कारण अन्नदोष, दुःसंगदोष वगेरे बहोत बढ़ गये हैं, जो देवी जीव हते वो तो सब... वैकुण्ठमें पहोंच गये... और देवीन्की देखादेखी आसुरी जीवने भी ब्र.सं. ले लियो उनकुं ब्रह्मसम्बन्ध तो नहीं भयो... उनको दुःसंग हू श्रीगो.बा.कुं भी भयो तब अपनो तथा प्रभून को स्वरूप भूल गये. और लौकिकमें आसक्त होय गये... सो शोख-साहिबी देव गो.बा.कुं पड़ी है... घरमें प्रभु बिराजते होंय उनके विनियोग न करायके अपने अर्थ लगायवेसुं स्वरूपकी विस्मृति होय जाय है... और श्रीमहाप्रभुजीने जा प्रमाण रहवेकी आज्ञा करी ता प्रमाण अबसूं रह्यो नहीं जाय. घरमें वैभव बढ़ जायवेसुं पैसावालेको आश्रय करवेसुं भगवद्भावकी हानि होय जाय है" (१२०वचना.३०. श्रीगोवर्ध.वचना.२१). अतः इत्थंवर्णित धर्मगुरुओंद्वारा पोषित निर्मूल परम्पराकी दुहाई आजकी सोलहसे सतरहवीं पीढ़ीके हम गोस्वामिवृन्द दे रहे हैं. यह गहेरी अन्धेरी रातमें दिशाबोधसे रहित पुष्टिमार्गमें भटकनेवाले हम आधुनिकोंकी शोकान्तिका है अतः टकरावके लिये प्रमुख उत्तरदायी आधुनिक न्यायप्रणालीको ठहराना कितना उचित हो सकता है?

६.ऐतिहासिक तथा साम्प्रतिक टकरावोंका तुलनात्मक रूप :

[1][*]पुष्टिभक्तिसम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके इतिवृत्तमें भी तदानीन्तन कानूनसे टकरावके कतिपय प्रसंग उपलब्ध होते हैं. इनमें प्रस्तुत सन्दर्भमें उल्लेखनीय प्रसंग चौरासी वैष्णवोंकी वार्तिके अन्तर्गत धनसम्पन्न व्यापारी श्रीदामोदरदास संभलवालेकी वार्तामें आता है. तब जो हिन्दु मुसल्मान बन जाते थे उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्तिपर अबाधित उत्तराधिकार मिलनेका कानून था. जो परन्तु अपना धर्म बदलते न थे उन्हें प्रशासनसे

उत्तराधिकार मान्य करवाना पड़ता था. अतएव संभलवालेके पुत्रने धर्मपरिवर्तन कर लिया था. श्रीदामोदरदासकी देह छूटनेके बाद उनकी पत्नीने अपने पतिकी मृत्युके समाचार अतएव छिपा कर श्रीद्वारकाधीशका स्वरूप और घरकी सारी चलसम्पत्ति महाप्रभुको भिजवा दी. उसे यह न सुहाया कि सेवार्थ समर्पित दैवी सम्पत्ति अपने मुसल्मान पुत्रके हत्थे पड़ जाये परन्तु लक्ष्मीके साथ नारायणके घरमें पधारनेके समाचार सुन कर महाप्रभुने सारी लक्ष्मीरूपा चलसम्पत्ति श्रीयमुनाजलमें विसर्जित करवा दी. केवल नारायणरूप श्रीद्वारकाधीशके स्वरूपको ही अपने घरमें पधरानेकी आज्ञा दी. यों सारे सम्भावित कानूनी अड़ंगों या झगड़ों की जड़ ही महाप्रभुने तो तब काट दी थी. अतः टकराव हो नहीं पाया (द्रष्ट.८४ वै.वा.३।८). इतनी सामर्थ्य आज उनके हम वंशजोंमें होती तो आज भी आधुनिक न्यायप्रणालीके साथ बहोत सारे टकरावसे बचा जा सकता था अधिकांश श्रीवल्लभवंशज गोस्वामी धर्मगुरुओंने कराधानके कानूनी दावपेंचसे बचनेके लिये अपने परिवारमें जुटे वैभव या सम्पदा पर [1]भोगाधिकार [2]व्यवस्थाधिकार [3]आनुवंशिक उत्तराधिकार यों तीनों अधिकारोंकी सुरक्षाके मोहमें निजी स्वामित्वको इन्कार दिया. वैसे तो ट्रस्टकी मौलिक अवधारणासे ही यह सर्वथा विपरीत बात है; क्योंकि ऐसा करनेपर निजी स्वामित्व और न्याससम्पदाकी व्यवस्था के अधिकारके बीच भेदरेखा ही लुप्त हो जाती है. फिरभी आधुनिक न्यायप्रणालीने अपवादरूपेण इस विरोधाभासको पुष्टिमार्गीय धर्माचार्योंके बारेमें मान्य कर लिया देवोत्तर सार्वजनिक स्वामित्ववाली सम्पत्तिमें भी उक्त[1,2,3] तीनों अधिकारोंको भोगनेकी छूट गोस्वामिओंको न्यासी माननेके बावजूद मिल गयी इस चक्करमें, परन्तु, अपने मांथे बिराजते नारायणके स्वरूपको तो सार्वजनिकताकी यमुनामें पधराना पड़ा. यह तो किसी कुमारी कन्याको पाणीग्रहणद्वारा विवाहिता पत्नी बना कर उसे परपुरुषके लिये घरमें रखनेके जैसी रसाभासकी कथा है. वह है उदाहरण महावैपरीत्यका. इसे भगवत्सुखके विचारका बाना पहराया जाता है. यह, परन्तु, सचाई हो तो न्यासीको निजी उपभोगके स्वार्थको छोड़ देना चाहिये. महाप्रभु और प्रभुचरण के कण्ठोक्त निषेध "**जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो**" (अमृ.वच.१) "**श्रवणादिनवकमपि... वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव; शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि**" (भक्तिहंस).

।/"पुष्टिमार्गके प्रभातकालकी दूसरी पीढ़ीपर अवस्थित गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके इतिवृत्तमें भी ज्येष्ठपुत्रके उत्तराधिकारवादका झंझावातोपम कानूनी मुद्दा उठा था. स्वयं महाप्रभुके शिष्य अष्टछाप श्रीकृष्णदासजीने यह कलह खड़ा किया. जतिपुरामें श्रीनाथजीकी सेवा करनेके प्रभुचरणके अधिकारपर तब प्रतिबन्ध लगा दिया गया उस समय यह देवालय सार्वजनिक था इसे तो नकारा नहीं जा सकता परन्तु बादमें यह निजी पारिवारिक बना लिया गया, यह भी ऐतिहासिक तथ्य अकसर भुला दिया जाता है.

वैसे ऐतिहासिक दृष्टिसे देखें तो श्रीनाथजीके स्वरूपकी सेवा स्वयं महाप्रभु तो अपने सिद्धान्तके अनुरूप किसी सेवाकर्ताके घरमें ही नन्दालयकी भावनाके साथ करवाना चाहते थे. वे स्वयं, किन्तु, तब गृहस्थ न हो कर पर्यटनशील ब्रह्मचारी थे. सो इतने बड़े स्वरूपको साथ पधरा कर यात्रा शक्य न होनेसे, व्रजके अपने अनुयायिओंके मांथे श्रीनाथजीके स्वरूपको पधराना चाहते थे. किसीके भी, किन्तु, समुद्यत न होनेपर अन्तमें सदु पांडेने सुझाव दिया कि "राधाकृष्णकुंडपर देवीभक्त बंगाली ब्राह्मण बसे हुवे हैं उन्हें श्रीनाथजीकी सेवा सौंप देनी चाहिये." महाप्रभुने एतदर्थ अपनी अनुमति तब दे दी (द्र.८४ वै.वा.४८।२). श्रीनाथजीके इन बंगाली अर्चकोंको ब्रह्मसम्बन्ध मन्त्र देकर न तो पुष्टिसम्प्रदायमें दीक्षित किया गया और न पुष्टिभक्तिके अनुसार स्वयं श्रीनाथजी किसीके घरमें नन्दालयकी भावनाके साथ तब बिराज पाये. वैसे स्वयं महाप्रभुने भी पुष्टिभक्तिके शक्य न होनेपर मर्यादाभक्तिके अनुसरणको भी सिद्धान्ततः तो मान्य रखा ही था (द्रष्ट.भ.व.८,त.दी.नि.२।२५५, सा.दी.३६). अतएव प्रथम तो श्रीनाथजी मर्यादामार्गीय प्रणालीके अनुसार सार्वजनिक देवालयमें ही बिराजे. सार्वजनिक देवालयके निर्माणार्थ अर्थराशि प्रदान करनेवाले ब्राह्मणेतर श्रीपूरण मल क्षत्रियको इसीलिये साक्षात् स्वरूपसेवाकी अनुमति महाप्रभुने प्रदान की थी(८४वै.वा.२४।१). भगवान्‌की भोगसामग्रीकी सेवाके हेतु भी क्षत्रिय रामदास चौहानको अधिकृत किया गया था (८४ वै.वा.४८।२). यह सब महाप्रभुकी गृहसेवामें बिराजते स्वरूप श्रीमदनमोहनजी श्रीगोकुलनाथजी या श्रीविट्ठलनाथजी आदिकी पुष्टिमार्गीय रीतिके अनुसार की जाती सेवामें प्रचलित न था. इसी तरह श्रीनाथजीकी सेवार्थ अपेक्षित सामग्री भक्तजनतासे जुटाने आदिकी व्यवस्थाका अधिकारी उक्त श्रीकृष्णदासजीको बनाया गया था. सो

रुष्ट होनेपर उन्होंने प्रभुचरणपर ही श्रीनाथजीकी सेवामें प्रतिबन्ध लागू कर दिया. वैसे प्रभुचरणने तो इसे निष्प्रतिवाद मान्य ही रखा. फिरभी तत्कालीन मुगल राज्यके प्रमुख मन्त्री बीरबलने श्रीकृष्णदासजीको कारागृहमें डाल दिया. चौं सरकारी अनुज्ञा प्राप्त कर श्रीनाथजीकी सेवा करना उचित न माननेके कारण प्रभुचरणने स्वयं महाप्रभुद्वारा अधिकृत श्रीकृष्णदासजीके द्वारा कहे जानेपर ही सेवा करनी उचित मानी थी (८४ वै.वा.८४।७). इससे सिद्ध होता है कि प्रभुचरणने धार्मिक विषयमें राज्याज्ञाके बजाय अपने पिता महाप्रभु अर्थात् धर्माचार्यकी आज्ञाके पालनको आदर्श माना "**सो गुसांईजी तो सेवा-सिंगार करि जांय और काहूसों कछु कहे नहीं. कोई सेवक श्रीगुसांईजीसों पूछे तब श्रीगुसांईजी आप कहें जो कृष्णदास अधिकारीके पास जावो-हम जानें नहीं**" (८४ वै.वा.८४।२). स्वयं धर्माचार्य जब धर्मके विषयमें भी धर्मग्रन्थोंकी आज्ञासे अधिक प्रमुखता कानूनकी स्वीकारने लगता है, तब वह स्वयं ही कानूनके अधिकारिओंकी अपनेसे अधिक श्रेष्ठताका छद्मस्वीकार कर लेता है. कानून धर्मेतर विषयमें समाजमें सर्वोपरि हो सकता है. धर्म और कानून की किन्तु अपनी-अपनी क्षेत्रमर्यादा तो होती ही हैं. आजके हम वल्लभवंशज धर्माचार्योंने इस विषयमें अपना आत्मविश्वास खो दिया. अतः अपनी साधनाप्रणालीमें न्यायप्रणालीके हस्तक्षेपको स्वयं हमने आमंत्रित किया है. स्वधर्मसे विपरीत आचरणके कारण हमारे पुष्टिसम्प्रदायके भगवत्सेवास्थल और सेव्यस्वरूप कानूनके क्षेत्रमें अन्तर्गत हो गये. कानूनी क्षेत्रमें आती बात-जनताके हेतु, जनताके द्रव्यसे और जनताके प्रतिनिधितया -भगवत्सेवारूप स्वधर्मके अनुष्ठानको हमने अपने परमधर्मके रूपमें अब मान्य कर लिया होनेसे

।/"पुष्टिमार्गके प्रभातकालकी तीसरी पीढ़ीपर अवस्थित श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीके इतिवृत्तमें भी एक महान् झंझावात या कानूनसे टकराव पैदा हुवा था. उज्जयिनीके चिद्रूप संन्यासीके प्रभावमें आ कर जब बादशाह जहांगीरने हमारेद्वारा भगवत्सेवामें अवश्यधारणीय तुलसीमाला और ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था. तब उस प्रतिबन्धसे डरे बिना अपना मुद्दा बादशाहके सामने श्रीगोकुलेशने प्रस्तुत किया. "तिलक-माला उतारी क्यों नहीं?" पूछे जानेपर "हमारी गरदन उतारी जानेके साथ ये उतारी जा सकती हैं" ऐसी निर्भीक वाणीमें दो-टूक बात कह देनेका साहस प्रकट कर दिखाया. तब बादशाहने माला-तिलक न छोड़ने हों तो गोकुलमें अपने घरको

छोड़ दो ऐसा विकल्प सामने रखा. इसपर अपनी भवनसम्पत्तिके बजाय अपने सेवार्थ धारणीय तिलक-मालाके चिह्नोंकी उपादेयता अधिक स्वीकारनेवाले श्रीगोकुलनाथजी सोरम जा कर बस गये. ऐसी स्वधर्मनिष्ठा आज हमारे भीतर कहां बच पायी है

ऐसी है अपनी साधनाप्रणाली और न्यायप्रणाली के आपसी टकरावकी पुष्टिमार्गके प्रभातकालके इतिहासकी कथा

१/२-१-१प्रथम चार पीढ़िओंमेंसे तीन पीढ़ीके उल्लिखित इतिवृत्तके बाद दूसरी चार पीढ़ियोंमें अर्थात् पांचवीं छट्ठी सातवीं और आठवीं पीढ़ीमें हुवे कतिपय टकरावोंमें एक उल्लेखनीय टकरावका वृत्तान्त १२०वचनामृतकार श्रीगिरधरलालजीने विस्तारपूर्वक ६०वें वचनामृतमें दिया है. विवादका मुद्दा था : ज्येष्ठभ्राताके घरमें उत्तराधिकारी न रह जानेपर लघुभ्राताओंके घरोंमेंसे उत्तरोत्तर श्रेयश्चकनिष्ठगृहोंके क्रममें जो ज्येष्ठ हो तदनुसार गोद लेना या जो [1]वयःक्रममें ज्येष्ठ हो तदनुसार गोद लेना. क्या इस विषयमें [2]दिवंगत भ्राताकी विधवा पत्नीका निर्बाध स्वातन्त्र्य होता है या [3]कुलपरिवारकी किसी तरहकी रूढ़ि प्रबल होती है. इस विवादमें कुल-परिवारके सदस्योंका निर्णय [4-1-1]कल्पके पक्षमें था. आग्रामें मुगल बादशाहके सामने रखी गयी फरियादमें भी पहले तो यही कल्प मान लिया गया. बादमें, किन्तु, बादशाहको कथञ्चित् खुश कर यह निर्णय बदलवा दिया गया. और तदनुसार परिवारमें सेव्यस्वरूपका बंटवारा करना ही पड़ा. लिहाज़ा दुबारा कभी बादशाही निर्णय बदल न जाये इस भीतिसे दोनों विवादशील परिवारके सदस्य बादशाही प्रदेशको छोड़ कर एक हिन्दुराज्य मेवाड़में जा बसा और दूसरा अंग्रेज़ोंको प्रशासनार्थ प्रदत्त सुरत शहरमें जा बसा. तबसे उठा हुवा यह विवाद अभी तक स्वतन्त्र भारतके न्यायालयोंमें चल ही रहा है

वैसे मूलमें तो यह भगवान्के सेव्य स्वरूपको परमनिधि माननेवालोंके बीच भगवत्सेवाके उत्तराधिकारके बारेमें विवाद था. भवन सम्पदा पद या पदवी के बारेमें उत्तराधिकारका विवाद नहीं परन्तु विगत मध्यपाती कालमें इसने दूसरा ही रूप ले लिया है. अब यह सेव्यस्वरूपके आधारपर गृह/पीठका स्वरूप निर्धारित होता है या सेवाकर्ताके परिवारके गृह/पीठके आधारपर

सेव्यस्वरूपोंमें ज्येष्ठत्व या वरीयस्त्व क्रम मान्य करना, यों पदवी सम्बन्धी विवादका रूप ले चुका है. इस विषयमें 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य' शीर्षकके साथ पहले भी एक ग्रन्थका प्रथम प्रकरण मैंने लिखा तथा प्रकाशित भी करवाया है. इस बारेमें मेरे विचारोंको वहांसे जाना जा सकता है.

जो इसमें साम्प्रदायिक चिन्ताका विषय है वह तो दूसरा ही है. क्योंकि मान कर चलें कि आधुनिक न्यायालय इस विकल्पमें सेव्यस्वरूपके किसी तथाकथित वरीयताके ही आधारपर गृह/पीठकी वरीयता निर्धारित कर दें, तो उसकी सीधी असर हमारेद्वारा उपस्थापित विचारणीय मुद्दोंके अन्तर्गत दूसरे-तीसरे मुद्दोंपर पड़ेगी–

[1]सेव्यस्वरूप भी सेवाकर्ता और उसके परिवार द्वारा की जाती भगवत्सेवाके हेतु स्वार्थ-प्रतिष्ठापित होता है, परार्थ नहीं. अर्थात् पुष्टिमार्गानुगामी जनसाधारणकी धार्मिक साधनाके हेतु प्रतिष्ठापित नहीं. अतएव ऐसे निजगृहमें बिराजमान निजी आराध्य स्वरूपके भवनार्थ अधिकार भी [2]सेवाकर्ता, और उसकी अनुमतिके आधारपर, उसके पारिवारिक जनोंका ही होता है, पुष्टिमार्गमें दीक्षित हर किसी वैष्णव या जनसाधारण का नहीं.

अपने सिद्धान्तके ये मुद्दे अब सर्वनाशी कानूनके साथ टकरायेंगे ही. यह विशेषमें इसलिये भी कि अब यह विवाद देशके उच्चतम न्यायालयमें निर्णयार्थ प्रस्तुत हुवा है. अतः उसका निर्णय सारे देशमें कानूनकी हैसियत रखता होनेसे जिन पुष्टिमार्गीय घरोंमें ऐसा विवाद न हो उनपर भी एक सार्वभौमिक कानूनकी तरह लदने लगेगा क्योंकि निचली अदालतोंमें यह मुकदमा स्वयं पीठाधीश होनेके दावेदारोंने दायर नहीं किया, अपने अनुगामिओं द्वारा दायर करवाया गया. अतः जाने-अनजाने अपने सेव्यस्वरूपकी परार्थ-प्रतिष्ठाका आत्मघाती सिद्धान्त मान लेनेके दुष्परिणामोंसे वे ग्रस्त होंगे ही. वैसे तो मुकदमेमें सम्भावित जय/पराजयसे स्वयंको अप्रभावित रखनेकी अविचारित लालसाके वश ऐसा किया गया. फिरभी जय या पराजय किसी भी स्थितिमें यह अपने सेव्यस्वरूपकी स्वार्थप्रतिष्ठाकी हैसियतको प्रभावित तो करेगा ही. यों सैद्धान्तिक विकृतिको कानूनी जामा पहनाये जानेकी दुर्घटना यह सिद्ध हो जायेगी.

तीसरी-चौथी सदिओंकी नौमींसे सोलहवीं पीढ़ियोंमें हुए टकरावोंके इतिवृत्तोंकी तो इतनी भरमार है कि न तो सभीकी विवेचना और न परिगणना भी इस लघुकाय आलेखमें समेटी जा सकती है. फिरभी कुछ अवश्य उदाहरणीय इतिवृत्तोंकी चर्चा विचार्यविषयकी गम्भीरताको भलीभांति समझनेमें अतीव उपकारक होनेसे करनी ही पड़ेगी.

मुगल बादशाह ओरंगज़ेबकी बर्बर नीतिओंसे बचनेके लिये मेवाड़में आश्रय लेनेके बावजूद वाल्लभ सम्प्रदायके प्रधानपीठाधीश प्रायः सभी गोस्वामितिलकायित महाराज सर्वदा, अपने नीजी ठाकुरजी श्रीनवनीतप्रियजी तथा श्रीवल्लभवंशज गोस्वामिपरिवारके अविभक्त स्वत्ववाले श्रीगोवर्धनाथजी को, पुनः अपने स्वामित्ववाले गोकुल-जतिपुरा गामोंमें पधरा कर लौट जानेका मनोरथ संजोते ही रहे मेवाड़के राणाओंके, परन्तु, कभी भक्तिभावके वश तो कभी राजाज्ञाके बन्धनमें बंधे होनेके कारण वह स्वप्न कभी पूर्ण न हो पाया अंग्रेज़ोंके साथ मेवाड़ राज्यके मैत्रीके समझौतेके मसौदेके कई अनुबन्धोंमें एक अनुबन्ध यह भी था कि मेवाड़ राज्यके तत्कालीन कानूनकी तरह अंग्रेज़ों द्वारा प्रशासित प्रदेशोंमें गोस्वामितिलकायित महाराजश्रीको कभी किसी विवादमें न्यायालयमें स्वयं उपस्थित होनेको बाधित नहीं किया जायेगा (द्र.गो.ति.गोवि. विरु.राज.सर.आवे.साक्ष्य.). इसी तरह मेवाड़ राज्यने भी अंग्रेज़ोंके हितके विपरीत जानेवालोंको अपने राज्यमें प्रश्रय न देनेका अनुबन्ध स्वीकारा था. फिरभी सन् ११ फरवरी १८५९में स्वातन्त्र्य सेनानी श्रीतात्या टोपेके भाग कर मेवाड़ प्रदेशमें आ जानेपर, शायद ये लोग विजयी हो जायें तो राणाके बन्धनसे हमें भी मुक्ति दिलवा देंगे, ऐसी महत्त्वांकाक्षाके वश तत्कालीन गोस्वामितिलकायित महाराजश्रीने स्वतन्त्रताके सेनानिओंकी पूरे तीन दिनों तक नाथद्वारामें आवभगत की थी. तबसे मेवाड़ राज्य और गो.ति.म.के सम्बन्ध कटु बनते चले गये. सो इस हद तक कि स्वातन्त्र्य संग्रामको शान्त हो जानेके बाद अंग्रेज़ी राजके स्थिर हो जानेपर गो.ति.म.श्रीने गवर्नरजनरलके एजेंट रिचर्ड केंडविशके पास अपने प्रतिनिधि भेजने शुरु किये कि उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान की जाये (वीरविनो.पृ.१७९३-९५). बादमें तो सम्बन्धोंके पूरी तरह बिगड़ जानेपर १८७५में २१मईके दिन राजद्रोहके आरोपमें गो.ति.म.श्रीको क़ैद करके देशनिकाला दिया गया "इन दिनोंमें नाथद्वाराका गोस्वामी गिरधरलाल अपने क़दीमी ढंगको छोड़ कर रईसानह मग़रूरीके सबब रियासती हुकूमतसे बाहिर

निकलनेकी चेष्टा करने लगा... इस वक्त बहुतसे बखेड़े उठे. श्रीगोवर्धनाथजीकी जो भेट कोटा गुजरात वगेरहसे आती थी उसमें भी... खलल डालना चाहा." (वीरविनो.पृ.२१५३-५७).

उल्लेखनीय है कि वाल्लभ सम्प्रदाय न तो मेवाड़में राजाज्ञासे प्रवर्तित धर्म था, न राज्याश्रित धर्म था और न वह राज्यकी सीमाओंमें घिरा ही कोई धर्मसम्प्रदाय था. हां मुगल बादशाह ओरंगज़ेबकी बर्बरतासे बचनेको उसकी प्रधानपीठ मेवाड़में स्थलान्तरण अवश्य कर चुकी थी. अतः मेवाड़राज्यमें आती चलाचल सम्पत्तिपर गो.ति.के स्वामित्वको मान्य रखना या उनसे छीन लेना, यह तो राज्यकी सार्वभौमिक इच्छा या नियम का विषय निश्चित था ही. परन्तु सम्प्रदायविशेषके प्रधानपीठाधीश होनेके अधिकारोंको निरस्त करना मेवाड़राज्यके नरेशोंके अधिकारसे बाह्य विषय था. अतएव श्रीगिरिधरलालजीको गोस्वामितिलकायितके पदसे च्युत कर एवं नाथद्वारासे निष्कासित कर वह पद उनके पुत्र श्रीगोवर्धनलालजीको सोंप देना भी राज्यहितमें होनेपर भी एक अन्याय ही था. यही कारण था कि मेवाड़राज्यसे श्रीगिरिधारीजी महाराजके निष्कासनके बावजूद देशके अन्यान्य भूभागोंमें रही उनकी सम्पत्तिपर गो.ति.श्रीगिरिधरलालजीके स्वामित्वको देशकी अन्यान्य रियासतोंने, नामशः, हैदराबाद कोटा आदिने अमान्य नहीं किया. स्वयं अंग्रेज़ोंद्वारा प्रशासित प्रदेशोंके न्यायालयोंने भी अमान्य नहीं किया. इस बारेके कई दस्तावेज भी उच्चतम न्यायालयमें गो.ति.म.श्रीने प्रस्तुत किये थे पर जिरहके समय उनपर न्यायाधीशका ध्यान नहीं खींचा गया.

अवधेय है कि गोस्वामितिलकायित होनेका पद श्रीनाथजीकी मूर्तिके प्रधानपुजारी होनेपर निर्भर न था. क्योंकि ऐसा होता तो आरम्भमें जब असम्प्रदायिक बंगाली पुजारिओंको सेवाधिकारी बनाया गया तब, स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, प्रभुचरण गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी भी विद्यमान थे ही, अतः तब भी वाल्लभ सम्प्रदायमें बंगाली पुजारिओंको प्रधान धर्माचार्य मानना पड़ेगा वस्तुतः तो श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके समय हुवे निजात्मजोंके साथ गृहविभाजनमें प्रमुख घर पिताका और शेष सात घर पुत्रोंके, यों एक प्रधानपीठाधीश और सात उपपीठाधीश, ऐसा वरिष्ठताक्रम निर्धारित हुवा था. गो.ति.म.श्रीको, अतएव संयुक्त परिवारकी

अविभक्त निधिस्वरूप श्रीनाथजीकी सेवाका विशेषाधिकार सौंपा गया. यह भी वर्षके केवल ६० दिनोंका ही था. इसके विपरीत यद्यपि तीन दिनसे अधिक किसी भी एक वल्लभवंशज व्यक्तिका सेवाधिकार न होनेपर भी शेष वल्लभकुलके गोस्वामिऒके बदमें ३०० दिन मुक्त रखे गये थे. गो.ति.म.श्रीके प्रमुख सेव्यस्वरूप तो श्रीनवनीतप्रियजी ही थे. अतएव आजकी तारीख तक इन्हें श्रीनाथजीके स्वरूपसे पृथग्-भवन पृथग् नेग भोग राग तथा कर्मचारी वृन्दकी पृथग्-व्यवस्थाके अन्तर्गत पधराये रखा गया है. न केवल इतना प्रत्युत इनके राजभोग धरनेके समय श्रीनाथजीको भी भोग धरनेकी भावना रख कर दो थाल पधराये जाते हैं. यह पृथग् व्यवस्था ही इस तथ्यका प्रमाण थी (द्र.१२०वचना.६,४६,५१,६८). यह खुलासा भी मिलता है कि **"सो सात स्वरूप और श्रीनाथजी तो एक ही हैं, यामें सन्देह नांही है. परि श्रीनाथजीको घर है सो श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीने देवद्वार राख्यो है; और, और स्वरूप तो अपने-अपने घरमें बिराजे हैं"** (वहीं.वचना.८१). पहले यह देवालय सार्वजनिक था परन्तु प्रभुचरणके सतघरामें श्रीनाथजीके बिराजनेके बाद अर्थात् पुनःप्रतिष्ठाके बाद जतिपुराके देवालयके चारों ओरकी भूमि निजी स्वामित्वके हेतु खरीद कर बादशाह अकबरसे उसकी सम्पुष्टि करवायी गयी थी. यह बादशाह अकबरके फरमान (द्र.) को देखनेपर स्पष्ट हो जाता है. अतः इसके बाद वह पारिवारिक निजी देवालय बन गया. परिवारमें बंटवारेके समय इसे अविभक्त संयुक्त पारिवारिक स्वत्ववाला बना दिया गया था.

फिरभी मेवाड़ राज्यने अन्यायपूर्ण तरीकेसे गो.ति.के आत्मजके तब अल्पवयस्क होनेके कारण वाल्लभ सम्प्रदायकी प्रधानपीठको मेवाड़ राज्यके आधीन वैष्णवोंका मन्दिर घोषित किया. पुनः वहां उल्लेखनीय हो जाता है कि गो.ति.श्रीगोवर्धनलाल महाराजश्रीने अपनी आयुके उत्तरार्धमें उदयपुरनरेशको प्रेषित एक घोषणापत्रमें मेवाड़ राज्यद्वारा नियुक्त प्रबन्धसमितिके अनुसार संस्थानके प्रबन्धको सम्प्रदायाभिमत सिद्धान्त और परम्परासे अविपरीत होनेपर ही मान्य रखनेके सशर्त आश्वासनके साथ-साथ अपने संस्थानसे जुड़ी यच्च-यावत् चलाचल सम्पत्तिपर अपने पूर्ण स्वामित्वकी घोषणा भी की थी. वह भी इस स्पष्टीकरणके साथ कि देवोत्तर सम्पत्ति उनके व्यक्तिगत उपभोगमें ली जानेकी न तो परम्परा है और न ऐसा कार्य वे कभी करेंगे ही (द्र.अमु.वच.८). इस घोषणापत्रमें किये गये दावेको न तो तत्कालीन मेवाड़राज्यके नरेशने

अमान्य किया था और न कोई अनधिकारचेष्टा करनेका अपराधी गो.ति.महाराजश्रीको माना था. इसी अवधिके बीच इनके पुत्र गो.श्रीदामोदरलालजीका अवांछनीय प्रकरण छिड़ जानेसे स्वयं पिताने अपने पुत्रको गो.ति.के पदके अयोग्य घोषित कर अपने पौत्र गो.श्रीगोविन्दलालजीको उत्तराधिकारी घोषित किया इसकी सम्पुष्टि मेवाड़राज्यके नरेशद्वारा की गयी (द्र.).

बादमें देशके स्वतन्त्र होनेपर स्वयं गो.ति.श्रीगोविन्दलाल महाराजश्री श्रीनाथद्वाराका प्रबन्धाधिकार स्वयं अपनी ओरसे सरकारको सौंपने उद्यत हो गये. तब राजस्थानके उच्च न्यायालयमें सभी गोस्वामिऒंके प्रतिनिधिओंने मिल कर स्वयं गो.ति.महाराजश्री तथा सरकार दोनोंपर अपने अधिकार और हित के विरुद्ध कार्य करनेका मुकदमा चला कर जीत लिया था. इससे रुष्ट हो कर भारतसरकारने राष्ट्रपतिके अध्यादेशद्वारा श्रीनाथद्वारास्थित मन्दिरको सरकारके ताबेमें अधिगृहीत कर लिया. बादमें वैसे तो गो.ति.महाराजश्रीने भी अन्यान्य हेतुओंके कारण सरकारपर दावा किया कि सरकार इस कारवाईसे उनके मौलिक अधिकारोंका हनन होता है. सो राजस्थानके उच्चन्यायालयमें तो वे अंशतः जीते भी. लेकिन देशके उच्चतम न्यायालयमें किन्तु उन्हें अन्तमें पराजित होना ही पड़ा. क्योंकि उच्चतम न्यायालयका सोच यह था कि सरकार यदि अधिगृहीत न कर सकती हो तो गो.ति.म.श्री स्वयं ( ) उसे सौंपने क्यों गये?

यह है वाल्लभ सम्प्रदायकी प्रधानपीठकी आधुनिक न्यायप्रणालीके साथ टकराव और पराजय की कथा. यह कथा इस सम्प्रदायके प्रधान धर्माचार्यको नाथद्वाराके मन्दिरमें कानूनन जनप्रतिनिधि प्रधानपुजारी तथा आनुवंशिक व्यवस्थापक न्यासी बना देनेकी

इस टकरावमें प्रमुख उल्लेखनीय पहलु यह है कि गो.ति.महाराजश्रीके वकीलोंने उनके सम्पत्तिके उपभोग और व्यवस्था के मौलिक अधिकारके हननका मुकदमा किया था, धार्मिक स्वातन्त्र्य तथा पदाधिकारोंके धार्मिक हितके मौलिक अधिकारोंके हननका नहीं. इसी तरह सम्प्रदायके सिद्धान्त भी स्वयं सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यचरण-प्रभुचरण आदिके ग्रन्थोपदिष्ट

सिद्धान्तवचनोंके उद्धरण न्यायालयके समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किये गये. सर्वपल्ली श्रीराधाकृष्णनका 'भारतीय दर्शनका इतिहास' और श्रीआर्.जी.भाण्डारकरका 'शैविज़म् एंड् वैष्णविज़म्...' आदि असम्प्रदायी लेखकोंके वचनोंको प्रस्तुत किया गया था. इन ग्रन्थकारोंमेंसे प्रथमने तो अपने लेखनमें कहीं भी भगवत्सेवाके निजी या सार्वजनिक होनेकी चर्चा ही नहीं की है. दूसरेने जबकि निजी गृह तथा सेवारीति का उल्लेखमात्र किया है. ऐसा किन्तु न तो एतत्सम्बन्धी मूलग्रन्थोंमें उपलब्ध होते सिद्धान्तोंके अवगाहनद्वारा किया गया और न उनका नामोल्लेख भी. सेवास्थल सेव्यस्वरूप सेवाधिकार तथा सेवाप्रयोजन को अकाट्य रूपमें निजी सिद्ध करनेवाले जो तथ्यदर्शी दस्तावेजोंके अंबार न्यायालयमें प्रस्तुत किये गये, उनपर भी जिरहके समय न्यायाधीशोंका ध्यान आकृष्ट नहीं किया गया अतएव उच्चतम न्यायाधीशोंके ये उद्गार कि–

> "इस सम्प्रदायके कुछ मन्दिर भूतकालमें निजी रहे होंगे, कुछ वर्तमान कालमें भी निजी हो सकते हैं. कोई मन्दिर निजी है या नहीं इस बातका निर्णय उस मन्दिरसे जुड़े तथ्योंपर अवलम्बित होना चाहिये. ऐसा कोई सामान्य नियम नहीं है कि वल्लभ सम्प्रदायमें सार्वजनिक मन्दिर निषिद्ध हो और अतएव नाथद्वाराको सार्वजनिक न माना जाये."
>
> (अनु.२२।एस्.सी.आर्.४३९/१९६८. गो.ति. श्रीगोविन्दलाल विरु. राजस्थान सरकार).

> "यदि यह मन्दिर निजी होता और मन्दिरकी सम्पत्ति तिलकायतकी होती तो बात दूसरी थी परन्तु एक बार यह स्वीकार लेनेपर यह मन्दिर सार्वजनिक है यह तर्क दुर्बोध हो जाता है कि सम्पत्तिकी व्यवस्था तिलकायतद्वारा होनी सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार एक धार्मिक विषय है. वस्तुतः ऐसा कोई सिद्धान्त हमारे सामने प्रस्तुत किया ही नहीं गया."
>
> (वहीं अनु.६९)

हम देख सकते हैं कि न केवल सैद्धान्तिक वास्तविकता सर्वथा ही विपरीत है प्रत्युत राणाओंके द्वारा जारी किये गये विभिन्न प्रपत्रोंमें न केवल उक्त संस्थानकी चलाचल सम्पत्तिपर अपितु नाथद्वारा गांव और वहां

विराजमान श्रीनाथजीकी मूर्तिपर भी गो.ति.म.श्रीका स्वामित्व भूतकालमें स्वीकारा गया था. फिरभी न्यायाधीशोंने यह और कह दिया मन्दिरका बाहरी रूप महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी ने ओरंगज़ेबकी मन्दिरोंको तोड़ देनेके नीतिके कारण जानबूझ कर घर जैसा रखा होगा, तूटनेसे बचानेके उपायके रूपमें (द्र.). जबकि ओरंगज़ेबके पूर्वज शाहजहां जहांगीर अकबर हुमायु और बाबरसे भी पहले सिकन्दर लोदीके कालमें महाप्रभुने तो अपने सैद्धान्तिक मुख्यकल्पके अनुसार निजगृहमें सेवाके शक्य न होनेपर अनुकल्पतया सार्वजनिक मन्दिरमें भी कृष्णसेवा ही करनेके आग्रहके अनुरूप सार्वजनिक देवालय बनवाया था. जिसे बादमें अकबरके पूर्ण सद्भाव और आदरभाव रखनेके कालमें महाप्रभुके आत्मज प्रभुचरणने निजी होनेके मुख्यकल्पका रूप दिया था. यह मन्दिरके चारों ओरकी भूमिके निजी स्वामित्वके हेतु परिक्रयद्वारा किया गया. महाप्रभुके समयकी भगवत्स्वरूपकी प्रतिष्ठा अक्षयतृतीयाके दिन सार्वजनिक देवालयमें की गयी थी. उसके स्थानपर अपने निजी निवास सतघरामें फागुन वद सप्तमीको जो पुनःप्रतिष्ठा हुयी उसके उत्सवके प्रवर्तनद्वारा भी. वैसे आज तक यह परम्परा अपनी आत्माको खो कर भी विद्यमान है.

यों सम्प्रदायकी प्रधानपीठके बारेमें साम्प्रदायिक सिद्धान्त परम्परा और दस्तावेजों के आधुनिक न्यायप्रणाली द्वारा परिवर्तित विपरीत स्वरूपके चित्रको देखने लेनेके बाद उनसे टकरानेवाली न्यायप्रणालीके भी कुछ पहलुओंपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

प्रस्तुत आलेखपत्रकारके पितामहने अपनी अन्तिम अवस्थामें अपनी आधी सम्पत्तिका अपने सात पुत्रोंके बीच समविभाजन कर अवशिष्ट आधी सम्पत्ति अविभक्त परिवारके न्यासके रूपमें रखी थी. अपने सेव्य भगवत्स्वरूपोंको इसी अविभक्त पारिवारिक न्यासके अन्तर्गत ही पुत्रोंको सौंपे थे. उनके देहावसानके बाद ज्येष्ठपुत्र और उनके अन्य छह भाईओंके बीच ज्येष्ठपुत्रके एकाधिकारके बारेमें विवाद बढ़ कर न्यायालय तक पहुंच गया. परिवारकी प्रमुख सेव्यमूर्तिकी सेवाका अधिकार ज्येष्ठपुत्रका न माननेपर चेरीटी-कमिश्नरके पास अव्यवस्थाकी फरियाद ले कर बड़े भाईके जानेपर परिवारके शेष छोटे भाईओंने अपने बड़े भाईको देनेके बजाय भगवन्मूर्तिओंको

तथा भगवन्मन्दिरकी चलाचल सम्पत्तिको सार्वजनिक न्यास मान लेनेका मन बना लिया. इसके समर्थनार्थ यह युक्ति खड़ी की गयी कि वैष्णव जनताको जब ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा दी जाती है तब वह भगवन्मूर्तिके सामने ही दी जाती है और वह उस मूर्तिकी सेवाका वैष्णव जनताको दिया जाता धार्मिक अधिकार है. इस युक्तिके अलावा मन्दिरके संस्थापक गो.श्रीगोवर्धनेशजी महाराजने अपनी अन्तिम अवस्थामें उत्तराधिकारी सन्ततीके न रह जानेके कारण, योग्य उत्तराधिकारी न मिलने तक, अपने विश्वस्त वैष्णवोंको सुचारु प्रबन्धके हेतु न्याससमिति बनायी थी. वह वैष्णवोंकी न्याससमिति महाराजश्रीकी विधवा पत्नीके द्वारा गो.श्रीजीवनलालजीको धर्मपुत्रतया गोद लेनेपर वैसे तो स्वतोविसर्जित हो गयी थी, किन्तु गो.श्रीजीवनलालजीकी भी अन्तिम अवस्थामें उत्तराधिकारी सन्ततीके अभावके कारण पुनः वैसी प्रबन्धक-न्याससमिति बनानी पड़ी थी. यह न्याससमिति भी महाराजश्रीकी विधवा पत्नीके द्वारा उक्त गो.श्रीगोकुलनाथजीको धर्मपुत्रतया लेनेपर स्वतोविसर्जित हो गयी थी. फिरभी न्यायालयने इन पूर्वकालमें गठित प्रबन्धक-न्याससमितिओंको सार्वजनिक न्यासके प्रमाणतया स्वीकार लिया. और गो.श्रीगोकुलनाथजीके उक्त सम्पत्तिके अर्धांश अविभक्त संयुक्त पारिवारिक न्यासको सार्वजनिक न्यास मान लिया. अवधेय होता है कि हवेलीके संस्थापक गो.श्रीगोवर्धनेशजीके न्यासप्रलेखका यदि कोई दस्तावेजी महत्त्व वस्तुतः हो तो सम्पूर्ण सम्पत्तिको सार्वजनिक मानना तर्कसंगत होता, क्योंकि अर्धांशका अपने सात पुत्रोंके बीच समविभाजन और अर्धांशका अविभक्त पारिवारिक न्यासका प्रलेख स्वयंमें अनधिकारचेष्टा मानी जानी चाहिये थी. पर यह मुद्दा वादी-प्रतिवादी दोनोंमें से किसीने छेड़ा नहीं सो न्यायालयके भी ध्यानसे बाहर चला गया यह सन् साठके दशककी कथा है. परन्तु तीसवें दशकमें एक मुकदमा अंग्रेज़ न्यायाधीशके पास, धरणगांवमें गो.श्रीजीवनलालजीकी एक स्वयंकी हवेली थी जो उनके अवसानके बाद प्रबन्धक-न्याससमितिकी देखरेखमें थी, इसके बारेमें चला था. उस प्रबन्धक-न्याससमितिको धर्मपुत्र गो.श्रीगोकुलनाथजीका उत्तराधिकार मान्य नहीं था. परन्तु अंग्रेज़ न्यायाधीशने यह निर्णय दिया था–

> ''पुष्टिमार्गके सिद्धान्त नितान्त वेतुके हैं कि अपने अनुगामिओंका अधिकार अपने मन्दिरोंमें इस सम्प्रदायमें स्वीकारा नहीं जाता है. आशा

> करनी चाहिये कि वैष्णवजनताके पढ़-लिख जानेपर ऐसे सम्प्रदायका त्याग कर वह अन्य योग्य सम्प्रदायकी अनुगामी बन जायेगी परन्तु इस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको देखते हुये सार्वजनिक मन्दिर इस सम्प्रदायमें माना नहीं जा सकता.''(११).

यह ईसाई चर्चके स्वरूपकी पूर्वधारणासे ग्रस्त सोचवाले विदेशी न्यायाधीशका न्यायनिर्णय था. इसे परन्तु मुंबइके उच्च न्यायाधीशके सामने या तो विमर्शके हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया होगा या उन्होंने इसपर ध्यान नहीं दिया होगा. अतः तब मुंबइ उच्च न्यायालयके न्यायाधीश सम्मान्य गजेन्द्र गड़करने मुंबइस्थित गोस्वामिओंके भगवत्सेवोपयोगी आवाससंकुलको सार्वजनिक मन्दिर घोषित कर दिया.

स्वयं मेरे जन्मसे पहले हमारे आवासस्थलको 'मोटी हवेली' कहा जाता था वह न जाने कब-कैसे 'बड़ा मन्दिर' मेरे बाल्यकालमें बन गया. बादमें महात्मा गांधीके 'हरिजन-मन्दिर-प्रवेश'के आन्दोलनके समय भगवद्-दर्शन बंद करनेके हेतु पुनः उसे निजी आवासमें परिवर्तित करनेको मेरे पितामह गो.श्रीगोकुलनाथजीके जन्मनामके साथ उसे 'गोविन्दभुवन' बनाया गया. इस पारिवारिक निर्णय लेनेको एकत्रित परिवारके सभी सदस्योंके अन्तर्गत मैं भी अबोध मूक द्रष्टा बना तब उपस्थित था जो आज तक मेरे स्मृतिपटल अंकित है. बादमें हरिजन मन्दिरप्रवेशके आन्दोलनके मन्द पड़ जानेपर बन्द हुवा भगवत्सेवाका प्रदर्शन मेरे चचेरे भाईके जन्मकी खुशीमें दोबारा टेरा खोल कर शुरु किया गया. और अन्तमें वह गोविन्दभुवन आज तो 'बड़ा मन्दिर-सार्वजनिक न्यास' बन गया. अब हमारे परिवारको अपने सेव्य भगवत्स्वरूपकी सेवाके हेतु वहां न्यासी बन बैठे वैष्णव धनिकोंको आवेदन करनेपर अनुज्ञा मिलती है जबकि न्यायालयोंमें कहा जाता रहा है कि गोस्वामी महाराजोंकी अनुज्ञा और माध्यम के बिना वैष्णव अनुयायिओंको भगवत्सेवा करनेकी मार्गरीति नहीं है किम् आश्चर्यम् अतः परम्

अस्तु. इस तरहका न्यायनिर्णय प्रदान कर जब सम्मान्य गजेन्द्र गड़कर देशके उच्चतम न्यायालयमें न्यायाधीश बन कर पहुंचे तभी गो.ति.म.श्रीका मुकदमा राजस्थानके उच्च न्यायालयमें चल रहा था. वहां इस मुंबइके उच्च

न्यायालयके निर्णयका अनुसरण करते हुवे गो.ति.म.श्रीको न्यायनिर्णयमें आंशिक विजय प्रदान की गयी. परन्तु जब गो.ति.म.श्री देशके उच्चतम न्यायालयमें इस आंशिक जयके विरोधमें आवेदक बन कर गये तब वहां प्रमुख न्यायाधीश स्वयं श्रीगजेन्द्र गड़कर ही थे. और उनके न्यायनिर्णयोंपर अवलंबित हो कर दिये गये निर्णयपर जब उन्हें देशके उच्चतम न्यायालयके न्यायाधीशकी हैसियतमें निर्णय देना था तब दूसरे किसी तरहके निर्णयकी सम्भावना स्वतः क्षीण बन जानी स्वाभाविक बात थी. अतः प्रधानपीठाधीशको वहां पराजित होना पड़ा. इस आश्वासनके साथ कि सरकारद्वारा अधिगृहीत किये जानेके कारण जो आर्थिक हानि गो.ति.म.श्रीको होती हो उसे नाथद्वाराके प्रसादविक्रयके बीस-प्रतिशत भुगतान द्वारा भरपाई किया जायेगा. सिद्धान्ततः नाथद्वाराकी आय-सम्पत्ति यदि देवस्वामिक हो तो उसका उपभोग गो.ति.म.श्रीको वाल्लभ सम्प्रदायके अनुगामी माननेमें भी बाधक होना चाहिये था, प्रधानपीठाधीश होनेकी तो कल्पना भी अशक्य है. देवद्रव्यके उपभोगके अतिशय वर्जित होनेके कारण (द्र."दाने न स्वविनियोगो नतु निवेदने" नव.र.प्रका.१ अमृ.वच.१,४,८,१६,१७,१८). और इस आय या सम्पत्ति को अंशतः उपभोग करनेका गो.ति.म.श्रीका कानूनी अधिकार हो तो नाथद्वाराकी आय-सम्पदा देवोत्तर-सम्पदा होनी नहीं चाहिये, यदि यह संस्थान पुष्टिसम्प्रदायका हो तो पर इस सिद्धान्तको अब कैसे न्यायालय और अनुगामी जनताके गले उतारना?

वाल्लभ सम्प्रदायकी प्रधानपीठमें ही जिस सिद्धान्तकी निष्ठुर अवहेलना हो रही हो तो अन्य स्थानोंके बच पानेके कोई न्यायपूर्ण आधार भी बच नहीं जाते.

इस न्यायनिर्णयको आदर्श निकष मान कर बादमें नडियादकी हवेलीको भी सार्वजनिक मन्दिर मान लिया गया. जब वह अपना विवाद ले कर देशके उच्चतम न्यायालयमें पहुंची. बादमें कच्छ-मांडवीके घरके सार्वजनिक मन्दिर होनेका दावा वहांके कतिपय वैष्णवोंने किया. गुजरातके उच्च न्यायालयमें इस विवादमें, मुंबइके उच्च न्यायालयमें चले विवादके अन्तर्गत जो ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाको जनताको दिये जाते सेवाधिकारके रूपमें माना गया, उसे प्रमुख निकष मान लिया गया. सौभाग्यवश वह पुनः

चेरीटीकमिश्नरके पास रिफर होनेको जब गया तब विवादशील वादी-प्रतिवादिओंने आपसी मतभेदका त्याग कर सिद्धान्तसे अविपरीत प्रबन्धयोजनाके अन्तर्गत गिरते-गिरते अपने-आपको सम्हाल लिया.

यह न्यायप्रणाली और साधनाप्रणाली के आपसी टकरावके बावजूद पुष्टिसम्प्रदायके इतिहासमें दूसरी उल्लेखनीय घटना है. पहली घटना इस सम्प्रदायकी चतुर्थपीठके भी न्यायलयमें पराजयके बावजूद प्रबन्धयोजनामें सिद्धान्तोचित सुधार पानेकी सिद्धिके बाद

जहां तक दीक्षाद्वारा सेवाधिकार मिलनेके सैद्धान्तिक तथ्यका प्रश्न है तो स्वयं 'अधिकार' शब्द 'संस्कृतभाषामें 'आरम्भ 'कर्तृत्वोपभोगी भोक्तृत्वोपभोगी और व्यवस्थोपभोगी स्वामित्व 'योग्यता 'कर्तव्य या 'अनुवृत्ति आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है. इसपर ध्यान नहीं दिये जानेके कारण बिफर गया. सिद्धान्ततः ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा द्वारा दिया जाता सेवाधिकार उपभोग व्यवस्था आदि करनेके अधिकारके अर्थमें नहीं प्रत्युत योग्यता या कर्तव्य के अर्थमें ही प्रयुक्त हुवा है. अन्यथा गोस्वामिओंके घरोंमें साक्षात् भगवन्मूर्तिको छू कर की जाती सेवामें जनताका निर्बाध प्रवेशाधिकार और ऐसी सेवा प्रमुख कर्तव्य होनी चाहिये थी (द्र."...निवेदनं... साक्षाद् गोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्" नव.र.प्रका.१). अतीव आत्मग्लानिके साथ स्वीकारना पड़ता है कि स्वयं हम गोस्वामिमहानुभावोंने अपनी आजीविकाके उपार्जनके लोभवश हमारी भगवत्सेवामें दर्शन-भेंट-प्रसाद-मनोरथके हेतु वैष्णव जनताको सम्मिलित होनेको लुभाया. इसका परिणाम यह हुवा कि जनता और न्यायप्रक्रिया दोनों इस अपसिद्धान्तको पुष्टिमार्गीय धर्म मान कर चलने लगे जबकि वस्तुतः तो अपनी भगवदाराधनामें अपने निजी भक्तजनोंके अलावा अन्यको दर्शन कराना सर्वथा वर्जित माना गया है (द्र.सि.व.३) पराये किसीसे अपनी भगवत्सेवाके हेतु धन स्वीकारना ही नितान्त गर्हित माना गया है. दूसरे किसीकी भगत्सेवामें धनप्रदान कर प्रसाद लेना आदि भी नितान्त गर्हित कृत्य माने गये हैं (द्र.सि.व.२,४,७,११ तथा अमृ.वच.२,३, ४,५,७,९,११,१३,१५,१७,१८). ऐसा स्पष्टीकरण या तो मुंबइके उच्चन्यायालयमें सुनवाईके समय दिया नहीं गया अथवा उसपर ध्यान नहीं दिया गया होगा. हमारे घरोंमें भगवत्सेवा करनेके जनताके अधिकारकी बात

सिद्धान्ततः सर्वथा अप्रसक्त होनी चाहिये थी; क्योंकि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा उन्हें स्वयं अपने घरोंमें भगवान्‌के स्वरूपकी सेवाको अवश्यकर्तव्यतया निभानेको अनुबंधित करती थी (सिद्धा.वच.५, अमृ.वच.३,५,६,११,१२,१९,२१). परन्तु व्यवहारकी विपरीतताने सिद्धान्तका चित्र ही बिगाड़ कर रख दिया.

उदाहरणतया उपनयन-संस्कारार्थ आठ वर्षके ब्राह्मणपुत्रको अधिकारी माना जाता है. यह योग्यता या कर्तव्य के अर्थमें प्रयुक्त 'अधिकार' शब्द है, अन्य किसी अर्थमें नहीं. इसके विपरीत पुत्रका अपनी पितामहकी सम्पत्तिमें दायाधिकार केवल योग्यताके अर्थमें नहीं प्रत्युत वयस्क होनेपर उपभोगानुकूल स्वामित्वके अर्थमें होता है. इस तरह सेवाके अधिकार स्वरूप और प्रयोजन के सिद्धान्ताभिमत रूप प्रवर्तमान न्यायनिर्णयोंके साथ सीधे टकरावकी स्थितिमें आ पड़े हैं.

इससे भी अधिक भयंकर परिस्थिति इन मुकदमोंके बाद, अस्सी प्रतिशत गुरुकी चरणभेटसे जिसका खर्चा चलता था ऐसी, जुनागढकी हवेलीके बारेमें दिये गये न्यायनिर्णयके कारण उत्पन्न हुयी है. नाथद्वारा नडियाद बंबई के मुकदमोंमें यह कहा गया था कि वैष्णव साक्षात् भगवत्सेवा नहीं करते परन्तु पुष्टिमार्गीय हवेलियोंके भीतर रहनेवाले गोस्वामिओंके द्वारा स्वयं अपने मनोरथके अनुसार द्रव्यप्रदान कर भगवत्सेवा करवाते हैं. अतः गुजरातके उच्च न्यायालयने हवेलियोंके गोस्वामिओंको देवमूर्तिकी साक्षात् सेवा द्वारा जनताकी धनराशिको देवमूर्ति तक पहुंचानेवाली मोरी (कॉनड्युइट पाइप्) के रूपमें बिरदा दिया. और अतएव धर्मगुरुकी हैसियतमें उन्हें मिलती चरणभेंटको भी देवोत्तर सम्पत्तिके रूपमें सार्वजनिक घोषित कर दिया, क्योंकि ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षामें सब कुछ भगवान्‌को समर्पित कर देनेकी भावना बतायी गयी है.

यह 'समर्पण'='निवेदन', 'दान' और 'त्याग' के बीच रहे प्रभेदको समझे बिना किया गया विधान है. समर्पणकी प्रक्रियाद्वारा कुछ किसीको केवल उपभोगार्थ ही दिया जाता है, इसमें देनेवालेके स्वामित्वका न तो त्याग और न हस्तान्तरण ही अभिलषित होता है. इसके विपरीत दानकी प्रक्रियाद्वारा कुछ किसीको दिये जानेपर देनेवाला अपने स्वामित्वको निरस्त कर लेनेवालेके पक्षमें उसे हस्तान्तरित करता है (सिद्धा.वच.११). त्यागकी प्रक्रियाद्वारा

देनेवाला दी जाती वस्तुपर अपना स्वत्व या स्वामित्व निरस्त तो करता है पर अन्य किसीको हस्तान्तरित नहीं करता. क्योंकि समर्पण, दान और त्याग के बीच रहे सूक्ष्म तारतम्यको माना न जावे तो ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेवाली वैष्णव जनताके गृह-सम्पदा-आय सभीका स्वामित्व जिस हवेलीमें ब्रह्मसम्बन्ध लिया हो वहां बिराजती भगवन्मूर्तिका होना चाहिये था फिर तो निरपवाद पुष्टिसम्प्रदायके अनुगामिओंकी सम्पत्ति तथा आय देवोत्तर होनेसे सार्वजनिक न्यास घोषित होनी चाहिये थी

अभी तक सार्वजनिक देवालयमें सेवाधिकारी (शेबाइट) की तथा आनुवंशिक उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त होते व्यवस्थापक होनेके अधिकारकी हैसियतमें देवोत्तर सम्पत्तिमें न्यायालयद्वारा मिले भोगाधिकार व्यवस्थाधिकार और दायाधिकार को भोगनेवाले हम गोस्वामिमहाराजोंने, निजी न हो तो न सही न्यासीके रूपमें ही सम्पत्तिके उपभोग करनेमें सन्तुष्ट थे. इस चक्करमें किन्तु निजी चरणभेंट भी खोनेकी बारी आनेपर सभी उद्विग्न हो गये अतः प्रायः सभी गोस्वामिमहानुभावोंने प्रस्तुत आलेखकारको सूचित करनेपर इस जुनागढ़के मुकदमेमें, वादी या प्रतिवादी न होनेपर भी, बाह्य आवेदनकर्ता व्यक्तिके रूपमें उच्चतम न्यायालयमें उपस्थित होनेको प्राधिकृत किया था. तब मैंने उच्च न्यायालयमें प्रस्तुत उस आवेदनमें न केवल जुनागढ़ अपितु नाथद्वारा-नड़ियादके मुकदमोंकी भी सैद्धान्तिक समीक्षा दी थी, जिसे प्रकाशित हो जानेपर अवलोकन किया जा सकेगा. मुकदमेकी सुनवाईके दरमियान किन्तु सारा विवाद सम्पत्तिके सार्वजनिक या निजी होनेपर वादी-प्रतिवादीके बीच चलता रहा. अतः न्यायाधीशोंने प्रस्तुत आलेखकारको न्यायालयके उठनेसे पहले केवल दस मिनिट प्रदान की. भारपूर्वक अनेकधा अनुरोध करनेपर भी सैद्धान्तिक मुद्दोंपर कुछ सुनना न्यायाधीशोंको आवश्यक नहीं लगा. फिरभी गोस्वामिममहाराजोंकी चरणभेंटको सार्वजनिक माननेके गुजरात-न्यायालयके निर्णयको अमान्य करनेके अलावा अन्य किसी भी सैद्धान्तिक मुद्दोंपर ध्यान नहीं दिया गया. परिणामस्वरूप जो गोस्वामिमहाराज प्रस्तुत आलेखकारके समर्थक थे वे भी आगे इस मुद्देको और न भड़कानेके मतके हो गये.

एतदर्थ पुष्टिमार्गीय धर्माचार्योंका संयुक्तघोषणापत्र प्रकट करनेकी बात

चलानेपर भी उस घोषणापत्रपर हस्ताक्षर कर देनेके बाद पुनः मुकर जाना आदि अनेकविध कूटनीति खेली गयी. बादमें पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें भी उसी कूटनीतिके खेलको खेल कर उसे भी अनिर्णीत रखवा दी गयी. साथ ही साथ अपसिद्धान्तोंके पक्षको सच्चे सिद्धान्तोंकी प्रस्तुतिके रूपमें सहस्ताक्षर बिरदा दिया गया. यह उन महानुभावोंके द्वारा जो स्वयं चर्चासभामें अनुपस्थित थे जबकि वास्तविकता यह थी कि उक्त घोषणापत्र या चर्चासभा में विचारार्थ प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावलीके भावानुवादमें जो कुछ प्रस्तुत आलेखकारने संकलित किया था, उसे प्रायः सभी विरोधकर्ता पहले स्वीकृति दे ही चुके थे. नाथद्वाराके मुकदमेमें पराजयके बाद दिवंगत श्रीआर.के.भट्ट द्वारा लिखित 'श्रीवल्लभाचार्यके दार्शनिक आचारकी परम्परा' नामक पुस्तिका जो नाथद्वारामन्दिरकी प्रबन्धयोजनाके मसौदेके रूपमें प्रस्तावित थी उसकी स्तुतिमें ये ही महानुभाव बहुत कुछ स्वीकार चुके थे (इसे विस्तारसे देखना हो तो प्रस्तुत आलेखकारद्वारा लिखित 'विशोधनिका' के तीन भागोंमें देखा जा सकता है).

मुद्दा यह नहीं कि प्रस्तुत आलेखकार सही था या उसके विरोधकर्ता. परन्तु [1]न्यायालयोंमें सिद्धान्तकी अप्रस्तुति [2]जनताके समक्ष भी पूर्वस्वीकृत धारणाओंका अस्वीकार, [3]व्यवहारमें वही सिद्धान्तविपरीत आचारणोंके उदाहरणोंको प्रोत्साहित करनेकी रीतिनीति, ये कुछ ऐसी बातें हैं जो वर्तमानमें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके आधुनिक न्यायप्रणालीसे टकरावको मार्गकी ध्रुवनियति बना देती हैं. स्वयं बहोत पहले कभी सिंहगर्जनाके साथ "...ब्रह्मसम्बन्ध ले कर सेवा करनेसे प्रत्येक इन्द्रियोंका भगवान्में विनियोग होता है... मन्दिर=गुरुघर तो केवल उपदेशग्रहण करनेके लिये हैं. सेवा तो हमें अपने घरोंमें करनी है" कहनेवाले महानुभाव उक्त सिद्धान्तचर्चासभामें अपना मत मेरे द्वारा विचारार्थ प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावलीके भावानुवादके विरोधमें दे कर; पुनः एक दिन, मुझे मिलने आये. दबी आवाज़में सफाई देने लगे कि बात तो आपकी सच्ची है परन्तु जिन लोगोंने अपने घरोंको सार्वजनिक मन्दिर न्यासके रूपमें सरकारके सामने रजिस्टर्ड करवा लिया हो वे कहां जायें? मैंने कहा "वे भी सिद्धान्तको तो खुल कर जनतामें कबूल तो कर ही सकते हैं, जब तक कोई कानूनी उपाय मिल नहीं जाता". मेरी यह बात सुन कर प्रसन्न हो गये और बोले कि *"अच्छा सिद्धान्त सिर्फ जनताके सामने कहते रहनेकी बात आप कह रहे हो*

हम तो समझे कि आप उसे अमल लानेका झगड़ा कर रहे हो मेरा तो मन नहीं मानता था कि श्याम मनोहरजी ऐसी अव्यावहारिक बात कभी कर सकते हैं" ऐसी अपनी प्रशंसा सुन मैं इतना लज्जत हुवा कि पहले कभी कई सारी त्रुटियोंकी निन्दा सुन कर भी जीवनमें कभी इतना लज्जत नहीं हुवा

यह किसी व्यक्तिनिन्दाके रूपमें प्रकट नहीं कर रहा हूं परन्तु प्रायः अधिकांश हम गोस्वामिओंकी स्वसिद्धान्तमें अस्थिर आस्था और तत्कालिक लौकिक स्वार्थपूर्ण हितोंकी तुलनामें सनातन आत्मिक हितोंकी अवहेलना की बचकानी मनोवृत्तिके निदर्शनार्थ ही है. क्योंकि इसके कारण अपना वास्तविक दूरंगामी हित हमें बहुधा बुद्धिगत नहीं हो पाता और पिटते रहते हैं. यह देशके स्वतन्त्र होनेसे पहले अमरेलीकी हवेलीके बारेमें वह सार्वजनिक देवालय है या निजी, इस बारेमें एक मुकदमा गायकवाड़ी राज्यमें चला था, उसकी दुर्नियतिको देखनेपर समझी जा सके ऐसी घटना है. उस समय सिद्धान्तविद् शास्त्रिओं और सुविज्ञ वैष्णवप्रतिनिधिओं की जुबानी सुननेके बाद रियासती अदालतने अमरेलीकी हवेलीको निजी घोषित कर दिया था. जुनागढ़के मुकदमेमें इस न्यायनिर्णयको उद्धृत भी किया गया, जिरहके समय; और उसपर न्यायाधीशोंका ध्यान भी आकृष्ट किया गया. गुजरात उच्चन्यायालयके न्यायाधीशोंने परन्तु उसे इसलिये महत्त्वपूर्ण प्रमाण नहीं माना; क्योंकि, उसके बाद वहांके महाराजश्रीने चला कर उसे सार्वजनिक न्यासके रूपमें सरकारमें दर्ज करवा दी थी हमारे सिद्धान्तोंके बारेमें हमारी ऐसी अस्थिर निष्ठा हमारी सेवाके निर्बाध सिद्धान्तानुरूप अनुसरणमें सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है. कानूनी प्रतिबन्ध तो बहुधा इस अस्थिरनिष्ठाके कारण ही हमपर लदते रहते हैं.

अन्तमें पुष्टिमार्गपर सनातन बदनामीके सनातन ठप्पा(!) जैसा 'श्रीयदुनाथजी महाराज लावबलकेस' के बारेमें कुछ देख लेना उचित होगा. इस केसका मूल दो विवाद थे : [1]अपुष्टिमार्गीय महादेवमन्दिरमें छप्पनभोगका मनोरथ हो सकता है या नहीं? [2]विधवा स्त्रीका पुनर्विवाह हो सकता है या नहीं?

इसपर हम पुष्टिमार्गके धर्मगुरुओंने तब बड़ा बवंडर खड़ा कर दिया था कि ऐसा सनातनधर्मके शास्त्रोंके आधारपर हो नहीं सकता.

उस समय "शिवभक्तोंकी, "सुधारवादियोंकी और मुंबइमें अब 'वी.पी.रोड़' कहे जाते मार्गपर तब खुले "ईसाई चर्चके पादरी विल्सन की एक संयुक्त धुरी पुष्टिमार्गके विरोधमें सामने आ खड़ी हुयी.

"इन शिवभक्त ब्राह्मणों तथा वल्लभवंशज गोस्वामी महानुभावों का तब आपसी साम्प्रदायिक वैमनस्य काम कर रहा था. सो डेढ़ सो वर्षपूर्व मुंबइके भुलेश्वर महादेव मन्दिरोंमें कुछ लोगोंने छप्पनभोगके मनोरथका आयोजन किया. तब छप्पनभोगके आयोजनोंकी प्रतिस्पर्धामें पुष्टिमार्गसे महादेवमन्दिर आगे बढ़ कर जनताको आकर्षित न करने लगे, इस भीतिके कारण उसके विरुद्ध पुष्टिमार्गीय धर्मगुरुओंने बवंडर खड़ा कर दिया. क्योंकि उनके अनुसार यह तो केवल पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें ही हो सकता था. सैद्धान्तिक वास्तविकता जबकि यह है स्वयं अपने द्रव्यसे करना हो तो "नन्दगांवके बड़े गोप श्रीनन्दरायजीने बरसानेके बड़े गोप श्रीवृषभानजीको उनके गांवके सहित गोठ दे कर आमन्त्रित किया" ऐसी लीलाभावना करनेको वह कोई भी पुष्टिमार्गीय छप्पनभोग कर ही सकता है. इसी तरहकी लीलाभावनाके बिना तो कोई भी अपने आराध्यको छप्पन या एक सौ अड़सठ तरहकी भोगसामग्री क्यों निवेदित नहीं कर सकता?

उल्लेखनीय है कि वस्तुतः तो ५६ल३=१६८ से भी अधिक खाद्यसामग्री अपने यहां भगवान्‌को भोग धरी जाती होंगी. फिरभी जनसाधारणके सामने यह लुभावनी रखी जाती है कि ८४,००००० योनियोंके बाद मिली अन्तिम मानवयोनिके बाद दूसरे ८३,९९९९९ योनियोंके चक्रको शुरु होनेसे रोकना हो तो "८+३+९+९+९+९+९८३(योनियां)=४५ योग होता होनेसे छप्पनभोगके उत्सवमें भेंट-दर्शन-प्रसादग्रहण द्वारा मुक्त हुवा जा सकेगा सवाल यह नहीं कि सचमुच ऐसे उपहासास्पद व्यावसायिक सामग्रीप्रदर्शनोत्सवमें सम्मिलित होनेपर चौरासी लाख योनिका चक्र बंद होगा या नहीं भीषण समस्या तो यह है कि जब हमारे आराध्य स्वरूपके सामने छप्पनभोगकी सजावटके प्रदर्शनका ऐसा आयोजन हम परार्थ करते हैं, तब वह भक्तिभावरूप न हो कर एक थोथा कर्मकाण्ड बन जाता है. वह तो भुलेश्वरके महादेवजीके मन्दिरकी तरह ईसाई चर्च और मुसल्मानी दरगाह या पंचतारक होटल या क्लबहॉल में भी क्यों नहीं हो सकता? अतः या तो भक्तिके ऐसे

व्यावसायिक प्रदर्शनोंमें भोगसामग्रीकी संख्या सर्वथा ५६ ही होनी चाहिये थी अन्यथा "(८४,०००००-१)=(८+३+९+९+९+९+९)=५६ भोग" समीकरण त्रुटिपूर्ण लगता है. खैर, ऐसे उपहासास्पद बचकाने लुभावनका कोई भी सैद्धान्तिक या वैचारिक अथवा भावनात्मक महत्त्व तो नहीं होता. फिरभी इसके कारण हमारे सम्प्रदायमें की जाती भगवत्सेवा न तो पुष्टिभक्तिरूप न पुष्टिभक्त्यर्थ न आत्मोद्धारार्थ ही परन्तु कानूनन जनताके द्रव्यसे जनताके हेतु जनताके प्रतिनिधिओं द्वारा किया गया तथाकथित धार्मिक कर्मकाण्ड होनेसे हमारे सेव्यस्वरूप सेवास्थल सेवाप्रयोजन और सेवास्वरूप को सार्वजनिक सिद्ध करनेका पर्याप्त हेतु सिद्ध हो जाता है. विस्मयजनक बात तो यह है कि इसपर भी हम कायम न रहे और अब अपुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें स्वयं गोस्वामी महाराजश्री सम्मिलित होने लगे खैर.

"हिन्दुसुधारवादी कवि नर्मद स्वयं किसी विधवा स्त्रीके प्रति आसक्त होनेके कारण तब विधवाविवाहकी पैरवी कर रहे थे(!). उन्होंने गोस्वामी श्रीयदुनाथजीको इस विषयमें सहमत करना चाहा. वैसे पुष्टिभक्तिके सिद्धान्तकी दृष्टिसे देखनेपर स्वयं महाप्रभु "**वर्णाश्रमवतां मुख्ये धर्मे नष्टे छलेन तु क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतः तस्माद् न मोचनम् अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेद् बुधः**" (त.दी.नि.२।) खुलासा दे ही चुके थे. तो भी विधवाविवाहके सनातन वर्णाश्रमधर्मसे विरुद्ध होनेका बवंडर खड़ा कर व्यर्थमें पुष्टिसम्प्रदायको बदनाम करवानेका हमने पुरुषार्थ किया. जबकि आजीविकार्थ देवमूर्तिकी आराधना करनेवाला स्वयं असत् शूद्रसे जघन्यकोटिका पतित होता है, पक्वान्नरूप प्रसादका विक्रय करनेवाला तो स्वयं सद्यःपतित हो जाता है, ऐसी वर्णाश्रमशास्त्रोंकी व्यवस्था हमारे भजनके सारे प्रकारोंके विरोधमें मुखरित थी ही. ऐसी स्थितिमें कोई विधवा स्त्री; या उसके साथ विवाह करनेवाला पुरुष, और कितना अधिक जघन्यकोटिमें पतित होता? और होता तो होता वर्णाश्रमशास्त्रोंके पाबंद अन्य भी सनातनी हमें पिटते हुवे बचाने तो न आये फिरभी व्यर्थमें सनातनधर्मके ठेकेदार बन कर हमने महाराजलायबलकेसकी दुर्घटनाको स्वयं आमन्त्रित किया था. हेतु केवल एक ही था : न तो वर्णाश्रमधर्ममें हमारी निष्ठा स्थिर थी और न वर्णाश्रमधर्माविरोधी फिरभी वर्णाश्रमधर्ममें न बंधनेवाली पुष्टिभक्तिमें हमारी निष्ठा स्थिर थी आज भी वर्णाश्रमधर्मकी पाबंदीके बावजूद धड़ल्लेसे हमें यूरोप-अमरीकाकी यात्रा डॉलर आदि महंगी मुद्राओंके लाभके

कारण लुभावनी लगती है. बादमें वहां यात्रा करनेका प्रायश्चित्त और नियत कर रखा है. वह भी १२,००० गउओंके दानका काशीके पण्डितोंने पूछनेपर बताया था, जिसके निमित्त अब कुछ पांच हजार रुपयोंका प्रायश्चित्त हम करते हैं! यह है हमारी अस्थिर धर्मनिष्ठाका अकाण्डताण्डव! अब तो स्वयं हमें ही पुनर्विवाह या विधवाविवाह में कोई आपत्ति गम्भीर नहीं लगती!

"हिन्दुधर्मके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेवाले युरोपके विद्वानोंको तब लग रहा था कि ऋग्वेद आदिकी संहिताओंमें वर्णित धर्म तो वैसे भी प्रभावहीन हो गया है. भारतमें जो चल रहा है वह तो शैव वैष्णव शाक्त आदि पौराणिक धर्म ही. अतः उन्हें यदि समाप्त किया जा सके तो ईसाई धर्मके प्रचारको मुक्त वातावरण मिल पायेगा. अतः मेक्समूलर(१६), मोनियर विलियम(१७), पूर्वोक्त चर्चके पादरी विल्सन आदि अनेक भारतीयविद्याविदोंने इस दिशामें पुरुषार्थ प्रारम्भ कर ही रखा था(१८). साथ ही साथ स्वयं हिन्दुओंमें भीतरसे सुधारकी हवा चलानेको नये पन्थ भी चलवाये गये थे. ऐसा सिनारियो तब था. अब तो स्वयं यूरोप-अमरीकाके लोग हमारे पौराणिक धर्मके विविध सम्प्रदायोंमें दीक्षित अनुयायी बन कर उनका अनुसरण करने लगे हैं. तब छप्पनभोग कुंडवारा आदिके व्यावसायिक प्रदर्शनोंके साथ अब प्राचीन यज्ञयागादि और खेचरीयोग जैसी साधनाओंके आर्थिक लाभकारी मार्गदर्शनकी महत्ता हम बहांकी जनताको समझाना चाहते हैं. यह पुनः हमारी अधूरी निष्ठा हमें कहीं अन्तरराष्ट्रिय स्तरपर ले न डूबे!

ये थे मूल हेतु हमें लायबल केस करनेको विवश कर देनेकी सीमा तक उकसानेके. उसके बाद उस केसमें हमारे भगवत्समर्पणके दिव्य सिद्धान्तको अनैतिक व्यभिचारको प्रोत्साहित करनेवाले सिद्धान्त और सम्प्रदायकी दीक्षाके रूपमें विकृततया व्याख्यायित कर दिया, अंग्रेज़ न्यायाधीशोंने. लायबल केसका मुकदमा दायर करनेवाले श्रीयदुनाथजीपर जो अपमानजनक आरोप थे उन्हें सिद्ध न होनेके कारण उनकी प्रतिष्ठा अभियाचित पचास हज़ारके स्थानपर पचास पैसा मान कर उन्हें आरोपमुक्त कर दिया गया!

७.वर्तमान टकरावके निवारणका उपाय :

अब भी समय रहते हमारे आचार्यचरणकी वाणीमें हार्दिक निष्ठा हम

पनपा पायें और तदनुसार वैष्णव जनताको भी प्रेरित करते रहनेकी आचार्योचित निर्भिकता और उत्तरदायिता स्वीकारें तो मार्गका वास्तविक उत्कर्ष हो नहीं सकता, ऐसा कमसे कम मुझे तो नहीं लगता. आवश्यकता है सच्चे हृदयसे भगवदाश्रयकी, वाक्पतिकी वाणीके साथ प्रतिबद्धताकी और अपनी चार्वाकोंके जैसी मनोग्रन्थिके छेदनकी कि "आगे भी जाने न तू पीछे भी जाने न तू जो भी है बस यही एक पल है"

सन्दर्भसूची :

(१) श्रीनाथजीको उदयपुरराज्यके सिंहाड गांवमें विराजनेकी सुविधाप्रदान करते समय गोस्वामितिलकायितकी तरह महाराणा उदयपुरकी भी समझ यही थी कि परिस्थिति सुधरनेपर श्रीनाथजी पुनः ब्रज पधारनेवाले है :

"Maharajadhiraj Maharana Shri Rajsinghji commands from the auspicious Udaipur the Jagirdar of Sinhad and Brahmans and all inhabitants. Be it known that Shrinathji residing at Sinhad let uncultivated land as may desire be cultivated till such time, when Shrinathji goes back to Brij the land of those to whom it belong will... in fact. If any one then obstructs in any way he will be rebuked. Grant masani loghs in smt.1729 on Asoj sudi 15 Thursday.",

"Maharana Maharajadhiraj Shri Rajsinghji commands from the auspisious place of victory. Brahman Joshi Krisna Khemia Mohan Hari Jagha and Hava Pitha and all inhabitants of the Kheda of Sinhad. Be it known that when Shrinathji goes to Brij from Sinhad Brahmins will get the land which is of the Brahmins. They will get the land as is entered in previous records. So long as Shrinathji... Loghu in smt.1736 on Bhadwa sudi 6 Monday."

(As an Annexture No.5/13, 5/13A along with appppeal in Supreme Court case no.652 and 757 in the year 1962 by T.G. against State of Rajsthan)

(२-३) महाराणा उदयपुर द्वारा भारतके अंग्रेज़ गवर्नर जनरलको दि. १७ जनवरी १८२५ के दिन भेजा गया पत्र :

"In time of Maharana Rajsingji the God Shri Govaerdhannathji and the ancestors of Gosainji or the High Priest of the Vaishnavas came from Brij to Mewar in the month of Falgun Samvat 1735. Our ancestors kept the Thakurji Maharaj and the Gosainji

Maharaj at the village of Sinhad... After this our ancestors and all other Rajas great or little i.e. Jaipur Jodhpur Bundi Kota etc. became followers of that religion and agreed to obey orders... These are the practices and usages confirmed from old times of our ancestors. All the former Rajas and chiefs of Hindosthan did obey and the present to obey the orders of Sr Thakurji and Sri Gusainji Maharaj. The orders will not be departed in any way... As a friend I earnestly request Government to issue orders to the several Agents of Government, accredited at the courts of the different Rajas to see that in any case in which the Maharaj is concerned, no agent is to raise any dispute with regard to the above-mentioned matters "

(As an Annexture No.13 along with appppeal in Supreme Court case no.652 and 757 in the year 1962 by T.G. against State of Rajsthan).

(४)फ़रमान ब-आलाशान अलिए जलालुद्दिन मोहम्मद अकबर बादशाहे ग़ाज़ी : "इस मुबारिक वक़्तमें फरमान जारी हुवा कि गुसांई विट्ठलराय साकिन गोकुल मौज़े जतिपुरा मुत्तसिल परगने गोरधन में ज़मींदारों से रुपया दे कर ज़मीन खरीद कर मक़ानात व बाग़ात व गायों के छिड़क व मंदिर गोरधननाथ के कारखाने तैयार करा कर रहता है. इसलिये हुक्म जारी हुवा कि ऊपर लिखे मौज़े को गुसांई मज़कूर के क़ब्ज़े में नसलन बाद नसल माफ़ वा बाग़ुज़ाफ़्त छोड़ा गया है. इसलिये मौजूदा व आइन्दा होनेवाले हाकिम, आमिल, मुहिम्मो के मुतसद्दी क्रोडी, जागीरदार व ज़मींदार इस बड़े हुक्म की तामील कर मौज़े मज़कूर को मय ज़मीन ज़र खरीद के उसके क़ब्ज़े में नसलन बाद नसल रहने देवें. और अबवाब ममनूआ तकालीफ़ दीवानी व मतालबात सुलतानी व माल वजहात व कुल अवारिज़ात व सरदरखती वहां के बाबत मुज़ाहम न हो कर एतराज़ न करें. और हर साल नया फरमान व परवाना न मांगे व इसके खिलाफ न करें. ताके मारिफत आगाह गुसांई बादशाही महरबानियों से मशकूर हो कर इस सलतनत के हमेशा क़याम की दुआ करता रहे. तहरीर तारीख़ २ खुरदाद माह इलाही ३९ जलूसी (मुताबिक १५९४ इस्वी).

(५) नाथद्वाराकी गादीके उत्तराधिकारके विवाद छिड़नेपर उदयपुरराज्यके तीन महाराणाओं (A)भीमसिंहजी द्वारा दि. २५/९/१८२६ के दिन, (B)सज्जनसिंहजी द्वारा दि.२५/३/१८७३ तथा (C)उदयपुरराज्यके महाराणाके कार्यालयसे जारी किये गये दि.१०/१०/१९३३ तथा दि.२३/३/१९४८ के दिन घोषित राजाज्ञापत्र :

(A)"Father Gosain Shri Damodarji Maharaj has departed this life, after which Gosain Gopeshwarji and Shri Krishnraiji having raised despute... you were found to be in the right. No one else has therefore heritable right to your house(eststo), you are Malik (owner) of the Shriji's sewa...". ""Our salutation be known... to Shri Shri Shri Dadi Kamala Bahuji Maharaj... Moreover you may do service and worship of Shriji(God) in accordance with your

wishes. It is your house. You are the owner. You live with pleasure."

(ibid.Annexture 5/4-5).

(B)"... on 8th may 1876 A.D.... Shri Maharajadhiraj Shri Sajjansinghji ... and the politica agent... Bahadur of Mewar enthroned on the seat of divine estate of Nathdwara Shri lalbaba Shrigovardhanlalji Maharaj after reminding him for the said seat... Goswami Maharajshri Govardhanlalji Maharaj will enjoy the whole income movable and immovable concerned with the temple of Nathdwara. Now the owner of the said Devasthan Nathdwara and the properties of all kinds movable and immovaaable connected with it will be of the said Tilkayat Goswami Maharajshri Govardhanlalji alone. The said removed Maharajshri Giridhanlalji has no connection what so ever with the said Devasthan Nathdwara. Dt.25th March 1878 A.D...

(ibid. Annexture 15)

(C)"Nathdwara estate [(Note : like other 16 estates of jagirdars of the then Mewar State. But nay, never. the main religious seat of Shri Vallabha's sect(] has been established by kingdom of Mewar and is dependent on it. in continuity Tilkayt Goswami Govardhanlalji Maharaj absented himself. The immoral character and the conduct against the eternal usage of his son Damodarlalji has not left him a fit person so that he can be appointed in the place of his father as Tilkayat Goswami of Nathdwara... Beside this on the very day Goswami Govardhalalji also after getting consent with the written letter of Damodarlalji presented the following in writing "if the character of Damodarlalji be not good then he should remain aloof from the office of Tilkayat and the seat. and my grandson Govindlalji will be the owner of the seat." ""Government of Mewar order no.7676 of 1948 : Government are pleased to order that the management of Thikana Nathdwara may be withdrawn with effect from 1st April 1948. The advisory committee appointed during the period of minority of Tilkayat Goswami Shri Govindlalji Maharaj is also dissolved. Sd. S.V.Rammurty Prime Minister".

(Ibid. Annexture 30).

(६) "The Tilkayat also expressed his concurrence with the proposal made in this report and signed in token of his agreement. It appears that after orders were issued in accordance with the decision of the

Tilkayat, the two templs were treated as part of the bigger temple of Srinathji. This is evident by the resolution which was passed at the meeting of the Power of Attorney Holders of the Tilkayat on the same day i.e. 15 October 1956. One of the resolution passed at the said meeting shows that the proposal regareing the Temple and Baithaks owned by His Holiness stating therein that His Holiness had been pleased to transfer the ownership theirof to Srinathji was considered. That proposal along with the list of temples and Baithaks was produced before the Committee. The Tilkayat was present at the meeting and he confirmed the proposal and put his signatuer thereon before the Committee. Thereupon, the Committee accepted the proposal with thanks and instructed the Exicutive Officer to the needful in that behalf. Thus, the Tilkayat propossed to the committee of his Power Of Attorney Holders that the two idols and their Baithaks should be transferred from his private estate to the pincipal temple of Srinathji and that proposal was accepted and therafter the two idols were treated as part of the principal temple. After this transfer was thus formally completed it appears that the Tilkayat was inclined to change his mind and so, in submitting to the committee a list of temples and Baithaks transferred by him to the principal temple of Srinathji he put a heading to the list which showed that the said transfer had been made for management and administration only and was not intended to be an absolute transfer. This was done on or about 23 November 1956."

(T.G.Vs. State of Raj. A.I.R.1963 SC 1638).

(७) "The Firman then clearly provides that the Tilkayat Maharaj is merely a Custodian, Manager and Trustee of the said property and finally determines the nature of the office held by Tilkayat Maharaj. He can claim no better and no higher rights after the Firman was issued [Note : 1.Even after the Firman ex-Tilkayat in his declaration of the successor clearly intimated to the State of Mewar that his grandson would be owner of the estat Nathdwara which the State had also taken care to mention without any rebuke 2.If the Tilkayats, were not de facto as well as de jure owners of the Nathdwara estat, where the temple of Shri Nathji was happen to be situated due historical and accidental condition, why the committee was dissolved?].

(T.G. Vs. State of Raj. A.I.R.1963 SC 1638 para 34)

(८) "If Shri Lal Baba of Goswami (Girdharlalji) Maharaj intends to come here, then it is proper now also that permission be got issued

from Shriman Goswami Sri Tilkayat Govindlalji Maharaj for touching of feet and toilet (of deity)... Therefore according to old custom, the independence of Sriaman Tilkayat Maharaj should be maintained... In this State, the owner is minor..."

(ibid. The Annexture no.10)

(९) "(Havelies)... though they are grand and majestik inside, the outside appearance is always attempted to resemble that of a private house. This feature can, however, be easily explained if we recall the fact that during the time when Vitthalnathji with his greate missionary zeal spread the doctrine of Vallabh, Hindu temples were constantly faced with the danger of attack from Aurangzeb... Faced with this immediate problem Vitthalnathji may have started building the temples in the form of Havelies so that outside nobody should knwo that there is temple within".

(T.G. Vs. State of Raj. SC AIR 1962 para 21).

(१०)जतिपुरमें श्रीनाथजीके अक्षयतृतीयाके दिन पाटोत्सवके बाद फागुन वद सप्तमीके दिन श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके घरमें पुनःपाटोत्सवका प्रमाण :

"When the big temple was completed, at that time Sri Acharyji Mahaprabhu came to vraj... And Srinathji was installed in the newly constructed and big temple by Sri Acharya Mahaprabhu in Smt.1579 on Vashakh Sudi 3 Akshay Tritiya".

(ibid. the Annexture no.54).

"अथ फाल्गुनोत्सवाः अथ श्रीगोवर्धननाथप्रभुप्राकट्योत्सवः : अथ उत्सवाः निरूप्यन्ते मासि फाल्गुनसंज्ञके फाल्गुन्यसितसप्तम्यां श्रीमद्गोवर्धनाधिपः प्रेमातिशयबोधार्थं प्रेमातिशयवत्सलः व्याजं लौकिकम् आश्रित्य श्रीविट्ठलगृहे अगमत्, उत्सवस्तु महान् आसीत्, स न शक्यो अस्ति वर्णने तदागमनसञ्जातः श्रीविट्ठलकुले तदा..."

"अथ फाल्गुनोत्सवविधिः अथ फाल्गुनके मासि सप्तम्यां कृष्णपक्षके श्रीगोवर्धननाथस्य प्रभो. पट्टमहोत्सवः."

(उत्सवप्रतान : श्रीव्रजरायकृत संवत्सरोत्सवकल्पलता मठेराश्रीइन्दिराकृत संवत्सरोत्सवविधिप्रकाश प्रकाशनवर्ष-१९४९).

(११) "This conclusion that a temple, which is managed out of the funds collected from the public, is the Maharaja's property may seem startling, but it is non the less inevitable by reason of the peculiar tenets of the sect and the blind faith with which they were adhered to by its followers. The Maharaja having already acquired proprietary rights by what was done by himself and his devotees at the time of, and subsequent to, the construction of the temple, he can

not be deprived of them by the mere modern change in the angle of the vision of some of his present devotees. The latter may disallow the tenets if they deem hard or unjust, refuse to pay contribution and even establish an independent public place of worship. But so far as the existing tempel and its property are concerned, they are not at liberty to question the Maharaja's title to them"

(The Judgement given on the date 1st June 1927 in the court of the District Judge, East Khandesh, at Jalgaon. In the Civil Suit no.2 of 1927 by The Distruct Judge N.S.Lokur).

(१२)

(A)"The participation of the member of the public in the Darshan in temple and in the acts of worship or in celebration of festival occasions may be a very important factor to concider in determining, the character of the temple."

(T.G. Vs. State of Rajasthan para.23).

(B)"There is nothing on record to indicate that in the long past in Patadi, any ruler had put any restriction on the use of temples for Darshan over a fairly long period during which public visited the temples, as if they were thier temples and this establishes thier right... Although there was a sort of private passage running from Darbargadh to the public road, presumably meant for the use of 'pardanashin' ladies of royal family, this would not indicate that that the temples were attached to the Darbargadh... The general public and particularly the members of the vaishanva sect had unrestricted right of worship at temples as a matter of course and participated in the the festivals of Hindola and Annakut functions and seva"

(Pratapsinji Vs. Deputy Charity Commissioner Gujrat SC.1987).

(१३)

द्रष्टव्य : जुनागढ़ हवेली गुरुद्वोंके फैसलाके पृष्ठ : १३८-१३९, १४३-१४६, १५६-१५८, १६१-१६२ तथा ३०६. इन पृष्ठोंपर यह भारपूर्वक कहा गया है कि भगवन्मूर्तिके सामने ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेनेपर सर्वसमर्पण कर देनेके बाद भवन या सम्पत्ति पर समर्पणकर्ताके स्वामी होनेका दावा मान्य नहीं हो सकता. यह परन्तु सिद्धान्ततः सत्य हो तो पुष्टिमार्गकी अनुगामी जनता भी ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेती होनेसे उनके भी अपने भवन उद्योग एवं सम्पत्ति पर स्वामित्व निरस्त हो कर मन्दिरकी मूर्तिका स्वामित्व प्रस्थापित होना चाहिये था. केवल पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महाराज ही थोड़े ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेते हैं. अपने घरमें पणधरसेवा करनेमें सक्षम सभी स्त्री-पुरुष बाल-वृद्ध धनवान्-अधनवान् सभी वर्णजातिके लोग ले सकते हैं और लेते भी हैं.

(१४) "पुष्टिमार्ग अथवा महाराजोनो पंथ पृ.४१६-४१७ : "आसरे संवत् १९१४ के १५ मां सालमां मुंबइमां धुलेश्वर महादेवनो छप्पनभोग केटलाक ब्राह्मणो तरफथी करवामां आव्यो हतो. ते वखते ते वखते अे लोकोअे महादेवनुं छप्पनभोग थाय नही अेवी बाबत लावी ब्राह्मणोपर मोटे जुलम गुजारावा प्रयत्न कर्यो. तेथी ब्राह्मणोअे नोराती नात अेकठी करी अने पोतानी हकीकत निवेदन करी. ते उपरथी चोराशीमातवाळाओअे करी घणांक श्रीमंतोने समजावी अे लोकोनो जूठो दोर तोडी नाख्यो. ते वखते अेक शिवभक्ते अेओनी उत्पत्ति विषे वात लखी ते आ प्रमाणे छे : ... ते त्रिशूल वडे देवीअे महिषासुर... स्वर्गमांथी नसाडी मुक्या... पछी पृथ्वी उपर लोकोने सिद्धाइ देखाडवा पोतानी मायाथडे अग्नि करीने बच्चे बालक थइने रह्यो तेने लक्ष्मणभट्ट लइ गयो त्यां महोटो थवा पूर्वे पशु हतो माटे तेने पशुमार्ग, पुष्टिमार्ग के जेमां कोइनी मर्यादा नहीं ते चलाव्यो.

(१५) "''(...) तथा करेलां कृत्यो संबंधी अने मारा स्वाभाविक गुण विषे मारां ज करेलां विवेचन संबंधी हाल लखवाथी मने बोडुं; पण मारा संबंधीओने घणुं ज नुकसान थाय अने तेवी हो-हो थइ रहे माटे ते वातो घटते प्रसंगे घटतीरीते लखाय तेम लखवाने मुलतवी राखुं छुं" (मारी हकीकतपृ.९४) "आ वधी नबळाओमां हजी अेक उमेरो थइ शके तेम छे. अे छे नर्मदनी स्त्रीओसंबंधीनी नबळाई. स्त्रीओ साथेना पोताना संबंधो बाबतमां नर्मदने नैतिक बंधनो बहु थोडा नडतां(...) विधवा नर्मदागौरीने परणवानो तेणे जेनिर्णय कर्यो, तेमां पण आवी जातनी हिंमतनी जरूर हती. अेक पत्नी जीवती होवा छतां अने ते पण चळी शांत अने सुशील होवा छतां तेणे जे आ पगलुं भर्युं ते साचुं हतुं तेम तो कोई ज कहे(...) आपणे सत्यने साक्षी राखीने नर्मदविषे पण कही शकीअे के तेणे पण व्यभिचार कर्यो ज हतो...('नर्मद' पृ.८७-८८. ले. गुलाबदासब्रोकर).

(१६)

(A)"India is much riper for Cristianity than Rome and Greece were at the time of St.Paul. The rotten tree has for some time had artificial supports, because its fall have been inconvient for the government... I would like to live for ten years quietly and learn language, try to make friends, and then see whether I was fit to take part in work by means of which the old mischief of Indian priestcraft could be overthrown and way opened for the entrance of simple Cristian teaching, that entrance which finds into every human heart, which is freed from ensnaring powers of priests and from the obscuring influence of philosophers.

(B)"... the ancient Indian relgion of India is doomed‹{‹and if Cristianity does not step in whose fault will it be‹?"

(C)"That religion is still professed by at least a hundred and ten million of human souls... and yet I do not shrink from saying that the religion is dying or dead".

("Max Muller and his contemporaries' Papers read at seminar held at the RKmission Kolkta 15-15/12/2000 p.207-8).

(१७) "...I must draw attention to the fact that I am only second occupant of the Boden Chair, and that its Founder, Colonel Boden, stated most explicitly in his will (dated August 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the Scripture into Sanskrt, so as "to enable his countrymen to proceed in the coversion of the natives of India to Cristian Religion.'... I have made it the chief aim of my professorial life to provide facilities for the translation of our sacred Scripture into Sanskrit... "

(In Preface to 'A Sanskrit-English Dictionary' by Sir Moneir William p.ix-x).

(१८) इस विषयमें कुछ सावधानतया अवधेय तथ्य वीर नर्मदने अपनी उत्तरावस्थामें प्रकटकिये जो 'धर्मविचार' नामक ग्रन्थमें खुल कर स्वीकारे हैं :

''सम्प्रदायना देवोने न मानवा पण अेक परमेश्वरने मानवो(...)अेवो ते काळनो वा हतो(...)अे धर्मे वल्लभी सम्प्रदाय उपर कोरटमां जय मेळव्यो. सुधारावाळानुं अैक्य प्रकास्युं; अने कृष्णदासनी कीर्ति थई. ख्रिस्तीओअे मोटी वखाणी (पादटिप्पणी : बीजावैष्णव धर्मवाळा राजी थई गया वल्लभमार्ग पीछाव्यो जोई;(...) हिंदुधर्मनी पोखणमां ख्रिस्ती पादरी उमंगी होय ज ने डाक्टर विलसन ते कृष्णदासने सारी पेठे सहाय थवा हता, कोरटमां पण अने ते पछी पण(... पृ.२८ ...) अमे नथी समजतां के सुधारो महाराजोनो पीछो शा माटे नथी मुकतो? (...)स्वामीदयानंद पण तेना उपर उलट्यो हतो. शुं बीजा पंथो नथी सुधारानी सळवळती नीभने चळवळती लेखणीने माटे(...)? (शुं बीजापंथोमां दुराचार अनाचार छळ प्रपंच नथी? ने अेनुं पाप विशेष के वल्लभपंथना जारकर्मनुं? यमराजा के तेनो चित्रगुप्त जाणे (३५...) (सुधारावाळा)सघळाअे स्वधर्मथी अजाण, सघळाअे परलोकविषयनी परंपरानो अनादर करवावाळा नेसघळा अेस्वदेशी बंधुओनुं संसारी कल्याण करवा कोदीला हता. ख्रिस्ती बैबलनी नीति उपर मोहित(... पृ.४९...)पंडित दयानंद जे उच्छेदक सुधाराने वेदधर्मनुं, वेदना देवताने न माने, अधिकारपरत्वे धर्मबोधने नमाने ते मूर्तिने केम माने? पणपृच्छा निकळे के पदार्थविद्यान शोधकार्य अमणां जे बधा छे बधा वेदमां कहेला छे तेम ते कहे छे तो मूर्तिपूजानो विषय वेदमां केम नहि? पछी खंडनेके मंडने? वळी मूर्तिपूजा नहि त्यारे बीजाकर्मनी चेष्टा शा माटे? ग्यास पाणी बरफ अे त्रण स्थिति जळ; मानसिक वाचिक कायिक अे त्रण प्रकार कर्मना; तेम संकल्प स्फुरण छायास्वरूपने प्रकटस्वरूप केम नहि? (...)ईश्वरनुं सर्वव्यापीपणुं मंजदेवताने प्राणप्रतिष्ठा, भक्तिभावनासिद्धि माने ते मूर्तिपूजाने खोटी नहि कहे (...)पवित्रता तथा स्वच्छता थी आत्मसंबंधी मोटो सुधारो आर्य पोताने राखी रह्यो छेज (...)केटलाक फेरफार थवा जोईअे; पण वळी परधर्मीना सहवासथी केटलो बगाड थाय छे (पादटिप्पणी : अे आपणे सारी पेठे जाणुं छे के, हवे सुधारावाळा परधर्मी विचारथी केटलो बगाड थयो छे ते. पराया विचारे लोकने संशयी भ्रमिष्ठ कीधा छे तेने ठेकाणे आणवाने केटलो श्रम पहोंचे छे अने मोहने ठामे धिक्कार अणावता केटली वार लागशे?-अेम थया विना स्वधर्मनुं तेजबळ वधनारुं नथी. (अे विषयमां पूर्वजोनी केवी पुख्त बुद्धि! पृ. ६४)

॥प्राक्कथन॥

प्रभु श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रवर्तित पुष्टिसम्प्रदायमें हमारी-उपदेशक
। जनोंकी-आज सबसें बडी कोई समस्या है तो वह यही कि यदि
संप्रदायके प्रवर्तक-प्रसारक पूर्वाचार्योंके द्वारा लिखित ग्रन्थोंकों
हैं तो जो कुछ आज महाप्रभुके नामपर चल रहा है वह नितान्त
त्य ही है; और यदि जो कुछ चल रहा है उसे ही आदर्श माननेके
। हम उसे छोडना न चाहते हों तो ग्रन्थोपदिष्ट सिद्धान्त सर्वथा
ंगत एवं अनुयायिजनोंके समक्ष अनुच्चारणीय ही हो जाते हैं. इस
करनेको जो स्पष्टीकरण दिये जाते हैं उनमेंके परिगणित मुद्दे प्रायः
हैं :

ः सिद्धान्त क्या हम ही जानते हैं-हमारे पूर्वजोंको क्या महाप्रभुके
ः सिद्धान्तोंका ज्ञान नहीं था?

पाँचसौ वर्ष पूर्वके समाज देश और काल को देखकर महाप्रभुने
द्धान्त घड़े थे. आज तो वह स्थिति ही नहीं रही है; और कई
नई भी अब हमारे ही सामने उठ खडी हुई हैं. समाज-देश-
परिवर्तित परिप्रेक्ष्यमें अब उभरी समस्याओंका व्यावहारिक
किये बिना केवल सैद्धान्तिक जड़ाग्रह रखना सारे संप्रदायको
कर देनेकी नादानी होगी

ः सिद्धान्त तो सभी स्वसंप्रदायिओंको मान्य होने ही चाहिवें. परन्तु
र्मनिरपेक्ष संविधान तथा कराधानों के भीषण प्रावधानोंसे बचनेके
छ बातें स्वसिद्धान्तोंके विपरीत भी अपनानी पड़ी हैं. इस
का सिद्धान्त-जड़ाग्रहिओंके पास भी क्या समाधान है?

। सिद्धान्तवचनोंके नामपर बावेला मचा रहे हैं वे स्वयं भी सर्वांशमें
का पालन कहाँ कर रहे हैं?

ने जन-जनमें व्याप्त किसी भी संप्रदायसे संबन्धित सभी धार्मिक
केवल लिखित ग्रन्थोंके आधारपर लिये नही जा सकते, जीवित
का भी अपना कोई महत्त्व होता ही है.

य सिद्धान्त तो सभीको सर्वदा मान्य होने ही चाहिये परन्तु ग्रन्थोक्त

कई सिद्धान्त उच्चकक्षाके अधिकारिओंके लिये प्रकट किये गये हैं. आज ऐसी उच्चकक्षाके अधिकारी जीव है कहाँ निम्नकक्षाके जैसे अधिकारी आज दृष्टिगत होते हैं उनके लिये परंपरया जैसा प्रकार प्रचलित है वह ठीक ही है.

(७)आजकी प्राथमिक आवश्यकता सम्प्रदायमें रचनात्मक कार्यक्रमको अपनानेकी है, न कि कलहपूर्ण सैद्धान्तिक विवादोंमें सम्प्रदायको उलझानेकी.

(८)अपना मार्ग तो प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित नहीं. यह मार्ग तो परमात्माकी प्रमाणातीत पुष्टिशक्तिपर अवलम्बित है. सार्वजनिक मन्दिर, अतः, यदि बन्द किये जाते हैं तो भोग-राग-शृंगारद्वारा पुष्टिपुरुषोत्तमको लाड़ लड़ानेकी सेवाप्रणालिका ही लुप्त हो जायेगी. सार्वजनिक मन्दिर यदि बन्द कर दिये जाते हैं तो अपने मार्गके वैष्णव इतर मार्गमें प्रविष्ट हो जायेंगे.

(९)सिद्धान्ताप्तसिद्धान्तकी चर्चा सार्वजनिक रूपसे नहीं करनी चाहिये. अन्यथा मूर्ख अनुगामिजनता स्वमार्गीय आचार्योंके प्रति आदरविहीन हो जायगी. अतः ऐसी चर्चा गोस्वामी आचार्योंको बंद दरवाजेमें ही करनी चाहिये.

(१०)सिद्धान्त तो सभी मान्य होने ही चाहिये परंतु आजीविकाका दूसरा कोई सुलभ उपाय मिल नहीं जाता तब तक सार्वजनिक मन्दिरोंमें भगवत्सेवाका आजीविकार्थ प्रदर्शन रोकनेका दुराग्रह व्यावहारिक कैसे माना जा सकता है?

(११)हमें जो कुछ करना है हम करेंगे- किसीको भी हमारी आलोचना करनेका क्या अधिकार है

देवताशास्त्रमें रुद्रकी संख्या ग्यारह मानी जाती है और हमें लगता है कि ये एकादश रुद्र ही आजकी तारीखमें वाल्लभसम्प्रदायके संहरणकी रौद्रलीला प्रकट कर रहे हैं.

इन रौद्र विधानोंके संक्षिप्त और शान्त समाधान हमें खोजने होंगे. हम यह दावा तो नहीं कर सकते कि हमारा यह प्रयास सभीके लिये सन्तोषकारी ही होगा. फिर भी इन रौद्र विधानोंके प्रति हमारी शान्त वैचारिक प्रतिक्रियाको शब्दोंमें अभिव्यक्त करना ही इस प्राक्कथनका मुख्य प्रयोजन है:

(१)हमारे पूर्वज-बापदादा महाप्रभुके सिद्धान्तोंको जानते थे या नहीं यह, उनके

दिवंगत होनेके बाद, केवल उनके द्वारा लिखित ग्रन्थोंके आधारपर ही जाना जा सकता है. कोई कारण नहीं है कि पूर्वजोंकी समझकी सुध सिर्फ पिता या पितामह की समझ तक ही लेनी और उससे ऊपर नहीं. महाप्रभुसे प्रारंभ कर परवर्ती ग्रन्थकारोंके वचन प्रस्तुत वचनावलीमें संकलित हैं ही.

(२)शास्त्रतः प्रामाणिक कई बातें देशकालादिके परिवर्तनके कारण कई बार अशक्य बन जाती हैं. परिवर्तित देश-कालमें उभरी नई समस्याओंको सुलझानेके लिये नये समाधान भी खोजने ही पड़ते हैं. उन समाधानोंको, परन्तु, किसी दूसरेके नामपर थोप देना नीतिमत्ता नहीं. महाप्रभुके सिद्धान्तोंका अनुसरण, यदि, अशक्य हो गया हो तो नया मार्ग अवश्य प्रवर्तित किया जा सकता है. उस नये मार्गको, परन्तु, महाप्रभुके नामपर हठात् थोप नहीं देना चाहिये.

(३)हाल ही में राजस्थानके उच्चन्यायालयने वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तोंकी सुविशद समीक्षा करते हुवे, एक पुष्टिमार्गीय मन्दिरको 'सार्वजनिक-प्रन्यांस' घोषित करनेवाली सारी सरकारी कारवाईओंको निरस्त कर दिया है. अतः इस लाचारीके बहानेमें अब कोई दम नहीं रहा. जो सेवास्थल सार्वजनिक न्यास घोषित हो चुके है वहाँ भी अपसिद्धान्तके मोहको छोड़ कर: तनुवित्तजा सेवाके व्यावसायिक विभाजनपर; और नित्यसेवा-मनोरथों-के सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शनपर, यथासम्भव सहसा अथवा शनैः-शनैः, अंकुश लगाना ही चाहिये. इस तरहकी कारवाईमें यदि कोई हस्तक्षेप करता है तो सिद्धान्तोंके प्रकाशमें न्यायालयोंसे पुनर्विचार भी करवाया जा सकता है. इस देशमें इतने सारे करोडपति धनिक हैं तो कराधानोंके भीषण प्रावधानोंसे बचनेका कोई न कोई उपाय वे भी तो अपनाते ही होंगे कराधानके भयसे किसी करोडपतिने अपना घर सार्वजनिक धर्मशालाके रूपमें घोषित किया हो ऐसा सुननेमें तो नहीं आया. तब भगवत्सेवार्थ धार्मिक अनिवार्यतावाले निजी घरको सार्वजनिक मन्दिरके रूपमें क्यों विकृत किया जाता है?

(४)हमारा दावा न तो यह है कि इस सम्प्रदायमें केवल हम ही सभी सिद्धान्तोंका पालन कर रहे हैं और न हम किसी व्यक्तिविशेषपर ऐसा आरोप ही लगाना चाहते हैं कि वह सिद्धान्तोंको तोड़ रहा है. हमारा अभिप्राय तो केवल यही है कि हमसे या अन्य किसीसे निजसौभाग्यवश स्वसिद्धान्त पाले जा सकते हो तब भी वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्त वही

रहेंगे जो महाप्रभु प्रभृति पूर्वाचार्योंने निर्धारित किये हैं. हमसे या अन्य किसीसे निजदौर्भाग्यवश न भी पाले जा सकें हो तब भी सिद्धान्त तो वही रहेंगे जो पूर्वाचार्योंने निर्धारित किये हैं. निजसामर्थ्यके आधारपर न तो सिद्धान्त प्रस्थापित हो सकते हैं और न निज-असामर्थ्यके आधारपर प्रस्थापित सिद्धान्त विस्थापित ही हो सकते हैं.

(५)हम भी जीवित परंपराके महत्त्वका अस्वीकार नहीं करते परन्तु शर्त उसमें यही है की कोई भी परंपरा मूलाचार्योंके वचनोंसे विरुद्ध नहीं होनी चाहिये. पत्थर या धातुसे बनी जड़ मानवमूर्ति उतनी सरलतासे रुग्ण नहीं हो पाती जितना कि जीवित मानव-देह. अतः जो कुछ जीवित है उसका स्वस्थ होना भी आवश्यक है ही.

(६)उच्चाधिकार या निम्नाधिकार को परखनेकी वाचनिकी व्यवस्था यदि उपलब्ध न होती तो अपनी कल्पनाको या स्वार्थप्रेरित सुविधाको इस विषयमें प्रमाण माना जा सकता था. सेवा-कथा-प्रपत्तिके भेदसे जब वाचनिकी अधिकारव्यवस्था उपलब्ध है ही ऐसी स्थितिमें अपसिद्धान्तके अनुकरणकी ही क्या आवश्यकता है?

(७)किसी भी रचनात्मक कार्यक्रमको एक धार्मिक कार्यक्रमके रूपमें समाजमें प्रस्तुत करना हो तो उसका धर्मशास्त्राभिमत होना अनिवार्य है ही. अन्यथा रचनात्मक कार्यक्रमके नामपर शराब या जुए के अड्डे तो खोले नहीं जा सकते

(८)अपना मार्ग यदि प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंकी अपेक्षा रखता ही न हो तो पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें नमाज़ क्यों नहीं पढ़ी जा सकती या बकरेकी बली क्यों नहीं चढ़ाई जा सकती? यदि किसी सैद्धान्तिक भेदके कारण यह शक्य न होतो सिद्ध हो जाता है कि सकल प्रमाणातीत पुष्टिशक्ति ही केवल नियामिका नहीं है. अन्यथा अनेकविध अकाण्डताण्डवोंको भी अनुमति देनी ही पडेगी. भोग-राग-शृंगारका सेवामें विनियोग भावात्मक होना चाहिये या भावाडम्बरात्मक यह भी निर्धारित करना चाहिये. जो जनता धर्म न चाहती हो और आडम्बर ही चाहती हो वह तो पुष्टिमार्गको छोड़कर अन्य मार्गमें प्रविष्ट हो जाय इसमें पुष्टिमार्गका श्रेय ही मानना चाहिये.

(९)सिद्धान्त-वैपरीत्यका अनुष्ठान जब खुले द्वारोंमें निःशंक हो रहा है तब सिद्धान्तचर्चाको बन्ध द्वारोंमें करनेकी तुक क्या रह जाती है? अनुगामी

जनताका मूर्ख होना उपदेशक महानुभावोंके उत्तरदायित्वविहीन अधिकारोपभोग अथवा असामर्थ्य का द्योतक है.

(१०)स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके प्रति अपनी निष्ठापूर्ण स्वीकृति आज जनताके समक्ष घोषित कर देनी चाहिये. कल स्वधर्मसे अविरुद्ध आजीविकाके उपायोंको खोजना कठिन कार्य नहीं रह जायेगा.

(११)जिसे जो कुछ करना है वह निःसंकोच तथा सहर्ष करता रहे- हमें जो कुछ करना है वह तो अपने सिद्धान्तोंका केवल उद्घोष ही है. किसीको टोकनेका न हम अपना अधिकार मानते हैं; और न हमें भी टोकनेका अन्य किसीका अधिकार स्वीकारनें तैयार हैं.

व्यक्ति-चाहे चिकित्सार्थी हो या चिकित्सक-के रुग्ण होनेपर चिकित्सालयमें उसकी चिकित्सा शक्य है. चिकित्सालय ही, परन्तु कभी, रुग्ण हो जाय तो कहीं जाना इसी तरह उपदेशक या अनुगामी व्यक्तिका धर्ममार्गसे विचलित हो जाना एक वैयक्तिक स्खलनके रूपमें गिना जा सकता है. परन्तु एक धर्मसम्प्रदायमें उसके अपने धार्मिक सिद्धान्तोंसे विरुद्ध प्रकारका सार्वजनिक धर्मानुष्ठान() कथमपि वैयक्तिक स्खलन माना नहीं जा सकता. हम केवल इसी सन्दर्भमें सिद्धान्तोंका उद्घोष करना चाहते हैं.

इस स्पष्टीकरणके साथ एक स्पष्टीकरण यह भी आवश्यक है कि प्रस्तुत वचनावलीके अनुवादको विचारार्थ प्रकाशित करवानेमें सहयोग प्रदान करनेवाले सभी महानुभावोंका हमारे द्वारा प्रस्तुत भावानुवादसे सर्वांशमें सहमत होना अनिवार्य नहीं है, तथापि सम्प्रदायमें व्याप्त अज्ञान एवं अविचार की मोहनिद्राको तोडनेमें पूर्वाचार्योंके वचनोंका प्रकाश यदि सफल होता हो तो हो जाय, बस इसी सदाशयसे हमें सभीका सहयोग प्राप्त हुआ है. एतदर्थ हम सभी सहयोगी प्रकाशक महानुभावोंके आभारी हैं.

गोस्वामी श्याम मनोहर

२६।१२।९१

मुम्बई

।। वचनावली ।।

(हिन्दी भाषाभावानुवादसहिता)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति।।
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा।।
श्रीवाक्पतेर्वागनुगामिना वै सद्यःस्वकर्तव्यविनिश्चयाय।
कृतो मया तद्वचनानुवादः पुण्योपहारोपम एष नूनम्।
स्वलाभपूजार्थपरायणानां तदीयसिद्धान्तविलोपकानाम्।
भवेत् खलानां खलु मस्तकेषु पदप्रहारोपम एषएव ।।

१. सेवोपदेशदीक्षा-विषयकमूलवचनानि

(क) परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः; किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह-

कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्। श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।।
(त.दी.नि.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्'इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति 'सेवापर'एव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्'इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्'इति. 'जिज्ञासु' नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजेत्'-सर्वभावेन-तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या.(त.दी.नि.प्र.२।२२७)

'वीक्ष्य' इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. 'ईक्ष'दर्शनाङ्कनयोः, 'वि'ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे-''गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम्'' इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्...तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः. (त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्गः२।२२७)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हींके लिए फलदायक बन पाता है. किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा

है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं-

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.(त.दी.नि.२।२२७)

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भी भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त (दंभ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा) के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवा भी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदय में कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्वक भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है (त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य'पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्यमार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष' का अर्थ होता है: 'देखना-अंकित करना', उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभाँति परिक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहाँ गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अंधा दूसरे अंधेका अनुसरण करता हो जावेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही 'जलभेद' ग्रन्थ प्रकट किया है...इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कौन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये.(त.दी.नि.प्र.आवरणभंग:२।२२७).

(ख) माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्। शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत्।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्। श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।।

देहद्रोण्या वियासून्नं परं पारं भवाम्बुधेः। गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः।।

(साधनदीपिका.९-११).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख) भगवन्माहात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहाँ है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभाँति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये.(सा.दी.९-११).

(ग) क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः (जलभेद.४).

ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे "कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता" इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, "मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते" इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः, तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत्, सत्यम्, तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्...एवञ्च यत् प्रभुचरणैः उक्तं "विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति" इति; तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्, लोभाद् अविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति इति अर्थो ज्ञेयः.(जलभेद.श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.विवृति ४).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)घरगृहस्थीके निर्वाहार्थ भगवद्गुणगान करनेवालोंके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथा संसारासक्तिको बढानेवाली होती है.(ज.भे.४).

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखंडमें "कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता" ब्रह्माजीको कहे गये इस पृथ्वीके वचनके आधारपर; तथा "मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते" श्रीनन्दको कहे गये इस भगवद्वचनके आधारपर भी, भगवन्नामके विक्रयको दोषरूप माना गया है. ऐसी स्थितिमें गुरुभेंट धरनेवाले शिष्यको भी भगवन्नामोपदेश दोषरूप सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शिष्यद्वारा रखी गयी भेंटको भी स्वीकारना एक तरहसे नामविक्रय ही तो हुवा यह बात तो ठीक ही है

फिरभी गुरुत्व ब्राह्मणोंकी सहज एवं शास्त्रानुमोदित वृत्ति है, अतः उसे त्याज्य नहीं मानी जा सकती...इसी तरह जो बात प्रभुचरणने कही है "पात्रापात्रका विचार करके ही कुछ दान करना चाहिये, श्रीकृष्णके नामके दानमें तो इसकी आवश्यकता और अधिक है, क्योंकि बिना विचारे उसका दान करने पर स्वयं नामदानकर्ताका ही विनाश हो जाता है", अतः अपने और शिष्यके उद्धारकी केवल भावनावश नामदीक्षा प्रदान करनेपर दोष नहीं लगता. अन्यथा लोभके कारण पात्रापात्रके विचार किये बिना नामदीक्षा प्रदान करना एक प्रकारका नामविक्रय ही है, जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बन जाता है

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत ज.भे.विवृति ४).

(घ) सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यप्रकारम् आह-

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्। परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम्।।

'तदभावे' इति. 'क्वचिद्'-देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावमुक्ते, 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः, यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति.(त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः 'सच'इत्यादि. 'तदभावे'इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे "यस्त्विच्छत्वा कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथग्" इति आभासत्वाभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्त-मौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशो प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्.(त.दी.नि.प्र.आ.भे.२।२२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(घ)ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है-

ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको अपना आराध्य बना कर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानका रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते हैं.

किसी ऐसे देशमें कि जहाँ सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहाँ एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे

लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान् कलियुगके कारण उपलब्ध न होता तो क्या करना चाहिये इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गमें गुरुत्व स्वयं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये, ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है, उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें "यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्" इस वचनमें निन्दित धर्माभासता-पाषण्डका आरोप नहीं लगता; और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर कुछ पूछ-जान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२२८).

२. सेवास्वरूप-विषयकमूलवचनानि

(क) एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः 'चेत्' इति-

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।

उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः 'तद्' इति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधि-स्वसर्वस्व-निवेदन-पूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः.

(श्रीप्रभुचरणकृत-सिद्धान्तमुक्तावली-विवृत्ति २).

तद् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती वित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति.(सि.मु.वि.प्रकाश.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)कृष्णसेवाका यही स्वरूप है ऐसा 'चेतस्...'द्वारा श्रीमहाप्रभु समझाना चाहते हैं-

चेतस्=चित्तका कृष्णमें प्रवण=तन्मय होना ही सेवा है, वह चित्तकी कृष्णप्रवणतारूप कृष्णसेवा सिद्ध होती है तनुवित्तजा सेवा करनेसे.

चित्तको कृष्णप्रवण बनानेके साधन अन्य (=तनु और वित्त) हैं ऐसा निरूपण कर रहे हैं 'तद्...'इत्यादि. एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह भी हो सकता है कि वह सेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. इस अपने अभिप्रायको प्रकट करनेको श्रीमहाप्रभुने

'तनुवित्तजा'रूप समस्तपदका प्रयोग किया है. इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी तरहके लौकिक भावोंके आधीन हुवे बिना अपने सर्वस्वका निवेदन भगवान्को करके, अपने देहका भी भगवदर्थ विनियोग करनेपर, जब भगवत्प्रेम प्रकट होता है तब कहीं जाकर चित्त कृष्णप्रवण हो पाता है (सि.मु.वि.२).

वह आभ्यन्तरभक्तिसाधक बाह्योपाय, यदि किसी अन्य तनुजा सेवाके कर्ता को वेतन-तनुजासेवाके मूल्य-के रूपमें वित्त देकर, कराया जाता है तब वह वित्तजा सेवा हुई, जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन तनुजा सेवाके मूल्यके रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजा सेवा की जाती है, तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता (सि.मु.वि.प्रका २).

(ख) "यद् यद् इष्टतमं लोके...तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्". भगवत्सेवावामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्...सन्मार्गोपार्जितं, न अन्येषां भागरूपम्...इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्.

(त.दी.नि.प्र.२।२३६).

ननु भवतु एवं तथापि भगवति यत् समर्पणीयं तद् उत्तममेव समर्पणीयमिति तदर्थम्-अधिकमपि लोकानुरञ्जनार्थं प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं च... लौकिकचातुर्यप्राप्तौ पुनः बहिर्मुख्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्त्यर्थम् आहुः-'भगवद्'इत्यादि. तथाच एवम् अक्लिष्टस्य सन्मार्गेण उपार्जने तावद् अपि तन्न भविष्यति इति अर्थः एतदेव बोधयितुम् आहुः 'इतर' इत्यादि. (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख) "जो कुछ लोकमें इष्टतम है...उसे कृष्णकी सेवामें लगाना चाहिये." भगवत्सेवामें भी क्लेशयुक्त सामग्रीका समर्पण नहीं करना चाहिये...सेवामें समर्पित की जानेवाली सामग्री भी सन्मार्गसे उपार्जित की गई होनी चाहिये, ऐसी कि जिसमें किसी दूसरेका हिस्सा न हो... अन्य प्रकारसे उपार्जित सामग्रीके सेवामें विनियोगके निषेधार्थ यह बात कही गई है (त.दी.नि.प्र.२।२३६).

यहाँ ऐसी शंका उठती है कि भगवत्सेवामें जो कोई वस्तु या सामग्री भगवानको समर्पित करनी है वह उत्तम तो होनी ही चाहिये तदर्थ; इसी तरह लोगोंको खुश करनेको अथवा प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिये भी अधिक भी समर्पित करनेके लिये, कुछ लौकिक चतुराई तो अपनानी ही होगी. इस तरह फिर बहिर्मुख हो जानेकी संभावना पैदा हो जाती है. इस शंकित बहिर्मुखताकी निवृत्तिके उपायको समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने 'भगवत्...' पदका प्रयोग किया है. इस तरह क्लेशरहित वस्तु भी सन्मार्गसे उपार्जित हो तो प्रायः बहिर्मुखता पनप नहीं पायेगी ऐसा आशय है. यही बात समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने

'अन्य...'पदका प्रयोग किया है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(ग) स्वमार्गीयप्रकारोऽयं सर्वोपि हि निरूप्यते। गृहीत्वा नाम शरणं गत्वा सर्वं समर्प्य च ॥
सेवासार्थकतासिद्धयै देहादीनां तथा पुनः। अन्यत्राविनियोगाय क्रियतां तनुवित्तजा ॥
(श्रीहरिरायजीकृत-स्वमार्गीय-शरण-समर्पण-सेवा-निरूपणम्.१-३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)स्वमार्गीय साधनाका यह सारा प्रकार निरूपित किया जाता है:नामग्रहण करके, शरणदीक्षा लेकर; और सब कुछ समर्पित करके सेवा तथा देहादि की सार्थकता सिद्ध करनेको जिससे देहादिका कहीं अन्यत्र विनियोग न हो जाय, तनुवित्तजा सेवा करनी चाहिये (स्व.श.स.से.नि.१-३).

(घ) यस्तु स्वमार्गीय-सेवास्वरूप-ज्ञानाभाववान् मार्गरीत्या श्रद्धया यथाकथञ्चित् स्वरूपसेवां चेत् करोतीति तत्सेवायाः केवलभौतिकत्वात् "लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्" इति न्यायस्य जातत्वात् तदा सर्वथा संक्लिष्टो भवति, तदा भजनत्यागः.(स्वरूपतारतम्यनिर्णय).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(घ)जिसे स्वमार्गीय सेवा-स्वरूपका ज्ञान न हो ऐसा व्यक्ति जब इस मार्गकी मात्र रूढिके अनुसार, श्रद्धापूर्वक ही सही, यथाकथंचित् स्वरूपसेवा करता है तो ऐसी सेवा केवल आधिभौतिक सेवा होती है अतः "लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्..." न्यायके अनुसार ऐसी सेवा करनेवाला क्लेश ही पाता है. ऐसी स्थितिमें भजन छोड देना चाहिये (स्व.ता.नि.).

३. सेवाप्रदर्शन-विषयकमूलवचनानि

(क) भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत् इत्येतदाशयेन ते धर्मा उक्ताः. गोपने मुख्यं हेतुम् आह 'अन्वयाद्' इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र "त्यब्लोपे पञ्चमी" एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभो प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिराविष्करणं भवति, प्राकट्ये तु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्.(अणुभाष्य.३।४।४९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिंगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी

आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोका भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते अनुभूत हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है (अणुभाष्य ३।४।४९).

(ख) स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्.(साधनदीपिका.१०८)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख)जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये (साधनदीपिका.१०८).

(ग) ३८ तमो अपराधः = गुरुदेवतयोः गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं=श्वानयोनित्रयम्.
११अपराधः = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं=वार्षिकसेवा-निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं=पञ्चामृतस्नानम्.
३६तमो अपराधः = भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम्=उपचारनैष्फल्यम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चगुणित-नैवेद्य-दानम्.
३५तमो अपराधः = गुर्वाज्ञोल्लङ्घनम्. फलम्=असिपत्रादि-घोर-नरक-पातः. प्रायश्चितम् = वैष्णव-गुरु-प्रसादनम्.
(श्रीहरिरायजी-विरचित-षट्षष्टिरपराधस्तत्फलानि-प्रायश्चितानि-च).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)३८वां अपराध: गुरु या दैवत(=श्रीठाकुरजी सम्बन्धी बातों)के गुप्त-रहस्य-को प्रकट करना. फल: तीन जन्मों तक श्वानयोनि.
११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पंचामृतसे स्नान कराना.
३६वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे ('भेट', 'सामग्री', 'पोथीसेवा' या 'न्योछावर') मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित: जितना मांगा था बटोरा हो उससे पांचगुने नैवेद्यका प्रभुको दान (नहीं कि समर्पण) करना.
३५वां अपराध: गुरु-श्रीमहाप्रभु आदि-की आज्ञाका उल्लंघन करना. फल: असिपत्रादि नामोंवाले घोर नरकोंमें पतन. प्रायश्चित: वैष्णव और गुरु को प्रसन्न करना (श्रीहरि.वि.षट्.).

४. सेवाप्रयोजन-विषयकमूलवचनानि

(क)

न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्। भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वत्रैहिकश्च सः।।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा। सेव्याः सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः।।

(शिक्षापद्यानि)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)न तो श्रीकृष्ण लौकिक प्रभु है और नही वे कभी लौकिक भावका अङ्गीकार ही करते हैं. हमारा भाव तो श्रीकृष्णके बारेमें यही है कि श्रीकृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं, ऐहिक भी और पारलौकिक भी. इसलिये सर्वभावसे सर्वथा सेव्य वे गोपीश ही हैं. वे ही हमारा सब कुछ करेंगे (शिक्षापद्य).

(ख) "लौकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।" (सि.मु.१६).

ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः ? इत्यत आहुः 'लोकार्थी' इति. 'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव, अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः, न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणादिति 'सर्वथा' इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति; सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति 'चेद्' इति उक्तम्.

(श्रीप्रभुचरणविरचित-सि.मु.विवृत्ति.१६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख)"यदि कोई लौकार्थी होकर कृष्णका भजन करता है तो वह सर्वथा क्लेश ही पाता है."(सि.मु.१६).

कोई आजीविका कमाने या यशआदि पानेके लिये भी भजन करता हो तो उसकी क्या गति होगी? ऐसी जिज्ञासाके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु 'लोकार्थी'की चर्चा कर रहे है. 'लोक'का मतलब है लौकिक धनादि. ऐसी लौकिक कामना रखनेवाला यदि कृष्णका भजन करता हो तब जैसे घंचा करने पर धनादि प्राप्त होता है वैसे धन तो कमाया जा सकता है. भजनद्वारा, परन्तु, उपार्जित धन तो स्वयं अनर्थरूप होता है. अतः एसे लौकार्थीके द्वारा किया गया भजन तो भक्ति ही न होनेके कारण उसके द्वारा किया गया सब कुछ (पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक) क्लेशरूप ही होता है. इसलिये वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है. ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफसाफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक(पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक)क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसे निषिद्धाचरणके कारण, यह

स्पष्ट करनेके लिये श्रीमहाप्रभुने 'सर्वथा'पदका प्रयोग किया है. जिसे (शास्त्र-मार्ग-परम्परा-भगवत्स्वरूप-भक्तिभाव-नीतिका) अत्यल्पभी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है. फिर भी जो इस ज्ञान या संस्कार से सर्वथा ही रहित हो वह ऐसा कुकृत्य कदाचित् कभी कर सकता है. ऐसी संभावनाको देखते हुए श्रीमहाप्रभुने 'चेद्'पदका प्रयोग किया है.(श्रीप्रभु.वि.सि.मु.वि.१६).

(ग) तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः। न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये।।
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन। न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात्।।

(शिक्षापत्रम् १८।१२-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)अपने माथे बिराजते श्रीठाकुरजीकी सेवा स्वधर्म (स्व-तन-मन-धन-गृह-परिजनके ही विनियोग)को निभाते हुए करनी चाहिये, न किसी फलके लिये, न भोगके लिये; और न किसी तरहकी प्रतिष्ठा ही प्राप्त करनेके लिये. यह सेवा भी श्रीमदाचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट मार्गके अनुसार ही करनी चाहिये (संगठन-प्रशिक्षण-जनकल्याणके लोकाभिमत तथाकथित उदात्त आशयके) कल्पित प्रकारोंसे नही. और न दुर्भाव(किसी दूसरे सार्वजनिक या व्यावसायिक देवालयोंके साथ प्रतिस्पर्धा)वश ही करनी चाहिये.(शिक्षापत्र.१८।१२-१३).

५. सेवास्थल-विषयकमूलवचनानि

(क) बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः...भजेत् कृष्णम्...(भक्तिवर्धिनी.२).

'तु'शब्देन एतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदासः उक्तः स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न संभवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेव आहुः 'गृहे स्थित्वा' इति. भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत्. (श्रीगोकुलनाथजीकृतविवृति.२)

अत्र गृहस्थान-विधानेन स्वगृहाधिष्ठित-स्वरूप-भजन-परित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति इति सूचितं भवति. (श्रीवल्लभात्मज-बालकृष्णजीकृतविवृति.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)"पुष्टिभक्तिके बीजभावको दृढ करनेका प्रकार तो बस घरमें रहकर स्वधर्मतः...कृष्णको भजना है.(भक्तिवर्धिनी.२).

यहां 'तो'शब्दके प्रयोगसे यह ध्वनित होता है कि इस श्लोकमें अभिप्रेत भजनके प्रकारसे अतिरिक्त भजनका अन्य कोई भी प्रकार सिद्धान्ताभिमत नहीं है. स्वमार्गीय भगवद्भजन घरमें रहे बिना संभव न होनेसे सर्वप्रथम गृहस्थितिका ही निरूपण श्रीमहाप्रभु करते हैं "घरमें रहकर" विधान द्वारा. भगवद्भजनानुकूल घरमें रह कर

कृष्णको भजना चाहिये (श्रीगो.वि.२).

यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें घरका विधान किया गया है अतः यदि अपने घरमें विराजते प्रभुका भजन छोड़ कर और कहीं भजन (भेटसामग्री, मनोरथ या झांकी के रूपमें) किया जाता है तो उसे 'भक्ति' नहीं कहा जा सकता है.(श्रीवल्ल.बाल.वि.२)

(ख) गूढलीलापरो भक्तगूढभावरसात्मक.। सेवनीयः सावधानैः विपरीतगतिक्रियः।।
श्रीमदाचार्यकृपया तिष्ठति स्वगृहे हरिः। एवंविधः सदा हस्ते योगिनः पारदो यथा।।
(शिक्षापत्रम्.२।१८-१९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख)गूढलीलापरायण.भक्तके गूढभावानुसारी विपरीत-गति-क्रिया-वाली लीला करनेवाले श्रीहरिकी सेवा सावधान हो कर करनी चाहिये. श्रीमदाचार्यचरणकी कृपासे प्रभु अपने घरमें विराजते हैं. इस तरह कि जैसे योगीके हाथमें पाराकी गुटिका (शिक्षा.२।१८-१९).

(ग) गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा। कृष्णं भजेत् यतोऽधर्मकरणात् हीनयोनिता।।
कृष्णमूर्तौ यथालब्धैः द्रव्यैः संपूजयेद् हरिम्। पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च।।
(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.४५-४६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है, क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है. यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके विराजनेके स्थान-मंदिरादि और सिंहासनादि-का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये.

(घ) 'आचार्यकुलाद्' इति श्रुत्युक्तरीत्या गृहएव स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यं स्वधर्मरहस्यं च गोपनीयम् इति सिद्धम्. (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-अणुभाष्यप्रकाश.३।४।५०).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(घ)"आचार्यकुलाद्" इस श्रुतिमें कही गई रीतिके अनुसार घरही में रह कर भगवद्भजन करना चाहिये और अपने धर्मके रहस्यको गुप्त रखना चाहिये.(अणुभा.प्र.३।४।५०).

६. सेव्यस्वरूप-विषयकमूलवचनानि

(क) गुप्तो हि रसः रसत्वमापद्यते अगुप्तो रसः रसाभासः स्यात्.
(सुबो.१०।१८।५=१०।५६।४४).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क) गुप्त रखनेपर ही रस रस रह पाता है=प्रकट होने पर वही रस रसाभास बन जाता है (सुबो.१०।१८।५=१०।५६।४४).

(ख) सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह-
तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्। परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं च तत्र च स्थितम्।।

'तदभाव' इति, 'क्वचिद्' देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभाववुक्ते 'हरेः मूर्तिं कृत्वा' भजेत्, अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमो यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति, तत्र मूर्तेः भगवत्वं त्रेधा निरूपयति 'तद्रूपम्' इति. वस्तु विचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् : "एनम् उद्धरिष्यामि" इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो भक्तिमार्गानुसारेण आह 'तत्र च स्थितम्' इति. (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं निवच्छन्त आहुः 'स च'इत्यादि. 'तदभाव'इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे, "यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग्" इति आभासत्वाभावः सेवायाः तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकार-विशेष-सन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्. (त.दी.नि.आ.भ.२।२२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख)ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है-

ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर उसकी परिचर्या भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानके रूप एवं सत्व दोनों ही विद्यमान होते है.

किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है-जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान कलियुगके कारण उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये, इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्ववं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते है कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलने पर स्वयमेव

भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें "यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथक्" इस वचनमें निन्दित धर्माभासता-पाषण्डका आरोप नहीं लगता, और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर पुछ-जान लेने में कोई आपत्ति नहीं है यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.धं.२२८).

(ग) गुरुदत्तां स्वयंलब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम्। व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते।।
(साधनदीपिका.९०).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)भगवत्स्वरूप चाहे गुरुके द्वारा अपने मांथे पधराया गया हो, या हमें स्वयं कहींसे प्राप्त हो गया हो, या अन्य किसी भक्तके द्वारा सुपूजित हो; अथवा खंडित भी चाहे क्यों न हो, परन्तु है तो "अपने मांथे विराजता सेव्यस्वरूप" ऐसा भाव उस स्वरूपके प्रति अखंडित रहता हो ('वोल्टेज' कम न लगते हों) तो ऐसे स्वरूपकी ही सेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये (साधनदीपिका.९०).

(घ) सेवाविधिः समग्रोपि क्रमेणैव विलिख्यते। प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तौ सेवा विधीयते।।
मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम्। भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता।।
पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्यसेवनम्। विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः।।
मणिस्पर्शेन ताम्रादि सौवर्णमिव तत्वतः। अतस्तत्र कृतं सर्वं साक्षात्कृष्णे कृतं भवेत्।।
(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.३९-४१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(घ)अब समग्र सेवाविधि क्रमशः लिखी जाती है. उत्तम प्रकार होनेके कारण प्रथम मूर्तिकी सेवा कही जाती है. भक्तिमार्गके प्रकारके अनुसार मूर्तिमें प्रभुका ज्ञान प्रभुके साकार होनेके कारण एवं मूर्तिमें आविष्ट होनेके कारण मान्य किया गया है. ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाये तो सब कुछ भगवदात्मक होनेसे मूर्ति भी साक्षात् भगवद्रूप ही है. पूजामार्गके अनुसार प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रादि-विधिके कारण पूजनीय प्रभुकी सेवा प्राप्त होती है. भक्तिमार्गमें, किन्तु, अन्य दोनों मार्गोकी अपेक्षा विशेषता यह है कि मूर्ति स्वयं पुरुषोत्तमरूप है (विभूति, प्रतिनिधि या केवल अक्षरात्मक नहीं). जैसे पारसमणिके स्पर्शसे तांबा आदि धातु तत्वतः सुवर्ण बन जाती है वैसे ही मूर्तिके साथ किया गया भक्त्युपचार

तत्वतः साक्षात् श्रीकृष्णके प्रति किया गया भक्त्युपचार हो जाता है.
(श्रीह.कृत.स्व.श.स.से.नि.३९-४१).

(ङ) स्वमार्गसेव्यरूपस्य चिन्तने रीतिरुच्यते। ...तदेकहृदयस्थायी तद्भावः कृष्णएव हि।
लीलासहस्रवलितः सामग्रीसहितस्तथा। भावनीयः सदानन्दः सदा नन्दादिलालितः।
इदमेवोक्तम् आचार्यैः सिद्धान्तस्य निरूपणे। 'आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवे'ति यद्वचः।
तदाशयस्तु विवृतः कृपयैव प्रभोर्मया। अवगत्य जनाः सर्वे चिन्तयन्तु हरिं सदा।
(श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः.१-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ङ)स्वमार्गीय सेव्यस्वरूप चिन्तनका प्रकार अब कहा जाता है:..पुष्टिभक्तके हृदयमें स्थित जो भक्तिभाव है वह निश्चित श्रीकृष्ण ही हैं जो कि अनेक लीलायुक्त हैं और उन लीलाओंकी सामग्री सहित विराजमान हैं. वैसे सदानन्द और सदा श्रीनन्दादि व्रजभक्तों द्वारा सेव्यमान श्रीकृष्णका ही भावन करना चाहिये. सिद्धान्तमुक्तावलीमें "आत्मानन्दसमुद्रमें स्थित श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये" इस वचनद्वारा श्रीमहाप्रभुने यह ही बताया है. प्रभुकी कृपासे ही उसके आशयका मैंने विवरण किया है. उनकी कृपासे स्वमार्गीय चिन्तनका स्वरूप जानके सर्व पुष्टिमार्गीयजन सदा हरिका चिन्तन करें ऐसी मेरी शुभकामना है (श्रीहरि.श्री.प्रभो.चिन्त.प्र.१-१३).

(च) भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः। सेव्यमानं सदा भावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम्।।
(स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः१८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(च)श्रीमदाचार्यचरणोंके आश्रय पानेके सौभाग्यशाली ऐसे भक्तिमार्गीयोंद्वारा पुष्टिभावोंसे (प्रवाही भावोंसे नहीं) सदा सेव्यमान प्रभु निश्चित ही निरोध(प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति)को सिद्ध करेंगे ही (श्रीहरि.स्व.स्व.स्था.प्र.१८).

७. सेवार्थ-आजिविका-विषयकमूलवचनानि

(क) वाममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्, पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्, "अचौराणाम् अपापानाम्..." इति वचनात्, जीविकायां चित्तं व्याकृतं पुनः भगवति वोजनार्थम् उपायम् आह "पठेच्च नियमं कृत्वा" इति. अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि श्रीभागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायः कथितः.
(त.दी.नि.प्र.२।२३२).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)दिनमें कमसे कम तीन घन्टा भगवत्सेवा कर लेनेके बाद अनिषिद्ध उपायोंसे आजीविकाके उपार्जनार्थ प्रवृत्त होना चाहिये, कुलपरम्परासे चली आ रही वृत्ति भी यदि निषिद्ध (देवलकादिवृत्ति-सदृश) हो तो छोड देनी चाहिये, क्योंकि "अचौराणाम् अपापानाम्..." वचनसे यही सिद्ध होता है. जीविकामें उलझे हुए चित्तको भगवानमें लगानेका उपाय कहते है "भागवतका नियमपूर्वक पाठ करना चाहिये", थोडीसि भी बहिर्मुखताकी सम्भावना रहनेपर भागवतका अनुसन्धान करते रहना उपाय कहा गया है. (त.दी.नि.प्र.२।२३२)

(ख) श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनं ग्रामयाजकं सोमविक्रयिणं चितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं स्नस्नेहं मानुषास्थिं शवस्पृशं महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलम् अम्भोऽवगाह्य उत्तीर्य अग्निम् उपस्पृश्य गायत्यष्टशतं जपेत्, धृतं प्राश्य स्नात्वा त्रिराचमेद् इति च्यवनवचनात्,

चितिञ्च चितिकाष्ठञ्च पूयं चंडालमेव च। स्पृष्ट्वा देवलकञ्चैव सवासा जलमाविशेत्।।
देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्धी वत्सरत्रयम्। स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः।।

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-द्रव्यशुद्धि).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख)कुत्तेका चाण्डालका प्रेतधूमका देवद्रव्योपजीवीका ग्रामयाजकका सोमविक्रेताका चिताका चिताकाष्ठका चरबीयुक्तमानुषास्थिका शवस्पर्श करनेवालेका महापातकीका तथा शवका स्पर्श करने पर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानेके बाद बाहर आने पर अग्निका उपस्पर्श करके एकसो आठ गायत्रीका जप करना चाहिये ओर घृतप्राशन कर त्रिराचमन करना चाहिये ऐसा च्यवन वचन है. चिता चिताकी लकडी पूय चण्डाल तथा देवलक का स्पर्श होनेपर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानी चाहिये. तीन वर्ष पर्यन्त जो वित्तार्थी होकर देवार्चन करता है उसे हव्य-कव्यमें गर्हित समजना चाहिये (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत द्रव्यशुद्धि).

८. सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक-विषयकमूलवचनानि

(क) एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह "भार्यादिरनुकूलश्चेद्"इति.

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्। उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्येजत्।।

भार्यादिकं गृहं, विष्णुपराङ्मुखाः भार्यादयो अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन्मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति (त.दी.नि..प्र.२।२३१)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क)भार्यादिसे, उनके भगवत्सेवार्थ अनुकूल होनेपर, भगवत्सम्बन्धि क्रिया=परिचर्या

करवा लेनी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करनी चाहिये और प्रतिकूल होने पर गृहादिका त्याग करना चाहिये. इस तरह भजनमें प्रवृत्त अधिकारीके भार्यादिका भगवत्सेवामें विनियोग कहा जा रहा है "भार्यादिके अनुकूल होने पर". 'गृह'यानि भार्यादि. इनका परित्याग विष्णुपराङ्मुख होनेपर ही विहित है अन्यथा नहीं दोषरूप होनेसे. इससे यह कहना अभिप्रेत है कि इस मार्गमें अवैष्णवोंके साथ नहीं रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२३१).

(ख) तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते। श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्। .....
एवमाश्रित्य धर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः। ...अतः परं क्रमेणैव जीवः कृतसमर्पणः ।।१।।
... ... सेवासंस्कारूपत्वाद् विदुष्यास्सेवनं सदा।
... ...सर्वथा सर्वदैवापि नचाद्यादसमर्पितम्।।२५-२६।।
तद्भक्षणे भवेदेवाब्रह्मसम्बन्धि वस्तुतः। सर्वत्र ब्रह्मसम्बन्ध-भावना-नाशएव हि।।२७।।
यथा समर्पणे योग्यं यत् तथा तत् समर्पयेत्। .....
गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा। कृष्णं भजेत् यतो अधर्मकरणात् हीनयोनिता।।४५।।
कृष्णमूर्तौ यथालब्धैर्द्रव्यैः सम्पूजयेद् हरिम्। पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च।।४६।।
... ... भार्यादीनामानुकूल्ये तैः सेवामेव कारयेत्।।५६।।
स्वयं कुर्याद् उदासीनतया तेषां पुनः स्थितौ। अपकीर्तिभयात् कृष्णसेवा-वैयग्र्य-संभवात्।।५७।।
स्वकृत-ब्रह्मसंबन्धं विभाव्य हृदि सर्वथा। तत्पोषणं प्रकुर्वीत रुग्णदेहवदातुरः।।५८।।

(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.नि.९-५८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख)प्रारम्भमें शरणागत अधिकारीको क्या करना चाहिये यह कहा जाता है:श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित मार्गके गुरुद्वारा जिसने शरणागतिकी दीक्षा ली हो उसके लिये यह आवश्यक है कि हरिको स्वामी मानकर स्वयंको सेवक मानना चाहिये...इस तरह संक्षेपसे शरणागत अधिकारीके धर्मका निरूपण किया... इसके बाद क्रमानुसार ही जिस जीवने समर्पण किया है उसका धर्म बताया जाता है. समर्पणकी दीक्षा सेवार्थ अपेक्षित संस्काररूप ही होनेसे वह दीक्षित व्यक्तिको तो सदा सेवा ही करनी चाहिये... सर्वथा सर्वदा ही असमर्पितका भक्षण नहीं करना चाहिये क्योंकि असमर्पितका भक्षण करनेपर वस्तुतः अब्रह्मसम्बन्धी बन जाता है और ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका भी सर्वत्र नाश ही हो जाता है. जो वस्तु जिस प्रकारसे प्रभुको समर्पित हो सकती हो उस प्रकारसे उस वस्तुको समर्पित करनी चाहिये. घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है. क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है.

यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके बिराजनेके स्थान मंदिरादि और सिंहासनादि का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये. भार्यादिके अनुकूल होनेपर उनसे भगवत्सेवा ही करानी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं ही करनी चाहिये. अपयश, कृष्णसेवामें संभावित निरर्थक व्यग्रता; एवं स्वयं अपनेद्वारा ग्रहीत ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका विचार करके, जैसे अपना ही देह कभी रुग्ण-भगवत्सेवामें भी असमर्थ-हो जाये तो भी उसका पालन तो करना ही पडता है वैसे ही ऐसे भगवत्सेवामें उदासीन परिवारजनोंके पालनमें भी रुग्णपरिवारकी भावना करनी चाहिये (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.९-५८).

९. सेवोपदेष्टा-विषयकमूलवचनानि

(क)परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह-

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्। श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।।

(त.दी.नि.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्'इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्याद् इति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद्विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति. 'जिज्ञासु' न तु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं-सर्वभावेन, तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या. (त.दी.नि.प्र.२।२२७).

'वीक्ष्य'इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. 'ईक्ष' दर्शनाङ्कनयोः, 'वि'ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे-"गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम्" इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्...तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः. (त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क)यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हींके लिए फलदायक बन पाता है किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं-

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त(दम्भ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा)के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. वह सेवा भी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदयमें कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका तत्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्व सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है (त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य'पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्य मार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष'का अर्थ होता है:'देखना-अंकित करना'. उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभांति परीक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहां गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अन्धा दूसरे अन्धेका अनुसरण करता हो जायेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही 'जलभेद'ग्रन्थ प्रकट कीया है...इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कोन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये (त.दी.नि.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(ख) महात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्। शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत्।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्। श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।।
देहद्रव्येष्वियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः। गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्यो स्योपदेशतः।।

(साधनदीपिका.९-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख)भगवन्महात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी वहीं है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती

है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभांति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये (सा.दी.९-११).

(ग) गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः। श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः।।
तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः। अथाधुनिकतीर्थानाम् अतथाभूतोऽपि हि।।
उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति। यदि दुःसङ्गदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः।।
(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.निरू.४९-५१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)गुरु भी भक्तिमार्गानुसारी, कृष्णसेवापरायण, भागवतके तत्वको जानने वाला तथा दम्भादिसे रहित पुरुष होना चाहिये. ऐसे लक्षणोंवाले गुरुके न मिलनेपर आचार्यवाणीरूप गुरुसे भी स्वकर्तव्यनियामक उपदेशग्रहण किया जा सकता है. आचार्यकुलोद्भूत गुरुस्थानापन्न आधुनिक गोस्वामिमहानुभाव यदि उक्त लक्षणोंवाले न भी हों फिर भी उनसे भी सर्वलक्षणसम्पन्न-श्रीकृष्णज्ञानप्रद-गुरु-श्रीमदाचार्यचरण-वचनानुसारी उपदेश मिलता हो तो सद्गुरुके समान ही फल देनेवाला हो सकता है. यदि उनकी बुद्धि दुःसंगादि (अर्थलोलुप-वणिक-ट्रस्टी-संगादि) दोषोंसे अन्यथा (मार्गविपरीत) न हो गई हो (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.४९-५०).

(घ) अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः। विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः।।
स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने। प्रवच्छेत् तत् स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः।।
(श्रीहरि.कृत.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्र.१६-१७).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(घ)श्रीमदाचार्यचरणोंका भलीभांति आश्रय ग्रहण कर, किसी भी प्रकारके दम्भकी या शिष्यसे कुछ अपेक्षा रखनेकी मनोवृत्तिसे रहित हो कर, उपस्थित जीवात्माका परमात्माके द्वारा पुष्टिमार्गमें वरण किया गया है, अतः ऐसा जीव पुष्टिलाभसे कहीं वंचित न रह जाय बस इसी करुणाभावको रखते हुवे, पुष्टिमार्गपर अग्रसर होनेका सतत प्रयास करनेवाले अपने शुद्ध सेवकके माथे पुष्ट किया हुवा स्वरूप फलरूपतया (न कि गुरुभावतया या स्वसेव्यसे न्यून पुरुषोत्तमभावतया) पधरा देने चाहिये.

(श्रीहरि.कृत.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्र.१६-१७).

(ङ) वञ्चकस्तु ततोऽप्येष दुष्ट इत्येव बुद्ध्यताम्।।१६।।
यतः तदाकृतिश्चेष्टा तथाचारश्च भाषणम्। विनयः शान्तता वेशः शङ्खचक्रादिचिह्नतः।।१७।।
एवमाद्यखिलं तुल्यं भगवद्धर्मवर्तिभिः। ततो ज्ञानाभावऽतोपि सर्वथा नाशनं मतम्।।१८।।
दुर्घटं तस्य विज्ञानं सर्वथा भक्तसाम्यतः। अतएव न कर्तव्यो विश्वासो ह्यविचारितः।।१९।।
तदीयत्वभ्रमात्तस्मिन् विश्वासो संगदोषतः। असत्यपि च सद्भावात्पतनं भक्तिमार्गतः।।२०।।
अतएवोक्तमाचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणम्। 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिपद्ये निबन्धगे।।२१।।
.....
सतोऽपि किञ्चिदाधिक्यं वञ्चके तु प्रतीयते। प्रदर्शनार्थत्वतस्तु वेषादेरिह सर्वथा।।२५।।
.....
भगवद्भक्तसाम्येपि तदसाधारणो गुणः। निरपेक्षत्वमेतस्मिंस्तदभावाद्धि वंचकः।।३२।।
अनाकारितएवासौ सङ्गे लगति सर्वथा। प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन।।३३।।
स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः। दीनेषु भगवद्भक्तास्तदर्थैकप्रसादकाः।।३४।।
चालयत्ययमुन्मार्गे मायाचाटुकसूक्तिभिः। ते तु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः।।३५।।
(श्रीहरिरायजीकृत दु:संगविज्ञान निरू.१६-३५).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ङ)वञ्चकको तो अन्दर तथा बाहर-दोनों तरहके चोरोंसे भी कुछ अधिक ही दुष्ट समझना चाहिये. क्योंकि उसकी आकृति, चेष्टा, आचार, भाषा, विनीतता, शान्तता, वेश, तथा शंखचक्रादि चिह्न सभी भगवद्धर्मानुसार चलनेवालोंके समान ही होते हैं. अतः जिसे ऐसे वञ्चकोंकी यथार्थताका ज्ञान नहीं होता है, उसका सब तरहसे नाश होता है. भक्तोंके समान दीखनेवाले इन वञ्चकोंका ज्ञान सर्वथा अशक्य सा होता है. इसी कारणसे विचार किये बिना किसीपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये. भ्रमवश भगवदीय मान कर यदि ऐसे लोगोंका विश्वास कर लिया जाय तब तो सङ्गदोषवशात् तथा असत्पुरुषमें सद्भाव रखनेके दोषवशात् निश्चित ही भक्तिमार्गसे अधःपतन हो जाता है. इसी कारणसे श्रीमहाप्रभुने निबन्धमें "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य" द्वारा गुरुके जो लक्षण बतलाये हैं, उसी प्रकारसे गुरुकी भी परीक्षा करनी चाहिये...सच्चे भक्त और वंचक के बीच एक उल्लेखनीय अन्तर यही होता है कि वंचक अपनी वेषभूषा (तिलक-छापा, आचार-अपरस, नित्यसेवा, छप्पनभोगादिमनोरथ, "मेरा बालूडा" जैसी मिथ्या भावुकवाणी) आदि केवल प्रदर्शनार्थ ही अपनाता है. अतः एक सच्चा भक्त अपनी वास्तविक भावसामर्थ्य के अनुरूप जितनी मात्रामें इन बाह्यलक्षणोंको निभा पाता है, उससे कुछ अधिक ही इन बाह्यलक्षणोंका प्रदर्शन वंचक करता होता है. इस तरह अन्य सभी बातोंमें वंचक सच्चे भक्तोंकी बराबरी कर लेता है. अपने भक्तिभावको जनता ('क्यू' लगा कर) देखने आये ऐसी अपेक्षा एक सच्चा भक्त (जैसे कि वंचक अखबारोंमें विज्ञापन दे कर

तथा घरके द्वारपर सूचनापट्ट लगा कर आम जनता उसके सेव्यस्वरूपकी सेवा-मनोरथको देखने आये ऐसी अपेक्षा रखता है) कभी नहीं रखता. अपने सेव्य प्रभुको रिझानेमें रूपिया-पैसा-फेंकनेवाले दर्शनार्थिओंकी अपेक्षा न रख पाना वंचकसे निभ नहीं पाता बस, इस एक असाधारण लक्षणके आधारपर वंचकको शीघ्र पहचाना जा सकता है. अतएव कोई न भी बुलाये पर वंचक हरेक धनदाताके पीछे लग ही जाता है (बहुधा स्वयं नहीं तो अपने एजेंट या समाधानी को ही लगा कर:अनुवादक). सच्चे भगवद्भक्त तो अनेक बार प्रार्थना करनेपर भी बड़ी मुश्किलसे कभी कुछ कृपा कर देते हैं, जबकि वंचक तो स्वार्थसे मोहित होनेके कारण कोई द्रव्यसम्पन्न है इतना पता चलते ही (लप्पुपंडा बन कर) पीछे पड जाता है. सच्चा भगवद्भक्त तो दीन-दरिद्रोंके साथ भी भेद बरते बिना उनके भक्तिभावोंका पोषण करता है. वञ्चक लोग कपटपूर्ण तथा चाटुकारितापूर्ण वचनोंसे लोगोंको सच्चे मार्गसे विपरीत दिशामें ले जाते हैं. जबकि सच्चा भगवद्भक्त तो औषधिके समान कडवे सिद्धान्तवचनोंके द्वारा सन्मार्गकी ओर ही ले जाता है (श्रीहरि.दु.वि.प्र.१६-३५)

(च) यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनात् जनः। संसृतिप्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्। निरपेक्षः सात्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।
(शिक्षापत्र.३।८-९)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(च)आचार्य वचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. (शिक्षापत्र.३।८-९).

(छ)तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति, युक्तं च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(छ)इससे यह फलित होता है कि गुरुत्व ही अपनी आजीविका या वृत्ति है. वही उचित भी है क्योंकि किसीका कुछभी कार्य किये बिना मुफ्तमें ही दुसरेका धन ले लेनेपर लेनेवाला ऋणी हो जाता है, जो अन्धनकारी बात है. इसके अलावा ऋत-वृत्तिके बाद 'अमृत'नामकी जो अयाचित वृत्ति कही गई है उसे अपनानेपर भी यदि शिष्यसे ही अयाचित ग्रहण करनेका आग्रह रखा जाय, अन्य किसीसे नहीं, तो ऐसा सङ्कोच और भी प्रशंसनीय है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(ज) गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नानन्तरं सेवादिकम् उपदेष्टव्यम् इति. (त.दी.नि.प्र.आ.भङ्ग.२।२५५-२५६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ज)गुरुको सेवोपदेश-श्रवणकी इच्छा रखनेवालेके वेशादि(भाषा, भाव, रुचि, आचार-विचार)के द्वारा मार्गरुचिकी परीक्षा करके और जिज्ञासा जानकर तदनुकूल प्रश्न करनेपर ही सेवादिका उपदेश करना चाहिये (त.दी.नि.आ.भं.२५५-२५६).

१०. भागवतकथा-विषयकमूलवचनानि

(क) ... ...ततो भागवतं कृतम्। एतदभ्यसनात् लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।५७।।
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्। पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम् अदम्भतः।।२४३।।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्। वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्।।।२५३-४।। (त.दी.नि.-२।६७,२४३,२५४)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)...तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास(श्रवण-स्मरण-कीर्तन)से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय, यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये (त.दी.नि.६७, २४३, २५४).

(ख) जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः (जलभेद.५).

पञ्चमं भावम् आहुः 'जलार्थमेव' इति. प्रक्षालनोच्छिष्ट-जलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्ताः, ततुल्याः नीचाः गानोपजीविनः इति अर्थः...तेन उच्छिष्ट-गर्त-जलवत् तेषां भावो न सद्भिः ग्राह्यः इति अर्थः...पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनः यद् गायकनिरूपणं तद् एतादृशानां पौराणिकानाम् एतद्गायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम्. (श्रीकल्याणरायविरचित-जलभेद विवृति.५).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख)जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बताते हैं ऐसे गुणगानकर्ता अपवित्र-मलिन-जल-को एकत्रित करनेके लिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह

होते हैं.(जलभेद.५)

श्रीमहाप्रभु पांचवें भावका वर्णन करनेको "जलको एकत्रित करनेके लिये" शब्दप्रयोग करते हैं. मुखादिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेके लिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहिं होता...पौराणिकोंके भावके निरूपणके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह ऐसे (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक ऐसे गायकोंके तुल्य हैं यह दिखलानेके लिये किया गया है (श्रीकल्याण.वि.ज.भे.वि.५).

११. स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसाद-ग्रहण-विषयकमूलवचनानि

(क)अपरञ्च दाने हि न स्वविनियोगः नतु निवेदने अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्याद् अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्. निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदुत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा दासधर्मत्वात्.(नवरत्नविवृति.१).

'अपरञ्च'इत्यादि दानं नाम स्वत्व-परित्याग-पूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः "तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम" इत्यादि शब्दाभिव्यंग्यो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते सति 'हि' निश्चयेन 'न स्वविनियोगः' दत्तापहार-दोषोत्पादकत्वात्. निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः "तुभ्यं समर्पयामि-निवेदयामि" इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते तु नः स्वविनियोगो दोषाय दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात्.(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.न.वि.प्र.१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क)अपरञ्च भगवत्स्वरूपके लिये दान(भेट)रूपसे कुछ भी देने पर अपने किसी भी कार्यमें उस प्रदत्त वस्तुका विनियोग किया नहीं जा सकता, परन्तु भगवत्स्वरूपको किसी वस्तुके निवेदन करनेपर यह बात लागू नहीं होती. अन्यथा प्रभुको निवेदित अन्नादिका ग्रहण भी हो नहीं पायेगा. अनिवेदित वस्तुका उपभोग तो निषिद्ध ही है. अतः निवेदित वस्तुके भगवद्भोगार्थ विनियोग हो जाने पर भगवत्प्रदत्त प्रसादके रूपमें भक्तके द्वारा उपभोग भी उचितर ही है, दासधर्म होनेके कारण (नवरत्नविवृति.१).

अपरञ्च अपने स्वत्वका परित्याग कर परस्वत्वको पैदा करनेवाले-"तुम्हें मैं यह देता हूँ, अब यह वस्तु मेरी नहीं है" जैसे शब्दोंद्वारा अभिव्यक्त होते संकल्पात्मक मनोव्यापारसे 'दान' किया जाता है. दान करनेपर निश्चयेन स्वार्थविनियोग अनुमत नहीं है, 'दत्तापहार' दोषजनक होनेसे. निवेदन तो, जबकी, स्वयंके तदीय होनेके अनुसन्धानके साथ स्वत्वाभिमान(नहीं कि स्वत्व)के त्याग करनेपर होता है. "यह वस्तु तुम्हें समर्पित करता हूँ-निवेदित करता हूँ" जैसे शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला, दानसे विलक्षण,

सङ्कल्पात्मक मनोव्यापार यहाँ होता है. इस निवेदनके करनेपर निवेदित वस्तुका अपने उपभोगमें विनियोग दोषरूप नहीं होता, क्योंकि न तो किसी दूसरेको कुछ दिया जा रहा है और न दी हुई किसी वस्तुका अपहरण ही किया जा रहा है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत न.वि.प्र.१).

१२. तीर्थपर्यटन-विषयकमूलवचनानि

वर्णाश्रम-युक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानि विकल्पन्ते इति आह-

यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः। अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दीनान्नाधिकस्य हि।।

हृतत्रपः पठन्नित्यं नामानि च कृतानि च। एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः।।

...तत्र अटनप्रकारकम् आह 'अतस्तेष्वप्रतिग्राही' इति. तीर्थप्रवेशदिवसे तु उपवासः अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं न तु ततो अधिकम्...उच्चैः नामसङ्कीर्तनं तत्र अङ्गम् अन्तर्भगवत्स्मरणञ्च. एकाकी पर्यटेत्, न अत्र "नैक प्रपद्येताध्वानम्" इति स्मृतिदोषः पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या शान्तश्च चित्ते भवेत्...(त.दी.नि.प्र.२।२४८-९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

वर्णाश्रमवान अधिकारियोंके लिये भी वर्णाश्रम धर्म और तीर्थयात्रा के बीच विकल्प स्वीकारा गया है ऐसा निरूपण करते हैं- यज्ञों और तीर्थोंको भगवान हरिने समान बनाया है. अतः एक दिनसे अधिक चलने वाली सामग्रीका प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये. भगवानके नाम और लीला का निःसंङ्कोच पाठ करते रहना चाहिये. बिना किसी स्पृहाके शान्त एकाकी और कृष्णतत्पर होकर तीर्थ पर्यटन करना चाहिये.

...तीर्थाटनका प्रकार निरूपित करते हैं "अतः..." तीर्थक्षेत्रमें प्रवेशके दिन तो उपवास ही रखना चाहिये. अगले दिन यदि खाने जितना अन्न न हो तो उतना लिया जा सकता है उससे अधिक नहीं...वाणीसे उच्चस्वरमें नामसङ्कीर्तन और हृदयमें भीतर भगवत्स्मरण ये तीर्थयात्राके अंग हैं. पर्यटन एकाकीतया करना चाहिये. यहाँ "अकेले यात्रा नहीं करनी चाहिय" इस स्मृतिमें निरूपित दोषका कोई प्रसङ्ग नहीं है. मार्गमें भोगादिककी स्पृहा नहीं करनी चाहीये. शान्त रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२४८-९).

१३. आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार

(क) तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा रूपयन्ति।
भ्रान्ता ये ते निसर्गान्निदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः।।

(श्रीप्रभुचरण-कृत-वल्लभाष्टक ३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(क) हे श्रीवल्लभ आपके कहे हुए वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धतम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं. (श्रीप्रभु.कृत.वल्ल.३)

(ख)तदाश्रयो न वचनैः किन्तु तन्मार्गनिष्ठया। मार्गनिष्ठा न स्वबोधैः किन्तु तादृग्गुरूदितैः॥
गुरूदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः। अनुवादो न स्वबुद्धया किन्तु मूलक्रमागतः॥
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः। (शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ख)श्रीमहाप्रभुका आश्रय केवल वाणीसे नहीं किन्तु महाप्रभुके मार्गमें निष्ठा रखकर करना चाहिये. मार्गमें निष्ठा अपनी थोथी समजसे नहीं किन्तु मार्गके गुरुके द्वारा कहे गये वचनोंके अनुसार रखनी चाहिये. गुरुके कहे हुए वचनोंका अर्थ स्वतः ही नहीं किन्तु अनुवादतः समजना चाहिये. अनुवाद भी केवल अपनी बुद्धिसे नहीं किन्तु मूलक्रम-परम्पराके अनुसार करना चाहिये. इस सारे प्रकारमें पुनः श्रीमहाप्रभुका दृढ आश्रय तो अपेक्षित है ही (शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(ग)यो वदत्यन्यथा वाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः। संसृति प्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः॥
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्। निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः॥
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः। महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सङ्गनिर्णयः।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः। ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा॥
(शिक्षापत्र.३।८-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवाद)

(ग)आचार्यवचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्त्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. यह निकष सभी-स्वमार्गीय, अस्वमार्गीय; अथवा वल्लभकुलमें प्रसूत-के साथ किये जाने वाले सत्संगको परखनेके लिये है. अपनी मति स्वतः ही श्रीमदाचार्यचरणमें सदा स्थापित करनी चाहिये. पुष्टिमार्गीयोंके सभी कार्य इसीसे सिद्ध होंगे (शि.प.३।८-११).

॥सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु॥

परिशिष्टम्-१

शरणागतिसम्बन्धिवचनावली

(१)

(आश्रयस्वरूपलक्षणम्)

... ...आश्रयोऽतो निरूप्यते॥
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः॥

(सर्वास्वप्यवस्थासु भगवदाश्रयस्य अनुल्लेखत्वम्)

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे। भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तौश्चातिक्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः॥ अहङ्कार-कृते चैव पोष्य-पोषण-रक्षणे।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्वतिक्रमे॥ अलौकिक-मनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः॥

(भगवदाश्रयसिद्धये क्रमिकोपाय[1-4]-चतुष्टयम्)

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्[1]। अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च॥
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथाऽन्यत्र विवर्जयेत्[2]। अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः॥
ब्रह्मास्त्रचातकै भाव्यो[3] प्राप्तं सेवेत निर्ममः। यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि॥
किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्[4] हरिम्॥

(भगवदाश्रयावश्यकतोपपत्यन्तरेणोपसंहारः)

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्। कलौ भक्त्यादिमार्गाहि दुःसाध्या इति मे मतिः॥
(विवेकधैर्याश्रय.९-१७)

(२)

(प्रपत्तिमार्गे उत्तमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमा श्रवणादिषु। देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-प्रकारतः॥
(पञ्चपद्यानि.५)

(३)

(पुष्टिप्रपत्तिमार्गे त्याज्यग्राह्यविवेकविषयिण्याः षड्विधायाः इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

अनुकूलस्य सङ्कल्पः[1] प्रतिकूलविसर्जनम्[2]। करिष्यतीति विश्वासो[3] भर्तृत्वे वरणं तथा[4]।
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये[5-6] षड्विधा शरणागतिः॥
(पञ्चश्लोकी.४-५)

(४) प्रपत्तिमार्गमाह :

जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा। यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः।
(त.दी.नि.२५५).

प्रपत्तिमार्गम् इति. भगवानेव मम ऐहिके परलोके च गतिरहं भगवद्दास इति निश्चयेन भगवत्परतया भगवन्महास्थाने स्थितिः प्रपत्तिमार्ग इत्यर्थः. तत्र तिष्ठेत इति मूले. त्वद्दासोऽहं सर्वार्थे त्वामेव आश्रित इत्यादि अभिप्रायं प्रकटयन् तिष्ठेत इत्यर्थः.
(त.दी.नि.प्र.कल्पा.टि.२।२२५).

प्रपत्ति इत्यादि. अत्रापि अनधिकारे उपायान्तरं तदनुकल्पभूतम् आह इत्यर्थः. "सर्वधर्मान्..." इत्यत्र 'एक'पदाद् अन्याश्रयः सर्वथा बाधक इति बोधयितुं तत्परपदस्य तात्पर्यम् आहुः प्रपत्ती इत्यादि. तत्परः तिष्ठेद् इत्यर्थः. स्थानान्तरस्यापि संग्रहार्थम् आहुः पूजाइत्यादि. एतस्यैव शैथौ विवेकधैर्याश्रयौ ज्ञेयौ. प्रपत्तिश्च शरणागतिः, आश्रयः इति यावत्. तत् प्रथमतो मानसं, पश्चात् कायिकं वाचनिकम् इति अक्रूरस्तुतौ उक्तं सुबोधिन्यां तद् उपपादितं शरणागतिप्रकरणे इति च. तदेव विवेकधैर्याश्रये विवेकधैर्ययोः निरूपणेन कायिकम्, आश्रयनिरूपणेन मानसं, वाचनिकं च उक्तम्. अत्रापि कारणं भगवदनुग्रहएव इति "सोऽहं त्वाङ्घ्री"त्यत्र अक्रूरस्तुतौ प्रतिपादितम्.
(त.दी.नि.प्र.आव.भङ्ग.२।२५५).

(५)

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते'।।
एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वम् आह हि। ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः। न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम्।।
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवन्। आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वं मयोदितम्।।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्। यत्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः।।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि। तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च। मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्। इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयम् उक्तवान्।।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्माद् अन्यवचो मृषा।
(त.दी.नि.२।३०४-३११)

(६)

(प्रपत्तौ दीक्षितानां वैष्णवाचारपरिपालनपराणां कृते सप्तविधभक्तेः उपदेशः)
लब्ध्वानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जनः। धारयेत् तिलकं मालां वैष्णवाचारतत्परः।।
सर्वस्वं हरिसात्कार्यं त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवम्। हिंसकान्याऽन्यदेवार्चां यदि नित्यं च लौकिकम्।।
पूर्वभाण्डादिकं सर्वं परित्यज्य विशुद्धितः। श्रवणादि[1]परो नित्यं हरेः प्रेमास्पदो भवेत्।।
हरेर्गुणानां श्रवणं ज्यथोच्चैः शृणुयात् सदा[2]। जालशिक्षः ग्वीयोभ्यः कीर्तयेद् अन्यथैकतः[3]।।

अतिसुन्दररूपाणि लीलाधामानि संस्मरेत्[4]। पादसेवा हरेः कार्या सर्वसम्पन्निकेतनैः[5]।।
अर्चनं प्रत्यहं तस्य विधिना नियमेन च[6]। वन्दनं चरणाम्भोजे तस्य भावनयाखिले[7]।।
दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम्[8]। एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत्।।
(साधनदीपिका.२४-३०)

(७)

तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते। श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।९।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्। लौकिकं वैदिकं वापि विदध्याद् भक्तिसिद्धये।।१०।।
नान्यमार्गाश्रयो नैव देशान्तरसमाश्रयः। नैव तीर्थाश्रयो नैवाभिमतेः कर्तृताश्रयः।।११।।
नैव मन्त्रसमाधारो न च कर्मादिकाश्रयः। सर्वदोषनिवृत्यर्थं धर्मत्वेन हरौ दृशि।।१२।।
विवेकादेरभावेन दैन्येनार्थत्वभावनम्। स्वकामपूरणार्थाय पूर्णानन्दत्ववेदनम्।।१३।।
न साधनैर्यवेन्मोक्षो हरिरेव तदात्मकः। तदीयतायाः संपत्ता (?) मुक्तत्वेनैव चिन्तनम्।।१४।।
अतएव निराकाङ्क्षा मोक्षतः कृष्णसेवकाः। देशादिसाधनं कृष्णः पुरुषार्थश्चतुर्विधः।।१५।।
एवं मनसि सततं चिन्तनीयं प्रयत्नतः। प्रायश्चित्तादिषु मतिर्न कार्या शरणं व्रजेत्।।१६।।
उपस्थितेषु दोषेषु सर्वेष्वथ विशेषतः। सुशक्तयेष्वप्यशक्तेषु हरेर्गतिमथ स्मरेत्।।१७।।
अन्याश्रयो नैव कार्यो नैवान्यत्र स्वतो व्रजेत्। प्रार्थना नैव कुत्रापि कर्तव्या भगवत्यपि।।१८।।
अविश्वासो न कर्तव्यो ब्रह्मत्वस्य निदर्शनात्। लौकिके वैदिके वापि कर्मणे सङ्गं विवर्जयेत्।।१९।।
यथाकथञ्चित् कर्तव्ये भारवत्तत्र भावनम्। सर्वत्र ममतां त्यक्त्वा सर्वं कार्यं प्रसाधयेत्।।२०।।
लोभं च हृदये नैव कुर्यात्, प्राप्तं हि सेवयेत्। शरणस्यापि ये धर्मास्तत्सिद्धौ शरणं व्रजेत्।२१।।
विवेकधैर्येऽपि सदा श्रीकृष्णाश्रयपोषके। तद्ग्रन्थेभ्योऽवगत्यापि प्रयत्नाद् हृदि भावयेत्।।२२।।
एवम् आश्रितधर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः। आश्रित्य वल्लभाचार्यान् बुद्धवैवं कृष्णमाश्रयेत्।।२३।।
(श्रीहरि.श.स.से.निरू.९-२३).

।।श्रीहरिः।।

:: पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभाका संक्षिप्त वृत्त ::

आयोजकमण्डल

::१:: गो. श्रीव्रजप्रियजी मुरलीधरजी (मुंबई)
::२:: गो.श्रीनीरजकुमारजी माधवरायजी (मुंबई)
::३:: गो.चि.श्रीमनोजकुमारजी नृत्यगोपालजी (मुंबई)
::४:: गो.चि.श्रीयोगेश रघुनाथलालजी (मुंबई)
::५:: गो.चि.श्रीशरद अनिरुद्धलालजी (मांडवी-हालोल-मुंबई)
::६:: गो.चि.श्रीपंकज चिमनलालजी (मांडवी-गोकुल)
::७:: गो.चि.श्रीपीयूष किशोरचन्द्रजी (मांडवी-जूनागढ-मुंबई)
::८:: गो.चि.श्रीगोपेशकुमारजी मुरलीमनोहरजी (मुबंई)
::९:: गो.चि.श्रीभूषण चिमनलालजी (मांडवी-गोकुल)
::१०::गो.चि.श्रीविट्ठल देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल-अहमदाबाद)
::११::गो.चि.श्री.मिलनकुमारजी लालमणिजी (जतीपुरा-कोटा-मुंबई)
::१२::गो.चि.श्रीशरदकुमारजी लालमणिजी (जतीपुरा-कोटा-मुंबई)

द्वारा सम्प्रदायके प्राणोपम और विवादग्रस्त मुद्दान्के ऊपर; ता.१०-११-१२-१३ जान्युआरी-९२ के दिनोमें विश्वकर्माबाग, बजाजरोड, विलेपार्ला (पश्चिम), मुंबई-५७, स्थलमें आयोजित चर्चासभामें अतिशय औदार्य स्वधर्म-निष्ठा तथा निर्भिक-साहस से उपस्थित रहेके चर्चासभाकी शोभामें अभिवृद्धि करनेवाले उपस्थित आदरणीय गोस्वामी महानुभावों और शास्त्रीजी की नामावली-

::१:: गो.श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ-मुंबई)
::२:: गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पुना-सुरत)
::३:: गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)
::४:: गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जूनागढ-मुंबई)
::५:: गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
::६:: गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई-उदयपुर)
::७:: गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुबंई)
::८:: गो.श्रीगो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)

::९:: गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोडलालजी (पोरबन्दर)
::१०:: गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसुदनलालजी (वडोदरा)
::११:: गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजी (कलकत्ता)
::१२:: गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल- अहमदाबाद)
::१३:: गो.चि.श्रीद्युमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
::१४:: गो.चि.श्रीद्वारिकेशजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
::१५:: गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
::१६:: गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)
::१७:: गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायजी (सुरत)
::१८:: गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
::१९:: गो.चि.श्रीमधुसूदनजी कृष्णचन्द्रजी (मद्रास)
::२०:: गो.श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई-गोकुल)
::२१:: गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
::२२:: गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा-पारबन्दर)
::२३:: गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कडी-अहमदाबाद)
::२४:: गो.श्रीवल्लभरावजी गोविन्दरायजी (सुरत)
::२५:: गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
::२६:: गो.चि.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल- अहमदाबाद)
::२७:: गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (गोंडल-कडी)
::२८::गो.श्रीविट्ठलनाथ-लालमणि-जी रणछोडलालजी (जतिपुरा-कोटा- मुंबई)
::२९:: गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली-मुंबई)
::३०:: गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट-कामवन)
::३१:: गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अहमदाबाद)
::३२:: गो.श्रीशरदकुमार-श्रीशीलुबावाजी मुरलीधरजी (वेरावल-पोरबन्दर)
::३३:: गो.श्रीश्याम मनोहर दीक्षितजी (किशनगढ-मुबंई)
::३४:: गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)
::३५:: गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर).

::१:: श्रीजयवल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
::२:: श्रीनिरञ्जनशास्त्रीजी (उमरेठ-मुंबई)
::३:: श्रीवसन्तशास्त्रीजी (मथुरा)

::४:: श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा-वीसनगर)

गोस्वामी श्याममनोहरजी (किशनगढ-मुबंई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावली के लिए समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवादके लिए अपनी सहमति दर्शानेवाले महानुभावन्की नामावली-

::१:: गो.श्रीअनिरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी* (मांडवी-हालोल)
::२:: गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)
::३:: गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी+ (जूनागढ-मुंबई)
::४:: गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई-उदयपुर)
::५:: गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुंबई-कामवन)
::६:: गो.श्रीगिरिधरलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-विद्यानगर)
::७:: गो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)
::८:: गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल-अहमदाबाद)
::९:: गो.चि.श्रीद्युमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
::१०:: गो.श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-सुरत)
::११:: गो.श्रीनवनीतलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-भावनगर)
::१२:: गो.श्रीमथुरेश्वरजी चन्द्रगोपालजी* (वीरमगाम-अहमदाबाद)
::१३:: गो.श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी* (वेरावल)
::१४:: गो.श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई-गोकुल)
::१५:: गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
::१६:: गो.चि.श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (मांडवी-राजकोट)
::१७:: गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा-पोरबन्दर)
::१८:: गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कडी-अहमदाबाद)
::१९:: गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
::२०:: गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (कडी-अहमदाबाद)
::२१:: गो.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल-अहमदाबाद)
::२२:: गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (गोंडल-कडी)
::२३:: गो.श्रीविट्ठलनाथ-लालमणि-जी रणछोडलालजी (जतिपुरा-जेट- मुंबई)
::२४:: गो.श्रीव्रजरायजी रणछोडलालजी* (अहमदाबाद)
::२५:: गो.श्रीव्रजेशकुमारजी गोविन्दरायजी* (अहमदाबाद-कडी)
::२६:: गो.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अहमदाबाद)

::२७:: गो.श्रीशरदकुमार-शीलुबाबा-जी मुरलीधरजी (वेरावल-पोरबन्दर)
::२०:: गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)

::१:: श्रीनवनीतप्रियशास्त्रीजी* (नडियाद)
::२:: श्रीवसन्तशास्त्रीजी (मथुरा)
::३:: श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा-वीसनगर)

गोस्वामी श्याममनोहरजी (किशनगढ-मुबंई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावली के लिए और उसके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवादके लिए अपनी असहमति दर्शानेवाले महानुभावन्की नामावली-

::१:: गो.श्रीगोपाललालजी पुरुषोत्तमलालजी* (कोटा)
::२:: गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
::३:: गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (सुरत)
::४:: गो.श्रीविनयकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)
::५:: गो.श्रीव्रजरतनलालजी वेंकटेशजी* (सुरत)
::६:: गो.श्रीव्रजरमणलालजी दामोदरलालजी* (मथुरा)
::७:: गो.श्रीशरदकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)
::८:: गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर).

गोस्वामी श्याममनोहरजी (किशनगढ-मुबंई)द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावली के लिए और उसके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवादके लिए सभामें मौन रखनेवाले महानुभावन्की नामावली-

::१:: गो.श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ-मुंबई)
::२:: गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पूना-सुरत)
::३:: गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
::४:: गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोडलालजी (पोरबन्दर)
::५:: गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसूदनलालजी (वडोदरा)
::६:: गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजी (कोटा-कलकत्ता)
::७:: गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
::८:: गो.श्रीपुरुषोत्तजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
::९:: गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)

::१०:: गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायजी (सुरत)
::११:: गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली-मुंबई)
::१२:: गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट-कामवन)

::१:: श्रीजयबल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
::२:: श्रीनिरञ्जनशास्त्रीजी (उमरेठ-मुंबई)

(संवादस्थापक-मण्डलके सौजन्यसे).

(*) पत्रद्वारा प्राप्त.
(**) हमारे विचारसे इन वचनन्को जो अनुवाद श्रीश्याममनोहरजीने कियो हे वह सही है एवं या अनुवादसूं जहां कहीं व्यक्तिगत उल्लेखकी गन्ध हे वा स्थलकूं छोडके, हम सहमत हैं.

अमृतवचनावली

(१/६) श्रीगुसांईजीએ श्रीगोवर्धनधरने पूछ्युं के "महाराज! कृष्णदासनो तो देह छूटयो... हवे अमे कोने अधिकार (ट्रस्टीनुं पद) आपीने भगाड करीએ? तेथी आप कहो तेने अधिकारी (ट्रस्टी) बनावीએ". त्यारे श्रीगोवर्धननाथजीએ कह्युं के "अमे पण कया जीवनो भगाड करीએ? जे पण अधिकार स्वीकारशे (ट्रस्टी बनशे) तेनो भगाड थशे! तेथी तमे એક काम करो के अधिकारनो ઉपरणो हाथमां लईने બधानी सामे कहो के જेने अधिकारी (ट्रस्टी) थवुं होय ते ઉपरणो ओढे. त्यारे જे आवीने कहे तेने (ट्रस्टी पद) आपो. જेनो भगाड थवानो हशे ते तेनी मेળे જ (ट्रस्टी थवा) आवशे!".

(**श्रीनाथજી**, ८४ वैष्णववचर्ता, कृष्णदासनी वार्ता)

(५६) એક दिवस એક वैष्णवे किशोरीभाईने कांઈક सामग्री आपी हती. त्यारे किशोरीभाईએ तेनी सामग्री सिद्ध करीने श्रीठाકोरજीने भोग समर्प्यो. ते दिवसे श्रीठाકोरજી आरोगवा पधार्या नहीं. त्यारे किशोरीभाई पोताना मनमां खूબજ खेद करवा लागी. त्यारे

श्रीठाકोरજી બોલ્યા : "तें मारा माटे सामग्री केम लीधी? ते अमे केवी रीते आरोगीએ?"

भावप्रકाश : आमां એ જताव्युं के पारकी, बीજानी सत्ता, सामग्री पोताना श्रीठाકोरજीने आरोગावची नहीं. अने कोઈ पण वस्तु वैष्णव पासेथी लईने श्रीठाકोरજीने विनियोग न કरावची. ते श्रीठाકोरજી अंगीકार करता नथी.

(**श्रीनाथજી**, २५२ वै.वार्ता, किशोरीभाई वा.प्र.२)

(२) જे કटोरी (गिरवि) मूકीने सामग्री आवी तेनो तो भोग श्रीठाકोरજी पोताना જ द्रव्यनो आरोગ्या, तेथी ते भोग तो आपनो જ थयो. जे श्रीठाકोरજीनुं (देव)द्रव्य खाशे ते मारो(पुष्टिमार्गी) नहीं कहेवाय. अने मारो सेवક ભગવદીय हशे ते देवद्रव्य કयारेय नहीं खाय. जे (देवद्रव्यनो प्रसाद) खाशे ते महापतित थशे. तेथी ते (देवद्रव्यना) प्रसादमांथी भोજन करवानो आपणो अधिकार न हतो तेथी ते गायोने खवडाव्यो अने श्रीयमुनाજमां पधराव्यो". आ सांભળीने बधा वैष्णवो चुप थઈ गया.

(**महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य** : घरवार्ता-३).

(૩) ...શ્રીઆચાર્યજીને વૈષ્ણવે આવીને કહ્યું : "મહારાજ! શ્રીદ્વારકાનાથજી વૈભવ સહિત પધાર્યા છે...". ત્યારે શ્રીઆચાર્યજીએ કહ્યું : "ઠાકોરજીનો વૈભવ જોઈને તમે રાજી થયા?". ત્યારે શ્રીગોપીનાથજીએ કહ્યું : "આપનો કહેવડાવીને જે શ્રીઠાકોરજીની વસ્તુ (દેવદ્રવ્ય) ઊપર પોતાનું મન બગાડશે તેનો નિર્મૂળ નાશ થશે". આ સાંભળીને શ્રીઆચાર્યજીએ કહ્યું : "અમારો માર્ગ તો આવો જ છે".

(**શ્રીગોપીનાથપ્રભુચરણ**, ૮૪ વૈષ્ણવવાર્તા, દામોદારદાસ સમ્બલવાળા)

(૪) ધન વિ.ની કામનાઓને પૂર્ણ કરવામાટે જે શાસ્ત્રમાં બતાવેલા શ્રવણ-કીર્તન-સેવા વગેરે કરવામાં આવે છે તેને કર્મમાર્ગરૂપ સમજવા જોઈએ. પોતાની આજીવિકા (ભરણ-પોષણ) ચલાવવામાટે પૈસા કમાવવાના રૂપમાં જે શ્રવણ-કથા-કીર્તન-સેવા વિગેરે કરવામાં આવતાં હોય તો તેમને તો ખેતી-વાડીના ધંધાની માફક 'લૌકિકકર્મ' જ કહેવા જોઈએ (ધર્મ-ભક્તિ કદાપિ નહીં). (કારણ કોઈ અધમ માણસ) જાજરૂ જઈને પોતાના મળને ધોવા માટે ગંગાજળનો ઉપયોગ કરે તો શું તેને ગંગાસ્નાનું શાસ્ત્રોક્ત ઉચ્ચ ફળ મળી શકે? ના. પવિત્ર ગંગાનો આવો દુરુપયોગ કરવાથી તો તેને માત્ર અને માત્ર પાપ જ લાગે છે. આ જ પ્રમાણે જેઓ પૈસા કમાવવામાટે પ્રભુની સેવા-કથા કરે છે તેઓને પણ તેવી સેવ-કથાનું કંઈ પણ ફળ મળતું નથી. ઉલટાનું, આવા અધમ આચરણને કારણે તેઓ પાપનાજ ભાગીદાર બને છે.

(**શ્રીવિટ્ઠલનાથપ્રભુચરણ** : ભક્તિહંસ).

(૫) પોતાના સેવ્ય સ્વરૂપની સેવા જાતે જ કરવી. અને ઉત્સવ વગેરે સમય અનુસાર, પોતાના જ ધન અનુસાર, વસ્ત્ર-આભૂષણ વિવિધ પ્રકારના મનોરથો કરી સામગ્રી કરવી.

(**શ્રીગોકુલનાથજી**-ચતુર્થેશઃ૨૪ વચનામૃત).

(૬) સેવામાં જરૂરી તેવા ધન-સામગ્રી-સાજ વગેરે ન હોય તો સેવા કેમ થઈ શકે! આ બધું વસાવવામાટે બીજો કોઈ ઉપાય ન હોય તો કોઈક પાસેથી ઉધાર લઈને કે કોઈક પાસેથી માંગીને કે ફંડ-ફાળો કરીને સેવા-મનોરથ કરી શકાય કે નહીં?

ઉપરોક્ત શંકાને દૂર કરવામાટે શ્રીમહાપ્રભુજી 'વિવેકધૈર્યાશ્રય' ગ્રન્થમાં આજ્ઞા કરે છે આવી પરિસ્થિતિ આવી પડી હોય, પછી તે પ્રભુસુખ-સેવા

સમ્બન્ધી પણ કેમ ન હોય, તો પણ હઠ ન કરવી. "ઉધાર લઈને કે કોઈ પાસેથી માંગીને પણ હું સેવા-મનોરથ કરીશ જ" આવી હઠ ન કરવી. યથાલાભ સન્તોષ રાખીને પોતાની પાસે જે ઉપલબ્ધ હોય તેનાથી જે બની શકે તેનું જ પ્રભુસેવામાં સમર્પણ કરવું. ઉધાર કરીને કે ઠાકોરજી માટે માંગીને સેવા ન જ કરવી. કારણ કે ભગવદાશ્રય રાખીને પ્રભુ જે સહજતાથી કરાવે તે કરવું આવી પુષ્ટિમાર્ગીય મર્યાદામાં રહીને પ્રભુને જે સમર્પણ કરવામાં આવે છે તેનો જ અંગીકાર પ્રભુ કરે છે એવો શ્રીમહાપ્રભુજીનો આશય છે.

(**શ્રીઘનશ્યામાત્મજ શ્રીગોપીશજી** 'વિવેકધૈર્યાશ્રય' વિવૃતિ શ્લોક ૪)

(૭) અહીં ભક્તિવર્ધિની ગ્રન્થમાં સેવોપયોગી સ્થળના રૂપમાં પોતાના ઘરનું વિધાન (ગૃહે સ્થિત્વા) હોવાથી, પોતાના ઘરમાં બિરાજતા ઠાકોરજીની સેવા છોડીને કોઈ બીજી જગ્યાએ (એટલે કે હવેલીઓમાં જેમ અત્યારે ભેટ-સામગ્રી આપીને નિત્ય કે મનોરથ ની ઝાંખી કરી લેવી તેને જ વૈષ્ણવો એ પુષ્ટિમાર્ગમાં પરમ ધર્મ માની લીધો છે તેમ) ભગવત્સેવા કરવાવાળાને પણ ક્યારેય ભક્તિ સિદ્ધ થઈ શકતી નથી.

(**શ્રીવલ્લભાત્મજ-શ્રીબાલકૃષ્ણજી**, 'ભક્તિવર્ધિની' વ્યાખ્યા શ્લોક-૨)

(૮) જ્યારે સંતદાસનું બધું ધન નાશ પામ્યું ત્યારે શ્રીઠાકુરજીકી સેવાના ખર્ચની વ્યવસ્થા તેમણે (પહેલેથી જ પોતાના ઠાકોરજીમાટે પોતાના જ અલગથી મૂકી રાખેલ) દેવદ્રવ્યથી કરી. અને ઠાકોરજીના દ્રવ્યમાંથી ચોવીસ ટકા લોન તરીકે લઈને તેને મૂડી તરીકે રાખીને તેની કોડી વેંચતા. (તેમાંથી જે નફો મળતો તે પોતાની કમાઈના પૈસાથી પોતાના ઠાકોરજીને ભોગ અલગથી ધરતા અને તે ભોગનો જ પ્રસાદ પોતે લેતા. એક દિવસ સંતદાસને આર્થિક સંકટમાં જાણીને નારાયણદાસે મદદ મોકલાવી. સંતદાસે તે ન સ્વીકારી અને નારાયણદાસે મોકલેલ માણસ સાથે તે મદદ પાછી મોકલાવી.) હવે શ્રીઠાકોરજીના દ્રવ્યમાંથી તો નારાયણદાસના માણસને ભાડું-ખર્ચ આપી ન શકાય. તેથી તેમણે પોતાની કમાણીનો ટકો તેને આપી દીધો. તેથી તે દિવસ તેઓ પોતાની કમાઈના પૈસાથી ઠાકોરજીને રાજભોગ ધરી ન શક્યા. તેથી જ તેમણે તે દિવસે પ્રસાદ પણ ન લીધો. કેમકે તેઓ પોતાની કમાઈના ટકાના લોટનો જુદો ભોગ ધરતા અને તેને જ રાજભોગ ધર્યો માનતા અને મહાપ્રસાદ પણ તેનો જ લેતા. ઠાકોરજીના દ્રવ્યથી તો રોજ ઘણી ભોગ-સામગ્રી ધરતા (પરન્તુ તે તો દેવદ્રવ્યનો ભોગ હતો). નારાયણદાસના માણસને ભાડું-ખર્ચ આપવાને

કારણે તે દિવસની રાજભોગની સેવા પોતાની ન માની. તેમણે નારાયણદાસને લખ્યું કે તમારી પ્રભુતાને કારણે ઠાકોરજીને હું એક દિવસ મારી કમાઈના પૈસાથી રાજભોગ ધરાવી ન શક્યો. આ પ્રકારે સન્તદાસે વિવેકધૈર્યાશ્રય જીવી દેખાડ્યા. વિવેક એ કે શ્રીગુસાંઈજીને હૂંડી મોકલાવી, પોતાની સેવા ન થઈ તેમ માન્યું, રાજભોગ ઠાકોરજી ન આરોગ્યા તેમ માન્યું. ધૈર્ય એ કે શ્રીઠાકુરજીના દ્રવ્યના મહાપ્રસાદનું ખાન-પાન ન કર્યું. આશ્રય એ કે મનમાં આનન્દ પામ્યા, દુઃખક્લેશ ન કર્યો.

(**મહાપ્રભુ શ્રીહરિરાયજી**-દ્વિતીયેશ : ભાવપ્રકાશ. ૮૪ વૈષ્ણવવાર્તા-૭૬).

(૯) મહેનતાણા (ન્યોછાવર-ભેટ-પગાર-મજૂરી) તરીકે રૂપીઆ આપીને બીજા કોઈ પાસેથી સેવા કરાવવામાં આવતી હોય તો તેથી ચિત્તમાં અહંકાર વધે પણ ચિત્ત કદિ ભગવાન્‌માં ચોંટે નહીં. તે જ પ્રમાણે, જો ભગવત્સેવા કરવાવાસ્તે બીજા પાસેથી મહેનતાણા તરીકે રૂપીઆ લેવામાં આવે તો યજમાન વતી કર્મ કરનાર ગોર-મહારાજને જેમ યજ્ઞયાગનું ફળ ન મળે પણ યજમાનનેજ મળે તેમ પારકા પૈસે સેવા કરનારની ભગવત્સેવા પણ નિષ્ફલ જાય છે. દક્ષિણા આપીને યજમાન ગોર-મહારાજદ્વારા જેમ યજ્ઞયાગ કરાવે તેમ ભગવત્સેવા (હાલમાં જેમ વૈષ્ણવો ભેટ-સામગ્રી-મનોરથો નોંધાવીને ગોસ્વામિ-મહારાજોદ્વારા હવેલી-મન્દિરોમાં કરાવે છે તેમ -અનુવાદક) કરાવી લેવામાં શો વાંધો? ઉત્તર : કર્મમાર્ગમાં તેવું કરવાનું શાસ્ત્રમાં કહ્યું હોવાથી તેમ કરી શકાય છે. ભક્તિમાર્ગમાં, પરંતુ, તેવી વિધિ ઉપદેશાયેલી ન હોવાથી, આવી રીતે ધન આપીને ભગવત્સેવા કરાવવી નહીં. ભક્તિમાર્ગમાં તો ભગવદુક્ત પ્રકારે (પોતાના તન-મન-ધનથી પોતાના ઘરે પોતાના પરિવારજનોના સહયોગથી) જ ભગવત્સેવા કરવી જોઈએ.

(સુરતસ્થ ૩/૨ ગૃહાધિપતિ **શ્રીપુરુષોત્તમજી** : સિદ્ધાં.મુક્તા.વિવૃ.પ્રકા.૨)

(૧૦) લૌકિક કામનાઓને પૂર્ણ કરવાની ઇચ્છાથી જે ભગવત્સેવા-કથા કરે છે તે (લોકાર્થી) દરેક પ્રકારે ક્લેશ પામે છે. તેથી, કંઈક ભેટ-સામગ્રી મળી રહે તેમાટે જે સેવા-કથા વગેરે કરે છે તે 'પાખંડી' અને 'દેવલક' કહેવાય છે. તેથી સેવા-કથા કરવામાં આર્થિક વગેરે લાભ કે પદ-પ્રતિષ્ઠા ની કામના રાખ્યા સિવાય જેમાં નિષેધ નથી તેવા પ્રકારે એટલે કે "મારું લૌકિક સિદ્ધ થાય" એવી કામનાથી જે સેવા-કથા કરતો હોય તેને 'લોકાર્થી' કહેવાય છે.

(**નિ.લી.ગો.શ્રીનૃસિંહલાલજી મહારાજ** : સિદ્ધા.મુક્તા.ટી.શ્લો.૧૬-૧૭).

(૧૧) જે શ્રીવલ્લભકુળ છે તે પોતના સેવ્યસ્વરૂપ ઉપર કેવો સ્નેહ રાખે છે કે એક બાજુ દ્રવ્યનો ઢગલો કરો અને એક બાજુ શ્રીઠાકોરજીને પધરાવો તો શ્રીવલ્લભકુળ એ દ્રવ્ય સામું જોશે પણ નહિ; અને શ્રીઠાકોરજીને અતિસ્નેહ કરી પધરાવી લેશે. પણ જે આ કળિનો જીવ છે તેને તો દ્રવ્ય ઘણું પ્રિય છે. માટે તે તો શ્રીઠાકોરજી સામું જોશે નહિ. અને કેવળ વૈભવ સામું જોશે અને તરત મોહ પામશે...

(**ગો. શ્રીમદુજી મહારાજ** : ૩૨ વચનામૃતો : વચનામૃત પાંચમું).

(૧૨) શ્રીઉદયપુર દરબારને આશીર્વાદ. આથી જણાવવામાં આવે છે કે મેં સ્થાવર-જંગમ સંપત્તિના આર્થિક તથા માલિકીય વહિવટ અંગે, મને સલાહ આપવામાટે, યોગ્ય વ્યક્તિઓની એક સમિતિની નીમણૂક કરી છે. સેવા વિગેરે બાબતમાં પુરાતન તેમજ પ્રવર્તમાન પ્રણાલીના અનુસાર કાર્ય કરવામાં આવશે. તથા જો પુરાતન પરંપરાનો બાધ ન થતો હોય અને સમિતિ જો કોઈ સુધારાની ઈચ્છા રાખતી હોય તો તે સુધારાઓ સ્વીકારવામાં આવશે. તથા શ્રીઠાકુરજી (શ્રીનાથજી)નું દ્રવ્ય અમારા વ્યક્તિગત વપરાશમાં નહીં આવે, જેવી કે પરંપરા આજે પણ છે; અને તેને જળવવામાં આવશે. તે છતાં પણ મારા વડવાઓના સમયથી ચાલ્યા આવતાં મારા માલિકીના હકો તેજ પ્રમાણે કાયમ રહેશે. આ મુજબજ જમા-ઉધારની નોંધો પણ તે-તે ખાતામાં ચાલુ રહેશે, જે મુજબ ચાલુ ખાતામાં હાલ નોંધાઈ રહ્યું છે.

(**નિ.લી.ગોસ્વામિતિલકાયિત શ્રીગોવર્ધનલાલજી મહારાજ** : ડેક્લેરેશન મિતિ-ભાદ્ર-શુકલા પંચમી સં.૧૯૮૯=તા.૫-૯-૧૯૩૨).

(૧૩) મહારાજને જે આવક વૈષ્ણવો વિગેરેમાંથી આવે તેમાંથી ઘર-ખરચ તરીકે ઠાકોરજીનો ખરચ મહારાજ ચલાવે છે. ઠાકોરજીને માટે સ્થાવર કે જંગમ અમુક મિલ્કત જુદી કાઢી તેમાંથી ખરચ ચલાવતા નથી. ઠાકોરજીના વૈભવનો, ભોગનો, આભૂષણ-વસ્ત્ર વિગેરેનો ખરચો મહારાજ કરે છે. ... ઠાકોરજીની સન્મુખ ભેટ ધરી શકાતી નથી...ઠાકોરજીની ભેટ દેવમંદિરમાંજ મોકલવી પડે. મહારાજથી તે ભેટનો ઉપયોગ થઈ શકે નહિ.

(**નિ.લી. ગો.શ્રીવાગધીશલાલજી મહારાજ**, અમરેલી, ના આમ-મુખત્યાર : "અમરેલી હવેલી વ્યક્તિગત છે કે સાર્વજનિક" મુદ્દા ઉપર ઈ.સ. ૧૯૦૯-૧૦ માં ગાયકવાડી વડોદરા રાજ્યની કોર્ટમાં આપવામાં આવેલી જુબાની).

(૧૪) જેવી રીતે અમારા પૂર્વપુરુષો પોતે આપણા ધર્મનું સત્ય સ્વરૂપ તથા શુદ્ધાદ્વૈતસિદ્ધાંત સંપૂર્ણરીતે સમજીને વૈષ્ણવધર્મનો યથાર્થ ઉપદેશ લોકોને કરતાં હતા; અને વચલા કાળમાં, જે સંપત્તિ વિગેરે કારણોથી અમે ઘણે દરજ્જે છોડી દીધો છે, તેથી ઘણા ખરાં લોકોને સાધારણ સેવા અને કોરી વિત્તજા ભક્તિનુંજ રૂઢિ અનુસાર જ્ઞાન રહ્યું છે.

(**નિ.લી.ગો.શ્રીદેવકીનન્દનાચાર્યજી**-પંચમેશ : 'આશ્રય' એપ્રિલ ૧૯૮૭).

(૧૫) આપણો પ્રમુખ સિદ્ધાન્ત છે 'અસમર્પિતનો ત્યાગ'. ઉત્તમ ઉપાય તો તે જ છે કે ઘરમાં જે પણ રસોઈ બને તે પ્રભુને ભોગ ધરીને પછી જ મહાપ્રસાદ લેવો. ... જ્યાં સુધી અસમર્પિતનો ત્યાગ નહીં થાય ત્યાં સુધી બુદ્ધિ ઉત્તમ નહીં બને. સાનુભાવતા ક્યારે સિદ્ધ થઈ શકે? જ્યારે આપણી બુદ્ધિ નિર્મળ બને. ...આજે આપણે (ઘરમાં બિરાજતા શેવ્ય) હીરાને પારખી નથી શકતા. સાચા હીરાને ઝવેરી જ પારખી શકે. સ્થિતિ કેવી છે કે આપણે ખોટા હીરાને સાચો માનીને તેની પાછળ (હવેલી-મન્દિરોમાં?) ભાગી રહ્યા છીએ. શ્રીમહાપ્રભુજીએ તો નિધિરૂપી સાચો હીરો જ આપણને આપ્યો છે. ભગવાન્ ગીતામાં કહે છે કે "દિવ્યં દદામિ તે ચક્ષુઃ પશ્ય મે યોગમીશ્વરમ્". ભગવાનને ઓળખવામાટે તો દિવ્યતા પ્રાપ્ત થવી જોઈએ. દિવ્યતા જ આત્મબળ છે. ... તેથી મારો તો આપ લોકોથી સાગ્રહ અનુરોધ છે કે આત્મબળને પ્રાપ્ત કરવામાટે પોતાનો કંઈક દૈનિક નિયમ બનાવો. ષોડશગ્રન્થના પાઠનો નિયમ લો...

(**નિ.લી.ગો. શ્રીગિરિધરલાલજી મહારાજ**, ઈન્દૌર-નાથદ્વારા, દ્વિતીયગૃહીશઃ શ્રીમદ્વલ્લભ અને શ્રીહરિરાયજી જીવનદર્શન, ભાગ-૨, વચનામૃત ૭મું, પૃષ્ઠ ૧૨૪).

(૧૬) **વકીલ** : જો પુષ્ટિમાર્ગીય કોઈ પણ મંદિરમાં વૈષ્ણવો શ્રીઠાકુરજીની સેવા તેમજ નેગ-ભોગમાટે અને શ્રીઠાકુરજીની સેવાના નભાવમાટે ભેટ વિગેરે આપી વિત્તજા સેવા કરતા હોય તો અને તે મંદિરમાં તનુજા સેવા કરતા હોય તો તે મંદિર પુષ્ટિમાર્ગીય નથી એમ આપનું કહેવું છે?

પૂ.પા.મહારાજશ્રી : પુષ્ટિમાર્ગીય વૈષ્ણવોની તનુજા કે વિત્તજા સેવા સ્વતંત્ર કરવાની પ્રક્રિયા નથી અને તેવી સેવા કરે તો તે સાંપ્રદાયિક મંદિર ન કહેવાય.

(**નિ.લી.ગોસ્વામી શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ**, સુરતસ્થ ૩/૨ ગૃહાધીશ : "નડિયાદની હવેલી વ્યક્તિગત છે કે સાર્વજનિક" વિવાદમાં

પુષ્ટિમાર્ગના વિશેષજ્ઞ સાક્ષીના રૂપમાં આપેલી જુબાની).

(૧૭)...તેવી જ રીતે આપણે ત્યાં સન્મુખભેટ થાય છે તે પણ દેવદ્રવ્ય છે; અને તે સામગ્રીના કામમાં નથી આવતી. શ્રીગોકુલનાથજી અને શ્રીચન્દ્રમાજી ના ઘરમાં હજી આ નિયમનું પાલન થાય છે. ત્યાં જે સન્મુખભેટ થાય તે કીર્તનિયો લઈ જાય છે. એ કીર્તનિયો મહાવનિયો હોય છે. તે વલ્લભકુલનો, યમુનાજીનો ગોર હોય છે. બીજો તેનું અનુકરણ કરે તે ખોટું...અમે શ્રીનાથજી અગાડી જે સન્મુખભેટ ધરીએ છીએ તે શ્રીમહાપ્રભુજીની પાદુકાજીને ધરીએ છીએ છતાં તે અલંકારાદિકમાં વપરાય છે, સામગ્રીમાં નહિ. સન્મુખભેટ ધરવામાં ઘણો અનાચાર થાય છે ... શ્રીઠાકોરજી-નિમિત્તે કાંઈ મંગાય નહીં કે કાંઈ અપાય નહીં. એ રીતે આવેલ દ્રવ્ય દેવદ્રવ્ય બને...તે લેનારની બુદ્ધિ બગડ્યા વગર ન રહે.

(**નિ.લી.ગો.શ્રીરણછોડલાલજી**, રાજનગરના વચનામૃત = ૪૮૪-૮૭).

(૧૮/ક) વૈષ્ણવોની પાસે જે કાંઈ પરમ પદાર્થ છે, તેનું અસ્તિત્વ આજના જ શુભ દિનને આભારી છે. કાળની ભીષણતા અને પરિસ્થિતિની વિષમતાના અત્યંત વિકટ યુગમાં શ્રીમત્પ્રભુચરણના દિવ્ય સિદ્ધાંતો ઉપર અટલ રહેવામાં જ જીવમાત્રનું ઐહિક અને પારલૌકિક કલ્યાણ રહેલું છે. અન્યાશ્રયનો ત્યાગ એ ભાવના ઉપર જગતના જીવો દૃઢ રહે તો, જે વૈષ્ણવ હવેલીઓના વૈભવોને કારણે વૈષ્ણવો ઘરસેવા ભૂલી ગયા હતા, સંજોગવશાત્ તે હવેલીઓમાં શ્રીના દર્શન આજે બંધ થતાં વૈષ્ણવોના ઘર શ્રીઠાકુરજીની સેવાથી કિલ્લોલતા થશે. એ લાભ સંપ્રદાય અને સંપ્રદાયીઓ માટે નાનોસૂનો નથી. ઈશ્વરેચ્છા અકળ છે. મને શ્રદ્ધા છે કે આ આકરી કસોટીમાંથી આપણું સર્વનું શ્રેય જ સધનારું છે.

(ખ) મારા અનુયાયીઓને બે પ્રકારે દીક્ષા આપું છું. પ્રથમ કંઠી બાંધવી તથા બીજી આત્મસમ્બન્ધદીક્ષા આપવી. કંઠી બાંધવી એ સાધારણ વૈષ્ણવોને જ આપવામાં આવે છે. તથા આત્મસમ્બન્ધ ખાસ કરીને તે અનુયાયીઓને કે જે સેવામાં વિશેષરૂપથી આગળ વધવા ઈચ્છે છે. પહેલી દીક્ષાને 'શરણ-દીક્ષા' કહેવામાં આવે છે તથા બીજી દીક્ષાને 'આત્મનિવેદન' કહેવામાં આવે છે. શરણ દીક્ષામાં વૈષ્ણવ કેવળ નામસ્મરણ કરવાની યોગ્યતા મેળવે છે. જ્યારે કે સેવાવાળા વૈષ્ણવને આત્મસમ્બન્ધદીક્ષા લીધા પછી જ સેવા કરવાની યોગ્યતા મળે છે. આત્મસમ્બન્ધવાળો વૈષ્ણવ પોતાના ઘરમાં જ સેવા કરવા યોગ્ય બને છે... અમે સ્વરૂપની સેવા નન્દાલયની ભાવનાથી કરીએ છીએ તેથી સાતે સાત

પુત્રોના ઘર 'ઘર' જ કહેવાય છે. અને અમારું ઘર 'ત્રીજું ઘર' કહેવાય છે.

(ગ) શ્રીઆચાર્યચરણના સિદ્ધાન્તોમાં ભગવત્ સમ્બન્ધ અને ભગવત્ સેવા ને જ પ્રધાનતા આપવામાં આવી હતી. બાદમાં પરિલક્ષિત થાય છે કે આમાં પણ કંઈક અંતર આવી ગયું. ... શ્રીઆચાર્યચરણના ને શ્રીપ્રભુચરણના સેવકો, આપણે જોઈએ છીએ કે સર્વ પ્રકારનાં છે. એવું નથી કે અમુક વિશિષ્ટ વ્યક્તિ જ ભગવત્સેવાને યોગ્ય હોઈ શકે છે અને અમુક પરિસ્થિતિમાં જ ભગવત્સેવા થઈ શકે છે. આવો કોઈ જ ઉલ્લેખ નથી મળતો. અનેક પ્રકારના જીવો ભગવત્સેવા કરતા હતા. જેમાં સ્મશાનવાસી, વેશ્યા વગેરેથી લઈને સારા વિદ્વાન્ બ્રાહ્મણો પણ હતા. આજના સમયમાં, મને એવું પ્રતીત થાય છે કે આપણે તે ચરિત્રને ભૂલી અને પાછળથી મુખ્ય બનેલા કેવળ ભાવાત્મરૂપને લઈ બેઠા છીએ કે જે આજે પણ વૈષ્ણવોમાં પ્રચલિત છે. ... હું માનું છું કે ચરિત્રોનો વિચાર કરવામાં સિદ્ધાન્તોની આવશ્યકતા રહે છે.

(નિ.લી.ગો.શ્રીવ્રજભૂષણલાલજી મહારાજ તૃતીયેશ : ૧૮/ક : તા.૨૪-૧૨-૪૮ના દિને મુંબઈના વૈષ્ણવોની જાહેરસભામાં શ્રીમત્પ્રભુચરણના પ્રાકટ્યોત્સવપ્રસંગે અધ્યક્ષસ્થાનેથી કરેલ વચનામૃત 'વૈશ્વાનર' અંક-૩૧ સન્-૪૮: **૧૮/ખ :** બપાન મૂર્તિબા કાર્યા. સહા. કમિ. દેવસ્થાનવિભાગ ખંડ ઉદયપુર એવં કોટા બજરિયે કમિશન મુ.કલેકરોલી. ફાઈલ સંખ્યા.૧-૪-૬૪. શ્રીદ્વારકાધીશમંદિર દિનાંક ૩/૧૧/૬૫: **૧૮/ગ :** શ્રીમદ્વલ્લભ અને શ્રીહરિરાયજી જીવનદર્શન, ભાગ-૨, વચનામૃત ૨૦મું, પૃષ્ઠ ૧૪૬,૧૪૯).

(૧૯) આજે મને મારા હૃદયના ઉદ્ગારો કહેવા દો. મારું હૃદય બળી રહ્યું છે. મંદિરોમાં દ્રવ્યસંગ્રહની પ્રવૃત્તિ માત્ર રહી ગઈ છે અને એ જ અનર્થોનું મૂળ છે. આવા મંદિરોના અસ્તિત્વથી કોઈ લાભ નથી. આપણો સંપ્રદાય સામુહિક નહીં વૈયક્તિક છે. સાર્વકાલિક તથા સાર્વદેશિક અવશ્ય છે પરંતુ સાર્વજનિક નહીં. "કરત કૃપા નિજ દૈવી જીવનપર" આ ઉક્તિમેં 'નિજ' શબ્દનો પ્રયોગ થયો છે. દૈવી જીવ ક્યાં પણ હોઈ શકે છે પરન્તુ સાર્વજનિક રૂપથી નહીં. આજે આપણો 'પુષ્ટિ'નું નામ લેવા પણ યોગ્ય નથી રહી ગયા. આજે આપણું જીવન ચાર્વાક-જીવન બની રહ્યું છે. શું આપણે આજે જે પ્રકારનો સમ્પ્રદાય છે તેને જીવાડવા માગીએ છીએ? જો સાચા સંપ્રદાયને ચાહો છો તો સ્વરૂપસેવા ઘર-ઘરમાં પધરાવો અને નામસેવા પર ભાર રાખો...ભક્તિની પ્રાપ્તિ સ્વગૃહોમાં સેવા કરવાથી જ થશે. આજના આ મંદિરોથી કોઈ લાભ નથી. કેમકે તેમાં દ્રવ્યસંગ્રહની મુખ્યતા આવી ગઈ છે. અને જ્યાં દ્રવ્ય ભેગું થાય છે ત્યાં અનર્થ થાય જ છે. આજે સંપ્રદાયનું

વિકૃત સ્વરૂપ આને કારણે જ છે.

(નિ.લી.ગો.શ્રીકૃષ્ણરાજીવનજી મહારાજ, મુંબઈ-મદ્રાસ: વલ્લભવિજ્ઞાન સં.૫-૬ વર્ષ ૧૯૬૫).

(૨૦/ક) આપણે શ્રીવલ્લભાચાર્યજીની આજ્ઞાનું પાલન ક્યાં કરી રહ્યા છીએ? આપણે ત્યાં ગૃહસેવા ક્યાં બચી છે? કેવળ મંદિરોમાં દર્શનથી શું લાભ છે? શ્રીમહાપ્રભુજીની આજ્ઞા છે "કૃષ્ણસેવા સદા કાર્યા". જો શ્રીમહાપ્રભુજી મંદિરને મુખ્ય માનતા હોત તો પોતાની ત્રણ પરિક્રમાઓમાં અનેક મંદિર સ્થાપિત કરી દેત. શ્રીગુસાંઈજીએ શ્રીગિરિધરજીને સાતસ્વરૂપનો મનોરથ કરતા સમયે આ જ પ્રકારની ચેતવણી આપી હતી. મન્દિરની સ્થાપના કરતા સમયે તેમને ડર હતો કે ઘરમાંથી ઠાકોરજી મન્દિરમાં પધારી જશે. મારા પિતાજી (નિ.લી.ગો.શ્રીકૃષ્ણરાજીવનજી મહારાજ)એ કાલે જે કહ્યું હતું (ઉપર ટાંકેલ વચનમાં) તે અક્ષરશઃ સત્ય છે. તમે પોતાના ઘરોમાં ઠાકોરજીને પધરાવો અને તેમની સેવા કરો.

(ખ) પુષ્ટિમાર્ગીય પ્રણાલિકામાં ટ્રસ્ટ ખરું ઉતરતું નથી. શ્રીઆચાર્યચરણે સ્ત્રૈક ધર્મસંબંધી જીવને આજ્ઞા કરી છે કે "ગૃહે સ્થિત્વા સ્વધર્મતઃ" (ભક્તિવર્ધિની) અર્થાત્...પોતાના ઘરમાં રહીને સ્વધર્માચરણ કરવું. ગોસ્વામિબાળકો પણ આચાર્ય હોવાથી વૈષ્ણવ પણ છે. એટલે આચાર્યશ્રીની ઉપરોક્ત આજ્ઞા પાલન કરવાની તેમની પણ ફરજ છે...માટે મારું માનવું તો આ જ છે કે આચાર્યચરણનાં સિદ્ધાંત પ્રમાણે વૈષ્ણવો પોતાના ઘરે શ્રીઠાકોરજીની સેવા કરે અને ધર્મગ્રન્થોનું વાંચન કરે, નહિ કે મન્દિરોમાં જઈને ... ટ્રસ્ટ એ પુષ્ટિમાર્ગીય પ્રણાલિકામાં બંધ-બેસતું નથી બલ્કે આપણી પ્રણાલીનો ભંગ કરે છે.

(નિ.લી.ગો.શ્રીવ્રજાધીશજી મહારાજ : ઇદીસરમાં શ્રીત્રોવર્ધનનાથ હવેલી ટ્રસ્ટના સંસ્થાપક ૨૦/ક 'વલ્લભવિજ્ઞાન' અંક૫-૬ વર્ષ ૧૯૬૫, ૨૦/ખ : 'નવપ્રકાશ' અંક ૮, વર્ષ ૮).

(૨૧/ક) અને જ્યારે જનરલ પબ્લિક-ટ્રસ્ટ છે ત્યારે ઠાકોરજીને ગોસ્વામી-સંબંધથી જુદા કરીને, ઠાકોરજીને બધી સંપત્તિ અર્પણ કરીને, એટલેકે ભેટ કરીને, રિલીજિયસ એંડોમેંટ ના રૂપમાં થયેલા તે ટ્રસ્ટ છે. આવી સ્થિતિમાં આવા ટ્રસ્ટોથી જે નેગ-ભોગ જલાવવામાં આવે છે તે દેવદ્રવ્યથી ચલાવવામાં આવે છે. દેવદ્રવ્યનો ઉપભોગ કરનાર અંતે દેવલક (નરકમાં પડનાર પાપી) જ છે. શ્રીમદાચાર્યચરણે પ્રભુની સોનાની કટોરી ગિરવી રાખીને જ્યારે ભોગ

આરોગાવ્યો ત્યારે આપે દેવદ્રવ્યથી સમર્પિત બધો જ પ્રસાદ ગાયોને ખવડાવી દીધો હતો. આ છે સામ્પ્રદાયિક સિદ્ધાંત. આવા આદર્શરૂપ સિદ્ધાંતોનો જે પ્રથાથી વિનાશ થઈને આચાર્યોને દેવલક બનાવવામાં આવે છે તે (સાર્વજનિક મંદિર-હવેલીની) પ્રથાને જેટલી જલદી સમ્પ્રદાયમાંથી હટાવી દેવામાં આવે એટલો જ શ્રેય તેમાં ગોસ્વામી સમાજ તથા વૈષ્ણવ સમાજનો રહેલો છે.

(ખ) ભગવત્સેવા એ સંપ્રદાયની આત્મરૂપ પ્રવૃત્તિ છે. આચાર એ સેવાનનું અંગ છે. સેવાની અનુકૂળતાના અનુરૂપ જ આચારનું પાલન કરવું જોઈએ. આચાર-પાલનને પ્રમુખતા આપીને ભગવત્સેવાનો ત્યાગ કરવો ઉચિત નથી. ભગવત્સેવા જેમ પણ બને કરો...ગુરુઘરમાં ન મોકલો. જો આપણે ભગવદ્દ્રવ્યને પેટમાં નાખીશું તો તે અપરાધ છે. આપણને ગ્રન્થોના અધ્યયન પ્રત્યે લોકોને આકર્ષિત કરવા જોઈએ.

(**નિ.લી.ગો.શ્રીદીક્ષિતજી મહારાજ** મુંબઈ-કિશનગઢ : ૨૧/૬ : 'આચાર્યોચ્છેદક ટ્રસ્ટ-પ્રથાસે પુજારીપનકી સ્થાપના ઘોર સિદ્ધાન્તહાનિ એવંઘોર સ્વરૂપચ્યુતિ'લેખ પૃષ્ઠ ૩; ૨૧/ખ : 'શ્રીવલ્લભવિજ્ઞાન' અંક ૫-૬ વર્ષ ૧૯૬૫).

(૨૨/૬) જેમ સ્વરૂપસેવા સ્વાર્થબુદ્ધિથી અને લૌકિક કાર્ય સમજીને ન કરવાની શ્રીમહાપ્રભુજીની આજ્ઞા છે, તે પ્રમાણે નામસેવા પણ વૃત્તિ અર્થે ન કરવી એવી આજ્ઞા શ્રીમહાપ્રભુજી નિબન્ધમાં કરે છે...વૃત્તિ અર્થે સેવા કરવાથી પાપ લાગે. જેમ ગંગા-જમુનાજળનો ઉપયોગ ગુહ્યપ્રક્ષાલનાર્થ ન થાય, તેમ સેવાનો ઉપયોગ પણ વૃત્ત્યર્થ ન કરાય.

(ખ) તન અને વિત્ત જો પ્રભુમાં વપરાય તો મન પ્રભુમાં જરૂર લાગે છે. માટેજ શ્રીવલ્લભે ઉપદેશ કર્યો છે કે "તત્સિદ્ધ્યૈ તનુવિત્તજા". માનસી જે પરા છે તેને સિદ્ધ કરવા તનુ-વિત્તજા સેવા જરૂરી છે. તન અને વિત્ત બન્ને ક્યાંય એક સ્થળે લગાડો તો ચિત્ત તેમાં રાત-દિવસ રહે છે. દલાલનો વ્યવસાય કરનાર(=હવેલી ચલાવનાર ગો.બા., ટ્રસ્ટી, મુખીયા-ભીતરીયા વગેરે) વ્યવસાયમાં કેવલ તનથી શ્રમ કરે છે પણ તેમાં વિત્ત પોતાનું જરાય લાગતું નથી. આથી જો બજારભાવ વધે કે ઘટે તો તેનાથી તેને મનથી ચિંતા થતી નથી...અને છોકરાનો પિતા એકલી વિત્તજા તરીકે ટ્યુશન ફી આપીને ("પૈસા ફેંક તમાશા દેખ" કરનાર મનોરથી) સમજે છે કે છોકરો પાસ થવાનોજ છે. આ ત્રણેને ફલ પ્રાપ્તિ નહીં થાય કારણકે તનુજા-વિત્તજા બન્ને લાગતા નથી. હવે તનુવિત્તજા બન્ને લગાડે તો ચિત્ત પરોવવાના દાખલા જોઈએ

: એક દુકાનદાર (ઘરમાં ગ્રાહકરૂપે પધરાવીને પોતાના તન-મન-ધનથી સેવા કરનાર) દુકાન અને માલ ની ખરીદીમાં મૂડી લગાડી વેપાર શરૂ કરી અને સવારથી રાત સુધી હાજરી આપી તન પણ વેપારમાં લગાડે છે તો તેથી રાત-દિવસ દુકાન અને વેપાર ના જ વિચારો આવે છે : કેમ વેપાર સારો થાય, કેમ વધે...માટે પુષ્ટિમાર્ગમાં પ્રભુમાં આસક્તિ સિદ્ધ થવામાટે મનોવૈજ્ઞાનિક પ્રક્રિયા બતાવી છે કે તેણે તનુ-વિત્તની સેવા ભાવપૂર્વક કરવી.

(**નિ.લી.ગો.શ્રીગોવિંદરાયજી મહારાજ**, પોરબન્દર : ૨૨/૬ : સુધાધારા ૧૧૪-૨૨/ખ : સુધાબિન્દુ ૭૩).

(૨૩) કેમકે શ્રીનાથજી સ્વયં તેના ભોકતા છે, કિન્તુ વૈષ્ણવવૃંદ તથા સેવકગણ પણ તેનો મહાપ્રસાદ પણ લઈ શકતા નથી. આ આચાર્યચરણના (કટોરીના પ્રસંગવાળા) ઈતિહાસથી પ્રત્યક્ષ પ્રમાણભૂત છે. તે (હવેલી)નો મહાપ્રસાદ કેવળ ગાયોજ લઈ શકે છે. નહિતો તે દેવદ્રવ્યને ખાવાથી ચોકકસ અધઃપતન છે. ...અનેક પ્રકારના દાન-ભેટનો અને વસૂલ-વસૂલી કરવાનો ઉલ્લેખ (નાથદ્વારા મંદિરની વ્યવસ્થામાં) કરવામાં આવ્યો છે તે પણ સમ્પ્રદાયના સિદ્ધાંતથી સદંતર વિરુદ્ધ છે. અમારા સંપ્રદાયની પ્રણાલી અનુસાર જેઓ અમારા સમ્પ્રદાયના સેવકો છે તેમનું જ દ્રવ્ય ગુરુ-શિષ્યના સંબંધથી સ્વીકારીને તેનો સેવામાં ઉપયોગ કરી શકાય છે. સમ્પ્રદાયમાં બધા પ્રકારના દાન-ભેટનો ઉપયોગ સેવામાં કરવામાં આવતો નથી. અને જો કદાચ ક્યાંક કરવામાં આવતો હોય તો તે સંપ્રદાયના નિયમથી વિરુદ્ધ હોવાને કારણે બંધ કરી દેવું જોઈએ.

(**પૂ.પા.ગો.શ્રીઘનશ્યામલાલજી-સપ્તમેશ** : શ્રીનાથદ્વારા ઠિકાનેકે પ્રબંધકી દિલ્લીયોજનાકી આલોચના તા.૧-૨-૧૯૫૬).

(૨૪) **ટ્રસ્ટ હવેલી-મન્દિરો એટલે પુષ્ટિભાવોની મોત :**

ભગવાન્-સ્વધર્મ પૈસાથી બંધાઈને નથી ચાલતા; તેઓ શ્રદ્ધા-પ્રેમ પરવશ બનીને ચાલે છે. આજે જે (મંદિર-હવેલીઓના) ટ્રસ્ટો કે સ્થાનો ની પ્રણાલી ચાલી રહી છે તે મૂડીવાદની એક અભિનવ દાસ્તાન છે જેમાં ભગવાન્ ગાય ગુરુ અને ધર્માનુયાયિઓ ઊપર એક છત્ર સામ્રાજ્ય કરવાની લાલસા રહેલી છે. આ રીતે આદર્શના કપડાં પહેરેલ આ ધનલિપ્સા અને ધનિકોની દાસ્તાંમાં તે પ્રેમ નથી કે જે એક અકિંચન ભકતના "રહિયે મેરે હી મહલ અનત ન જૈયે" ... આ આત્મીયતા ભરેલા મીઠા વચનોમાં ઝલકે છે. આ પ્રેમસભર અનુનય છે.

અને આજનો ટ્રસ્ટી અને સત્તા ભગવાનને પૈસા અને સત્તાના જોરે એમ કહે છે કે "આ જગાથી જરા પણ ખસતા નહીં. ધ્યાન રાખજો! હું તમારો વ્યવસ્થાપક ટ્રસ્ટી છું. ગમે કે ન ગમે, તમને મારા ઉપર ભરોસો રાખવો જ પડશે! સમજ્યા!". લોકો સમજે છે કે ધર્મની રક્ષા કરવાનો આ એક શ્રેષ્ઠ પ્રકાર છે. પરન્તુ...આમાં પણ પ્રાણની એટલી જ અસલામતી છે કે જે મોતથી ઓછી નથી. ...વલ્લભાચાર્યે આવા (ટ્રસ્ટ-હવેલીમાં) જકડાયેલા ઈશ્વરને દામોદર માનવાની પણ ના પાડી દીધી છે.

પોતાના ઠાકોરજીને ટ્રસ્ટમાં પધરાવનારાઓએ ઠાકોરજી વેચી નાખ્યા છે:

...સરખી રીતે વિચારો કે એવી કોન માં હશે કે જે પોતાના લાડલાને ધનની લાલચમાં વેચી નાખે; અથવા તો કોઈ પ્રેમી ક્યારેય એવું, પ્રત્યક્ષ તો શું સપનામાંય એવું કરવાનું તો શું વિચારી કે જોઈ પણ નથી શકતો. આ બાબત એક વાર્તા યાદ આવે છે. ...એક વખત એક પૈસાદાર વાંઝણી સ્ત્રી(અત્યારના દર્શનીયા વૈષ્ણવ અને ટ્રસ્ટી) એ એક ગરીબ(ગોસ્વામી ગુરૂ) બાળક(ઠાકોરજી) રમાડવામાટે લીધું. થોડા દિવસો પછી બાળકની ગરીબ માંએ પોતાનું બાળક પાછું માંગ્યું. પૈસાદાર સ્ત્રીએ કહ્યું કે આ તો મારું જ બાળક છે, તારું નથી. તારાથી જે થાય એ કરીલે. બિચારી ગરીબ માં ... ન્યાય માંગવા લાગી...પણ બધા લોકો(દર્શનીયા વૈષ્ણવો, આમ જનતા, સરકાર વગેરે) એ ગરીબના વિરુદ્ધ જુબાની આપવા આવી ગયા. ...ન્યાયાધીશ ચતુર હતો. ...ન્યાયાધીશ બોલ્યો કે આ બાળકના બે હકદાર છે તેથી આ બાળકના ટુકડા કરીને બંનેને આપી દેવામાં આવે. (ટ્રસ્ટી) પૈસાદાર મહિલાએ આ વાત માની લીધી, પરંતુ ગરીબ માંએ રડતા-રડતા કહ્યું કે "ના હુજૂર! આ બાળક મારું નથી, આ તેનું જ છે, બાળકના ટુકડા ન કરાવો". ...આવો ત્યાગ એક સાચી માં જ કરી શકે છે, પોતાના કલેજાના ટુકડાની પ્રાણરક્ષા કરવામાટે. આવો જ નહીં, આથી પણ વધુ ક્રૂર અને અભિમાની છે આજનો ટ્રસ્ટી અને કાનૂન કે જેણે ભગવાનને એન્ટિક બનાવી દીધો છે. અને એ હંસતો-રમતો બાળક જડ બની ગયો, જકડાઈ ગયો એ સાંકળોમાં. એ એ વ્હાલ ક્યાં નસીબમાં છે કે જે એક માં તેને આપી શકે છે. આ તો બનાવટી ઠોકી બેસાડેલ વ્યવસ્થા છે. આમ ધને ઈમાનને ખરીદ્યો, ભગવાનને ખરીદ્યા અને એ ઉન્મુક્ત બાળકની ગુંજતી કિલકારીઓ હંમેશ-હંમેશ માટે ચુપ થઈ ગઈ. લોકો કહે છે કે ભગવાન્ હવે બોલતા નથી, હંસતા નથી, ખેલતા નથી. પરન્તુ આવી આશાઓ તો તેનાથી કરી શકાય કે જે જીવિત હોય, કોઈના પ્રેમમાં બંધાયેલ હોય! પછી તો એ સુંદર બાળક(હવેલીના ઠાકોરજી)નું પ્રદર્શન યોજાવા

લાગ્યું, જેમ બેબી મિલ્કના ડબ્બાના ચિત્રનું કે કોઈ મોડેલનું યોજાતું હોય છે.

ટ્રસ્ટીઓ દ્વારા કરાવાતી સેવા એ પૂતનાના પ્રેમના સમાન છે :

રોજ એ વિચારાવા લાગ્યું કે આ(ઠાકોરજી)નાથી કેટલી કમાણી થઈ! કેટલું વેચાણ થયું. અને બધા વ્યવસ્થાપકો આની દેખરેખ કરવા લાગ્યા. જ્યારે કોઈ (મોટ ભેટ કરનાર કે મનોરથી) આવે ત્યારે એ(ઠાકોરજી)ને વ્હાલ કરવામાં આવતું. લોકો સમજે છે કે આ પ્રેમ છે, ભક્તિ છે; પરંતુ આ તો ધંધો હતો જેના ભપકાએ પૂતનાના પ્રેમની માફક અસલીયતને ઢાંકી દીધી અને ભોળી યશોદાએ પોતાના લાલને એ (ટ્રસ્ટીઓ)ને રમાડવા આપી દીધો.

મંદિરો-હવેલીઓ દુકાનો છે:

...કેટલું વેચાણ થયું એનો હિસાબ રખાવા લાગ્યો. કેટલું ખાધું અને કેટલું કમાવ્યું એનો નાપ-તોલ થવા લાગ્યું. વેચાવા લાગ્યો ધર્મ અને ધર્મસ્વરૂપ એ બાળકૃષ્ણ કે જે પ્રેમવશ પોતાના ભક્તો માટે ભોળો બની ગયો હતો. લોકોએ એના ભોળપણનો ગેરલાભ ઉઠાવ્યો અને કહી દીધું "આ સાર્વજનિક ઠાકોરજી છે". એ સર્વશક્તિમાનને સ્વાર્થનું સાધન(બનાવી દેવામાં આવ્યો) અને જગન્નિયન્તા ઉપર ધનનિયન્તા શાસન કરવા લાગ્યા. હાલ એવા થયા કે કોન એને ખવડાવે-પીવડાવે? કેમકે એ તો સાર્વજનિક હતો. દ્વારકાધીશને પણ એ છૂટ હતી કે એ વિદુરના ઘેર શાક આરોગી શકતા હતા. પરન્તુ આ (હવેલીના ઠાકોરજી) તો તદ્દન નિષ્ક્રિય બની ગયો, દેખાવમાત્ર!...શું આ સિદ્ધાન્ત કોઈ પ્રિયતમ માટે પ્રિયતમા કે માતાને માન્ય હશે? પરન્તુ આજે આ માન્ય છે અને માન્ય કરવું પડશે. ફક્ત પૈસા ખાતર, પોતાને નહીં દુનિયાને ખુશ કરવા માટે વેશ્યાની માફક કે જેમાં હૃદય નામની કોઈ વસ્તુ રહી શકતી નથી. અને હોય તો તેને ગણકારવામાં આવતી નથી. કેમકે દરેકનો એના ઉપર અધિકાર છે, જાણે કે એ સમ્પત્તિ હોય. જે ચાહે તે ખરીદે, જે ચાહે તે ભોગવે, જેમ કરવું હોય તેમ કરે. તેનો(હવેલીના ઠાકોરજીને) એ બધું કરવું જ પડશે. કેવી અનોખી(!) છે આ ભક્તિ અને પ્રેમની પરિભાષા! આમ છતાં સ્વતન્ત્રતાનો ઉદ્‌ઘોષ કરવામાં આવે છે(આ અમારું ઘર છે! અમારા ઠાકોરજી છે!) શું આ એ જ ભક્તિ છે કે જેને શ્રીવલ્લભ "માહાત્મ્યજ્ઞાનપૂર્વક..." કહે છે? આજે આ ભક્તિનું માહાત્મ્ય એમાં જ છે કે કયા ઠાકોરજીને ત્યાં કેટલી આવક થાય છે!

ટ્રસ્ટના મન્દિરો ઠાકોરજી માટે જેલ સમા છે :

હવે કોઈ એમ નથી કહી શકતું કે મારું બાળક મોડેથી સૂતું છે, વહેલા નહીં જગાવતા. સૂરદાસજીનું કીર્તન ઠાકોરજીને જગાવવા માટે વ્હાલસભર નથી

રહ્યું, ન કેલેઉના પદમાં મમતાભર્યો અનુનય છે. એ તો ફરજીયાત કરવો પડતો નાસ્તો છે કે જેને નકકી કરેલ સમયે કેદીની માફક ઠાકોરજીને કરવો પડે છે. જાણો કે કોઈ જેલમાં ઊઠવા કે ખાવા માટેનો ઘંટ વાગ્યો હોય!

ઠાકોરજી વેચાઈ રહ્યા છે; મનોરથી-દર્શનાર્થી ભક્ત નથી ગ્રાહકો છે:

શ્રીવલ્લભાચાર્યે જીવનમાં પોતાના કાળજાના ટુકડા પોતાના આરાધ્યને કદિ પોતાનાથી દૂર રહેવા દીધા નથી. આજે એ વેચાઈ રહ્યો છે પૈસાદારોના હાથે અને જકડાયેલો છે સરકારી શિકંજામાં, પબ્લિક પોલિસીની અંદર. અને અવે એને મ્યુઝિયમની શોભા બનાવવાનો સમય આવી રહ્યો છે. બિચારા ધર્મ અને ઠાકોરજી ની દશા કોલ્ગર્લ(વેશ્યા)થી પણ બદતર છે. ઠાકોરજીની વિનિન્દિતમુક્તા-દંતપંક્તિ ભગલા ભગતોને જોઈને ખીલી જાય છે. સદાનન્દ નિરાનન્દ બનીને આ ઈમાન(ધર્મ) ખરીદનારાઓના હાથે ખુલ્લેઆમ વેચાઈ રહ્યો છે...બધાને સહારો આપવાવાળો પોતે અસહાય બનીને બેઠો છે, કોઈક ધનિક ગ્રાહકની વાટ જોતો!

દેવદ્રવ્યનો પ્રસાદ આવો એટલે નરકની ટિકિટ કપાવવી :

ધર્મશાસ્ત્રમાં જે બુદ્ધિમાન્ બ્રાહ્મણને દેવલકવૃત્તિને કારણે અધમ માનવામાં આવ્યો છે...આજે એ દેવલકવૃત્તિનું ધન સ્વાદથી વૈષ્ણવજનતા ખાઈ રહી છે. નાથદ્વારામાં કઈ આઈટમ સ્વાદિષ્ટ છે...એનું જ વિવેચન થાય છે...પરન્તુ મારું કર્તવ્ય શું છે એ ક્યારેય વિચારવામાં આવતું નથી....નાથદ્વારામાં આજકાલ પૈસો ઘણો આવી રહ્યો છે, કેમકે ત્યાં ધનિકોનું સામ્રાજ્ય છે. તેઓના દલાલો શ્રીનાથજીનો મહિમા વધારે છે...ગરીબો માટે ઊભા રહેનારા ઠાકોરજી હવે ફકત ધનિકો માટે ઊભા રહે છે.

ટ્રસ્ટમન્દિરો શ્રીવલ્લભના આદર્શોનું સ્મશાન :

ઠાકોરજીના નામ અને ભાગવત થી હોસ્પિટલો માટે કરોડોની રકમ જમા થાય છે, જામનગરમાં આદર્શ સ્મશાન પણ છે, પરન્તુ અહીં તો સ્મશાનમાંથી પણ આદર્શ ગાયબ થતો જઈ રહ્યો છે. કદાચ આદર્શોનું સ્મશાન છે આ ટ્રસ્ટ અને સરકારી દેવાલય!

મન્દિરોનો પ્રસાદ ખાઈ ન શકાય :

વલ્લભમતમાં એ સિદ્ધાંતતઃ ખોટું છે અને એવા દેવસ્થાનો(હવેલી-મંદિરો)નો પ્રસાદ ખાઈ નથી શકાતો. કેમકે ત્યાં દેવલકવૃત્તિ જ મુખ્ય છે.

દર્શન-મન્દિરને ધર્મપ્રચારનું માધ્યમ ન બનાવી શકાય :

જ્યાં સુધી ભગવત્સ્વરૂપ કે મૂર્તિ નો પ્રશ્ન છે, ધર્મપ્રચારને એની સાથે

કોઈ લેવા-દેવા નથી. અને એમ કરવું ઉચિત પણ નથી. કેમકે ભગવાને ધર્મની વ્યવસ્થા માટે વેદવ્યાસ વગેરે અનેક જ્ઞાનાવતાર અને અંશાવતાર ધારણ કરીને જ ધર્મની રક્ષા કરી છે. આજની (સાર્વજનિક હવેલી-મન્દિરની) વ્યવસ્થા આચાર્યને છાજે તેવી, ધાર્મિક કે ભારતીય પણ નથી ત્યારે તેના વલ્લભાચાર્ય સમ્મત હોવાનો તો પ્રશ્ન જ ઊભો થતો નથી. ...મારી આ વિષયમાં સલાહ છે કે એક અલગ વ્યવસ્થા ...ઊભી કરવી જોઈએ જેથી વલ્લભસિદ્ધાન્તોની રક્ષા થઈ શકે. જો એવી વ્યવસ્થા કરવામાં નથી આવતી તો દેવદ્રવ્ય ખાય છે, જેનું સેવન કરવાથી મહાપ્રભુજી સ્પષ્ટ કહે છે કે નરકપાત થશે.

નકલી બેઠકો :

બેઠકોની ભાવગંગા તો આજકાલ ઘરબેઠાં જ મનુષ્યોને પવિત્ર કરવા પોતાની ઉત્તાલ તરંગોથી સમગ્ર ઘર-બારને જ સરાબોર કરવા લાગી છે! ...૮૪ બેઠકોથી કામ ન નીકળ્યું તો હવે મહાપ્રભુ શ્રીવલ્લભને મુસલમાનોના ખેતરોમાં પોતાની ઝારી અને અન્ય ચિહ્નો પ્રકટ કરવા મજબૂર થવું પડી રહ્યું છે.

(નિ.લી.ગો.શ્રીરણછોડાચાર્યજી પ્રથમેશ : "હમારી ધાર્મિક સ્થિતિકા વર્તમાન સ્વરૂપ એવં ભવિષ્યકી વ્યવસ્થાકે હેતુ પ્રતિવેદન").

(ખ) શ્રીવલ્લભાચાર્યે સેવાને ખરીદવાની વાત નથી કહી કે ખરીદી આવો રૂપીઆ આપીને. 'તનુવિત્તજા' પદનો અર્થ જ એ છે કે એ સમસ્ત પદ છે. જ્યાં તન લાગે ત્યાં જ ધન લાગે ત્યારે જ સેવા થઈ ગણાય. પરન્તુ જો ધન લાગે પણ તન ન લાગે તો સેવા થઈ ન ગણાય.

(પ્રથમેશવાક્સુધા-૧ પૃ. ૫૩)

(ગ) "સેવાપિ કાયિકી કાર્યા". એમ નહીં કે પૈસા આપી દીધા. પૈસા આપીને ઘરમાં વિવાહિતા પત્નીને લાવવામાં આવતી નથી, વેશ્યાને લાવવામાં આવે છે. વેશ્યાથી ઘર નથી વસતું એ સ્પષ્ટ વાત છે. તેથી સાફ વાત એ છે કે ભગવત્સેવા અને વરણ માં પતિ-પત્નીનું દૃષ્ટાન્ત આપવામાં આવે છે કે જેમાં આત્મીય સમ્બન્ધ હોય છે.

(પ્રથમેશવાક્સુધા-૧ પૃ. ૭૪)

(ઘ) ભેટ પણ આચાર્યના સન્મુખ જ થાય છે, પ્રભુના સન્મુખ ભેટ નથી થતી. દેવલકવૃત્તિથી બચવાની વિધિ અને વૈદિક વ્યવસ્થા ને સંભાળીને રાખવી જોઈએ નહિતો બુદ્ધિ ભગડશે. આમ કરવાથી પતન થાય છે અને થયું છે.

(પ્રથમેશવાક્સુધા-૧ પૃ. ૧૭૧)

(ઙ) વસ્ત્ર-અલંકારમાં મન બહુ જતું હોય તો એવું સાહિત્ય રાખવાની જરૂર નથી.

આમ કરવાથી લૌકિક વધે છે અને ધર્મભાવના નષ્ટ થાય છે. ...તેથી વૈભવ વધારવાની શ્રીગુસાંઈજીએ ના પાડી હતી. અને શ્રીમહાપ્રભુજીએ નાવ ડૂબાડીને કેવળ પુરુષોત્તમની જ ઘરમાં પધરાવ્યા હતા.

(પ્રથમેશવાક્સુધા-૧ પૃ. ૧૮૦)

(ચ) ધર્મની પરંપરા પ્રદર્શન ઉપર આધારિત નથી પણ એક યથાર્થ જીવનનો ઉજ્વળ પક્ષ છે. ...કુનવારો અને અન્ય મનોરથ...નું સ્વરૂપ આગળ જઈને મહાપ્રભુ શ્રીવલ્લભાચાર્યની આચાર-પરમ્પરા અને સમ્પ્રદાયની મર્યાદામાટે મરણતોલ સાબિત થશે જેની કલ્પના પણ થઈ શકે તેમ નથી.

(પ્રથમેશવાક્સુધા-૧ પૃ. ૧૯૭)

(૨૫/ક)

પ્રશ્ન : દેવદ્રવ્ય કોને કહેવાય?

ઉત્તર : દેવદ્રવ્ય એટલે દેવનુ દ્રવ્ય દેવને ઉદ્દેશીને અર્પણ કરાતું દ્રવ્ય કે કોઈ પદાર્થ 'દેવદ્રવ્ય' કહેવાય. ...પ્રભુની પ્રસાદી વસ્તુને 'મહાપ્રસાદ' કહેવાય...આ પ્રકારનાં મંદિરોમાં તો સન્મુખમાં ભેટ ધરાતું દ્રવ્ય તેમજ ટ્રસ્ટની ઓફિસમાં આવતું દ્રવ્ય તેને સ્પષ્ટ 'દેવદ્રવ્ય' કહી શકાય અને તે દ્રવ્યથી સિદ્ધ થતી સામગ્રીમાં ભગવત્પ્રસાદી થયા પછી મહાપ્રસાદપણું તો આવે છે પરંતુ તેની સાથે તેમાં દેવદ્રવ્યપણું તો રહેજ છે. તેથી વૈષ્ણવોએ એ મહાપ્રસાદને દેવદ્રવ્ય સમજીનેજ વ્યવહાર કરવો જોઈએ. તે મહાપ્રસાદ લેવામાં દેવદ્રવ્યનો બાધ તો રહેલો જ છે.

(ખ) મંદિરના સ્થળ ફેરફાર અંગે શ્રી ગો.પૂ.૧૦૮ શ્રીબાલકૃષ્ણલાલજીએ કહ્યું કે પુષ્ટિમાર્ગમાં સાર્વજનિક મંદિરની પરંપરા જ નથી. એમાં વ્યક્તિગત સ્વરૂપ, નિજ સ્વરૂપ, ની જ વાત છે. ... વૈષ્ણવો પણ ઘરમાં સેવા કરે છે, તેને 'મંદિર'જ કહે છે...

(**નિ.લી.ગો.શ્રીબાલકૃષ્ણલાલજી મહોદય,** સૂરત : ૨૨/ક : વૈ.વા.અંક.૩. વર્ષ.માર્ચ ૧૯૮૩– ૨૨/ખ : 'ગુજરાત સમાચાર' અંક ૨૫-૧૧-૮૩માંથી સાભાર).

(૨૬/ક) ...ઋણસંબન્ધ લઈને સેવા કરવાથી પ્રત્યેક ઇન્દ્રિયનો ભગવાનમાં વિનિયોગ થાય છે ... ગુરુધર કેવળ ઉપદેશ ગ્રહણ કરવા માટે છે. સેવા આપણને આપણા ઘરમાં કરવાની છે.

(ખ) આજે ઘણા ઘરોમાં સેવા થાય છે, પરંતુ શું આપણે વિશ્વાસ પૂર્વક કહી શકીએ છીએ કે આ સેવા સાચી સેવા છે? શું આજની સેવા "ચેતસ્તત્પ્રવણં

સેવા"નું અક્ષરશઃ સાર્થક સ્વરૂપ છે.?

હકીકતમાં તો અમે ખુદ વલ્લભવંશજ ગોસ્વામી પણ આવો દાવો કરી જ નથી શકતા કે આજે અમે સાચી સેવા કરી રહ્યા છીએ. આવું કહેવામાં મને જરા પણ સંકોચ નથી થઈ રહ્યો, કેમકે હું દંભનું સંરક્ષણ કરવા નથી માગતો. તેથી સ્પષ્ટ છે કે જો અમારા ગોસ્વામીઓમાં સેવાની અને શ્રીમહાપ્રભુજીદ્વારા ઉપદેશાયેલા સિદ્ધાન્તોના પૂર્ણ પરિપાલનની ક્ષમતા હશે તો જ અમારા અનુયાયી આપ મેળે સેવા અને સિદ્ધાન્ત ના પરિપાલનમાં સક્ષમ બની શકશે, બાકી તો નહીં. કેમકે અમે ગોસ્વામી અને વૈષ્ણવ એક જ તત્ત્વના બે પ્રકાર છે. વલ્લભકુળ બિન્દુસૃષ્ટિ છે તો વૈષ્ણવ નાદસૃષ્ટિ છે. આ સ્થિતિમાં શ્રીમહાપ્રભુજી અને શ્રીગુસાંઈજી પ્રભુચરણ દ્વારા કરવામાં આવેલી આજ્ઞા વલ્લભકુળ અને વૈષ્ણવ બંનેના માટે પરિપાલનીય છે.

(**પૂ.પા.ગો.શ્રીમથુરેશવરજી** ક : વલ્લ.વિજ્ઞા. અંક૧૫-૬ વર્ષ ૧૯૬૧ ખ : પુષ્ટિબોધ ભાગ-૧, પૃ.૨૩, વિ.સં.૨૦૩૪).

(૨૭) **પ્રશ્ન :** આપણા સંપ્રદાયમાં મંદિરને 'મંદિર' ન કહેતાં 'હવેલી' શામાટે કહેવામા આવે છે?

ઉત્તર : સામાન્યરીતે ઇતર હિંદુ સંપ્રદાયમાં 'મંદિર' શબ્દ દેવાલયના અર્થમાં વપરાય છે પરંતુ આ રીતે દેવાલયના રૂપમાં મંદિર જેવી સંસ્થાનું પુષ્ટિમાર્ગમાં અસ્તિત્વ નથી. કારણ કે પુષ્ટિમાર્ગમાં જે પ્રભુ આપણા માથે પધરાવવામાં આવે છે તે પ્રભુ-સ્વરૂપ અને તેમની સેવા દરેકના વ્યક્તિગતરૂપે તેમની ભાવના અનુસાર પધરાવી આપવામાં આવે છે. પોતાના શ્રીઠાકોરજીની સેવા પુષ્ટિમાર્ગીય જીવનું એક માત્ર પોતાની ફરજ બની જતું પોતાનુંજ ધર્મચિરણ છે. પુષ્ટિમાર્ગમાં સેવા સામુહિક જીવનનો વિષય નહિ પણ વ્યક્તિગત જીવનનો વિષય છે. જેમ લોકમાં પત્ની અથવા માતા નો પતિ અથવા પુત્ર ની સેવાનો કે વાત્સલ્ય આપવાનો તેનો વ્યક્તિગત ધર્મ ફરજ અને અધિકાર હોય છે, તે જ પ્રમાણે જે સેવકનું જે સેવ્યસ્વરૂપ હોય તે સેવ્યની સેવાનો તેનો વ્યક્તિગત ધર્મ અને અધિકાર છે. સેવા એ જાહેર કાર્ય કે જાહેર પ્રવૃત્તિ નથી પરંતુ સેવા એ પોતાના આંતરિક જીવન સાથે સંબંધ ધરાવતી હોવાથી તે આપણા જીવનની આપણા નિજઘરમાં થતી સ્વધર્મરૂપ પ્રવૃત્તિ છે...માટે ઇતર હવેલીઓની જેમ 'શ્રીનાથજીનું મંદિર' શબ્દ રૂઢ થઈ ગયેલો હોવાથી તે વપરાય છે. હકીકતમાં સામુહિક દર્શન કે સેવા જ્યાં થતી હોય તેવા અન્યમાર્ગીય જાહેર દેવસ્થાન જેવું એ

મંદિર નથી.

(ગો.પૂ.પા.શ્રીવલ્લભરાયજી, સુરત : પુષ્ટિશીત.છાંપડે પૃ.૧૫૭-૫૮)

(૨૮) જેઓ ઘરમાં રહીને પ્રભુની સેવા કરે છે તે પોતે તો કૃતાર્થ થાય જ છે કિન્તુ તેમના પરિજનો પણ કૃતાર્થ થાય છે. ...બધી ઇન્દ્રિયોથી અન્તઃકરણથી ભજનાનન્દનો અનુભવ ઘરમાં રહીને શ્રીઠાકોરજીની સેવા કરવાથી થઈ જાય છે. ... તેથી ગુરુ પાસેથી શ્રીઠાકોરજીને પુષ્ટ કરાવીને ઘરમાં પધરાવો અને સમયને સેવામય બનાવો ... શ્રીઠાકોરજી જે ઘરમાં બિરાજે છે તે ઘર ઘર ન રહીને ... નન્દાલયની લીલાનું સ્થળ બની જાય છે.

... મુકુન્દદાસ ... રામદાસ સાંચોરા ... કિશોરીબાઈ ... જીવનદાસ... આ બધા મહાનુભાવોએ ... શ્રીનાથજી તથા ઘરના ઠાકોરજીમાં ભેદ નથી જાણ્યો.

... શ્રીઠાકોરજી આપણી નિધિ છે. ...આવા પૂર્ણપુરુષોત્તમ શ્રીનન્દરાજકુમારને શ્રીમહાપ્રભુજીએ આપણા ખોળામાં પધરાવી આપીને આપણને ભાગ્યશાળી બનાવ્યા છે. આથી મોટું બીજું કયું ફળ છે!

... સાંસારિક કામનાથી જે શ્રીઠાકોરજીના... દર્શન-સ્મરણ-સેવા કરે છે તેને ક્લેશજ હાથ લાગે છે ...ઘરના શ્રીઠાકોરજી જ સર્વસ્વ છે...તે જ નિત્યલીલાના આનન્દનો અનુભવ કરાવશે. તે આપણા પતિ છે જે ભયથી રક્ષા અનુ સુરક્ષા પણ કરે છે.

શું કોઈ સ્ત્રી અન્ય સ્થળે જઈને કોઈ બીજાની સેવા કરી શકે છે? કદાપિ નહીં. ...ઘરના પરિજનો આ સાંખી નહીં શકે. ...તે જ પ્રમાણે આપણા માથે જે શ્રીઠાકોરજી આપણા ઘરમાં બિરાજે છે તેમના આપણે મનગમતાં નવા-નવા પુષ્ટિમાર્ગીય મનોરથ કરીને, સામગ્રી સિદ્ધ કરીને લડ લડાવી શકીએ છીએ પરન્તુ એવો અધિકાર કોઈ બીજે ઠેકાણે થોડો મળી શકે છે! તેથી નથરકે ઠાકુરકે સુત જાયો નન્દદાસ તહાં સબ સુખ પાયોસ્ત્ર.

શ્રીનાથજીને પણ દેવાલયની લીલા છોડીને નન્દાલયની લીલા કરવામાટે શ્રીગુસાંઈજીના ઘરે પધારવું પડ્યું. નવ્યાજં લૌકિકમાશ્રિત્ય શ્રીવિટ્ઠલગૃહેऽગમત્સ્ત્ર. તેથી શ્રીનાથજીનો તે જ પાટોત્સવ મુખ્ય મનાય છે કે જે ફાગણ સુદ સાતમના આવે છે.

... તેથી ઘરના શ્રીઠાકોરજીનું સ્વરૂપ સમજવું ખુબજ જરૂરી છે. ...કોઈ પત્ની પોતાના પતિની સેવા ન કરે અને તેના ફક્ત ગુણગાન કરતી રહે તો શું તેથી તેનો પતિ સન્તુષ્ટ થશે?

...જે કૃષ્ણ-કૃષ્ણ ગુણગાન કરતા રહે છે પણ સેવા સ્વધર્મથી વિમુખ છે તે હરિના દ્વેષી છે (વિષ્ણુપુરાણ) તેથી સેવાથી સેવ્યને સન્તોષ મળે છે આ જ વૈષ્ણવનો સ્વધર્મ છે.

(ગો.શ્રીગોકુલોત્સવજી મહારાજ, ઈન્દોર, ૨૫૨ વૈષ્ણવ વાર્તાની ભૂમિકા)

(૨૯) શ્રીમહાપ્રભુએ જુદા-જુદા મંદિરોની પ્રણાલી ઊભી કરી નથી; પણ એમાં જગદ્ગુરુ શ્રીવલ્લભાચાર્યનો એક લાંબો દૃષ્ટિકોણ હતો : પ્રત્યેક વૈષ્ણવનું ઘર નન્દાલય બનવું જોઈએ ...એક મંદિરની બાજુમાં એક બહેન રહે. એમને ત્યાં ઠાકોરજી બિરાજે. મંદિરની આરતીના ઘંટા એમને સંભડાય. સેવા કરતા બેઠેલી એ બહેન ઠાકોરજીના વસ્ત્રો કાઢી સ્નાન કરાવતી હતી ત્યાં આરતીના ઘંટા પડ્યા. પેલી ઠાકોરજીને પડતા મુકીને મંદિરે દોડી. થોડી વારે ઘેર આવી. હવે વિચાર કરો, આવી રીતે કોઈ સેવા કરે તો એમાં સેવાનો આનંદ આવે ખરો? અહીં તો પ્રત્યેક વૈષ્ણવનું ઘર નન્દાલય છે.

(ગો.પૂ.પા.સુશ્રીઇન્દિરાબેટીજી : વૈ.પ.અંક જૂન ૧૯૯૦).

"એકવીસમી સદિમાં આપણો પ્રચાર-પ્રસાર અને સંરક્ષણ માટે પુષ્ટિસમ્પ્રદાયમાં જરૂરી ફેરફાર"

પુષ્ટિમાર્ગમાં ફેરફાર નથી જોઈતો પણ ૨૧મી સૅંચ્યુરીના પુષ્ટિમાર્ગમાં ફેરફાર જોઈએ છે. ...આજે પુષ્ટિમાર્ગ જે સ્વરૂપ ધારણ કર્યું છે એને માટે આપણને ફેરફાર જોઈએ છે. ... લોકો ...એક ઘેંટા પાછળ બીજું જાય, બીજા પાછળ ત્રીજું જાય એમ ...ઘેંટાની માફક બધા લોકો ચાલી રહ્યા છે. એ ક્યાં જવાના છે, શું કરવાના છે, ખરેખર શ્રીમહાપ્રભુજીના માર્ગ પર ચાલી રહ્યા છે કે જુદે જ રસ્તે દોડી રહ્યા છે એનું આત્મચિન્તન કરવાની આજે ઘડી આવી ગઈ છે. ખરેખર અર્થમાં શું આપણે પુષ્ટિમાર્ગના ફોલોવર્સ્ છીએ! વી આર્ ફોલોઈંગ્ પુષ્ટિમાર્ગ ઓર સમથિંગ્ એલ્સ્! જવું છે ઉત્તરમાં અને દોડી રહ્યા છીએ દક્ષિણમાં. માર્ગ એ જ સાચો હોય કે જે મંજિલ્ સુધી પહોંચાડી શકે. મને આટલા બધા લોકોમાંથી જવાબ આપે કે આપણી મંજિલ્ સુધી પહોંચી શકીએ એવી ક્ષમતા આપણી જડ ધાર્મિકતામાં દેખાય છે? ભલે ખુબ સેવા કરતો હોય, સ્મરણ કરતો હોય, વ્રજમાં રહેતો હોય કે પછી જપ વગેરે કરતો હોય, પ્રવચનો કરતો હોય, હું તો અમારા બધા(ગુરુજનો)ની વાત કરું છું, હું મારી પોતાની આત્મચિન્તન કરું છું કે હજુ એની અંદર મંજિલ્ સુધી પહોંચવાની જે ક્ષમતા આવવી જોઈએ તે નથી આવતી.

...શ્રીવલ્લભાચાર્યજીએ જીવન જીવવાની પદ્ધતિ આપી જેનું નામ 'પુષ્ટિમાર્ગ' છે. ... સમાજને પ્રભુપરાયણ બનાવવા માટે, ભગવત્પરાયણ બનાવવામાટે, ટોટલ ટ્રાન્સફોર્મેશન ઓફ માઈંડ એન્ડ બોડી કરવા માટે એમણે આપણને જે પ્રોસેસ આપ્યે છે, જે સાધનાપદ્ધતિ આપી છે, જે રસ્તો આપ્યો છે એ રસ્તાનો વિચાર કર્યા વગર આપણે દોડી રહ્યા છીએ.

...હું એક વાર અરવિન્દના આશ્રમમાં ગઈ. ત્યાં કોઈએ મને પૂછ્યું એક સાધકે કે તમે કોણ છો? આઈ એમ્ વૈષ્ણવ. પછી એણે તરત જ ટીકા શરુ કરી કે તમે બધા પેલા ટકોરિઓ વગાડો છો તે જ ને! તમે લાડુડીઓ ધરો છો તે જ ને! ત્યારે મેં એમને પૂછ્યું કે ...તમે કોઈ પુસ્તક વાંચી છે. મને કહે કે "તમારા જેવા બહુ લોકોને મળ્યો છું". ત્યારે મેં તેમને પૂછ્યું કે તમારા જેવા લોકોને જોઈને હું અરવિન્દ ઘોષને કેલ્કયુલેટ કરી શકું? ...પેલો કહે કે મારા તરફ જોવા જશો તો અરવિન્દ કેવી રીતે મપાય? ત્યારે મેં કહ્યું કે આવા લોકોને જોવાથી શું વલ્લભાચાર્ય મપાતા હશે? અને વલ્લભાચાર્ય જાણાતા હશે?

...આપણા સમાજમાં ... એટલી બધી દામ્ભિકતા ઘુસી ગઈ છે કે દેખાવ અને ડોળ વધી ગયા છે, દોડા-દોડી વધી ગઈ છે. ... બહુ લોકો આવ્યા, એટલે માનીએ છીએ કે આ કામ બહુ સરસ થયું. હું પ્રવચન સારું કરી શકું એનો અર્થ એ નથી કે હું ખરેખર પુષ્ટિમાર્ગીય છું. કોઈ પણ સાધક જ્યાં સુધી પોતાના ગુરુના પગલે ન ચાલે ત્યાં સુધી એ સફળ નથી. ...સત્સંગ કરાવનારા અમે લોકો છીએ, અમારી અંદર પણ દામ્ભિકતા આવી ગઈ છે.

...આજે તમને કોઈ પુછે કે વ્હાય્ યુ આર્ પુષ્ટિમાર્ગીય? વોટ્ ઈઝ્ પુષ્ટિમાર્ગ? તો બે-ચાર ઉત્તરો સિવાય આપણી પાસે એનું ઘરો નોલેજ્ નથી. ...આજે આપણે ભારતમાં પણ એટલા બધા મન્દિરો ઉભાં કર્યા. મન્દિરોની અંદર ભીડ વધી ગઈ. મનોરથો થવા લાગ્યા. મહાપ્રસાદો વેચાવા લાગ્યા. દોડા-દોડી કરીને લોકો આવે અને દોડા-દોડી કરીને જાય. અને અમે ખાલી આરતીઓ જ ઉતારીએ! પરન્તુ ત્યાં આવનાર સમાજને કંઈક નોલેજ્ મળે એવું અમારા સ્થાનોમાં બન્યું છે! ...તમને નથી લાગતી કે આપણા ધર્મસ્થાનો એ જ્ઞાનપીઠ બનવા જોઈએ. એ વિદ્યાપીઠો બનવી જોઈએ! એ સાધનાની પીઠો બનવી જોઈએ! વી નીડ ચેંજ ...આજે આપણે મન્દિરોની જે વ્યવસ્થા કરીએ છીએ અને એના જે હોદ્દેદારો બનીએ છીએ એમને પૂછો કે તમને પુષ્ટિમાર્ગ કંઈ આવડે છે? ભરતભાઈને હું પૂછું છું. ...શું આપણે થોડાક પણ સાધક છીએ! ... અમે લોકો જ્ઞાન આપવામાટે ધ્યાન આપતા નથી. અમે પણ બસ અમારા સ્થાનમાં

બેઠા છીએ. અમે આ વૈષ્ણવસમાજનો વિચાર નથી કરતા કે આ વૈષ્ણવસમાજ કેટલો ભૂખ્યો છે. ... આ માસ્ પ્રોડક્શનની અંદર નોલેજ્ આપવું એ કંઈ નોલેજ્ આપવાની પદ્ધતિ નથી. ઘણી કથાઓ કરીને, ઘણા પ્રવચનો કરીને, મને આત્મચિન્તન કરતાં લાગ્યું છે કે ધિસ્ ઈઝ્ રોંગ્ વે. હવે જરૂર છે ક્લાસ્ પ્રોડક્શન્. નાના-નાના વર્ગોને બોલાવી એમની સામે ડિસ્કસ્ કરી એમને સાચા સાધક બનાવો. એમનામાં આસ્તિકતા અને સાચી શ્રદ્ધા જાગૃત કરો. એમનામાં સમર્પણબુદ્ધિ જાગૃત કરો. શરણાગતિ બુદ્ધિ જાગૃત કરો. તો પ્રિય વૈષ્ણવજનો, આજે જે આપણે ટોળાશાહીની અંદર મંદિરોમાં જીવી રહ્યા છીએ, ...આપણી અંદર એક જાગૃતિ આવે, ...શિક્ષણવ્યવસ્થાઓ ક્લાસ્ની અંદર થાય. અને એને શિક્ષણ આપવા માટેનો સ્વતન્ત્ર શિક્ષક વર્ગ ઉભો થાય. આજે જે લોકો શિક્ષણ પણ આપે છે એ અધુરા નોલેજ્ વાળા છે. કારણ કે સાધક નથી. ...આપણા શિક્ષકો પણ એવા હોવા જોઈએ કે જે લોકો પુષ્ટિમાર્ગને જાણતા હોય. ... અમારા લોકોની એ કમી છે કે અમે હજી કોઈ પુષ્ટિવિદ્યાલય બનાવ્યું નથી. એવી કોઈ કોલેજ્ બનાવી નથી, એવી પ્રયોગશાળાઓ બનાવી નથી. અને આજના જમાનામાં જો નોલેજ્ આપવું હશે તો જુની ભાષામાં નહીં આપી શકીએ. જે શિક્ષકો છે એમણે જુના શબ્દોમાં શીખવું પડશે. ઓરિજિનલ્ ગ્રન્થો ભણવા પડશે. અને આજની નવી લેંગ્વેજમાં નવા તર્ક સાથે, નવા વિચારો સાથે, નવા દાખલા-દલીલો સાથે લોકોને એનું શિક્ષણ આપવું પડશે. અને એના માટે આપણા એવા આશ્રમો તૈયાર થાય, એવી વિદ્યાપીઠો તૈયાર થાય કે જ્યાં કમ્પેરિટિવ્ સ્ટડીસ્ થાય. સાયકોલોજી ઈન્ પુષ્ટિમાર્ગ, ફિલોસોફી ઈન્ પુષ્ટિમાર્ગ, સાયન્સ્ ઈન્ પુષ્ટિમાર્ગ. તમે ધર્મનું આચરણ કરો છો તો અનાથી તમારી અંદર શું ફેરફાર થાય છે. આવા પ્રેક્ટિકલ્ પ્રયોગો થાય. વિદ્યાર્થીઓ એમાં રસ લે. આજે આ જાતના નવા-નવા પ્રયોગો, પ્રેક્ટિકલ્ વસ્તુઓ પુષ્ટિમાર્ગની અંદર હજી જોવા મળતી નથી. હજુ આપણે બહુજ પાછળ રહ્યા છીએ. તો હું વૈષ્ણવ સમાજને, અમારા સમાજને પણ હૃદય પૂર્વકની વિનન્તી કરું છું કે આવા આપણે બધા જાગીએ. હું તમને નથી કહેતી કે તમે જાગો. મારી જાતને પણ કહું છું કે આવો આપણે બધા જાગીએ. નવું ચિન્તન કરીએ. નવો વિચાર કરીએ અને પુષ્ટિમાર્ગ જે ટ્રેક ઊપરથી ઉતરી ગયો છે એને પાછો ટ્રેક ઊપર ચઢાવી દઈએ.

વલ્લભાચાર્યના વિચારોમાં કોઈ ફેરફાર કરવાની જરૂર નથી. પણ ૨૧મી સદીનો જે પુષ્ટિમાર્ગ છે એની અંદર ઘણા પરિવર્તનો માંગી લે છે. મન્દિરવ્યવસ્થાપરિવર્તન, જીવનવ્યવસ્થાપરિવર્તન, સમાજવ્યવસ્થાપરિવર્તન.

કારણ કે ધર્મ એ આવીને ખાલી આરતીના આંટા જોઈ જવાનો નથી. ઘણા લોકો કહે છે ક્યાં જાઓ છો? કહે, નાથદ્વારા. શું કરવા? તો કહે બસ, આરતીના આંટા જોયા એટલે બસ્ પતી ગયું. ... આપણા ધર્મસ્થળોમાં પણ ઈન્સ્પિરેશન્ (પ્રેરણા) નથી. ત્યાં પણ જાગૃતિ નથી. ...લેટ્ અસ્ ચેંજ્ અવરસેલ્વ્સ, અવર સિસ્ટમ્, અવર લાઈફ્ સ્ટાઈલ્ અને આપણી ધર્મ જીવવાની પદ્ધતિને, એના પ્રચાર અને પ્રસારની પદ્ધતિને ...કાર્યકર્તાઓ પધાર્યા છે. હું એમને પણ કહીશ કે આપણે ખાલી દોડાદોડી, દર્શન અને મહાપ્રસાદ જ નથી આપવાનો અને ટોળાશાહી જ ઊભી નથી કરવાની. ક્લાસની અંદર તમે ધર્મપ્રચાર શરુ કરો. થોડા-થોડા લોકોને બોલાવીને ચર્ચા કરો. અને આ ધર્મ આજના વર્તમાન યુગની સમસ્યાને કઈ રીતે દુર કરે છે તે જુઓ.

(**ગો.પૂ.પા.સુશ્રીઈન્દિરાબેટીજી** : વિશ્વવૈષ્ણવ સમ્મેલન, ૪ જુલાઈ ૨૦૦૮, ન્યુજર્સી અમેરીકા)

(૩૦) "અતિ ધન્યવાદાર્હ હૈ કિ આપને ઈતની મેહનત કરકે સમ્પ્રદાયકે સિદ્ધાન્તનકું કોર્ટમેં સમઝાયે"–"તુમારા ઈસમેં પૂરા સહયોગ હોગા, તનમનધનસે...હમારે સભી વિ.બાલક ઈસ કાર્યમેં સહયોગ કરનેકો તૈયાર હૈં".

(**નિ.લી.ગો.શ્રીવ્રજભૂષણલાલજી મહારાજ, જામનગર** : ગો.શ્રીશ્યામ મનોહરજીને લખી મોકલાવેલ તા.૨૬-૧૦-૮૬ અને ૩-૧૧-૮૬ ના પત્રોમાં).

(૩૧) પુષ્ટિમાર્ગની આજે ઉપેક્ષા થઈ રહી છે. તેની પરમ્પરા જ હવે ટૂટતી જઈ રહી છે. આના મૂળમાં જો કંઈ છે તો તે છે આજની સાધન-સમ્પત્તિ. તે જ આપણા સંસ્કાર બગાડી રહી છે. હજી પણ જે ઘરમાં અલૌકિક (પ્રભુ)સેવા હશે ત્યાં પુષ્ટિમાર્ગ જરૂર નભશે. (જુલાઈ ૨૦૦૭ પૃ. ૬).

શ્રીમદાચાર્યચરણના મતાનુસાર ગુરુસેવા અને પોતાના માથે બિરાજતા ઠાકોરજીનું અતિ સ્નેહથી જતન કરવું એ જ સાચા સંસ્કારનું મૂળ છે. ...શ્રીગુસાંઈજીના સમયમાં છપ્પનભોગ જેવા મનોરથોની શરુઆત કરતી વખતે (તેમાં) કેવળ લૌકિકતા જ વધશે એવી સ્પષ્ટ સૂચના અપાઈ હતી.

...આજકાલ ... મંદિરોનો ઉપયોગ યશ-કીર્તિ પ્રાપ્ત કરવા માટે થવા લાગ્યો છે. મંદિરોમાં પ્રાધાન્ય મનોરથોનું થવા લાગ્યું છે. શ્રી(ઠાકોરજી), ગુરુ તથા સેવાભાવના નો ઉપહાસ થવા લાગ્યો છે. જ્યારથી માર્ગીય સિદ્ધાન્તોનો

ઉપહાસ થવા લાગ્યો છે ત્યારથી મંદિરની, તેના સંચાલકોની વૃત્તિ જ પલટાઈ ગઈ છે. આડંબર અને યશ ને પુષ્ટ કરવા માટે ...દર-દર ભટકવાની સ્થિતિ પેદા થઈ ગઈ છે. ... આ બધાનો સાચો ઉપાય આ કલિકાલમાં આપણા સન્તાનોને જરૂરી સંસ્કારો આપણા ઘરમાંથી જ આપવામાં આવે એ જ છે. મંદિરોનું સમ્પૂર્ણ વ્યાપારીકરણ થવા લાગ્યું છે. ...સમ્પત્તિ પ્રાપ્ત કરવાની લાલચ વધવાથી પ્રભુ(સ્વરૂપ-સેવા)ને પણ આપણે વેપારના રૂપમાં પરિવર્તિત કરવા લાગ્યા છીએ. (જુલાઈ ૨૦૦૭ પૃ. ૬)

ઠાકોરજીની સેવા ચોરની માફક કરવી જોઈએ. ... સેવ્યસ્વરૂપનો હું સેવક છું તેનો ઢંઢેરો પીટવો કે તેનું પ્રદર્શન કરવું તે પણ જીવના દૈન્યમાં વિક્ષેપ ઉત્પન્ન કરી શકે છે. ... આપણા ઘરમાં બિરાજતા ઠાકોરજીની સેવામાં આટલી ગુપ્તતા જરૂરી છે. "પ્રીત હિયેમેં રાખીયે પ્રકટ કિયે રસ જાય" ની રીતે તમારા પ્રાણપ્રેમ તમને જે રસની પ્રાપ્તિ કરાવે તેને ક્યારેય પ્રકટ કરી શકાતું નથી.

(સપ્ટેમ્બર ૨૦૦૪, પૃ. ૭)

આજે તો શ્રીનાથજી-નાથદ્વારા, ચંદ્રાવા-કામવન અને અન્ય ઠાકોરજીના દર્શન કરતાં જ પોતાના માથે બિરાજતા ઠાકોરજી ભુલાઈ જાય છે. પુષ્ટિમાર્ગમાં તો 'શ્રીજી'નો અર્થ જ પોતાના માથે બિરાજતા ઠાકોરજી થાય છે. લક્ષ્મણબાલાજીમાં પણ 'તિરુપતિ' શબ્દનો પ્રયોગ થાય છે જેમાં 'તિરુ' નો અર્થ શ્રી અને 'પતિ'નો અર્થ નાથ (એટલે શ્રીનાથ) જ થાય છે. અર્થાત્ પોતાના ઘરમાં બિરાજતા ઠાકોરજીમાં જ પોતાના સર્વસ્વ હોવાનું દર્શન થવું જોઈએ. એમને આરોગાવ્યું મતલબ સમસ્ત જગતને પ્રસાદ લેવડાવી દીધો એવો ભાવ સિદ્ધ થવો જોઈએ. અહીં તો એનાથી ઉલટી ગંગા વહી રહી છે. પોતાના સેવ્ય ઠાકોરજીમાં બધા નિધિસ્વરૂપોના દર્શન થવાને ઠેકાણે હવે તો બધામાં અરે, ત્યાં સુધી કે જીવમાત્રમાં આપણે આપણા ઠાકોરજીના દર્શન કરવાનો વિચાર કરી રહ્યા છીએ! અને પાછી બુદ્ધિની ચતુરાઈ પણ વાપરી રહ્યા છીએ કે બધામાં ઠાકોરજીનો અંશ છે તેથી ઘરમાં પ્રભુની સેવા કરીએ કે અન્યની સેવા કરીએ વાત એક જ છે!! તેથી અન્યની સેવામાંથી સન્તોષ લેવાનું શરુ કર્યું. આનાથી શરીર, પૈસા, કીર્તિ બધાની રક્ષા થાય અને ઊપરથી ભગવદીય કહેવાતા થયા!!!

(સપ્ટેંબર, ૨૦૦૭, પૃ. ૭)

શ્રીવલ્લભ ઠાકોરજી-સ્વામિનીજીના ઉભય સ્વરૂપે બિરાજે છે તેથી લક્ષ્મી તેમની દાસી ગણાય. એટલે કે શ્રીવલ્લભને તો કોઈ જ આર્થિક પ્રશ્ન હોય જ નહીં. છતાં આપના વાર્તા પ્રસંગમાં સ્પષ્ટ બતાવે છે કે આજે સેવા (ગુરુભેટ)

નથી આવી તો ઠાકોરજીની કટોરી ગીરવે રાખી પૈસા લાવી સામગ્રી લાવો અને ભોગ ધરે. પ્રભુસેવા તો થાય પણ તે પ્રસાદ આપ પણ આરોગે નહીં કે સેવકને પણ લેવા ન દે. વાર્તા પ્રસંગમાં સમજાવેલી આવી સ્થિતિ આપણા જેવાને શીખ આપવા માટે છે કે ગમે તેવી વિકટ સ્થિતિ હોય છતાં દેવદ્રવ્ય કદાપિ કોઈથી લઈ શકાતું નથી. એટલે જ ભાવસંબંધ સમયે સઘળું સમર્પિત કરવાની આજ્ઞા કરી છે કે જેથી ભગવત્પ્રસાદ સ્વરૂપે તમે લઈ શકો. અર્થ સ્પષ્ટ જ છે કે પ્રભુનો પૈસો ગુરુદેવ કે સેવક કોઈથી વાપરી ન શકાય. (ફેબ્રુઆરી, ૨૦૦૯, પૃ.૭)

(**નિ.લી.ગો.શ્રીગિરિધરલાલજી મહારાજ**-પંચમેશ, કામવન, માસિકપત્ર-વૈષ્ણવતા, **સાંચે બોલ તિહારે, પ્રકાશક**-પં.પી.પૂ.પા.ગો. શ્રીવલ્લભલાલજી મહારાજ, વલ્લભવિદ્યાનગર-કામવન)

(૩૨/ક)

ગો.શ્રીહરિરાયજી : જરા ધ્યાનથી સાંભળજો ... "तत्र अयम् अर्थः. लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि" સ્પષ્ટ સાંભળજો, "सम्पादकत्वात्". ...લાભ-પૂજાર્થ યત્ન કરે છે જે સેવા કરીને, જ્યારે તે લાભ-પૂજાર્થ પ્રયત્ન કરે છે તો તે ઉપધર્મ થયું; દેવલકત્વ વગેરે જે દોષો છે તે તેની અંદર પ્રવેશે છે. ...

ગો.શ્રીશ્યામમનોહરજી : એટલે ખાસ ધ્યાનમાં રાખજો હોં, કે ભાવપ્રતિષ્ઠા જે સ્વરૂપની થઈ હોય તે સ્વરૂપની પણ લાભ અથવા પૂજા માટે જો સેવા કરવામાં આવે તો સેવાકર્તા દેવલક (પાપી) થઈ રહ્યો છે ...

ગો.શ્રીહરિરાયજી : અને ઉપધર્મત્વ આવી રહ્યું છે ...અને આ નિષિદ્ધછે. ...

ગો.શ્રીશ્યામમનોહરજી : આ સ્થિતિમાં ગુરુ પોતાની લાભ કે પૂજનેમાટે શિષ્યથી કાંઈ પણ ઠાકોરજીમાટે માંગતો હોય તે ... શાસ્ત્રનિષિદ્ધ હોવાથી ... દાન હોવાથી દેવદ્રવ્ય હોવાથી ઉપયોગ કરવાયોગ્ય હોતું નથી.

ગો.શ્રીહરિરાયજી : હા, બિલકુલ. ... આ તો બિલકુલ સ્પષ્ટ છે. ... 'સ્વવૃત્તિવાદ'થી પણ સ્પષ્ટ થાય છે.

(ખ) શ્રીમદાચાર્યચરણે "तत्सिद्धये तनुवित्तजा" આમ કહ્યું છે. કારણ કે બે અલગ-અલગ વ્યક્તિ તનુજા વિત્તજા કરે છે તો માનસી સિદ્ધ નથી થતી. ...આ જ અભિપ્રાયને સમજાવવા માટે આચાર્યચરણે 'તનુવિત્તજા' આ સમસ્તપદ કહ્યું છે. ...મજૂરી પેટે પૈસા લઈને કે દઈને બે પુરુષો દ્વારા કરવામાં આવેલી એવી તનુજા-વિત્તજા સેવાઓ માનસીની સાધક નથી બનતી આ અભિપ્રાય

સમજાવવા માટે 'તનુવિત્તજા' સમસ્તપદ કહેલું છે. નહીંતર તો તનુવિત્તજા ન કહીને તનુજા-વિત્તજા કહેત...જો બે જુદી-જુદી વ્યક્તિ તનુજા અને વિત્તજા કરે તો બંને સેવાઓની એક સંયુક્ત અવસ્થા તનુવિત્તજા નથી બની શકતી. તેથી જ માનસી સિદ્ધ નથી થતી.

(ગ) જ્યાં સુધી લાભ-પૂજાર્થ યત્નનો પ્રશ્ન છે તો તે તો કોઈ પણ કક્ષાનો ભક્ત કરશે તો દેવલક જ થશે...જો કોઈ સ્વલાભ-પૂજાર્થ દર્શન-મનોરથ-મહાપ્રસાદ વગેરે કરે છે તો એ ચોક્કસ દેવલક છે...**બીજાના ઘરમાં, બીજાના પૈસાથી, બીજાના ઠાકોરજીના ભોગનો મહાપ્રસાદ લેવો ઘોર સિદ્ધાન્ત વિરુદ્ધ છે.**

(ઘ) હવે રહ્યો પ્રશ્ન ટ્રસ્ટની આવક અને નફો, તો ટ્રસ્ટની આવક-નફાનો લાભ અમે નથી લેતા. ઉલટાનું ભગવત્ શાસ્ત્રોક્ત સર્વલાભોપહરણ ન્યાયથી ટ્રસ્ટનો બધો જ નફો ભગવદર્થ કે ગો-બ્રાહ્મણને માટે વાપરીએ છીએ...અમારા પ્રભુનો નિત્યનૈવ-ભોગ પોતાના પૈસાથી આરોગાવીએ છીએ.

(ઙ) પુષ્ટિમાર્ગીય વૈષ્ણવને માટે ભાગવતકથા કરીને આજીવિકા ચલાવવી નિષિદ્ધ છે.

(**પૂ.પા.ગો.શ્રીહરિરાયજી મહારાજ**, જામનગર ક : પુષ્ટિસિદ્ધાન્ત ચર્ચાસભા, વિસ્તૃત વિવરણ પૃષ્ઠ૧૬૪,૧૯૩. ખ-ચ : અનિર્દિષ્ટપૃષ્ઠસંખ્યાક "तत्सिद्धये तनुवित्तजा".)

(૩૩) સંયુક્ત ઘોષણાપત્ર : અમદાવાદ

આજે ફરીથી એ સમય આવ્યો છે. તેનાથી પણ મુશ્કેલ સમય આવ્યો છે. તે સમયે તો અન્યમાર્ગીય લોકો મતોને પ્રસ્તુત કરીને ભ્રમ ઉત્પન્ન કરતા હતા. પણ આજે તો આપણા સમ્પ્રદાયના જ 'સુજ્ઞજનો' શ્રીમહાપ્રભુજીની વાણીનો વિપરીત અર્થ કરી રહ્યા છે. લોકોને પથભ્રષ્ટ કરી રહ્યા છે, દેવીજીવોની સાથે ઘોર અન્યાય કરી રહ્યા છે. તેથી જ હાલમાં મહાપ્રભુ શ્રીવલ્લભાધીશના વંશજ પુષ્ટિમાર્ગીય યુવા આચાર્યોએ એક 'સંવાદસ્થાપકમાણ્ડલ'ની સ્થાપના કરીને મુમ્બઈમાં ... ચાર દિવસ સુધી એક પુષ્ટિસિદ્ધાન્ત ચર્ચાસભાનું આયોજન કર્યું હતું. ... સભામાં ૩૫ મહાનુભાવ આચાર્યો ઉપસ્થિત હતા. ૨૮ ગોસ્વામી આચાર્ય મહાનુભાવોએ ગો.શ્રીશ્યામમનોહરજી મહારાજશ્રી(કિશનગઢ-પાલી)ના 'સિદ્ધાન્તવચનાવલી'ના ભાવાનુવાદને સહમતિ આપી હતી. કેટલાક આચાર્ય મહાનુભાવોએ અસહમતિ આપી હતી અને કેટલાક મૌન રહ્યા હતા. અસહમતિ પ્રકટ કરવાવાળા પૂ.પા.ગો.શ્રીહરિરાયજી વ્રજભૂષણલાલજી મહારાજશ્રી, જામનગરવાળાએ પૂજ્ય ગોસ્વામી શ્રીશ્યામમનોહરજી મહારાજશ્રીની સાથે તેમણે કરેલ ભાવાનુવાદના મુદ્દાઓ ઉપર ચર્ચા પ્રારમ્ભ કરી હતી. ... સમયના અભાવે ચર્ચા નિર્ણયપર

પહોંચી ન શકી. પરન્તુ વર્તમાનમાં કેટલાક ચર્ચાસ્પદ, સંશયાસ્પદ મુદ્દાઓની સ્પષ્ટતા આ ચર્ચામાં પ્રાપ્ત થઈ તે ખરેખર એક મોટી સિદ્ધિ છે. એટલું જ નહીં પરન્તુ નીચે બતાવેલ મુદ્દાઓના વિશ્લેષણમાં પૂજ્ય શ્રીશ્યામમનોહરજીની સાથે સહમત થઈને પૂજ્ય શ્રીહરિરાયજીએ આપણા સમ્પ્રદાયની ઉત્તમ સેવા કરી છે:

૧. પુષ્ટિમાર્ગીય સેવ્યસ્વરૂપ પૂર્ણપુરુષોત્તમ સ્વરૂપથી જ બિરાજે છે, તે સ્વરૂપ પછી ગુરુના સેવ્ય હોય કે શિષ્ય(વૈષ્ણવ)ના સેવ્ય હોય. બન્ને(સ્વરૂપો)માંથી કોઈમાં પણ પુરુષોત્તમપણું ન્યૂનાધિક હોતું નથી.

૨. પુષ્ટિમાર્ગીય સિદ્ધાન્ત અનુસાર કૃષ્ણસેવા કરવાનું સ્થાન ઘર જ હોઈ શકે છે, સાર્વજનિક(સ્થળ) નહીં.

૩. પુષ્ટિમાર્ગીય ભગવત્સેવાને ધનની પ્રાપ્તિનું સાધન બનાવવું ન જોઈએ.

૪. દેવલક વ્યક્તિ (=ભગવત્સેવ્યસ્વરૂપને ધનની પ્રાપ્તિનું સાધન અથવા આજીવિકાનું સાધન બનાવનાર) ની સેવા નિષિદ્ધ કક્ષાની હોવાથી (તે) સેવાનો અધિકારી નથી.

૫. શ્રીઠાકોરજીને માટે કોઈ પણ પ્રકારની દાન-ભેટ માંગવી અથવા સ્વીકારવી એ શાસ્ત્રદ્વારા નિષિદ્ધ છે. એટલું જ નહીં પરન્તુ લાભ-પૂજાના હેતુથી પોતાનામાટે દ્રવ્ય અથવા કોઈ વસ્તુને સ્વીકારવી તે શાસ્ત્રની દૃષ્ટિમાં ઋણાનુબન્ધી દોષને ઉત્પન્ન કરનાર હોવાથી બન્ધનકારક છે.

૫. પુષ્ટિમાર્ગના સિદ્ધાન્ત અનુસાર શ્રીઠાકોરજીને નિવેદન કરેલા પદાર્થનું જ સમર્પણ થઈ શકે છે અને સમર્પિત પદાર્થોનો જ ભગવદ્ ઉચ્છિષ્ટરૂપમાં પ્રસાદ લઈ શકાય છે. શ્રીઠાકોરજી માટે દાન અથવા ભેટ ના રૂપમાં આવેલ સામગ્રીને પ્રસાદના રૂપમાં લઈ શકાતી નથી કેમકે શ્રીઠાકોરજી માટે દાન અથવા ભેટ ના રૂપમાં પ્રાપ્ત થયેલ પદાર્થ(દ્રવ્ય)થી આવેલ સામગ્રીને પ્રસાદના રૂપમાં પાછી લેવાથી 'દત્તાપહાર'નું પાપ લાગે છે.

૬. સેવા તો શાસ્ત્રનો વિષય છે. તેથી સેવાના સમ્બન્ધમાં શાસ્ત્રથી–શ્રીમહાપ્રભુજીના ગ્રન્થોથી જ બધો નિર્ણય થઈ શકે છે, અન્ય કોઈ પ્રકારે નહીં.

(**સંયુક્ત ઘોષણાપત્ર : અમદાવાદ**, મિતિ ફાલ્ગુન સુદી ૭, શ્રીવલ્લભાબ્દ ૫૧૪, દિનાંક : ૧૧ માર્ચ ૧૯૮૨)

હસ્તાક્ષર :

નિ.લી.ગો.શ્રીવ્રજરાયજી મહારાજ,
પૂ.પા.ગો.શ્રીવ્રજેન્દ્રકુમારજી મહારાજ (અમદાવાદ);
પૂ.પા.ગો.શ્રીદેવકીનન્દનાચાર્યજી, ચતુર્થેશ(ગોકુલ–અમદાવાદ),

પૂ.પા.ગો.શ્રીવ્રજેશકુમારજી મહારાજ(કડી–અમદાવાદ)
પૂ.પા.ગો.શ્રીરાજેશકુમારજી મહારાજ(કડી–અમદાવાદ)
પૂ.પા.ગો.શ્રીવલ્લભલાલજી મહારાજ(કડી–અમદાવાદ);
પૂ.પા.ગો.શ્રીજયદેવલાલજી મહારાજ,
પૂ.પા.ગો.શ્રીમથુરેશજી મહારાજ,
પૂ.પા.ગો.શ્રીકન્હૈયાલાલજી મહારાજ,
પૂ.પા.ગો.શ્રીહરિરાયજી(કામા–વીરમગામ–અમદાવાદ).

(૩૪) આ કાર્યક્રમ (પુષ્ટિસિદ્ધાન્તચર્ચાસભા) દ્વારા બને એટલો પ્રયાસ આપશ્રીએ મુંઝવણ દૂર કરવાનો કર્યો છે; બીજો કોઈ આમાં આશય મને દેખાતો નથી. અંતમા હું તો એક જ વસ્તુ કહીશ કે સમાજની અંદર; અને આપણા સંપ્રદાયમાં એટલું બધું સિદ્ધાન્તવૈપરીત્ય થઈ ગયું છે કે ગુજરાતના એક ગામમાં હું ગયેલો–હું તો પ્રવાસ ખુબ કરું છું–એ ગામમાં પુષ્ટિમાર્ગના જ આપણા સંપ્રદાયના બે મંદિરો છે અને મંદિરોની દિવાલ પણ એક જ છે. પરંતુ લોકાર્થિત્વ, જેમ આપે આજ્ઞા કરી ગઈ કાલે "લોકાર્થી ચેદ્ ભજેત્ કૃષ્ણં કિલિશ્રે ભવતિ સર્વથા", એટલું બધું લોકાર્થિત્વ સમાજમાં ઉત્પન્ન થયું છે. પરિણામ એ આવ્યું કે બન્ને મંદિરોની દિવાલો એક જ. મંગલાના દર્શનમાં વૈષ્ણવો; એક મંદિર તો બાલકૃષ્ણલાલનું છે અને બીજું મંદિર ચન્દ્રમાજીનું છે. સવાર પડે એટલે ચન્દ્રમાજીવાળા વૈષ્ણવો બાલકૃષ્ણલાલનો જે મેવો હોય તે ચન્દ્રમાજીમાં લઈ જાય અને બાલકૃષ્ણલાલજીવાળા જે વૈષ્ણવો હોય એ ચન્દ્રમાજીનો જે મેવો અને પ્રસાદ હોય તે બાલકૃષ્ણલાલજીમાં લઈ આવે! આવી જબરદસ્ત હોંસાતોસી વૈષ્ણવસમાજમાં ઉત્પન્ન થઈ; જાણે એકબીજાની સ્પર્ધા કરતા હોય એમ. ઈર્ષા-દ્વેષનું વાતાવરણ જ્યારે સેવાના ક્ષેત્રમાં ઉત્પન્ન થાય એનાથી મોટું લોકાર્થિત્વ કયું હોઈ શકે! આ બધા કેટલાક વિચારો અને જે શો-બીઝનેસ સંપ્રદાયમાં થયો એ બધાનું નિવારણ થાય એ માટે આ આખું એક સુંદર ચર્ચાસભાનું આયોજન થયું. અને મારી તો ખાસ વિનંતી છે કે આવા બધા સિદ્ધાન્તવૈપરીત્યનો ભવાડો જો વધારે થતો હોય તો ગુજરાતમાં થાય છે. ભાગવતજીમાં પણ લખ્યું છે "ગુર્જરે જીર્ણતાં ગતાઃ" ભક્તિ જો જીર્ણ થઈ હોય તો ગુજરાતમાં. ગાડરિયો પ્રવાહ વધ્યો હોય તો ગુજરાતમાં. એટલે સિદ્ધાન્તની સત્યનિષ્ઠાને ... અને મહાપ્રભુજીના પુષ્ટિસિદ્ધાન્તોનું સદ્જાગરણ ... એમાં મારાથી બનતો સહકાર હું આપવા તૈયાર છું.

(પૂ.પા.ગો.ચિ.શ્રીદ્રુમિલકુમારજી મહોદય : ''પુષ્ટિસિદ્ધાન્ત-ચર્ચાસભા તા.૧૦-૧૩ જાન્યુઆરી ૯૨ પાર્લા, મુંબઈ, વિસ્તૃત વિવરણ પૃ.૩૧૭-૩૧૮).

(૩૫) પુષ્ટિમાર્ગ ગુપ્ત છે, દેખાડો કરવા માટે તો છે જ નહીં, ભક્ત અને ભગવાન્ વચ્ચે આન્તરિક સમ્બન્ધ દૃઢ કરવાનો માર્ગ છે...બન્નેના સમ્બન્ધો એવા હોવા જોઈએ કે કોઈ ત્રીજા વ્યક્તિને એની જાણકારી ન થાય. આપણો આપણા ભગવાન્ સાથે કેવો સમ્બન્ધ છે, તે બીજી કોઈ વ્યક્તિને જણાવવાની જરૂરત શું? નામના મેળવવા માટે? પોતાનું મહાત્મ્ય વધારવામાટે? આ તો બધુ બાધક છે.

(પૂ.પા.ગો.ચિ.શ્રીદ્વારકેશલાલજી મહોદય : શ્રીવલ્લભાચાર્ય પ્રાકટ્યપીઠ અમરેલી-કાંદીવલી-ચમ્પારણ્ય-સૂરત : 'પુષ્ટિનવનીત' પૃ.૧૨).

(૩૬/ક)

પ્રશ્ન : આજે ચાલી રહેલા વિવાદમાં કેટલાક સિદ્ધાન્તો ચર્ચાઈ રહ્યા છે જેવા કે નવા મન્દિરો ન ખોલવા, ટ્રસ્ટ મન્દિરો ન બનાવવા, ઠાકોરજીના નામે દ્રવ્ય ન લેવું, ઠાકોરજીના દર્શન ન કરાવવા અને સમજ્યા-વિચાર્યા વિના ગમેતેને બ્રહ્મસમ્બન્ધ ન આપવું. આ બધા વિષયમાં આપનો શું અભિપ્રાય છે?

ઉત્તર : જુઓ, મન્દિરની જ્યાં સુધી સ્થિતિ છે તો એ વા સત્ય છે કે પુષ્ટિમાર્ગીય પ્રકારથી તો મન્દિર માત્ર એક જ છે; બીજે બધે ઘરની સ્થિતિ હતી. ...આજ મન્દિર જેટલા છે અથવા જે સ્થાનોને આપણે મન્દિર સમજીએ છીએ તે સ્થાન... તેને આપણે મર્યાદાપુષ્ટિ મન્દિર કહી શકીએ છીએ, પુષ્ટિમન્દિર નહીં. પુષ્ટિનો પ્રકાર તો માત્ર ગૃહસેવામાં જ છે.

(ખ) આજથી દોઢસો વર્ષ પૂર્વે, શ્રીમહાપ્રભુજીના સમયથી ત્યાં સુધી, પુષ્ટિમાર્ગમાં કોઈ ભગવદ્ મન્દિર ખોલવાનો ક્રમ ન હતો. પ્રત્યેક વૈષ્ણવને ઘરે-ઘરે સેવા થાય તેનો આગ્રહ રખાતો. વૈષ્ણવો પોતાને ઘરે શ્રીઠાકોરજીના સ્વરૂપને સેવ્ય કરી પધરાવી ગુરુદ્વારની પ્રણાલિકા મુજબ સેવા કરતા.

(ગ) આમ તો અજ્ઞાન આજે સ્વરૂપભાવના સ્થાપન કરીને સેવ્ય કરવાની પ્રક્રિયામાં પણ છે. શ્રીગુસાંઈજીએ લખેલી શ્રીપુરુષોત્તમપ્રતિષ્ઠાપ્રકારના અન્તર્ગત ભાવક્રમના અનુસાર ગુરુમુખોદિત માર્ગથી (સેવ્યસ્વરૂપને) સેવ્ય કરવાનું પણ ભૂલાઈ ગયું છે. કેવળ ચરણસ્પર્શ માત્રની વ્યક્ત ક્રિયા જોઈને લોકો એને જ પુષ્ટ કરવાની વિધિ માની બેસે છે.

તનુવિત્તજા સેવા :

''તત્સિદ્ધ્યૈ તનુવિત્તજા'' આને એમ સમજવું જોઈએ કે દેહ અને દ્રવ્ય અથવા હું અને મારું, આમનો વિનિયોગ જ્યારે ભગવદર્થે કરીએ છીએ તો તેનાથી મનની નિયન્ત્રિત એકતાનતાનો લાભ થાય છે. ...તનુજા અને વિત્તજા સેવાનો અર્થ આ જ સમજવો જોઈએ. આ શબ્દો અને તેના અર્થો ના ભ્રામક પ્રયોગોથી ભ્રમિત ન થવું જોઈએ. જેમ માટી અને પાણી લતાને પલ્લવિત અને પુષ્પિત બનાવવામાં મદદરૂપ બને છે તે જ પ્રમાણે ભગવદીય જનોનું વાત્સલ્ય અને ભાવ રૂપ બીજ આ માટી-**તન** અને પાણી-**વિત્ત** ના સદુપયોગથી માનસી સેવારૂપી લતાને પલ્લવિત કરીને ફલવતી બનાવીદે છે.

(ઘ) ખેતરમાં ભરાયેલા પાણીને પી ન શકાય...તે અનાજ પેદા કરી શકે છે. તે પોતાનું કેવળ પેટ ભરવાનું સાધન જ કરે છે. તે કોઈ બીજાને માટે ઉપયોગી થતું નથી. ...પોતાનું પેટ ભરવામાટે ભગવદ્ગુણગાન કરે છે તેઓ આવા પ્રકારના હોય છે કે જેમ ખેતરમાં ભરેલું પાણી હોય છે. પદ્મનાભદાસજી ...આચાર્યચરણના નિબન્ધનો શ્લોક સમજાવતાંની સાથેજ પોતાની પૌરાણિક વૃત્તિ છોડી દીધી! ...આપણા મકાનમાં વાસણ ધોવાના પરનાળા છે તેમાં જે પાણી જાય છે તે એક ખાડામાં ભેગું થાય છે...તે પાણી તો માત્ર (દુર)ગંધ જ મારે છે ...ભગવદ્ભાવ હોવા છતાં પણ જેના સ્વભાવમાં દુઃસંગ દ્વારા દોષ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે આવા મનુષ્યો તે ગંદા ખાડા જેવા બની જાય છે કે જેમાં પાણી તો ભરેલું હોય છે પરંતુ તે પાણી કોઈ ઉપયોગનું નથી હોતું. તે ભરાયેલું પાણી માત્ર દુર્ગંધ પેદા કરે છે...પાંચમા (ભગવદ્ગુણગાન કરીને પોતાની આજીવિકા ચલવનારા નીચ વક્તાઓનો ભાવ) ગટરના જેવોજ દુર્ગન્ધયુક્ત...સ્પર્શ પણ ન કરી શકાય તેવો હોય છે.

(પૂ.પા.ગો.શ્રીવ્રજેશકુમારજી તૃતીયેશ ૩૦/ક : 'આચાર્યશ્રીવલ્લભ' ઑગસ્ટ ૧૯૯૪, અંક૧, પુષ્ટિમાર્ગવર્તમાન, પ્રશ્ન-ઉત્તરે ૪, પૃ.૭. ૩૦/ખ : હજ મોહે બિસરત નાહીં, પૃ.૧૪૦-૪૧. ૩૦/ગ : સિદ્ધિસોપાન, પૃ. ૪૭-૪૯. ૩૦/ઘ : જલભેદ પ્રવચન, વડોદરા)

(૩૭) શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા કરે છે કે દુનિયામાં ભટકતું રહેતું આપણું મન-ચિત્ત શ્રીઠાકોરજી સાથે જોડીને તેમની તનુવિત્તજા સેવા કરવી. ... તનુવિત્તની સેવા એટલે આપણે કમાયેલા પોતાના ધનથી, પોતાના ઘરમાં શ્રીઠાકોરજીની પોતાના શરીરથી સેવા કરવી તે.

(પૂ.પા.ગો.ચિ.શ્રીવાગીશકુમારજી 'વલ્લભીય ચેતના', ઓક્ટોબર ૧૫, ૨૦૦૩, પૃ.૪)

(૩૮) ચિત્ત ભગવત્પ્રેમમાં પરિપૂર્ણ થઈ જાય છે, પૂર્ણતઃ ભગવાનમાં જોડાઈ જાય છે, તન્મય અને તલ્લીન થઈ જાય છે ત્યારે પરાસેવા થાય છે. આને 'માનસી' સેવા કહેવાય છે. આની સાથે મનુષ્યે શરીરથી પણ સેવા કરવી જોઈએ. ... તનુજા સેવાથી શરીરની શુદ્ધિ થાય છે. અહંતા-દુષ્પણા નો નાશ થાય છે. ધનથી કરાતી સેવા 'વિત્તજા' સેવા છે. તેનાથી મમતા-મારાપણાનો નાશ થાય છે. અહંતા અને મમતા એકબીજા સાથે જોડાયેલા રહે છે આથી તનુજા અને વિત્તજા સેવા સાથે થવી જોઈએ. આમાં પ્રધાનતા તનુજા સેવાની છે. કેવળ ધન આપી દેવાથી સેવા થતી નથી. એનાથી રાજસી વૃત્તિ આવે છે.

(પૂ.પા.ગો.ચિ.શ્રીદ્વારકેશલાલજી મહોદય, પ્રવેશ, વડોદરા : 'શ્રીમદ્ભગવદ્ગીતા પુષ્ટિદર્શન' પૃ.૧૨૫)

(૩૯) કઈ બાર પ્રભુ સામગ્રીપર માત્ર દૃષ્ટિ કરતે હૈં, ઉસે અરોગતે નહીં હૈં. જિસ પ્રસાદકો લેનેકા આમન્ત્રણ પહલે હી દે દિયા ગયા હો ઉસે ...વૈષ્ણવોંકો પહલેસે નિમન્ત્રણ ભેજા જાતા હૈ કિ હવેલી પર દોપહર બારહ બજે પ્રસાદ લેને આના હૈ. યહ બાત ઠીક નહીં હૈ.

(આશ્રય, માર્ચ ૨૦૦૫, પાનું ૧૨)

શ્રીમહાપ્રભુજીકી સ્પષ્ટ આજ્ઞા હૈ કિ પ્રત્યેક વૈષ્ણવકા મુખ્ય કર્તવ્ય પ્રભુસેવા હૈ. અપને ઘરમેં બિરાજતે પ્રભુકી સેવા કરના હી વૈષ્ણવકા પરમ ધર્મ હૈ. ... ''હમ ઘરમેં સેવા નહીં કર સકતે, નિત્ય પાઠાદિ ભી નહીં હો પાતે હૈં ઈસલિયે નિયમિત મન્દિરમેં દર્શન કર આતે હૈં'' યહ તો મન મનાનેકી બાત હૈ . યહ વિચાર ઠીક નહીં હૈ. સેવા નિત્યનિયમ અવશ્ય કરને ચાહિયે. સેવાકા વિકલ્પ મન્દિર જાના નહીં હો સકતા.

(પૂ.પા.ગો.શ્રીનવનીતલાલજી મહારાજ, ભાવનગર-કામવન, આશ્રય, ફેબ્રુઆરી ૨૦૦૫, પાનું ૧૨)

(૪૦) તનુજા સેવા અને વિત્તજા સેવા એક જ વ્યક્તિ કરે ત્યારે જઈને તે માનસીને સિદ્ધ કરે છે. કેવળ તનુજા કરી લીધી કે કેવળ વિત્તજા કરી લીધી તો તેનાથી અહન્તા-મમતા દુર નહીં થાય... કેવી રીતે? હું તમને એક ઉદાહરણ

આપું છું. જેઓ ઘરમાં સેવા કરે છે તેમના માટે તો કો સમસ્યા જ નથી. પણ જો કોઈ વિત્તજા સેવા કરશે, સમજો કે તેણે મન્દિરમાં ભેટ આપી. મનોરથ કરાવ્યો. તેની તમે રસીદ લેશો. ...ત્યારે તમે કહેશો કે ''મેં સેવા લખાવી છે''. તમે કહો છો ''મેં સેવા લખાવી છે'' ત્યારે (વિચારો કે) અહન્તા ક્યાં દુર થઈ? હવે તમે મહેતાજી પાસેથી શું માંગશો? ''આ મારી રસીદ છે, મારો પ્રસાદ લવો''. તો જુઓ, અહન્તા-મમતામાં આપણે વધુ બંધાઈ ગયા. તો આવી સેવા સંસારને દુર નહીં કરે, સંસારમાં બાંધશે. .... જો આપણે કેવળ વિત્તજા કરીએ છીએ તો આપણે આપણા અહંકારને વધારીએ છીએ. અને અહન્તા દુર નહીં થાય, મમતા દુર નહીં થાય તો માનસી કેમ સિદ્ધ થશે? કેમ કે બધા બન્ધનોનું મૂળ તો અહન્તા-મમતા જ છે!

(પૂ.પા.ગો.શ્રીદ્વારકેશલાલજી મહારાજ, કામવન-સુરત, સિદ્ધાન્ત-મુક્તાવલી પ્રવચન, ભરૂચ, જન્યુઆરી ૨૦૦૫)

(૪૧)

(ક) શ્રીમહાપ્રભુજી વલ્લભાચાર્યજીના પુષ્ટિસમ્પ્રદાયમાં બે દીક્ષા આપવામાં આવે છે. બન્ને દીક્ષાનું પ્રયોજન અને તત્પશ્ચાત્ કર્તવ્યનો પણ વિચાર ખુબજ આવશ્યક છે. કેવળ શિષ્યેષણાથી પ્રેરાઈને વધારે શિષ્યો બનાવવામાટે આપવામાં આવતી બ્રહ્મસમ્બન્ધ દીક્ષાથી કોઈ અર્થ સરતો નથી. જે વ્યક્તિ ભગવત્સેવા કરવામાટે તૈયાર નથી તેણે કદાપિ બ્રહ્મસમ્બન્ધ દીક્ષા લેવી જોઈએ નહીં. પણ શ્રીમહાપ્રભુજીના સિદ્ધાન્તમાં નિષ્ઠાવાળો જો હોય તો તેણે કેવળ નામદીક્ષા ગ્રહણ કરવી જોઈએ. અને અન્યાશ્રયનો ત્યાગ કરી શ્રીકૃષ્ણનો આશ્રય દૃઢ કરવા પ્રયત્નશીલ રહી નામસેવારત રહેવું જોઈએ. પરન્તુ બ્રહ્મસમ્બન્ધ દીક્ષા લીધા પછી શ્રીકૃષ્ણની સેવા અનિવાર્ય છે.

શ્રીકૃષ્ણની સેવા પણ શ્રીમહાપ્રભુજીએ બતાવેલ રીતિ અનુસાર જ થઈ શકે. પોતાના ઘરમાં પોતાના પરિવારના સભ્યો સાથે પોતાના દ્રવ્યથી જ ભગવત્સેવા કરવી જોઈએ. કોઈને દ્રવ્ય આપીને કે લઈને કરવામાં આવતી સેવા એ ભગવત્સેવા તો કદાપિ નથી જ પણ શ્રીમહાપ્રભુજીનો દ્રોહ હોવાથી ગુરુ અપરાધથી ગ્રસિત બનાવી અધઃપતિત બનાવે છે. અને આ ભક્તિમાર્ગથી ભ્રષ્ટ કરે છે. પોતાનું ગુજરાન ચલાવવા માટે કરવામાં આવતી ધંધાદારી સેવાથી તો ચાંડાલ સમાન હીન દેવલક થઈ જવાય છે. અતઃ ભગવત્સેવા પોતાના ઘરમાં અને પોતાના દ્રવ્ય અને તન થી જ થઈ શકે.

સેવાની જેમ જ કથા પણ પોતે અથવા નિષ્કામ ભગવદીયો સાથે મળીને જ કરવી જોઈએ. ધંધાદારી કથાકારો પાસે દ્રવ્ય આપીને કરાવવામાં આવતી કથા પણ રાખમાં ઘી હોમવા બરાબર છે. આવી કથાઓ, પારાયણો, કીર્તનો કે સપ્તાહો પુષ્ટિમાર્ગીય સિદ્ધાન્તથી સદન્તર વિરુદ્ધ છે. અતઃ સેવા અને કથા બન્ને, દ્રવ્ય આપીને કે લઈને કરવાથી કોઈ પણ અલૌકિક પુષ્ટિફળની પ્રાપ્તિ સ્વપ્નેય ન થઈ શકે પણ બહિર્મુખ અવશ્ય થવાય.

(ખ) અમે તો રાજના ખાસા ખવાસ મુક્તિ મન ન આવે રે'' પ્રજાધિપનું સેવન કરનારા અમે મુક્તિ માંગતા નથી. છતાં પુષ્ટિમાર્ગી વૈષ્ણવો ભાગવત સપ્તાહ બેસાડીને પોતાના પિતૃઓને મોક્ષમાર્ગે મોકલે છે! પિતૃમોક્ષાર્થે ભાગવત સપ્તાહ! કોઈ એકસો આઠ! કોઈ એક હજાર આઠ! ... આપણા પિતૃઓ તો ગોલોકમાં જાય છે એમને પાછા મોક્ષમાં શા માટે મોકલો છો? ... ભાગવત સપ્તાહ પૂરી કરીને પછી માળા પહેરામણી કરે અને કહે કે ગોલોકધામ... હવે ગોલોક ધામમાં મોકલવા છે! એટલે પિતૃઓને અહીંથી ત્યાં દોડા-દોડી જ કરાવવી છે! આપણું કોઈ ધ્યેય જ નક્કી નથી!! આપણે શ્રીમહાપ્રભુજીના ગ્રન્થો ખોલ્યા નથી એનું આ દુષ્પરિણામ છે કે જે આપણા પૂર્વજોને પણ ભોગવવું પડે છે.

(પૂ.પા.ગો.ચિ.શ્રીપુરુષોત્તમલાલજી, જુનાગઢ શ્રીયમુનાષ્ટક પ્રવચન, રાજકોટ, ૨૦૦૬)

(૪૨) આજે જે રીતે બ્રહ્મસમ્બન્ધદીક્ષા પ્રદાન કરવામાં આવે છે એમાંથી ઘણા ખરા દીક્ષાર્થીઓ એવા હોય છે જેમને પુષ્ટિમાર્ગ શું છે, દીક્ષા પછી એમનું કર્તવ્ય શું છે, પુષ્ટિમાર્ગના પાયાગત સિદ્ધાંતો શું છે એના સાથે એમને કોઈ પણ પ્રકારની નિસ્બત નથી હોતી. આવા દીક્ષાર્થીઓ તો ફક્ત જાતને વૈષ્ણવ કહેડાવવાની ઔપચારિકતા પૂરી કરે છે. ...જેમનો ધ્યેય રાસ-ગરબા, દર્શન અને પ્રસાદ પૂરતો જ સીમિત છે. આપણા સેવ્ય પ્રભુમાં નિરોધ સિદ્ધ થાય, પ્રભુનો સાનુભાવ-સાક્ષાત્ પ્રકટ થવું-થાય એ જ પુષ્ટિમાર્ગીયોનું ફળ છે અને એ જ દરેક પુષ્ટિમાર્ગીનો ધ્યેય હોવો જોઈએ. ...પુષ્ટિમાર્ગના સાચા ધ્યેયને જ આજે પુષ્ટિમાર્ગીયો વિસરી ગયા છે. ...માર્ગના ગ્રન્થોના અધ્યયનમાં અનુપાયી વર્ગની ઘટતી જતી રુચિ આ પરિસ્થિતિની ઘણા અંશે જવાબદાર છે. શ્રીઆચાર્યચરણોના ઉપદેશો જ આપણને આ પરિસ્થિતિમાંથી ઉગારી શકશે. ...પોતાના સિદ્ધાન્તનો નિશ્ચય કરતા શ્રીવલ્લભ આપણને ''કૃષ્ણસેવા સદા કાર્યા''નો જ ઉપદેશ કરે છે. પણ માર્ગમાં વધતા જતા વ્યાપારીકરણને કારણે

શ્રીવલ્લભાધીશના ગૃહસેવાના સિદ્ધાન્તને કેટલી હાની પહોંચી છે તે આપણે સહુ જોઈ શકીએ છીએ. ...શ્રીઆચાર્યચરણની કૃપાથી વ્રજના અધિપતિ એવા સાક્ષાત્ પૂર્ણપુરુષોત્તમ આપણે ત્યાં પધારી આપણી સેવા અંગીકાર કરે છે એથી વિશેષ કૃપા બીજી કઈ હોઈ શકે? ...એવા પુષ્ટિપ્રભુને પોતાને ઘરે પધરાવી સર્વસમર્પણ પૂર્વક એમની સેવા કરવાને બદલે જાહેર સ્થાનો (હવેલીઓ)માં પૈસા દઈ સેવા કરાવીને જ અનુયાયીવર્ગ સંતોષ માની લે છે. પછી ઘરે સેવા કરવાની એમને કોઈ જરૂર નથી લાગતી. શ્રીવલ્લભની આજ્ઞા પર નિષ્ઠાપૂર્વક ચાલવાવાળા (સિદ્ધાન્તવાદી) પણ આજે માર્ગમાં ઘણા અનુયાયીઓ છે. પણ માર્ગ(હવેલીઓ)માં સેવાના નામે થતા જાહેર પ્રદર્શનોથી એમના હૃદય પણ વીંધાય છે. એવા જાહેર મંદિરો કે જ્યાં બધાને નફા-નુકશાનનો વિચાર છે, મનોરથીનો વિચાર છે પણ પ્રભુના સુખનો કોઈ વિચાર નથી. એવા વાતાવરણમાં શ્રીમહાપ્રભુજીનો ''ચેતસ્ તત્પ્રવણં સેવા''નો ઉપદેશ કેટલી હદે શક્ય છે? એવા વાતાવરણમાં ચિત્તની પ્રવણતા કેવી રીતે થઈ શકે છે કે જ્યાં ધર્મના નામે (હવેલી-કથા-યાત્રા-કીર્તન-ઢાઢીલીલા-રાસલીલ વગેરેમા) વેપાર ચાલતો હોય. ધર્મના નામે થતી આવી વ્યાવસાયિક પ્રવૃત્તિ ચાલતી જોઈને લાગે છે કે આપણા આચાર્યચરણ પ્રત્યેની આપણી નિષ્ઠા મરી પરવારી છે.

શ્રીમહાપ્રભુજી આજ્ઞા કરે છે કે જેમાં ચિત્ત પરોવાઈ જાય એ જ સેવા છે. ચિત્તની પ્રવણતા કેવી રીતે થાય? ''તત્સિદ્ધયે તનુવિત્તજા''...પોતાના દેહ(શરીર)થી અને પોતાના વિત્ત(ધન)થી પ્રભુસેવા કરવી જોઈએ. શ્રીપ્રભુચરણ આજ્ઞા કરે છે...ધન દઈને અથવા લઈને કરવામાં આવતી સેવા ફલરૂપા માનસી સેવાને સાધી શકતી નથી એટલા માટે શ્રીઆચાર્યચરણે ''તનુજા-વિત્તજા'' અલગ ન કહી 'તનુવિત્તજા' સમસ્તપદ કહ્યું. આ વિષયપર શ્રીપુરુષોત્તમચરણ લેખે છે ...જો વિત્ત વેતનની જેમ દઈને સેવા કરાવવામાં આવે તો તેનાથી, ચિત્તમાં રાજસ વધે છે, અહંકાર આવે છે. અને જો વિત્ત વેતનની જેમ લઈને સેવા કરવામાં આવે તો જેવી રીતે બ્રાહ્મણનું વરણ હોય પણ તેને પક્ષનું ફળ નથી મળતું (તેમ સેવા-મનોરથના નામે પૈસા લેનાર ગો.બા., ટ્રસ્ટ, મુખિયા વગેરેની સેવા નિષ્ફળ જાય છે). આથી સ્પષ્ટ થાય છે કે વિત્ત-પૈસા દઈને કરાવવામાં આવતી વિત્તજા સેવા અથવા વિત્ત લઈને કરવામાં આવતી તનુજા સેવા માનસીરૂપ ફળને નથી સાધી શકતી. આ બંને સેવા જ્યારે સાથે થાય છે, પોતાના તનથી અને પોતાના ધનથી જ્યારે તનવિત્તજા સાથે કરવામાં આવે છે ત્યારે એ માનસી સિદ્ધ કરે છે. ...પરમ કૃપાળુ શ્રીવલ્લભે આપણને એમના સર્વસ્વ એવા વ્રજાધિપતિ પધરાવી આપ્યા.

એવા પ્રભુને પોતાના સર્વસ્વ માનીને એમની સેવા કરવાને બદલે એ **પ્રભુનો જ ઉપયોગ કરી પોતાના અર્થ સાધવાવાળા (હવેલીવાળાઓની) શું ગતિ થશે એ તો પ્રભુ જ જાણે.**

(ખ) ઘણો એવો વર્ગ છે જેને (સેવા-મનોરથ-કથા-કીર્તન વગેરેના) વ્યાપારીકરણનો વિરોધ જરા પણ પસંદ નથી. તેમની દલીલ હોય છે કે આનાથી પ્રચાર થાય છે, વ્યાપ વધે છે. પણ તેવા વ્યાપ વધારવાથી શું ફાયદો કે જેમાં કોઈ ફલશ્રુતિ જ ન હોય! ...પહેલા જ્યારે દ્રવ્ય ખૂબજ વધી જતું તો તેનો ભગવદ્ વિનિયોગ થાય તે ભાવથી પ્રભુને છપ્પનભોગ અરોગાવવામાં આવતો. **આજે દ્રવ્ય ઘટી જાય તો છપ્પનભોગ કરવામાં આવે છે અને ભીડ ભેગી કરવામાં આવે છે.** ...આ (ધંધાકીય મનોરથોના) દૂષણના કારણે વધારે પડતા વૈષ્ણવોની એવી માનસિકતા બંધાઈ ગઈ કે ભેંટ ધરી દીધી એટલે ધર્મ નિભાવી લીધો. **(સેવા-મનોરથ-દર્શનને) વેચવાવાળા (હવેલીવાળા) ને ખરીદવાવાળા મળી ગયા એટલે દૂષણ દિવસેને દિવસે વધતું ગયું.** પણ દરેક પુષ્ટિમાર્ગીએ સમજવું પડશે કે ફકત ભેંટ ધરી દેવાથી ધર્મ નથી થઈ જતો. કેમકે ધર્મ કોઈ વેચવા કે ખરીદવા ની વસ્તુ નથી. ...બીજાને સુધારવા કરતા પહેલા આપણે સુધરીયે તો ...સંપ્રદાય આ વ્યાપારીકરણના દૂષણથી મુક્ત થશે.

(**પૂ.પા.ગો.ચિ.શ્રીઅક્षયકુમારજી મહોદય, શ્રીકૃષ્ણાશ્રય હવેલી,** રાજકોટ. ક : શ્રીવલ્લભાયન માધુર્ય કાવ્ય, પ્રસ્તાવના, વિ.સં. ૨૦૬૨. ખ : ધર્મસેતુ, વર્ષ-૧, અંક-૩ પૃ. ૩)

(૪૩) મહાપ્રભુ શ્રીમદ્‌વલ્લભાચાર્ય વંશજ ગોસ્વામીઓનું સંયુક્ત ઘોષણાપત્ર'' ૧૯૮૬

...જ્યાં સુધી સિદ્ધાન્તના નિશ્ચિત સ્વરૂપ કે વ્યાખ્યાનો પ્રશ્ન છે, અમે બધા ધર્માચાર્ય, આપણા સમ્પ્રદાયના પ્રવર્તક મહાપ્રભુ શ્રીવલ્લભાચાર્ય તથા પરવર્તી અન્ય પણ માન્ય બધા વ્યાખ્યાકારોના સન્દેહરહિત વિધાનોના આધારે આ સ્પષ્ટ શબ્દોમાં ઘોષિત કરીએ છીએ કે આપણા ધાર્મિક સિદ્ધાન્ત તેમજ પરંપરા અનુસાર ભગવત્સેવા-સેવાસ્થળ-સેવોપયોગિસમ્પત્તિ-સેવાકર્તા (ગુરુ કે વૈષ્ણવ) તેમજ ભગવત્સ્વરૂપનું ખાનગી અથવા પારિવારિક હોવું એક અનુલ્લંઘનીય ધાર્મિક અનિવાર્યતા છે. તેથી તેઓમાંથી કોઈને પણ સાર્વજનિક બનાવવું સર્વથા ધર્મવિરુદ્ધ હોવાના કારણે એક ઘોર ધાર્મિક અપરાધ છે.

...વલ્લભ સમ્પ્રદાયના સિદ્ધાન્ત પ્રમાણે પોતાના ઘરમાં પોતાના ધનને તથા નિજ પરિવારજનોને ભગવત્ સ્વરૂપની સેવામાં ઉપયોગમાં લેવા એ જ આરાધનાનું વાસ્તવિક સ્વરૂપ છે.

...આથી પોતાના ઘરમાં પોતાના ધનના વિનિયોગ વિના તથા પોતાના પરિવારના માણસોના સહયોગ વગર કરાતી આરાધના, વલ્લભ સમ્પ્રદાયની આરાધનાની પરિભાષા પ્રમાણે આરાધના છે જ નહિ. આવી સ્થિતિમાં અમારા ઘરમાં આવતા લોકો દ્વારા અમારા સેવ્ય ભગવદ્‌સ્વરૂપના દર્શન કરવા કે ભેંટ ધરવી વગેરે આચરણ આરાધનાની અન્તર્ગત માન્ય ક્રિયાકલાપ નથી.

...ભજન(સેવા) જો નિજ ઘરમાં નથી કરાતું તો એવા ભગવદ્‌ભજનને પુષ્ટિમાર્ગીય પરિભાષામાં ભગવદ્‌ભજન જ નથી કહેવાતું. પુષ્ટિમાર્ગમાં નિજઘરમાં રહીને ભગવદ્‌ભજન કરવાના પ્રકાર સિવાય બીજો કોઈ પ્રકાર છે જ નહિ.

...ભેંટ ધરેલા ધનથી ભોગ ધરેલી સામગ્રીને પ્રસાદરૂપે ગ્રહણ કરવી અમારે ત્યાં બિલકુલ વર્જિત છે. ...સાર્વજનિક મંદિરમાં દર્શનાર્થી જનસમુદાયના પ્રતિનિધિના રૂપમાં સેવા કરવાની પ્રક્રિયાને ન તો વલ્લભસમ્પ્રદાયમાં કોઈ અવકાશ છે અને ન એવું આચરણ સિદ્ધાન્તની દૃષ્ટિએ પ્રશંસનીય પણ છે. ભગવત્સેવાનું અનુષ્ઠાન ન તો નોકરી કે ન તો ધંધાના રૂપમાં કરી શકાય છે. ... વલ્લભસમ્પ્રદાયમાં ગો.મહારાજોને ... ભગવત્સેવાની અવેજીમાં કે પુજારીની હૈસિયતમાં કંઈ પણ ભેંટ સ્વીકારવી માત્ર વર્જિત જ નથી બલ્કે અધર્મ તથા અયોગ્યતા સંપાદક છે.

...શ્રીમહાપ્રભુ બધા પુષ્ટિમાર્ગીઓની સૈદ્ધાન્તિક નિષ્ઠા સ્વધર્માનુસરણનું સામર્થ્ય તથા પારસ્પરિક સૌમનસ્ય પ્રદાન કરે.

... બધા પુષ્ટિમાર્ગીયોના નિજઘરોમાં બિરાજમાન સેવ્યસ્વરૂપ હંમેશા ખાનગી જ રહે; ક્યારેય સાર્વજનિક ન બની જાય! ''બુદ્ધિપ્રેરક કૃષ્ણસ્ય પાદપદ્મં પ્રસીદતુ''.

હસ્તાક્ષર :

પૂ.પા.ગો.શ્રીઅજયકુમારજી શ્રીશ્યામસુંદરજી (મદ્રાસ)
પૂ.પા.ગો.શ્રીશ્યામસુન્દરજી શ્રીમુરલીધરજી (બોરીવલી)
પૂ.પા.ગો.શ્રીવ્રજપ્રિયજી શ્રીમુરલીધરજી (બોરીવલી)
પૂ.પા.ગો.શ્રીહરિરાયજી શ્રીકૃષ્ણજીવનજી (મુંબઈ)
પૂ.પા.ગો.શ્રીવલ્લભલાલજી શ્રીગોવિંદલાલજી (કડી-અમદાવાદ)

પૂ.પા.ગો.શ્રીહરિરાયજી શ્રીગોવિંદરાયજી (પોરબંદર)
નિ.લી.ગો.શ્રીવ્રજાધીપજી શ્રીકૃષ્ણજીવનજી (દહિંસર)
પૂ.પા.ગો.શ્રીવ્રજેશકુમારજી શ્રીગોવિંદલાલજી (કડી-અમદાવાદ)
નિ.લી.ગો.શ્રીકૃષ્ણકુમારજી શ્રીરમણલાલજી (કાંદીવલી-કામવન)
પૂ.પા.ગો.શ્રીરાજેશકુમારજી શ્રીગોવિંદલાલજી (કડી-અમદાવાદ)
પૂ.પા.ગો.શ્રીવિજયકુમારજી શ્રીગોવિંદલાલજી (કડી-અમદાવાદ)
પૂ.પા.ગો.શ્રીયોગેશ્વરજી શ્રીમથુરેશ્વરજી (વડોદરા-સુરત)
પૂ.પા.ગો.શ્રીનવનીતલાલજી શ્રીગોવિંદલાલજી (કામવન-ભાવનગર)
પૂ.પા.ગો.શ્રીમુરલીમનોહરજી શ્રીવ્રજાધીશજી (દહિંસર)
પૂ.પા.ગો.શ્રીરમેશકુમારજી શ્રીગોપીનાથજી (મુલુંડ-નાસિક)
પૂ.પા.ગો.શ્રીનીરજકુમારજી શ્રીમાધવરાયજી (મુંબઈ-નાસિક)
પૂ.પા.ગો.શ્રીશરદકુમારજી શ્રીમુરલીધરજી (પોરબંદર)
પૂ.પા.ગો.શ્રીચન્દ્રગોપાલજી શ્રીમુરલીધરજી (પોરબંદર)
નિ.લી.ગો.શ્રીનૃત્યગોપાલજી શ્રીકૃષ્ણજીવનજી (મુંબઈ)

પત્રદ્વારા સમ્મતિ :

નિ.લી.ગો.શ્રીબાલકૃષ્ણલાલજી શ્રીગોવિંદરાયજી (સુરત)
નિ.લી.ગો.શ્રીવ્રજભૂષણલાલજી મહારાજ (જામનગર)
પંચમપીઠાધીશ્વર નિ.લી.ગો.શ્રીગિરિધરલાલજી (કામવન-વલ્લભવિદ્યાનગર)
નિ.લી.ગો.શ્રીગોવિંદલાલજી (કોટા)

("મહાપ્રભુ શ્રીમદ્‌વલ્લભાચાર્ય વંશજ ગોસ્વામીઓનું સંયુક્ત ઘોષણાપત્ર" ૧૯૮૬. પુષ્ટિસિદ્ધાન્તચર્ચાસભા સંક્ષિપ્ત વિવરણ, પૃષ્ઠ ૪૮-૭૮)

(૪૪) શપથપત્ર

શ્રીમહાપ્રભુજીના સિદ્ધાન્તથી સર્વથા વિપરીત હોવા છતાંય જાહેર ટ્રસ્ટ મંદિરો / જાહેર ખાનગી મંદિરો માં થતા ભગવત્સેવાના ભવાડામાં ભેગા થઈને, ત્યાં નિત્યનિયમે દર્શન કરવા જવાના દુરાગ્રહથી, ધનોપાર્જનમાટે કરવામાં આવતા મનોરથોની ઝાંખીના ધતિંગને આર્થિક કે બીજી રીતે સક્રિય પ્રોત્સાહન આપી, દેવદ્રવ્યથી ધરવામાં આવેલ ભોગ-સામગ્રીને કે જેનો પ્રસાદ લેતાં,

શ્રીમહાપ્રભુજી આપણને 'મહાપતિત' ગણે, તેને પણ મોહવશ થઈને તેમજ ભંડોળી ભાગવત કથાઓને આર્થિક કે બીજી રીતે પ્રોત્સાહન આપી આપણે આપણા શ્રીમદાચાર્યચરણ સાથે જબરદસ્ત વિશ્વાસઘાત કર્યો છે.

તેના પરિણામ રૂપે આજે આપણા દેશની સર્વોચ્ચ અદાલતે આપણા સિદ્ધાન્તોની અવગણના કરીને ત્રણ-ત્રણ ચુકાદાઓ આપણા વિરુદ્ધ આપ્યા છે. ...પારિવારિક ભાવનાથી પૂર્વમાં ફક્ત દર્શન માટે આપવામાં આવેલી છૂટના દુષ્પરિણામ રૂપે આજે સમ્પ્રદાયના ધર્મગુરુઓને પુજારીપણાની હલકી પાયરી ઉપર બધી રીતે પટકી દેવા માટે સમ્પ્રદાય વિરોધી કુનેહ સફળ થવા જાય છે. જતે દહાડે હતાશ ગોસ્વામીવર્ગ પોતાને દેવલક પુજારી માની બેસવાની માનસિકતાથી ઘેરાઈ જશે. આપણા દિવ્ય સમ્પ્રદાયની આવી દુર્ગતિ કરવાની જવાબદારી વેખ્ખવો ઉપર છે કે મહારાજશ્રીઓ ઉપર એ વિવાદનો વિષય હવે વીતી ગયો છે.

આવો આપણે શ્રીમહાપ્રભુજીથી આપણા દુષ્કૃત્યોની ક્ષમા-યાચના માંગીયે, સોગંદ લઈએ કે

(૧) પોતાના માથે બિરાજતા ન હોય તેવા કોઈ પણ શ્રીઠાકોરજીના દર્શનનો નિત્યનિયમ નહીં લઈએ, કે જેથી પુષ્ટિપ્રભુને નન્દાયલ છોડી જાહેર અનાથાલયમાં બિરાજવાનો પરિશ્રમ થાય. કેમકે આપણા આવા દુષ્કૃત્યથી (તે ઠાકોરજીના દર્શન-સેવા કરવાનો) જાહેર જનતાનો કાનૂની અધિકાર ઊભો થતો હોય છે.

(૨) જે મનોરથો મનોરથીના પોતાના ધનથી પોતાના માથે અને પોતાને ઘરે બિરાજતા સ્વરૂપોના પોતાના અંગત ભગવદીયો સાથે ઉજવવામાટે નથી તેવા મનોરથોમાં ભેટ-સામગ્રી આપી કે દર્શન કરવા જઈને મહાપ્રભુજીના શ્રીનિધિસ્વરૂપ, સમ્પ્રદાય કે સિદ્ધાન્ત ને હવે આપણે કદિ દગો નહીં આપીએ.

(૩) જાહેર મંદિરોમાં શ્રીમહાપ્રભુજીનાં સિદ્ધાન્તોથી વિપરીત, દેવદ્રવ્યથી અથવા ગૈરભક્તસમ્બન્ધી દર્શનાર્થીઓના દ્રવ્યથી ધરવામાં આવતી ભોગ-સામગ્રી શ્રીપુષ્ટિપ્રભુ આરોગતાં જ નથી. તેથી તે પ્રસાદ છે જ

નહિ, બલ્કે કોઈ પણ સંજોગોમાં પાતિત્યકારક જ છે. તેથી હવે આપણે તે (દેવદ્રવ્યનો પ્રસાદ) કદિ પણ લઈશું નહીં.

(૪) ભંડોળ ભેગું કરવા માટે જાહેરમાં કરવામાં આવતા ભગવન્મનોરથો કે ભાગવતકથા માં દર્શન-શ્રવણ માટે હવે કદિ પણ ભેગા થઈશું નહીં કે જેથી તેવી દુષ્પ્રવૃત્તિઓને પ્રાત્સહન (આર્થિક કે સક્રિય સહયોગના રૂપે) મળી રહે.

આજ દિવસ સુધી આમ જે શ્રીમહાપ્રભુજીની આજ્ઞાનું ઉલ્લંઘન અજ્ઞાનવશ કે મોહવશ થઈ ગયું તે અમારા અપરાધને શ્રીપુષ્ટિપ્રભુ, શ્રીમહાપ્રભુજી અને શ્રીપ્રભુચરણો ક્ષમા કરે! તેઓ પોતાની પુષ્ટિસૃષ્ટિના જીવોને પુષ્ટિપથની યાત્રામાં અગ્રસર થવા મતિ, રતિ અને ક્રિયાશક્તિ પ્રદાન કરે! "બુદ્ધિપ્રેરકકૃષ્ણસ્ય પાદપદ્મં પ્રસીદતુ!".

(**શપથપત્ર.** સ્થળ : મનુ ભવન, ભગતસિંહ રોડ, પારલે (પશ્ચિમ), મુંબઈ-૫૬, તારીખ : ૧૨-૯-૧૯૮૬)

શપથ લેનારની સહી :

કિશોરચન્દ્ર ગોસ્વામી (જુનાગઢ)
રઘુનાથ ગોસ્વામી (ગોકુળ-કામવન-પાર્લા)
શ્યામ મનોહર ગોસ્વામી (કિશનગઢ-પાર્લા)
યોગેશ ગોસ્વામી (ગોકુળ-કામવન-પાર્લા)
શરદ્ ગોસ્વામી (માંડવી-હાલોલ)